ओ३म्

॥ ब्राह्मणसर्वस्व ॥

भाग ३] उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत [अङ्क १

यत्रब्रह्मविदोयान्ति दीक्षयातपसासह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्माब्रह्मदधातुमे ॥

ब्रा० स० भा० २ अं० १२ से आगे कर्मकाण्ड विषय ।

अनुव्रतःपितुःपुत्रो मात्राभवतुसंमनाः ।
जायापत्येमधुमतीं वाचंवदतुशन्तिवाम् ॥१॥
माभ्राताभ्रातरंद्विक्षन्मास्वसारमुतस्वसा ।
सम्यञ्चःसव्रताभूत्वा वाचंवदतभद्रया ॥२॥
येनदेवानवियन्ति नोचविद्विषतेमिथः ।
तत्कृण्मोब्रह्मवोगृहे संज्ञानंपुरुषेभ्यः ॥३॥

भावार्थः—अथर्व सं० कां० ३ अनुवा० ६ सू० ३० में लिखा है कि पुत्र पिता की आज्ञा में चलने वाला और माता में भक्ति रखने वाला हो। पत्नी अपने पति के साथ मीठी कोमल शान्तियुक्त नम्रता से भरी हुई वाणी बोले जैसे कोई साधारण पुरुष राजा के सामने बोलता है। स्त्री अपने पति को ही राजा मानती हुई व्यवहार करे। भाई भाई से और बहन बहन से द्वेष न करे। संसारी व्यवहार और धर्म सम्बन्धी काम परस्पर मेल रख सम्मति लेकर करते हुए आपस में सब लोग कल्याण करने वाली धर्मयुक्त वाणी को बोलें॥

भारतमें आज अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओंको राजभाषा बनानेमें जो लोग व्यस्त हो रहे हैं, उसका एकमात्र निदान हिन्दी (प्रादेशिक भाषा) का राष्ट्रभाषा होना ही है। निष्पक्षभावसे विचार किया जाय तो उत्तर प्रदेश या पश्चिम बिहारके कुछ ही अंशको छोड़कर बंगाल, मिथिला, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशोंको राष्ट्रभाषा हिन्दीसे जितनी कठिनाईकी संभावना है उतनी संस्कृतसे नहीं, क्योंकि बँगला, मैथिली, मराठी, गुजराती भाषाओंमें प्रतिशत नब्बे संस्कृत शब्दोंका ही प्रयोग होता है तथा हिन्दीको भी धन-धाम और सौन्दर्य संस्कृतसे ही मिल रहा है। ऐसी स्थितिमें भारतकी राष्ट्रभाषा यदि संस्कृत होती तो भारतमाताकी तरह गीर्वाणवाणी भगवती सुरभारतीके मुखमें शताब्दियोंसे लगा हुआ ताला टूट जाता और एक स्वरसे सम्पूर्ण भारत उस राष्ट्रभाषाका अभिनन्दन करने लगता।

किसी भी देशकी राष्ट्रभाषा तभी जीवित रह सकती है जब कि वह उस देशकी मातृभाषामें परिणत हो जाय।

आचार्य वरदराजविरचित प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषाका भास्कर है। यह ग्रंथ यदि भारतकी प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंमें अनिवार्यरूपसे पढ़ाया जाय तो अल्प समयमें ही इस ग्रन्थके आलोकमें नवनिर्मित स्वतन्त्र भारतमें पुनः महाराज भोजका युग उदित हो जायगा।

कथानक इस प्रकार है—किसी समय एक ब्राह्मणको इन्धनके भारसे अतिश्रान्त होते हुए देख महाराज भोजने पूछा—

'भूरिभारभराक्रान्तस्तव स्कन्धो न बाधति ?'

ब्राह्मणने उत्तर दिया—

'न तथा बाधते राजन् ! यथा 'बाधति' बाधते ॥'

व्याकरण

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति—शब्दज्ञानजनकं
। जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। व्य
म महाभाष्यकारने 'शब्दानुशासन' रखा है (अनुशिष्यन्ते
विच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासनं
व्याख्यानादिस्वरूपं शास्त्रम्)। संस्कृतवाङ्मयमें

शास्त्रका स्थान सबसे ऊँचा है, क्योंकि व्याकरण शास्त्रके ज्ञानके विना वेदार्थ या स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तरका ज्ञान हो ही नहीं सकता। कहा भी है—

> यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
> ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
> यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
> शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥ (भास्कराचार्य)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गों में व्याकरण वेदका मुखरूप प्रधान अङ्ग है, जैसा कहा है—

> मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
> निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदैः॥
> शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।

किं बहुना, 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचन का उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है— 'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'। इत्यादि उक्तिसे भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्रके लिये मुख्यतः व्याकरणशास्त्रका ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है।

व्याकरणका प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मयमें ऐन्द्र तन्त्र सबसे पुराना है। बृहस्पतिने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष निरन्तर भगवान् इन्द्रको प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा है—

> 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच'

बोपदेवने भी निम्न आठ शाब्दिकोंमें सबसे पहले इन्द्रका ही नाम लिया है—

> इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः।
> पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

पाणिनीय व्याकरण—

संस्कृतवाङ्मयके व्याकरणोंमें सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबुद्ध रचनाकी प्रशंसा विश्वका प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठसे करता है। यह प्राचीन आर्ष वाङ्मयकी निधि है और भारत की अनुपम देन है। विश्वमें अभीतक किसी भी भाषाका व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बन सका है। यह व्याकरण **'त्रिमुनिव्याकरण'** नामसे प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियोंमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रम हुए हैं।

(१) महामुनि पाणिनि

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें 'श्रवण' और 'यवन' शब्दोंको देखकर पाणिनिको कोई बुद्धसे और कोई यवनसे उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान व्याकरण शास्त्रके मनोनीत इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसकने अपने इतिहास (पृ० १३६) में किया है। मीमांसकजीने महामुनि पाणिनिको विक्रमसे लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। गणतन्त्रमहोदधिमें **'शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः, तत्र भवान् पाणिनिः'** इस व्युत्पत्तिसे शालातुर नामक ग्राम पाणिनिका जन्मस्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तानमें 'लाहौर' नामसे प्रसिद्ध है। पाणिनिके पिताका नाम महर्षि पाणि और माताका नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है—**'दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'** पाणिनिके गुरुका नाम 'उपवर्षाचार्य'* था जो नन्दराजके राज्यकालमें नालन्दा विश्वविद्यालय' (बिहार) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। पाणिनिने अपनी घोर तपस्यासे आशुतोष भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर उनके उपदेश और आदेशसे गुरुके आश्रम (बिहार) में ही अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपा लिङ्गानुशासन आदि की रचना की थी। आचार्योंने कहा भी है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

(२) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्य थे। पूर्वाचार्योंने कात्याय

* कोई इतिहासकार इन्हें 'वर्षाचार्य' भी कहते हैं।

जो महर्षि याज्ञवल्क्यका आत्मज माना है। उनके मतसे स्मृतिकार और वार्तिककार दोनों एक ही कात्यायन हैं। 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' इस महाभाष्यसे सिद्ध होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे। पर उसकी पुष्टि निम्नरीतिसे स्कन्दपुराणके वचनका समन्वय करनेपर ही हो सकती है।

स्कन्दपुराणमें लिखा है—'मिथिलाके ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यका एक आश्रम (पीठ) आनर्त (गुजरात) प्रदेशमें भी था।' संभव है उसी प्रकार महामुनि कात्यायनका भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेशमें रहा होगा और वहींपर उनका समय व्यतीत होनेसे कममें वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे।

वार्तिककारोंमें महामुनि कात्यायन सबसे श्रेष्ठ हुए। उनके वार्तिक निम्न वार्तिकलक्षणोंसे सर्वथा पूर्ण हैं—

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

कात्यायनका वार्तिकपाठ पाणिनिव्याकरणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरणके आलोकमें अन्य कोई भी व्याकरण पनप नहीं सका है। महामुनि कात्यायनका ही दूसरा नाम 'वररुचि' है। ये स्मृतिकार और वार्तिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे। इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्यकी प्रशंसा अनेक ग्रन्थोंमें की गयी है, जैसा कि लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥

(३) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य व्याकरणका सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। सभी वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ न केवल व्याकरणशास्त्रका ही प्रामाणिक ग्रंथ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मयका आकर-ग्रंथ है। भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

भगवान् पतञ्जलिने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ पातञ्जलयोगसूत्र, पाणि[illegible] महाभाष्य और चरकसंहिता—इन तीनों ग्रंथों की रचना की, जैसा कि कैय[illegible] अपनी महाभाष्यकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यके[illegible]
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

भगवान् पतञ्जलिके विषयमें निम्न इतिवृत्त प्रसिद्ध है—

आचार्योंका कहना है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों उपवर्षाचार्यनामक एक ही गुरुके शिष्य थे। अध्ययनके समय कात्यायनकी प्रखर बुद्धिके म[illegible] बहुधा पाणिनिको हतप्रभ हो जाना पड़ता था। अतः पाणिनि तीर्थराज प्रयाग[illegible] अक्षयवटके नीचे—जहाँ सनकादि ऋषिगण तप कर रहे थे, वहीं जाकर [illegible] तपस्या करने लगे। कुछ दिनोंके पश्चात् उन लोगोंकी विकट तपश्चर्यासे प्रसन्न हो[illegible] आशुतोष भगवान् शंकरने ताण्डव नृत्य करते हुए उन लोगोंको दर्शन दिया औ[illegible] १४ बार अपना डमरू बजाकर उन तपस्वियोंका अभीष्ट सिद्ध किया, जैसा [illegible] नन्दिकेश्वरविरचित काशिकामें लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

पाणिनिको उसी डमरूके शब्दोंसे चतुर्दश माहेश्वरसूत्र उपलब्ध हुए और उन्हीं सूत्रोंके आधारपर पाणिनिने सुबद्ध अष्टाध्यायीकी रचना की, जिसे देखकर कात्यायन चकित हो उठे और तत्क्षण ही उन्होंने अष्टाध्यायीमें दोष निकालनेकी प्रतिज्ञा कर ली। भगवान् महेश्वरकी तपश्चर्यासे उन्होंने भी अष्टाध्यायीके अनुक्त-दुरुक्त-पुनरुक्तादि दोषोंके उद्धरणस्वरूप पाणिनीय व्याकरणपर वार्तिकका एक विशाल ग्रंथ ही रच डाला। पाणिनिको कात्यायनका यह द्वेष असह्य हो उठा। उन्होंने आवेशमें आकर कात्यायनको तत्क्षण दिवङ्गत हो जानेका शाप दे दिया। कात्यायन भी इसे न सह सके। उन्होंने भी तमककर आचार्य पाणिनिको सूर्योदय से पहले सिंहद्वारा ग्रसित हो जानेका महाशाप दे दिया। फलस्वरूप दोनों आचार्य

बोल उठा—'अहो! तुम तो पाणिनीय वैयाकरण जान पड़ते हो, क्या तुम्हें पातञ्जलमहाभाष्य पढ़नेकी इच्छा है?' यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस वृक्षके नीचे बैठ गया। तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच वट-पत्रके ऊपर अपने नखाग्रसे महाभाष्य लिख-लिखकर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उसे बटोरने लगा। इतनेमें एक बकरी आई और इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वटपत्रोंको खा गयी। इसीलिए महाभाष्यमें यत्र-तत्र **'अजाभक्षितमेतत्'** ऐसा लिखा है। महाकवि श्रीहर्षने भी महाभाष्यके विषयमें निम्न पद्य गाया है—

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
'फणिभाषितभाष्यफक्किका' विषमा कुण्डलनामवापिता॥

अष्टाध्यायीके व्याख्याकार

पाणिनीय अष्टाध्यायीके ऊपर आचार्य कुणि; आचार्य व्याडि आदि कतिपय प्राचीनाचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका आदिकी रचना की है, परन्तु 'त्रिमुनिव्याकरणम्' सिद्ध हो जानेके पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामनने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी। परन्तु उससे बालकोंको व्याकरणका परिज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अतः वि० सं० १४०० में आठों व्याकरणके ज्ञाता पं० रामचन्द्राचार्यने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु उसमें भी अष्टाध्यायीके समस्त सूत्रोंका सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनताको पूर्ण करनेके लिये वि० सं० १५१०-१५७५ के मध्यवर्ती म० म० भट्टोजिदीक्षितने सम्पूर्ण अष्टाध्यायीके सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठसे सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा। इसकी सुललित और सुबद्ध रचनाशैलीको देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थकी स्तुति निम्नरीतिसे करने लगे—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनके पूज्य पिता दुर्गातनय और गुरु महामहोपाध्याय श्री भट्टोजिदीक्षित थे। आचार्य वरदराजने अध्ययनके पश्चात्

अपने गुरुकी आज्ञासे सिद्धान्तकौमुदीके पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक मनोनीत ग्रन्थकी रचना की। वरदराजका यह प्रथम प्रयास आरंभिक छात्रोंके लिये संस्कृतका सबसे उत्तम सोपान सिद्ध हुआ। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी।

स्वतन्त्र राष्ट्र यदि संस्कृतका स्तर ऊँचा करना चाहता है तो उसे वरदराजकी सर्वप्रथम स्तुति करनी होगी। संस्कृत व्याकरणका त्वरित और पूर्ण ज्ञान करानेमें वरदराजकी लघुसिद्धान्तकौमुदीके समान कोई भी अन्य ग्रन्थ वर्तमान संस्कृत-संसारमें उपलब्ध नहीं होता और न हो सकता है। यह अनुभूत सत्य है।

लघुकौमुदीकी रचनाके पश्चात् वि० सं० १६५० में आचार्य वरदराज अपने गुरुकी 'सिद्धान्तकौमुदी'को लघुरूपमें संकलित कर 'मध्यकौमुदी'के भी सफल ग्रन्थकार हुए। आचार्यकी यह द्वितीय कृति भी स्तुत्य है ('मध्यकौमुदी' की समीक्षा 'इन्दुमती' टीका सहित 'मध्यकौमुदीकी प्रस्तावना'में देखिये)।

इस संस्करणके सुसम्पादनमें मुझे अपने अनेक मित्रों, आचार्यों तथा उनके सम्पादित जिन ग्रंथोंसे सहायता मिली है उनमें आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणिजीका नाम सर्वोपरि है। अतः मैं उन सबका कृतज्ञ होते हुए सिद्धान्त-शिरोमणिजीका सबसे अधिक कृतज्ञ हूँ। इसके परिशिष्ट प्रकरणको सुसज्जित करनेमें मित्रवर व्या० न्या० आचार्य, लब्धस्वर्णपदक, दरभङ्गास्थ राजकीय प्रथम धौतप्रतिष्ठ श्री पं० शोभित मिश्रजीका अधिक हाथ रहा है अतः उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना भी मेरा पावन कर्तव्य है।

प्रस्तुत टीका, नोट्स, परिशिष्ट आदिके विषयमें गुण-दोषोंकी विवेचना करना मैं पाठक तथा आचार्योंके ऊपर ही छोड़ता हूँ। क्षीर-नीर-विवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे तथा आचार्य गण अपनी आशीर्वादात्मक सम्मतियाँ प्रदान कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

विनीत
—रामचन्द्र झा

'इन्दुमती' स्मृतिदिवस
श्रा० शु० एकादशी
सं० २००९

विषयसूची

परिशिष्टसूची

शिवसूत्र-प्रत्याहार

स्यादेको ङञणवटैः, षेण द्वौ, त्रय इह कणमैश्च ।
चत्वारश्च चयाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट् ॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ ।

अच्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।

अण्—अ, इ, उ ।

अट्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र ।

अण्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

अम्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

अल्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

अश्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

इक्—इ, उ, ऋ, ऌ ।

इच्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।

इण्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

उक्—उ, ऋ, ऌ ।

एङ्—ए, ओ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।

ऐच्—ऐ, औ ।

खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

ङम्—ङ, ण, न ।

चय्—च, ट, त, क, प ।

चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

छव्—छ, ठ, थ, च, ट, त ।

जश्—ज, ब, ग, ड, द ।

झय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

झर्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

झल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

झश्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

झष्—झ, भ, घ, ढ, ध ।

बश्—ब, ग, ड, द ।

भष्—भ, घ, ढ, ध ।

—म, ङ, न, च, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

ञ्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ ।

यण्—य, व, र, ल ।

यम्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

यय्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

यर्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

रल्—र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वल्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

वश्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

शर्—श, ष, स ।

शल्—श, ष, स, ह ।

हल्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

हश्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

स्वरोंका अष्टादशभेदज्ञापक चक्र—

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ ” उदात्ताननुनासिक	८ ” उदात्ताननुनासिक	१४ ” उदात्ताननुनासिक
३ ” अनुदात्तानुनासिक	९ ” अनुदात्तानुनासिक	१५ ” अनुदात्तानुनासिक
४ ” अनुदात्ताननुनासिक	१० ” अनुदात्ताननुनासिक	१६ ” अनुदात्ताननुनासिक
५ ” स्वरितानुनासिक	११ ” स्वरितानुनासिक	१७ ” स्वरितानुनासिक
६ ” स्वरिताननुनासिक	१२ ” स्वरिताननुनासिक	१८ ” स्वरिताननुनासिक

अइउण् १ । ऋलृक् २ । एओङ् ३ । ऐऔच् ४ । हयवरट् ५ । लण् ६ । ञमङणनम् ७ । झभञ् ८ । घढधष् ९ । जबगडदश् १० । खफछठथचटतव् ११ । कपय् १२ । शषसर् १३ । हल् १४ ।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञाऽर्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

'लण्' मध्येत्विति (ई०४०)—'लण्' सूत्रे लकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्येत्संज्ञकत्वादेव 'र' प्रत्याहारस्य सिद्धिर्भवति । अत एव 'तवल्कारः' इत्यत्र 'उरण् रपरः' इत्यनेन लपरत्वं सिद्धम् ।

अइउण्—इन्हीं चतुर्दश (१४) सूत्रोंके आधार पर महर्षि पाणिनिने समस्त व्याकरणकी सभी बातें सरलरूपेण संक्षेप में कही हैं। **इति माहेश्वराणि**—ये चतुर्दश माहेश्वर सूत्र अण्, अक् 'अच् इत्यादि संज्ञा (प्रत्याहार) सिद्धिके लिए हैं। (आचार्य पाणिनिने भगवान् शंकरका अतिशय प्रिय डमरुके शब्दोंसे इन सूत्रोंको उपलब्ध किया था।)

नोट :—आचार्य पाणिनि और कात्यायन दोनों पाटलिपुत्र (पटना) के महाप्राज्ञ श्री प० (उप)वर्षाचार्यजीके शिष्य थे। सतीर्थ होनेके कारण दोनोंमें परस्पर शाश्वतिक विरोध रहता था। एकदा कात्यायनसे परास्त होकर पाणिनि तीर्थराज प्रयागमें अक्षयवटके नीचे जहाँ सनकादि ऋषि गण तप कर रहे थे वहीं जाकर घोर तपस्या करने लगे। अनन्तर उन तपस्वियोंकी विकट तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर एक दिन आशुतोष भगवान् शङ्करने ताण्डव नृत्य करते हुए उन लोगोंको दर्शन दिया और १४ बार अपना डमरु बजाकर तपस्वियोंका अभीष्ट सिद्ध किया। जैसा कि नन्दिकेश्वर विरचित 'काशिका' में लिखा है:—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव-पञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

एषाम्—यह प्रतिज्ञा वाक्य है। इन चतुर्दश सूत्रोंके अन्तिम वर्ण (ण्, क् आदि) इत्संज्ञावाले हैं—वक्ष्यमाण 'हलन्त्यम्' सूत्रसे इनकी इत्संज्ञा हो जाती है। **हकारादि**—हकारादि वर्णोंमें संमिलित जो अकार है वह केवल वर्णोच्चारण करनेके लिये है—इत्संज्ञाके लिये नहीं। **लण्मध्ये**—'लण्' सूत्रके मध्यमें (लकारोत्तरवर्ती) जो अकार है वह इत्संज्ञक है—उच्चारण मात्रके लिये नहीं। क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहारकी सिद्धि होती है।

नोट :—जो जो प्रश्न जिन जिन वर्षोंमें आये हैं उन उन वर्षों (ईस्वियों) की संख्या का उल्लेख संस्कृत टीकामें सर्वत्र कोष्ठकमें कर दिया गया है।

हलन्त्यम् १।३।३॥ उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र। **अदर्शनं लोपः १।१।६०॥** प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्॥ **तस्य लोपः १।३।९॥** तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः। **आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१॥** अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा-'अण्'-इति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्-हल्-अलित्यादयः। **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।**

आदिरन्त्येन सहेता (ई० ४८,५१)—'आदिः-अन्त्येन-सह-इता' इति सूत्रविभागः। अत्र सूत्रे आद्यन्तशब्दाभ्यां मध्यगा आक्षिप्यन्ते, 'स्वं रूपम्' इति पूर्वसूत्रात् 'स्वम्' इत्यनुवर्तते। ततश्च 'अन्त्येन इता सह उच्चार्यमाणः आदिः (अण् अच्, इत्यादिरूपः) मध्यगानां स्वस्य च प्रत्याहारसंज्ञेति सूत्रार्थो लभ्यते। उदाहरणं यथा—'अ इ उ ण्' इति सूत्रघटकः 'अण्' इति। अत्र अन्त्यसंज्ञकवर्णः 'ण्' इति, तेन सह उच्चार्यमाणः आदिवर्णः 'अ-ण्' इति, स (अ-ण्) मध्यगानाम् (इ, उ, इत्यनयोः) स्वस्य ('अ' इत्यस्य) च बोधको भवति। एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (ई० ४८)—ननु हलामर्धमात्रिकत्वेन वां काल इव

हलन्त्यम्—उपदेश अवस्था में जो अन्त्य हल् (व्यञ्जन वर्ण) उनकी इत्संज्ञा हो।

उपदेश आद्योच्चारणम्—आद्य (प्रथम) उच्चारणको 'उपदेश' कहते हैं।

नोट :—व्याकरण शास्त्रके प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि मुनिका जो आद्योच्चारण है उसीका नाम 'उपदेश' है। कहा भी है:—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

सूत्रेष्वदृष्टम्—सूत्रोंमें जो पद नहीं दिखलाई पड़े उसका दूसरे सूत्रोंसे अनुवर्तन (अध्याहार) कर लेना चाहिये। **अदर्शनम्**—प्रसक्त (शास्त्रतः वा अर्थतः विद्यमान—प्राप्तोच्चारण) का जो अदर्शन (श्रवणाभाव) वह लोपसंज्ञक होता है-उस अभावको लोप कहते हैं। **तस्य लोपः**—जिसकी इत्संज्ञा होती है उसका लोप हो जाता है। **आदिरन्त्येन**—अन्त्य इत्संज्ञक वर्णके साथ उच्चारित आदिवर्ण अपने तथा मध्यवर्ती वर्णोंका भी बोधक हो।

नोट :—'अ इ उ ण्' सूत्रघटक 'अण्' प्रत्याहारमें अन्त्य इत्संज्ञक 'ण्' के सहित उच्चारित आदिवर्ण हुआ 'अ-ण्'। वह 'अ-ण्' अपने बीचके इ, उ, का तथा अपना अर्थात् 'अ' का भी बोधक हुआ (एवम् अन्यत्रापि)।

अण् इति—यथा 'अण्' प्रत्याहार अ, इ, उ वर्णोंकी संज्ञा (बोधक) है इसी प्रकार अच्, हल् आदि प्रत्याहारों को भी जानना चाहिये। **ऊकालो**—उकाल, ऊकाल, उ३काल

त्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १ । १ । ६९ ॥ प्रतीयते-विधीयते-इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाऽण् परेण णकारेण । कु-चु-टु-तु-पु एते उदितः । तदेवम्-अ इत्यष्टादशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवम्-लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाऽनुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोस्संज्ञा ॥ **परः सन्निकर्षः संहिता** १ । ४ । १०९ ॥ वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् । **हलोऽनन्तराः संयोगः** १।१।७ ॥ अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः ॥ **सुप्तिङन्तं पदम्** १ । ४ । १४ ॥ सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ॥

* इति संज्ञाप्रकरणम् *

संहितालक्षणं—'स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन शून्यत्वं संहितात्वम्' ।
इति 'इन्दुमती' टीकायां संज्ञाप्रकरणम्

अणुदित्सवर्णस्य—(ई० ४२, ४५)—जो विधान किया जाय वह प्रत्यय और तद्भिन्न अप्रत्यय कहलाता है । एवं च सूत्रार्थ यह हुआ कि—जिसका विधान न किया गया हो ऐसा अण् (प्रत्याहार) और उदित् (कु चु टु तु पु) अपने सवर्णके बोधक हों । फल यह हुआ कि 'अस्य च्वौ' सूत्रमें ह्रस्व अकारसे दीर्घ आकारका भी ग्रहण हुआ और उससे 'गाङ्गी भवति'में 'गङ्गा' के आकारका ईत्वविधान सफल हुआ । **अत्राण्**—केवल इसी (अणुदित्) सूत्रमें 'अण्' प्रत्याहार पर ('लण्' सूत्रस्थ) णकारसे समझना चाहिये । तथा च हरिकारिका—

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः । ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

कुचु—'कु चु टु तु पु' ये उदित् कहलाते हैं । **तदेवं**—तस्मात् इस प्रकार यथा 'अ' अष्टादश (१८) की संज्ञाबोधक है तथा इकार, उकार भी अष्टादशकी संज्ञाबोधक हैं । ऋकार (ऌकारके सवर्ण होनेसे) तीसकी संज्ञाबोधक है । एवं ऌकार भी (ऋके सवर्ण होनेसे) तीसकी संज्ञाबोधक है और एच् ('ए ओ ऐ औ') ह्रस्व न होनेसे बारहकी संज्ञाबोधक है । **अनुनासिक**—अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे 'य व ल' दो-दो प्रकार के होते हैं । इसलिये अनुनासिक 'य व ल' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनोंकी संज्ञाबोधक है । **परः सन्निकर्षः**—वर्णों की अत्यन्त सन्निधि की संहिता संज्ञा होती है । **हलोऽनन्तराः**—'अच्' वर्ण व्यवधानसे रहित व्यञ्जन वर्णों की संयोगसंज्ञा होती है । **सुप्तिङन्तम्**—सुबन्त और तिङन्तकी पदसंज्ञा होती है ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' हिन्दी टीकामें संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ अच्सन्धिप्रकरणम् ।

इको यणचि ६।१।७७॥ इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते । तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १ । १ । ६६ ॥ सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्यः बोध्यम् । स्थानेऽन्तरतमः १ । १ । ५० ॥ प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुध्य् उपास्य इति जाते । अनचि च ८।४ ४७॥ अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो, न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् । झलां जश् झशि ८ । ४ । ५३ ॥ स्पष्टम् । इति पूर्वधकारस्य दकारः । संयोगान्तस्य लोपः ८ । २ । २३ ॥ संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य १ । १ । ५२॥ षष्ठीनिर्निष्टोऽन्त्यस्याऽल दादेशः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते । ※यणः प्रतिषेधो वाच्यः※ सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः ।

सुध्युपास्यः (ई० ३७)–'सुधी उपास्यः' इति स्थिते 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति 'स्थानेन्तरतमः' इति च परिभाषाद्वयसहकारेण ईकारस्य यणि कृते 'अनचि

इको—'इक' के स्थानमें 'यण' आदेश हो 'अच्' परे रहने पर–संहिताके विषयमें ।

नोट :—संहिता सर्वत्र नित्य होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छा पर रहती है । उक्तंच–
संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

(क) 'इ' के बाद इ भिन्न स्वर वर्ण रहने पर इके स्थान में 'य्' होता है । (ख) 'उ' के बाद उभिन्न स्वर वर्ण रहने पर उके स्थानमें 'व्' होता है । (ग) 'ऋ के बाद ऋभिन्न स्वर वर्ण रहने पर ऋके स्थानमें रेफ होता है और वह पर वर्णसे युक्त हो जाता है । (घ) 'ऌ' के बाद ऌभिन्न स्वर वर्ण रहने पर ऌके स्थानमें 'ल्' हो जाता है !

तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पदका उच्चारण करके विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तरसे अव्यवहित पूर्वके स्थानमें हो । **स्थाने**—प्रसंग रहने पर सदृशतम आदेश हो—अर्थात् एक स्थानीके स्थानपर एक ही साथ कई आदेशोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें जो सबसे अधिक स्थानीके सदृश हो वही आदेश हो । **अनचि च**—अच्से परे यर्को विकल्पसे द्वित्व हो । परन्तु उसी यर्से पर यदि अच् भी रहे तो द्वित्व नहीं हो । **झलांजश्**—झलोंके स्थानमें जश् आदेश हो झश् परे रहने पर । **संयोगान्तस्य**—जिस पद के अन्तमें संयोग (संयुक्त अक्षर) हो उसके अन्त्य अक्षरका लोप हो । **अलोऽन्त्यस्य**—षष्ठीनिर्देशेन विधीयमान जो कार्य वह अन्त्य 'अल्' के स्थान में हो—अर्थात् षष्ठयन्तका निर्देशकर जहाँ (जिस उदाहरणमें) आदेशका विधान किया गया हो वहाँ अन्त्यवर्णको आदेश हो । **यणः**—'संयोगान्तस्य लोपः'

एचोऽयवायावः ६ । १ । ७८ ॥ एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि । **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** १।३।१० ॥ समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ॥ **वान्तो यि प्रत्यये** ६ । १ । ७९ ॥ यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । **ॐअध्वपरिमाणे च** । गव्यूतिः । **अदेङ् गुणः** १ । १ । २ ॥ अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात् । **तपरस्तत्कालस्य** १।१।७० ॥ तः परो यस्मात्स च तात्परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव संज्ञा स्यात् । **आद्गुणः** ६। १। ८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः

च' इत्यनेन धकारस्य द्वित्वे 'सु ध् ध् य् उपास्यः' इति जाते 'झलां जश् झशि' इति पूर्वधकारस्य दकारे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति यलोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन निषेधे 'सुद्ध्युपास्यः' इति । द्वित्वाभावपक्षे 'सुध्युपास्यः' इति ।

गव्यम् (ई० ५२ ५५)-(गोशब्दात् 'गोपयसोर्यत्' इति विकारार्थे यत्प्रत्यये कृते) 'गो यम्' इति स्थिते 'वान्तो यि प्रत्यये' इति ओकारस्य अवादेशे 'गव्यम्' इति ।

गव्यूतिः (ई० ३८, ४३, ४८)—(गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः) 'गो यूतिः' इति स्थिते 'अध्वपरिमाणे च' इति वार्तिकेन यूतिशब्दे परे मार्गपरिमाणेऽर्थे गम्यमाने गोशब्दस्य ओकारस्य स्थाने अवादेशे 'गव्यूतिः' इति ।

इस सूत्रका यह वार्तिक है, अतः इसका अर्थ यह होता है कि-संयोगान्त पदके अन्तिम वर्ण यण्के लोपका प्रतिषेध कहना चाहिये—अर्थात् उसका लोप नहीं हो। **एचो**—एच्के परे अच् रहे तो एच्के स्थानमें यथाक्रमसे अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हों। **यथासंख्य**—समसंबन्धी विधि यथासंख्येन हो।

नोट:—स्थानी और आदेशकी समान संख्या होने पर आदेशकी प्रवृत्ति यथाक्रमसे अर्थात् प्रथमको प्रथम, द्वितीयको द्वितीय, तृतीयको तृतीय इस प्रकारसे होती है।

वान्तो—यकारादि प्रत्ययके परे 'ओत्-औत्' को वान्त (अव्, आव्) आदेश हो। **अध्व**—अध्व (मार्ग) के परिमाण (नाप) वाच्य हो तो गोशब्दको यूति शब्दके परे वान्त आदेश हो। **अदेङ्**—ह्रस्व अकार औ ए-ओकी गुणसंज्ञा हो। **तत्परः**—तकार रहे परमें जिसके अथवा तकारसे परमें जो रहे, वह अपने समकालकी संज्ञाबोधक हो।

नोट:—सूत्रमें 'तपरः' से 'तः परो यस्मात् तपरः' और 'तात् परः तपरः' ये दो अर्थ निकलते हैं। दोनों का उदाहरण 'अदेङ्गुण.' सूत्रमें 'अत्-एङ्' है। यहाँ अकारसे पर तकार है अतः ह्रस्व 'अ की तथा तकारसे पर 'एङ' है। अतः 'एङ्' से 'ए—ओ' मात्र की गुणसंज्ञा होती है।

आद्गुण:—अवर्ण से परे अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें एक गुण आदेश हो।

स्यात् । उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ॥ उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२॥ उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थाऽवर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा ॥ उरण् रपरः १।१।५१॥ 'ऋ' इति त्रिंशतः सञ्ज्ञेत्युक्तम् । तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः । लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९॥ अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे । पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१॥ सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् । हर इह । हरयिह । विष्ण इह । विष्णविह ।

उपेन्द्रः (ई० ५०)—'उप इन्द्रः' इतिस्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'उपेन्द्रः' इति ।

कृष्णर्द्धिः (ई० २६, ४०, ४७, ५२, ५४)—'कृष्ण ऋद्धिः' इत्यवस्थायाम् 'ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवे'ति भाष्योक्त्या 'आद्गुणः' इत्यनेन अकारऋकारयोः स्थाने गुणे अकारे कृते 'उरण् रपरः' इत्यनेन रपरत्वे 'कृष्णर्द्धिः' इति ।

हर इह (ई० ३२, ३३, ४१)—'हरे इह' इत्यवस्थायाम् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन एकारस्य अयादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति विभाषया यलोपे 'हर इह' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इत्यनेन यलोपस्याऽसिद्धत्वाद् गुणाभावे 'हर इह' इति । यलोपाभावे 'हरयिह' इति च ।

उपदेशे—उपदेशावस्थामें अनुनासिक-विशिष्ट जो अच् वह इत्संज्ञक हो । प्रतिज्ञा—पाणिनिके कहे हुए वर्णोंका अनुनासिक होना उनकी प्रतिज्ञा (सूत्रनिर्देश) से जानना चाहिये ।

नोट :—'सु'का उकार और 'सुप्'का पकार अनुनासिक है, इसका निश्चय 'प्रत्ययः परश्च' 'बहुषु बहुवचनम्', इत्यादि स्थलोंमें प्रथमैकवचनान्त और सप्तम्येकवचनान्त पद-निर्देश से होता है ।

लणसूत्रस्थ—'लण्' सूत्रस्थ जो अवर्ण, तत्सहित उच्चार्यमाण जो रेफ वह र—लकी संज्ञाबोधक हो ।

नोट :—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः, लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः, ऐसा कहा जा चुका है । अतः हयवरट् सूत्रके 'र्' तथा 'लण्' सूत्रके लकारोत्तर 'अ' को लेकर र् + अ = 'र' प्रत्याहार बनता है । यह भी अणादि प्रत्याहारके समान ही अपने मध्य वर्ण लकारका तथा अपना भी बोधक है । इसीलिये आगेके सूत्रमें रपरसे लपर भी किया जायगा ।

उरण्—(तीस प्रकारके संज्ञाप्रकरणोक्त) ऋ ऌ के स्थानमें जायमान जो अण् (आदेश) वह यथासंख्येन रपर और लपर होकर ही प्रवृत्त हो । लोप :—अवर्णपूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप हो, विकल्प से, अश् के परे । पूर्वत्रा—सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र (शास्त्र) के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र असिद्ध हो और त्रिपादीमें भी पूर्वके प्रति पर सूत्र असिद्ध हो ।

नोट :—प्रथमसे अष्टम अध्यायके प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्यायके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पाद मात्र त्रिपादी है ।

वृद्धिरादैच् १।१।१।। आदैच्च वृद्धिसञ्ज्ञः स्यात् । **वृद्धिरेचि** ६। १। ८८।। आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् । **एत्येधत्यूठ्सु** ६ । १ । ८९ ।। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् । **अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्** । अक्षौहिणी सेना । **प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु** । प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । **ऋते च तृतीयासमासे** । सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् ? परमर्तः । **प्र-वत्सतर-कम्बल-वसना-र्ण-दशानामृणे** । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम्-इत्यादि ।। **उपसर्गाः क्रियायोगे** १।४।५६।। प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप एते प्रादयः ।। **भूवादयो धातवः** १।३।१।। क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः

प्रार्णम् (ई० ३८)—'प्र ऋणम्' इत्यवस्थायाम् 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे' इति वृद्धौ 'उरण् रपरः' इति तस्य रपरत्वे 'आर्णम्' इति। 'भूवादयः'(ई०५१)-भूश्च वाश्च भूवौ । आदिश्च, 'आदिश्च' आदी। भूवौ आदी येषान्ते 'भूवादयः' इत्येकं पदम्, 'धातवः' इत्यपरम्। क्रियावाचिनो भ्वादयो

वृद्धिरादैच्—आत (आ), ऐच् (ऐ औ) की वृद्धिसंज्ञा हो । **वृद्धि**—अवर्णसे परे 'एच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो । **गुणा**—यह सूत्र गुणका अपवादक है।

नोट:—जहाँ जहाँ वृद्धि की प्राप्ति होती है वहाँ २ 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि गुण हो जाय तो वृद्धिविधान व्यर्थ हो जायगा—गुणविधान तो 'उपेन्द्रः' में चरितार्थ है । अतः गुणका अपवाद 'वृद्धिरेचि' हुआ—**'निरवकाशो विधिरपवादः'** ।

एत्ये—अवर्णसे एजादि इण् धातु (एति), एध धातु (एधते) और ऊठ् परे हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो । **अक्षा**—अक्षशब्दावयव अवर्णसे पर ऊहिनीशब्दावयव 'अच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (यह गुणका अपवादक है) **प्रादू**—प्रशब्दावयव अवर्णसे पर ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य-शब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो। (यह गुण और पररूपका बाधक है) **ऋते च**—अवर्णसे पर ऋतशब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो—तृतीया समासमें । (यह गुणका बाधक है) **प्रवत्सत**-प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसनशब्दावयव, ऋणशब्दावयव, दशनशब्दावयव-अवर्णसे पर ऋणशब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो। (यह गुणका बाधक है) **उपसर्गाः**—क्रियाके योगमें प्रादिकी उपसर्गसंज्ञा हो। (प्रादि २२ हैं) **भूवादय**—क्रियावाचक भू आदिकी धातुसंज्ञा हो।

स्युः । उपसर्गादृति धातौ ६ । १ । ९१ ॥ अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति । एङि पररूपम् ६। १। ९४॥ आदुपसर्गादेङादौ धातौ पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति । अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४॥ अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् । *शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । मनीषा । आकृतिगणोऽयम् । मार्त्तण्डः । ओमाङोश्च ६। १। ९५॥ ओमि आङि चाऽत्परे पररूपमेकादेशः स्यात् ।

धातुसंज्ञाः स्युः' इति सूत्रार्थः । उदाहरणं तु 'प्रार्च्छति' इति । अत्र 'ऋच्छति' इत्यस्यानेन धातुसंज्ञात्वेन 'उपसर्गादृति धातौ' इति वृद्धिर्भवति ।

प्रार्च्छति (ई० ४१, ४८, ५२, ५६)—'प्र ऋच्छति' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इत्यनेन 'प्र' इत्यस्योपसर्गसंज्ञायाम् 'भूवादयो धातवः' इत्यनेन 'ऋच्छति' इत्यस्य धातुसंज्ञायां च सत्यां 'उपसर्गादृति धातौ' इति पूर्व-परयोः स्थाने वृद्धौ 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'प्रार्च्छति' इति ।

प्रेजते (ई० ५१)—'प्र एजते' इति स्थिते 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इति 'प्र' इत्यस्योपसर्गसंज्ञायाम् 'एङि पररूपम्' इति पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे 'प्रेजते' इति ।

शकन्धुः (ई० ४२)—'शक अन्धुः' इत्यवस्थायाम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इति वार्तिकेन पर-रूपे कृते उक्तं रूपं सिद्धम् । (अत्र तच्च पररूपं टेः=टिसंज्ञकस्य, भवति । टिसंज्ञा च 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन ककारोत्तरवर्ति-अकारस्य भवतीति बोध्यम्)

उपसर्गादृति—अवर्णान्त उपसर्गसे ऋकारादि धात्ववयव अच् पर में हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश हो । एङि—अवर्णान्त उपसर्गसे एङादि धात्ववयव अच् पर हो तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो ।

नोट :—पररूप होनेपर पूर्व वर्णका पर वर्णके समान रूप हो, याने पूर्व वर्ण (अ) का दर्शनाभाव हो जाय ।

अचो—अचोंके मध्यमें जो अन्त्य अच् यह है आदिमें जिसके उस समुदायकी टिसंज्ञा हो ।

नोट :—'शक × अन्धुः' यहाँ पर 'शक' में जो ककारोत्तरवर्ती अकार है वह किसीके आदिमें नहीं है । इसलिये व्यपदेशिवद्भावसे यहाँ 'अ' की टिसंज्ञा होगी । परन्तु 'मनस् × ईषा' यहाँ पर 'मनस्' में जो नकारोत्तरवर्ती 'अ' है, वह 'स्' के आदिमें है । अतः यहाँ 'अस्' की टिसंज्ञा होगी ।

शकन्ध्वा—शकन्ध्वादि गणपठित शब्दोंकी सिद्धिके लिये पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो, और वह पररूप टिको हो । ओमा—अवर्णसे पर ओम् या 'आङ्' हो तो

शिवायोंनमः । शिव-एहि । **अन्तादिवच्च** ६।१।८५।। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्याऽन्तवत्परस्यादिवत्स्यात्।शिवेहि। **अकः सवर्णे दीर्घः** ६।१।१०१।। अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । होतॄकारः । **एङः पदान्तादति** ६। १। १०९।। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव । **सर्वत्र विभाषा गोः** ६।१।१२२।। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात् पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् ? चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् ? गोः । **अनेकाल् शित्सर्वस्य** १।१।५५।। अनेकाल् य आदेशः शिदादेशश्च स सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ॥—इति प्राप्ते **ङिच्च** १।१।५३।। ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् **अवङ्** । **स्फोटायनस्य** ६ । १ । १२३ ॥ पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । पदान्ते किम् ?

शिवेहि (ई० ३०, ३२, ३५, ३९, ४३, ४५, ४९, ५५)—'शिव आ इहि' इत्यवस्थायां 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इत्यन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घस्याऽसिद्धत्वेन पूर्वम् 'आ इह' इत्यत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'शिव एहि' इति स्थिते 'अन्तादिवच्च' इत्यनेन अन्तवद्भावमादाय 'ओमाङोश्च' इत्येनेन पररूपे 'शिवेहि' इति सिद्धम् ।

गवाग्रम् , गो अग्रम् , गोऽग्रम् (ई० ३३, ३४, ३७, ३९, ४१, ४३, ४५, ४७, ५०, ५३)—'गो अग्रम्' इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशः प्राप्तः तं प्रबाध्य 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावः प्राप्तः तमपि परत्वात् प्रबाध्य 'अवङ् स्फोटायनस्य' इति अग्रमित्येतद्घटकाऽकारे परे पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य 'गो' इत्यस्य अवङादेशः प्राप्तः, स च अवङादेशः कुत्र स्यादिति प्रश्ने अवङः अनेकाल्त्वात् 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' इत्यनेन सर्वादेशे प्राप्ते 'ङिच्च' इत्यनेन ङिदादेशस्य अनेकाल्त्वेऽपि अन्त्यादेश इति गोशब्दे गकारोत्तरवर्तिनः ओकारस्य अवङादेशे ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'गव अग्रम्' इति जाते

पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो। **अन्ता**—जो यह एकादेश है वह पूर्व पदके अन्त जैसा और पर पदके आदि जैसा हो। **अकः**—'अक्' से पर सवर्ण 'अच्' रहे तो पूर्व-परके स्थानमें सवर्णदीर्घ एक आदेश हो। **एङः**—पदान्त 'एङ्' से पर अत् रहे तो पूर्वरूप एक आदेश हो। **सर्वत्र**—लोक या वेदमें (सर्वत्र) 'गो' शब्दको 'अत्' के परे विकल्पसे प्रकृतिभाव हो। **अनेकाल्**—अनेकाल् आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानीके स्थान में हो। **ङिच्च**—ङित् आदेश यदि अनेकाल भी हो तो अन्त्यके स्थानमें ही हो। **अवङ**—पदान्तमें एङन्त गोशब्दको अच् के परे विकल्पसे अवङ् आदेश हो।

गवि ॥ **इन्द्रे च** ६।१।१२४॥ गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ॥ **दूराद्धूते च** ८। २। ८४॥ दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात् ॥ **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** ६।१।१२५॥ एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति ॥ **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** १।१।११॥ ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ॥ **अदसो मात्** १।१।१२॥ अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् ? अमुकेऽत्र । **चादयोऽसत्त्वे** १।४।५७॥

'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन सवर्णदीर्घे 'गवाग्रम्' इति । अवङादेशाभावपक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'गो अग्रम्' इति । प्रकृतिभावाभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति पररूपे 'गोऽग्रम्' इति च सिद्धम् ।

आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति (ई० ४५)–अत्र वाक्ये 'कृष्ण अत्र' इति स्थिते सवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'दूराद्धूते च' इति टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे रूपं सिद्धम् ।

अमी ईशाः (ई० ३४)—'अमी ईशाः' इति दशायां सवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अदसो मात्' इति अदश्शब्दसम्बन्धिमकारात्परस्य ईकारस्य प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे 'अमी ईशाः' इति सिद्धम् ।

अमुकेऽत्र (ई० ३९)—'अदसो मात्' इति सूत्रे 'मात्' ग्रहणाऽभावे 'अदस्'शब्दात् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इत्यनेन अकचि अनुबन्धलोपे 'अदकस्' इति, तस्माज्जसि अत्वे पररूपे जशः श्यादेशे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे उत्वे मत्वे च कृते 'अमुके' इति सिद्धस्य 'अत्र'शब्देन योगे एकारस्य प्रगृह्यत्वं स्यात् । ननु 'अदसो मात्' इति सूत्रेण ईदूतोरेव प्रगृह्यत्वविधानाभ्युपगमेन अकृतेऽपि माद्ग्रहणे नोक्तदोषः इति चेन्न, एकसमासोपात्तानामीदूदेतां मध्ये ईदूतोर्द्वयोरनुवृत्तौ एतोप्यनुवृत्तिप्रसक्तौ माद्ग्रहणादेतोऽनुवृत्तिः प्रतिबद्धा, माद्ग्रहणाऽभावे तु बाधकाऽभावादेतोऽप्यनुवृत्तिः स्यादिति दिक् ।

इन्द्रे—गो शब्दको अवङ् आदेश हो इन्द्र शब्दके परे । **दूरात्**—दूरसे सम्बोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो 'टि' वह विकल्पसे प्लुतसंज्ञक हो । **प्लुत**—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञकको प्रकृतिभाव हो, अच्के परे । **ईदू**—ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा हो । **अदसो**—अदस् शब्द संबन्धी मकारसे पर ईत्–ऊत् की प्रगृह्यसंज्ञा हो । **चादय**—अद्रव्यार्थवाची ('लिङ्गसंख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वं, तद्भिन्नवाची' अर्थात् अव्यय-

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ॥ **प्रादयः १।४।५८।** एतेऽपि तथा स्युः ॥ **निपात एकाजनाङ् १।१।१४।** एकोऽच् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । **वाक्यस्मरणयोरङित्** । आ एवं नु मन्यसे ? आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम्–ओष्णम् ॥ **ओत् १।१।१५।** ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ॥ **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६।** सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो इति । विष्ण इति । विष्णविति ।

उ उमेशः (ई० २६,५६)—'उ उमेशः' इत्यवस्थायां पूर्वस्य उकारस्य 'चादयोऽसत्त्वे' इत्यनेन निपातसंज्ञायां 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे 'उ उमेशः' इति ।

विष्णो इति (ई० ३१, ३८, ४६, ४९ ५४, ५७)—'विष्णो इति' इत्यवस्थायाम् 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति विभाषया प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'विष्णो इति' इति । प्रगृह्यत्वाऽभावपक्षे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति वैकल्पिके वकारस्य लोपे 'विष्ण इति' इति स्थिते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इत्यनेन वलोपशास्त्रस्य—'लोपः शाकल्यस्ये'त्यस्य असिद्धत्वात् 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणाऽभावे 'विष्ण इति' इति । वलोपाऽभावपक्षे विष्णविति' इति ।

वाची) चादि (च वा ह आदि) की निपात संज्ञा हो । **प्रादयः**—अद्रव्यार्थक प्रादिकी भी निपातसंज्ञा हो । **निपात** (ई० २०)—'आङ्' वर्जित एकाच् निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो । अर्थात् आङ् रहित एक स्वरमात्र अव्ययकी सन्धि नहीं हो । **'वाक्यस्मरणयोरङित्'**–भाष्यपठित श्लोकवार्तिक का पूर्णरूप इस प्रकारका है—**'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥** ईषत् अर्थमें, क्रियाके योगमें, मर्यादामें और अभिविधि अर्थमें जो 'आ' उसे ङित् (आङ्घटक–आ) जानना और वाक्य तथा स्मरण अर्थ में जो 'आ' उसे अङित् (केवल आ) जानना । यही इसका अर्थ है ।

नोट :—ईषत् (अत्यल्प) अर्थमें–आ + उष्णम् = ओष्णम् (किञ्चित् गर्म) । क्रिया के योगमें—आ + इहि = एहि (यहाँ आओ) । मर्यादा (सीमा) अर्थमें—आ × अम्बुधेः = आम्बुधेः (समुद्रपर्यन्त) । अभिविधि (मर्यादाका प्रभेद व्याप्ति) अर्थमें आ + एकदेशात् = ऐकदेशात् (एकदेशव्यापकर) ।

ओत्—ओदन्त निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो । **सम्बुद्धौ**—संबुद्धिनिमित्तक ओकारकी विकल्पसे प्रगृह्यसंज्ञा हो, अवैदिक 'इति' शब्दके परे ।

मय उञो वो वा ८ । ३ । ३३ ॥ मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि । किम्वुक्तम् । किम् उक्तम् । इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७॥ पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि परे । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता इति किम् ? गौर्यौ । अचो रहाभ्यां द्वे ८ । ४ । ४६ ॥ अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । गौर्य्यौ । ❀न समासे । वाप्यश्वः ।

किम्वुक्तम् (ई० ३४, ४०)—'किमु उक्तम्' इति दशायां 'मय उञो वो वा' इत्यनेन मकारात्परस्य उञ उकारस्य वकारादेशे 'किम्वुक्तम्' इति । वकाराऽभावपक्षे 'निपात एकाजनाङ्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'किमु उक्तम्' इति च सिद्धं भवति ।

चक्रि अत्र (ई० २७, ४८, ५०)—'चक्री अत्र' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इति विकल्पेन ह्रस्वे कृते ह्रस्वविधिसामर्थ्यात् पुनः यणोऽप्राप्त्या 'चक्रि अत्र' इति । ह्रस्वाऽभावे यणि 'चक्र्यत्र' इति च सिद्धं भवति ।

ब्रह्मर्षिः (ई० २९, ४७, ५१)—'ब्रह्मा ऋषिः' इति दशायाम् 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'ऋत्यकः' इति पाक्षिके ह्रस्वे कृते ह्रस्वविधिसामर्थ्यात् पुनः गुणस्याप्रसंगे 'ब्रह्म ऋषिः' इति । ह्रस्वाऽभावपक्षे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'ब्रह्मर्षिः' इति च सिद्धम् ।

पदान्ता इति किम्—'इकोऽसवर्णे' इति सूत्रे 'पदान्ते'त्येतस्यानुवृत्त्यभावे 'गौर्यौ' इत्यत्र 'गौरी औ' इति स्थिते यणं प्रबाध्य ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावापत्तिः स्यादिति तन्निवारणाय 'पदान्ते'त्येतस्यानुवृत्तिरावश्यकीति ।

वाप्यश्वः—वाप्यामश्वः वाप्यश्वः (वापीनिष्ठाऽधिकरणतानिरूपिताऽऽधेयतावानश्वः, इति शाब्दबोधः) 'वापी अश्वः' इति स्थिते 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावे प्राप्ते 'न समासे' इति निषेधे यणि तत्सिद्धिः ।

मय—'मय' से पर 'उञ्' के उकारको 'व' आदेश हो—अच्के परे, विकल्पसे ।
इको—पदान्त 'इक्' को अच्के परे युगपत् ह्रस्व और प्रकृतिभाव हो, विकल्पसे ।
अचो—'अच्' से पर जो रेफ, हकार उससे पर जो 'यर्' उसको द्वित्व हो, विकल्पसे ।
न समा—समासमें पदान्त इक्को ह्रस्व और प्रकृतिभाव कुछ भी नहीं हो ।

ऋत्यकः ६।१।१२८॥ ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्वा । ब्रह्म ऋषिः ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आर्च्छत् ।

* इत्यच्सन्धिप्रकरणम् *

अथ हल्सन्धिप्रकरणम् ।

स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय । शात् ८।४।४४॥

आर्च्छत् (ई० २१)—'ऋत्यकः' इति सूत्रे 'पदान्ताः' इत्यस्याऽननुवृत्तौ 'आ ऋच्छत्' इति दशायाम् 'आटश्चे'ति प्राप्तवृद्धिं प्रबाध्य ह्रस्वत्वमापद्येत तन्माभूदित्येतदर्थं 'पदान्ताः' इति । तेनात्र 'आटश्चे'ति वृद्धौ सत्यां रपरत्वे कृते 'आर्च्छत्' इति सिद्ध्यति ।

सूत्रनिर्देशपूर्वकं सन्धिं कुरुत—

पितृ + ऋणम् । शुभ्र + ऋषिः । सुखस्य + औपयिकम् । अव + एति । उप + ऋच्छत् । प्र + ओषति । गोपाल + एहि । इन्दुमती + उवाच । मृदु + ओदनः । मातृ + इच्छा । ऌ + आनय । ने + अनम् । कस्मै + इदम् । भो + अनम् । भौ + इष्यति । ते + आगताः । चन्द्रशेखरः + अस्मि । गो + अक्षः । आगच्छ सखे + अत्र क्रीडेमः । वटू + उच्छलतः । अमू + अश्नीतः । अहो + इदम् । उ + उद्धवः ।

सूत्रनिर्देशपूर्वकं विच्छेदं कुरुत—

गुरूहः । महर्कारः । महौचित्यम् । अवैधते । उपार्णोति । प्रैषयति । अवेहि । अत्यौदरिकः । तन्वङ्गी । प्रशास्त्रूर्ध्वम् । लानय ।

इति 'इन्दुमती'टीकायामचसन्धिप्रकरणम् ।

ऋत्य—'ऋत्' परमें हो तो पदान्त 'अक्' को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्पसे हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें अच्सन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ।

स्तोः श्चु—सकार-तवर्गके स्थानमें शकार अथवा चवर्गके (पूर्व या परमें) योग रहने पर सकारके स्थानमें शकार और तवर्गके स्थानमें चवर्ग हो ।

नोट :—यहाँ स्थानी और आदेशमें यथासंख्य अपेक्षित नहीं है—ऐसा होने पर आगेका 'शात्' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा (ष्टुत्वमें भी ऐसा समझना चाहिये) शात्—शकारसे पर

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः। **ष्टुना ष्टुः ८।४।४१॥** स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे। **न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२॥** पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात्किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्। *अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्य्यः। **तोः षि ८।४।४३॥** तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः। **झलां जशोऽन्ते ८।२।३९॥** पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५॥** यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः। एतद्मुरारिः। *प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्। **तोर्लि ८।४।६०॥** तवर्गस्य

सर्पिष्टमम् (ई० २२, २९, ४२)—सर्पिष् तमम्, इत्यवस्थायां 'ष्टुना ष्टुः' इति तकारस्य ष्टुत्वेन टकारे 'सर्पिष्टमम्' इति। 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति ष्टुत्वनिषेधस्तु न भवति, टवर्गात्परत्वाऽभावात्। न च षकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन डकारे सति तकारस्य टवर्गपरत्वात् ष्टुत्वनिषेधः स्यादेवेति वाच्यम्, 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति विहितस्य षत्वस्याऽसिद्धत्वेन जश्त्वाभावात्।

मूले तु 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति सूत्रस्य प्रत्युदाहरणमेतत्। तत्र हि टोर्ग्रहणाऽभावे 'सर्पिष्टमम्' इत्यत्राऽपि ष्टुत्वनिषेधः स्यादिति टोर्ग्रहणमावश्यकमिति तात्पर्यम्।

एतन्मुरारिः (ई० ४१,४७,५०,५३)—एष चासौ मुरारिः 'एतन्मुरारिः'। 'एतद् मुरारिः' इति स्थिते 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यनेन दकारस्य अनुनासिके नकारे कृते 'एतन्मुरारिः' इति। अनुनासिकाऽभावपक्षे 'एतद्मुरारिः' इति च भवति।

चिन्मयम् (ई० ३०,४५,५६)—'चिद् मयम्' इति दशायां 'प्रत्यये भाषायां

तवर्गके स्थानमें श्चुत्व (चवर्ग) नहीं हो। **ष्टुना**—सकार तवर्गके स्थानमें षकार-टवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहने पर सकारके स्थानमें षकार और तवर्गके स्थानमें टवर्ग आदेश हो।

न पदान्ता—पदान्त टवर्गसे पर नाम्(अवयव)भिन्न सकार और तवर्गके स्थानमें ष्टुत्व (षकार-टवर्ग) नहीं हो। **अनाम्न**—पदान्त टवर्गसे पर नाम्, नवति, नगरी-भिन्न सकार-तवर्गको ष्टुत्व नहीं हो—ऐसा कहना चाहिए। **तोः षि**—तवर्गको षकारके परे ष्टुत्व नहीं हो। (उदाहरण-वसन्तात् षट्पदाः तुष्यन्ति) **झलां**—पदान्त झल्के स्थानमें जश् आदेश हो। **यरो**—पदान्त यर्को अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे। **प्रत्यये**—अनुनासिकादि प्रत्यय परमें रहनेपर भाषा (लोक प्रयोग) में पदान्त यर्के स्थानमें नित्य अनुनासिक आदेश हो। **तोर्लि**-तवर्गको लकारके परे परसवर्ण हो। (तत् + लयः = तल्लयः)

लकारे परे परसवर्णः स्यात्। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नकारस्याऽनुनासिको लकारः। उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१॥ उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात्। तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७॥ पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्। आदेः परस्य १।१।५४॥ परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः। झरो झरि सवर्णे ८।४।६५॥ हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात् सवर्णे झरि। खरि च ८।४।५५॥ खरि परे झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्। उत्तम्भनम्। झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२॥ झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात्। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य

नित्यम्' इति 'मयट्' प्रत्यये परे दकारस्य नित्यमनुनासिके नकारे 'चिन्मयम्' इति।

विद्वाँल्लिखति (ई० ५१)—'विद्वान् लिखति' इत्यवस्थायां 'तोर्लि' इत्यनेन परसवर्णे कृते 'विद्वाँल्लिखति' इति सिद्धम्।

उत्थानम् (ई० ३१, ३७, ४०, ४८, ५१, ५३, ५५, ५७)—'उद् स्थानम्' इति दशायाम् 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति सूत्रेण 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति परिभाषया (वर्णान्तराऽव्यवहितस्य 'स्था' इत्यस्य स्थाने) पूर्वसवर्णे प्राप्ते 'आदेः परस्ये'ति सूत्रबलात् ('स्था' इत्यस्यादिभूतस्य सकारस्य स्थाने) अघोषमहाप्राणप्रयत्नसाम्यात् तादृशे थकारे पूर्वसवर्णे कृते 'उद् थ् थानम्' इति जाते 'झरो झरि सवर्णे' इति (दकारोत्तरवर्तिथकारस्य) विकल्पेन लोपे 'खरि च' इति

नोट :—परसवर्ण करने से नकारके स्थानमें विशेषता यही होती है कि तत्सवर्णी अनुनासिकविशिष्ट लकार आदेश होता है। यथा—विद्वान् + लिखति = विद्वाल्ँ लिखति।

उदः—'उद्' से पर स्था और स्तम्भके स्थानमें पूर्वसवर्ण आदेश हो। **तस्मा** (ई० ३९)—पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्यका विधान किया गया हो वह कार्य उस पञ्चम्यन्तसे बोधित वर्णान्तर (अन्य वर्ण) से अव्यवहित पर वर्णके स्थानमें हो। अर्थात् निमित्त और स्थानीके बीचमें अन्य वर्णको नहीं आना चाहिये।

नोट :—'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इस सूत्रमें 'उदः' इस पञ्चम्यन्त पदका उच्चारण करके पूर्वसवर्ण आदेशका विधान किया गया है। अतः यह सूत्र 'उद्' तथा 'स्था' और 'स्तम्भ' के बीचमें जब अन्य कोई वर्ण नहीं होगा तब ही पूर्वसवर्ण कर सकेगा। (ऊपर संस्कृत टीका देखें)

आदेः—परके स्थानमें विधीयमान (कहा गया) जो कार्य वह परके आदि वर्णके स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये। **झरो झरि**—हल्से पर झर्का लोप हो, सवर्ण झर्के परे विकल्पसे। **खरि च**—खर् परमें हो तो झल्के स्थानमें चर् आदेश हो।

झयो हो—झय्से पर जो हकार उसको पूर्वसवर्ण हो, विकल्पसे।

तादृशो वर्गचतुर्थः । वाग्घरिः । वाग्हरिः । **शश्छोऽटि ८।४।६३॥** पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तद् शिव इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते खरि चेति जकारस्य चकारः । तच्शिवः । तच्छिवः । ॐछत्वममीति वाच्यम् । तच्छ्लोकेन । **मोऽनुस्वारः ८ । ३ । २३ ॥** मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्धलि । हरिं वन्दे । **नश्चाऽपदान्तस्य झलि ८।३।२४॥** नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे । **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**

चर्त्वे 'उत्थानम्' इति । लोपाभावपक्षे 'उत्थ्थानम्' इति । विकल्पपक्षे 'खरि चे'ति चर्त्वन्तु न, चर्त्वं प्रति थकारस्याऽसिद्धत्वात् ।

वाग्घरिः (ई० २८, ४२, ४६, ५२)—'वाक् हरिः' इति स्थिते 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे कृते 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति पूर्वसवर्णविधौ गकारस्य पूर्वनिमित्तत्वात् तत्सवर्णेषु 'क-ख-ग-घ-ङ' इत्येतेषु पञ्चस्वपि प्राप्तेषु घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य स्थाने तादृशे घकारे जाते 'वाग्घरिः' इति । पूर्वसवर्णाऽभावपक्षे 'वाग्हरिः' इति ।

तच्छिवः (ई० ४०,४१,४३,४९,५४)—'तद् शिवः' इत्यवस्थायां 'स्तोः श्चुना श्चुः', इत्यनेन दकारस्य श्चुत्वे जकारे कृते 'खरि च' इत्यनेन जकारस्य चर्त्वेन चकारे 'तच् शिवः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इत्यनेन (झयन्तःपातिनश्चकारात्परस्य) शस्य (अट्प्रत्याहारान्तःपातिनि शकारोत्तरवर्तिनीकारे परे) छत्वे 'तच्छिवः' इति । छत्वाभावे तु 'तच्शिवः' इति ।

तच्छ्लोकेन (ई० २१, २४, ४५)—'तद् श्लोकेन' इत्यवस्थायां 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इति चर्त्वेन चकारे 'छत्वममीति वाच्यम्' इति शस्य छत्वे 'तच्छ्लोकेन' इति ।

नोट :—नाद, घोष, संवार और महाप्राण-प्रयत्नवान् जो हकार उसके स्थानमें तादृश प्रयत्नवान् चतुर्थ वर्ण आदेश हो ।

शश्छोऽटि—पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें छकार आदेश हो, विकल्पसे, अट्के परे।

नोट :—शकारके पूर्व तवर्ग होनेपर तवर्गको श्चुत्व होकर ही शकारको छकार हो ।

छत्वममीति—पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें छकार हो, विकल्पसे, अम्के परे । **मोऽनु**—मान्त पदके स्थानमें अनुस्वार हो, हल्के परे । **नश्चा**—अपदान्त नकार-मकारके स्थानमें अनुस्वार हो, झल्के परे । **अनुस्वारस्य**—अपदान्त अनुस्वारके स्थानमें परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे ।

८ । ४ । ५८ ॥ स्पष्टम् । (अनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णः स्यात्) शान्तः । **वा पदान्तस्य** ८।४।५९॥ पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि । **मो राजि समः क्वौ** ८ । ३ । २५ ॥ क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् । **हे मपरे वा** ८।३।२६॥ मपरे हकारे परे मस्य मो वा स्यात् । किम् ह्मलयति । किं ह्मलयति । ॐ**यवलपरे यवला वा** । कियँ ह्यः । किं ह्यः । किवँ ह्वलयति । किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति । किं ह्लादयति । **नपरे नः** ८ । ३ । २७ ॥ नपरे हकारे परे मस्य नो वा स्यात् । किन् ह्नुते । किं ह्नुते । **आद्यन्तौ टकितौ** १।१।४६॥ टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः, षट्सन्तः । **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** ८ । ३ । २८ ॥ ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि । ॐ**चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** । प्राङ्ख्षष्ठः । प्राङ्क्षष्ठः । प्राङ्षष्ठः । सुगण्ठ्षष्ठः । सुगण्ट्षष्ठः । सुगण्षष्ठः । **ड: सि**

षट्त्सन्तः (ई० ४८)—'षड् सन्तः' इति दशायां 'डः सि धुट्' इत्यनेन ('आद्यन्तौ टकितौ' इति सूत्रसहकारात् डकारात्परस्य) सस्यादौ धुटि अनुबन्धलोपे 'षड्ध् सन्तः' इति स्थिते 'खरि च' इत्यनेन धकारस्य चर्त्वे कृते पुनरनेन डकारस्य चर्त्वे टकारे रूपं सिद्धम् । धुडभावपक्षे डकारस्य चर्त्वे 'षट्सन्तः' इति च भवति ।

सुगण्ठ्षष्ठः (ई० ४०)—'सुगण् षष्ठः' इत्यवस्थायां 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' इति णकारस्य टुकागमे ('आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवे जाते अनुबन्धलोपे 'सुगण्ट् षष्ठः' इति स्थिते) 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्'

नोट :—पदके मध्यमें स्थित अनुस्वारके बाद जिस वर्गका वर्ण रहता है, अनुस्वारके स्थानमें उसी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो जाता है ।

वा पदा—पदान्त अनुस्वारके स्थानमें विकल्पसे परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे । **मो राजि**—क्विबन्त राज् धातुके परे सम्के मकारके स्थानमें मकार ही आदेश हो—अनुस्वार नहीं हो । **हे मपरे**—मकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें मकार ही हो, विकल्पसे । **यवलपरे**—य-व-ल परक हकारके परे मकारके स्थानमें यथाक्रमसे अनुनासिकविशिष्ट यँ वँ लँ आदेश हों, विकल्पसे, (पक्षे अनुस्वारः) । **नपरे नः**—नकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें नकार आदेश हो, विकल्पसे । (पक्षे अनुस्वारः) **आद्यन्तौ**—जिसके स्थानमें टित् आगम कहा गया हो वह टित् उसके आद्यावयव (पूर्व) में और कित् अन्त्यावयव (पर) में हो । **ङ्णोः**—ङकार-णकारको कुक्-टुक्का आगम हो, विकल्पसे, शर्के परे । **चयो**—चय् (वर्गके प्रथम अक्षर) के स्थानमें द्वितीय अक्षर हो 'पौष्करसादि' आचार्यके मतसे—अर्थात् विकल्पसे । **डः सि**—डकारसे पर

धुट् ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । **नश्च ८।३।३०।** नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात् । सन्त्सः सन्सः । **शि तुक् ८।३।३१।** पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा स्यात् । सञ्छम्भुः । सञ्च्छम्भुः । सञ्च्शम्भुः । सञ्शम्भुः । **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२।** ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याऽचो नित्यं ङमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीशः । सन्नच्युतः । **समः सुटि ८।३।५।** समो रुः स्यात् सुटि । **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२।** अत्र रुप्रकरणे रोः

इति वार्तिकेन टकारस्य ठकारे 'सुगण्ट्ठ्षष्ठः' इति । द्वितीयाक्षराभावे 'सुगण्ट्षष्ठः' इति, टुकागमाभावे 'सुगण्षष्ठः' इति च भवति ।

सञ्च्छम्भुः (ई० २०, ३९, ४०, ४७, ५०)—'सन् शम्भुः' इत्यवस्थायां 'शि तुक्' इत्यनेन ('आद्यन्तौ टकितौ' इति सूत्रसहकारात् शकारे परे पदान्तस्य नस्याऽन्तावयवे) तुकि अनुबन्धलोपे 'सन् त् शम्भुः' इति दशायां 'शश्छोऽटि' इत्यनेन शम्भुघटकस्य शस्य छत्वे 'सन् त् छम्भुः' इति जाते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तकारस्य श्चुत्वेन चकारे 'सन् च् छम्भुः' इति स्थिते पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति चकारयोगात् नकारस्य श्चुत्वेन ञकारे 'झरो झरि सवर्णे' इति चलोपे 'सञ्छम्भुः' इति प्रथमं रूपम् , चलोपाभावपक्षे 'सञ्च्छम्भुः' इति द्वितीयं रूपम् , छत्वाऽभावपक्षे 'सञ्च्शम्भुः' इति तृतीयं रूपम् , तुगभावपक्षे तु 'सन् शम्भुः' इति स्थिते नस्य श्चुत्वेन ञकारे 'सञ् शम्भुः' इति चतुर्थं रूपं सिद्धम् । तदुक्तम्—

'ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥'

सकारके स्थानमें धुट्का आगम हो, विकल्पसे । **नश्च**—नान्त पदसे पर सकारको धुट्का आगम (सकारसे पूर्व) हो, विकल्पसे । **शि तुक्**—पदान्त नकारको शकारके परे तुक् का आगम (नकारसे आगे) हो, विकल्पसे । **ङमो**—ह्रस्व जो ङम् , तदन्त जो पद, उससे पर जो अच् उसको नित्य ङमुट् का आगम (अच्के बाद) हो ।

नोट :—दीर्घ स्वरके बाद 'महानात्मा' इत्यादि स्थलमें कहीं भी ङमुट्का आगम नहीं होता, पर ह्रस्व स्वरके बाद भी क्वचित् ङमुडभाव देखा जाता है (वह गलत है) जैसे— सन् + आदि = सनादि, सन् + इष्यते = सनिष्यते इत्यादि । सुप्तिङ् + अन्तम् = सुप्तिङन्तम् । इको यण् + अचि = 'इको यणचि' यहाँ तो आर्षत्वात् ङमुडभाव समझना चाहिये ।

सम :—सम्के मकारके स्थानमें रु आदेश हो सुट्के परे । **अत्रानु**—इस रुप्रकरण

पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्। अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात्। खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५। खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात्। *सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्ता। संस्स्कर्ता। पुमः खय्यम्परे ८।३।६। अम्परे खयि पुमो रुः स्यात्। पुँस्कोकिलः। पुंस्कोकिलः। नश्छव्यप्रशान् ८।३।७। अम्परे छवि नान्तस्य

संस्स्कर्ता (ई० २९, ५४, ५६)—('सम् कर्ता' इति स्थिते 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुटि अनुबन्धलोपे) 'सम् स्कर्ता' इति दशायां 'समः सुटि' इति सूत्रेण (सुट्सम्बन्धिनि सकारे परे) समो मस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'स-र् स्कर्ता' इति स्थिते 'अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति रोः पूर्वमनुनासिके 'सँ-र् स्कर्ता' इति दशायां 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे कृते 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्जनीयस्य सत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'वा शरि' इति विसर्जनीयस्य विसर्जनीये प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे 'सँस्स्कर्ता' इति। अनुनासिकाऽभावपक्षे तु 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेन अनुस्वारे कृते 'संस्स्कर्ता' इति।

पुंस्कोकिलः (ई० २२, ४२, ४७, ५०)—'पुम् कोकिलः' इति दशायां 'पुमः खय्यम्परे' इत्यनेन पुमो मस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति सूत्रेण अनुनासिके 'पुँ र् कोकिलः' इति स्थिते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति

(ससजुषो रुः से विहित 'रु' को छोड़कर) 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे। **अनुना**—अनुनासिकको छोड़कर रुसे पूर्व वर्ण के परे अनुस्वारका आगम हो। **खर**—अवसानमें रेफ हो अथवा पदान्त रेफके बाद खर् (वर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर तथा श ष स का) कोई भी वर्ण हो तो रेफके स्थानमें विसर्ग हो। **संपुङ्कानां**—सम्-पुम्-कान्, इनके विसर्गके स्थानमें सकार ही हो-ऐसा कहना चाहिये।

नोट :—सँस्स्कर्ता-संस्स्कर्ता—कृधातुके पद परमें होनेसे 'सम्' उपसर्गके बाद 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इस सूत्रसे सुट् होकर 'सम् स्कर्ता' ऐसा बनता है; तदुपरान्त उस सुट्के परे सम्के मकारको रुत्व और सकारको अनुनासिक अथवा अनुस्वार तथा रुत्वके रेफ को विसर्ग होकर सत्व हो जाता है।

पुमः—अम्परक खय् परमें होनेसे पुम्के स्थानमें रु आदेश हो।

नोट :—संभावना रहने पर कहीं श्चुत्व और कहीं ष्टुत्व भी होता है। यथा—पुम्+चरित्रम् = पुँश्चरित्रम्। पुम्+टीका = पुंष्टीका। **नश्छ**—अम्परक छव् परमें होने पर

पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य। **विसर्जनीयस्य सः** ८।३।३४॥ खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व। चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति। **नॄन् पे** ८।३।१०॥ नॄनित्यस्य रुः स्याद्वा पकारे परे। **कुप्वोः ᳲकᳲपौ च** ८।३।३७॥ कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ᳲकᳲपौ स्तः। चाद्विसर्गः। नॄँᳲपाहि। नॄँः पाहि। नॄंᳲपाहि। नॄंः पाहि। नॄन् पाहि। **तस्य परमाम्रेडितम्** ८।१।२॥ द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितं स्यात्। **कानाम्रेडिते**

रेफस्य विसर्गे 'कुप्वोःᳲकᳲपौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे 'पुँस्कोकिलः' इति। अनुनासिकाभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे कृते 'पुंस्कोकिलः' इति।

चक्रिंस्त्रायस्व (ई० २४, २९, ३०)—'चक्रिन् त्रायस्व' इत्यवस्थायां 'नश्छव्यप्रशान्' इति सूत्रेण नस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन अनुनासिके 'चक्रिँर् त्रायस्व' इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'चक्रिँस्त्रायस्व' इति। अनुनासिकाऽभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'चक्रिंस्त्रायस्व' इति।

नॄन् पाहि (ई० २०, २९, ४८)—'नॄन् पाहि' इत्यवस्थायां 'नॄन् पे' इति नॄनो नस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति अनुनासिके 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे कृते 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'कुप्वोःᳲकᳲपौ च' इत्युपध्मानीये कृते 'नॄँᳲपाहि' इति। अनुनासिकाभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेन अनुस्वारे 'नॄंᳲ पाहि' इति, उपाध्मानीयाभावपक्षे रुत्वानुनासिकविसर्गेषु कृतेषु 'नॄँः पाहि' इति, अनुनासिकाभावपक्षे अनुस्वारे कृते 'नॄंः पाहि' इति, रुत्वाभावपक्षे तु 'नॄन् पाहि' इति पञ्च रूपाणि भवन्ति।

प्रशान् भिन्न नान्त पदके स्थानमें रु आदेश हो। **विसर्ज**—खर् परमें होने पर विसर्गके स्थानमें स् आदेश हो। **नॄन्पे**—नॄन्के नकारके स्थानमें रु हो पकारके परे, विकल्पसे। **कुप्वोः**—कवर्ग-पवर्गके परे विसर्गके स्थानमें क्रमसे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय अथवा चकारात् विसर्ग ही हो। (कवर्ग परका उदाहरण कᳲकरोति, कः करोति)। **तस्य**-जो दो बार कहा गया हो उसके द्वितीय भागोक्तकी आम्रेडित संज्ञा हो। **काना**—कान्के नकारके स्थानमें रु आदेश हो, आम्रेडितसंज्ञकके परे।

८।३।१२॥ कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे । काँस्कान् । कांस्कान् । **छे च ६।१।७३॥** ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात् । शिवच्छाया । **पदान्ताद्वा ६।१।७६॥** दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग् वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ।

* इति हल्सन्धिप्रकरणम् *

कांस्कान् (ई० २२, ४५)–'कान् कान्' इति दशायां 'तस्य परमाम्रेडितम्' इत्यनेन परस्य 'कान्' इत्यस्याम्रेडितसंज्ञायां 'कानाम्रेडिते' इत्यनेन आम्रेडितसंज्ञके परे पूर्वस्य 'कान्' इत्यस्य नकारस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन अनुनासिके 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'काँस्कान्' इति । अनुनासिकाभावपक्षे तु 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'कांस्कान्' इति ।

शिवच्छाया (ई० २५,५१,५२,५७)—'शिव छाया' इति दशायां 'छे च' इति वकारोत्तरवर्त्यकारस्य तुकि अनुबन्धलोपे 'शिव त् छाया' इति जाते 'झलां जशोन्ते' इति तस्य जश्त्वेन दकारे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन दस्य श्चुत्वेन जकारे 'खरि च' इति जस्य चर्त्वे 'शिवच्छाया' इति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां हल्सन्धिप्रकरणम् ।

छे च—ह्रस्व वर्णको तुगागम (ह्रस्व वर्णके बाद) हो छकारके परे ।

नोट:—तुक् होनेपर तकारको जश्त्व दकार और दकारको श्चुत्व जकार होनेपर चर्त्व चकार हो जाता है ।

पदान्ताद्वा—पदान्त दीर्घको तुगागम हो, छकारके परे, विकल्पसे ।

सन्धि करो:—तपस् + चिनोति । त्रयस् + षट्पदाः । षट् + दर्शनम् । सम्पत् + हर्षः । उद् + स्थापयति । एतद् + लीला । अप् + नामकः । दिव्यम् + सरः । नॄन् + हितम् । कथं + कृतम् । इदं + चित्रम् । केशान् + छिनत्ति । धनवान् + स्वपिति । अप्रज्ञावान् + शत्रुः । नॄन् + पालय । सम् + स्वीकृतम् । पुम् + छविः । हसन् + आगतः । त्वच् + श्वशुरः । आ + छादम् ।

विच्छेद करो:—पयश्शीतम् । महाण्डामरः । अम्भाजनम् । तद्धेयम् । उत्तम्भते । ग्रन्थाल्ँलाति । ध्वंस्यते । क्षन्तव्यम् । मधुरङ्गायति । भास्वञ्श्चिन्द्रः । विद्वान्सहते । शिशूञ्छाययति । नॄँः प्रतिकरोति । पुँश्चमत्कारः । एकस्मिन्नहनि । यावच्छक्यम् । वृक्षच्छाया ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हल्सन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४॥ खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस्त्राता ॥ **वा शरि ८। ३। ३६॥** शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते । हरिश्शेते ॥ **ससजुषो रुः ८। २। ६६॥** पदान्तस्य सस्य, सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात् । **अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३॥** अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः । **हशि च ६।१।११४॥** अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः ।

शिवोऽर्च्यः (ई० ३७, ४८, ५०, ५५)—'शिवस् अर्च्यः' इत्यवस्थायां 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इति रोरुत्वे 'शिव उ अर्च्यः' इति जाते 'आद्गुणः' इति गुणे 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे 'शिवोऽर्च्यः' इति ।

विसर्जनी—विसर्गके स्थानमें सकार आदेश हो, खर्के परे ।

नोट :—विसर्ग दो प्रकार का होता है—सजात और रजात ।

(क) शब्द, विभक्ति (सुप्-तिङ्) अथवा प्रत्यय सम्बन्धी सकारके स्थानमें रेफ होकर जो विसर्ग होता है उसे 'सजात' विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) शब्द-निस् = निः । दुस् = दुः । शनैस् = शनैः । उच्चैस् = उच्चैः । नीचैस् = नीचैः । (२) विभक्ति-रामस् = रामः । हविस् = हविः । पठावस् = पठावः । (३) प्रत्यय = एकशस् = एकशः । बहुशस् = बहुशः ।

(कहीं मूर्धन्य षकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा-सजुष् = सजूः) ।

(ख) स्वाभाविक अथवा ऋकारस्थानिक रेफके स्थानमें जो विसर्ग होता है । उसे रजात विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) स्वाभाविक—स्वर् = स्वः । अन्तर् = अन्तः । प्रातर् = प्रातः । पुनर् = पुनः । निर्—निः । दुर् = दुः । गिर् = गीः । पूर् = पूः । धूर् = धूः । (२) ऋकारस्थानिक—मातर् = मातः । पितर् = पितः । भ्रातर् = भ्रातः । दुहितर् = दुहितः । जामातर् = जामातः । ज्ञातर् = ज्ञातः ।

(कहीं नकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—अहन् = अहः) ।

वा शरि—'शर्' के परे विसर्गके स्थानमें विसर्ग आदेश हो, विकल्पसे । **ससजुषो**—पदान्त सकार और सजुष् शब्दके षकारके स्थानमें 'रु' आदेश हो । **अतो**—अप्लुत 'अत्' से पर रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें 'उत्त्व' हो, अप्लुत अत्के परे ।

नोट :—रुत्व-उत्त्व होनेपर पूर्व अकार और उकार मिलके गुण 'ओ' हो जाता है और तदनन्तर 'एङः पदान्तादति' से पर अकारका पूर्वरूप हो जाता है । **हशि च**—अप्लुत 'अत्' से पर रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें 'उत्त्व' हो, हश् (वर्गका तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण और 'य व र ल') परमें रहने से ।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७॥ एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि । देवा इह । देवायिह । भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते– **हलि सर्वेषाम् ८ । ३ । २२ ॥** भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि । **रोऽसुपि ८। २। ६९॥** अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः । **रो रि ८।३।१४॥** रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् । **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११॥** ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । अणः किम् ? तृढः । वृढः ।

देवा इह (ई० २३,२४,२८,४५,५६)—'देवास् इह' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इत्यनेन रोर्यादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे 'देवा इह' इति, यलोपाऽभावपक्षे 'देवायिह' इति ।

भो देवाः (ई० २१,४२,४६)—'भोस् देवाः' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति रोर्यादेशे 'हलि सर्वेषाम्' इति यलोपे 'भो देवाः' इति । एवमेव–अघो याहि (ई० ५१,५२) इति ।

शम्भू राजते (ई० ३६,३८,५४,५६)—'शम्भुस् राजते' इति स्थिते 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'रो रि' इति रलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घे 'शम्भू राजते' इति । एवं 'हरी राजते' (ई० ४६) इत्यपि ।

तृढः (ई० २४, ४२)—'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रे अण्ग्रहणाऽभावे ('ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्य दीर्घः' इत्यर्थे तृह्धातोर्निष्ठायां क्तप्रत्यये अनुबन्धलोपे) 'तृह् त' इति स्थिते 'हो ढः' इत्यनेन हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इत्यनेन तकारस्य धत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ष्टुत्वेन ढकारे 'तृढ् ढ' इति स्थिते 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वस्य ढस्य लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति ढलोपनिमित्ते ढकारे परे पूर्वस्य ऋकारस्य दीर्घापत्तिः स्यात् । तस्मात् सूत्रेऽण्ग्रहणमावश्यकम् ।

भोभगो—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें यत्व हो, अश्के परे । **हलि**—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक यकारका लोप हो, हल्के परे—सभीके मतसे अर्थात् नित्य ही ।

नोट :—'हश्' के परे अवर्णपूर्वक यकारका लोप होने पर पुनः दूसरी सन्धि नहीं होती ।

रोऽसुपि—अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, किन्तु सुप् (सप्तमीबहुवचन) के परे नहीं हो । **रो रि**—रेफका लोप हो रेफके परे । **ढ्रलोपे**—ढकारलोप और

मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते हशि चेत्युत्त्वे रो रीति लोपे च प्राप्ते । **विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२।** तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते । पूर्वत्राऽसिद्धमिति रो रीत्यस्याऽसिद्धत्वादुत्त्वमेव । मनोरथः । **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२।** अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र । **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४।** स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्य्येत । सेमामविड्ढि प्रभृतिम् । सैष दाशरथी रामः । इति विसर्गसन्धिः ।

कृते त्वण्ग्रहणे तत्सामर्थ्यात् पूर्वणकारेणैवाऽणप्रत्याहारग्रहणाद् दीर्घप्रवृत्त्या कृदन्तत्वात् सौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'तृढः' इति निष्पन्नम् ।

मनोरथः (ई० ३२, ३९, ४१, ४३, ४७, ४९, ५१, ५२, ५५)—'मनस् रथः' इत्यवस्थायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वे प्राप्ते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे च प्राप्ते 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यनेन तुल्यबलविरोधे सति परत्वात् 'रो रि' इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थ 'हशि चे'ति सूत्रदृष्ट्या त्रैपादिकस्य 'रो री'ति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'मनोरथः' इति ।

स शम्भुः (ई० ३१, ४६, ५०)—'सस् शम्भुः' इति स्थित्वे रुत्वं प्रबाध्य 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इति सूत्रेण सुलोपे 'स शम्भुः' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

रेफलोपनिमित्तक जो ढकार, रेफ उनके परे पूर्व अण्को दीर्घ हो । **विप्रतिषेध**—विप्रतिषेध (तुल्यबलविरोध) होनेपर परकार्य हो ।

नोट :—'परस्परलब्धावकाशयोरेकत्र लक्ष्ये समावेशस्तुल्यबलविरोधः ।' अर्थात् अपने-अपने लक्ष्योंमें चरितार्थ दो सूत्रोंका (क्वचित्) एक लक्ष्यमें समावेश होनेको 'तुल्यबलविरोध' कहते हैं ।

एतत्तदोः—ककाररहित एतत् और तत् शब्दसम्बन्धी 'सु' का लोप हो, हल्के परे । किन्तु 'नञ्' समासमें नहीं हो । **सोऽचि**—लोप होनेसे यदि पादकी पूर्ति होती हो तो अच्के परे स (तत् शब्द) सम्बन्धी सुका लोप हो ।

सैष दाशरथी रामः (ई० ५४)—सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है :—

'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥'

अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५। धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् । **कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६।** कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः । **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङे-**

अर्थवदिति—अत्र नवीनाः—'एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वम्' अर्थवत्त्वमिति । प्राचीनास्तु 'लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वम्' अर्थवत्त्वमिति । कृत्तद्धितसूत्रे तु 'एकार्थीभावेन लौकिकप्रयोगे प्रसिद्धत्वमर्थवत्त्वमि'ति द्विविधमर्थवत्त्वं स्वीकुर्वन्तीति । धनम्, वनम्, इत्यादौ प्रतिवर्णं प्रातिपदिकसंज्ञावारणाय अर्थवदिति । 'अहन्' इत्यादौ प्रातिपदिकत्वेन नलोपवारणाय अधातुरिति । 'अप्रत्यय' इत्यत्र प्रत्ययपदमावर्त्यते तेन प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च लभ्यते । प्रत्ययस्य पर्युदासात् 'हरिषु' इत्यादौ सोर्न प्रातिपदिकत्वम् । तदन्त-

---

यह श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दमें है । इसके प्रतिपादमें आठ-आठ अक्षर होते हैं । यहाँ पर यदि सुलोप नहीं होता तो 'सस् + एष' ऐसी स्थितिमें रुत्व-यत्व-यलोप होकर 'स एषः' ऐसा हो जाता और प्रत्येक पादमें एक अक्षर बढ़ जानेसे पादकी पूर्ति नहीं होती ।

(सुलोप होनेपर 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' लगता नहीं, अतः वृद्धि होकर 'सैषः' बनता है) ।

शुद्ध करो :—जलामयः । केशशौर्ध्वम् । तदैवम् । स्वेरः । दिवोकसः । उपेति । प्रैषयति । रामैहि । उपरोक्तः । गवोधानम् । सखैहागच्छ । कव्यागच्छतः । अम्वततः । रामस्शेते । तवछविः । अधिस्थाता । देवो षष्ठः । दिगेशः । ददत्धसति । महान्नात्मा । विषयान्नाह । जगत्नायकः । संचितः । यम्लोकम् । गच्छंचकोरः । मतिमाच्छन्तः । पुङ्क्नित्रम् । वाच्छूरः । वाक्मात्रेण । वृक्षछाया । रामोक्रुध्यति । मनोकामना । अहोगतः । सो रामः । एषो बालः । बालो चलति । प्रातो गमनम् । अङ्गो इन्द्रः । एषो विष्णुः । हतो शत्रुः । मनो सुखम् । देवाः हसन्ति । अन्तर्राष्ट्रियः । भ्राता रमय ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें विसर्गसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

अर्थ—धातु प्रत्यय और प्रत्ययान्त भिन्न अर्थवान् शब्दस्वरूप प्रातिपदिक संज्ञक हो ।
कृत्तद्धित—कृदन्त, तद्धितान्त और समासकी भी प्रातिपदिक संज्ञा हो ।
स्वौजस्—(इस सूत्रका अर्थ 'ङ्याप्' सूत्रके साथ आगे देखें)

भ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४। १। २॥ ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। टा भ्याम् भिस् इति तृतीया। ङे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी। ङस् ओस् आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी। ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४। १। १॥ प्रत्ययः ३। १। १॥ परश्च ३।१।२॥—इत्यधिकृत्य। ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। सुपः १। ४। १०३॥ सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १। ४। २२॥ द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः। विरामोऽवसानम् १।४।११०॥ वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्व-विसर्गौ। रामः। सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १। २। ६४॥ एकविभक्तौ यानि

पर्युदासादत्रैव 'हरिषु' इति समुदायस्य च न प्रातिपदिकत्वम्। नच 'अहन्' इत्यत्र प्रत्यय-लक्षणेन प्रत्ययान्तत्वाद्दोषवारणसम्भवेन प्रकृतसूत्रेऽधातुरिति किमर्थमिति वाच्यम्?

नोट :—'विभक्तिश्च' से सुप्-तिङ्की विभक्ति संज्ञा होती है। 'सुप्'से प्रत्याहार लिया जायगा और वह प्रत्याहार इसी सूत्रके आदि वर्ण—'सु'से लेकर अन्तिम 'सुप्'के 'प्' तकसे बनता है। 'सुप्'से सु, औ, जस् आदि इक्कीस (२१) विभक्तियाँ ली जाती हैं।

सुमें उकारका 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से, जस्में जकार और टामें टकारका 'चुटू'से, औट् में टकार और सुप्में पकारका 'हलन्त्यम्' से 'शस्'में शकार तथा ङे, ङसि, ङस् और ङिमें ङकारका 'लशक्वतद्धिते'से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप (श्रवणाभाव) हो जाता है। याद रहे कि विभक्तियोंके अन्तिम सकार-मकारकी इत्संज्ञा इसलिये नहीं होती कि 'न विभक्तौ तुस्माः' (आगे पृ० ३२ देखें) निषेध कर देगा।

ङ्याप्—प्रत्ययः—परश्च—ये तीनों सूत्र अधिकारसूत्र हैं। इन तीनोंका 'स्वौजस्' सूत्र में अधिकार होकर ङ्यन्त-आबन्त-प्रातिपदिकसे पर स्वादि प्रत्यय हो, ऐसा अर्थ होता है।

नोट :—अधिकारसूत्रका लक्षण—**'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ-बोधजनकत्वम्'** अर्थात् अपनी जगह पर स्वार्थबोध नहीं होकर अन्य सूत्रोंके साथ अर्थबोध होना।

सुपः—सुप् के जो तीन-तीन वचन वे प्रत्येक क्रमशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचन संज्ञक हों। **द्व्येकयोः**—द्वित्वकी विवक्षामें द्विवचन और एकत्वकी विवक्षामें एकवचन हो। **विरामो**—वर्णोंका अभाव अवसानसंज्ञक हो।

नोट :—जिस वर्णके आगे कोई दूसरा वर्ण नहीं हो वह अवसान वर्ण कहलाता है।

सरूपाणाम्—एक (समान) विभक्तिमें जहाँ समान ही रूप देखे गये हों वहाँ

सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते । **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** ६ । १ । १०२।। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । **नादिचि** ६।१।१०४।। आदिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । **बहुषु बहुवचनम्** १।४।२१।। बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् । **चुटू** १ ।३। ७ ।। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । **विभक्तिश्च** १ । ४ । १०४ ।। सुप्तिङौ विभक्तिसञ्ज्ञौ स्तः । **न विभक्तौ तुस्माः** १ । ३ । ४ ।। विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा इतो न स्युः । इति नेत्त्वम् । रामाः । **एकवचनं सम्बुद्धिः** २।३।४९।। सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसञ्ज्ञं स्यात् । **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** १।४।१३।। यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन् परेऽङ्गसञ्ज्ञं स्यात् । **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** ६।१।६९।। एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाऽङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम । हे रामौ । हे रामाः । **अमि पूर्वः** ६।१।१०७।। अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् ।

'न ङिसम्बुद्धयोः' इत्यत्र सम्बुद्धिग्रहणेन प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तपर्युदासाभावज्ञापनात् ।

उनमेंसे एक ही शेष हो (बचे) और अन्यका लोप हो जाय ।

नोट :—इस सूत्रसे यह नियम सिद्ध होता है कि दो या बहुत अर्थ-बोध करानेमें भी शब्दका एक ही बार उच्चारण होना चाहिये । 'एक' शब्दके आठ अर्थ होते हैं । कहा भी है :—

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥

प्रथमयोः—'अक्'से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो । **नादिचि**—अवर्णसे पर 'इच्' हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हो ।

बहुषु—बहुत्वकी विवक्षामें बहुवचन हो । **चुटू**—प्रत्ययके आदि चवर्ग और टवर्गकी इत्संज्ञा हो । **विभक्तिश्च**—सुप्-तिङ् की विभक्ति संज्ञा हो ।

नोट :—'सुप्'से सुप् प्रत्याहार लिया जाता है । (दे० पृ० ३१) । 'तिङ्' से-'तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इड् वहि महिङ्' ये अठारह लिये जाते हैं (भ्वादिप्रकरण देखें) ।

न विभक्तौ—विभक्तिमें स्थित तवर्ग, सकार और मकारकी इत्संज्ञा नहीं हो । **एकवचन**—सम्बोधनमें प्रथमाका एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा हो । **यस्मात्**—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से विधान किया जाय तदादि (वह है आदिमें जिस समुदायके वह) शब्दस्वरूप उस प्रत्ययके परे अंगसंज्ञक हो । **एङ्ह्र**—एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्गसे पर सम्बुद्ध्यवयव हल्का लोप हो । **अमि**—अक्से अम् सम्बन्धी अच् परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश हो ।

राममू । रामौ । **लशक्वतद्धिते १ । ३ । ८ ।** तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः । **तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३।** पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि । **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८ । ४ । २ ।** अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम्-एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे । इति प्राप्ते । **पदान्तस्य ८ । ४ । ३७ ।** पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात् । रामान् । **टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२।** अदन्ताट्टादीनामिनादयः स्युः । णत्वम् । रामेण । **सुपि च ७ । ३ । १०२ ।** यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् । **अतो भिस ऐस् ७ । १ । ९ ।** अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल्शित्सर्वस्य । रामैः । **ङेर्यः ७ । १ । १३ ।** अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः स्यात् । **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६।** आदेशः स्थानिवत्स्यान्न

रामान् (ई० ५०, ५२, ५७)—रामशब्दाद् शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'राम अस्' इति स्थिते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नत्वे कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति तन्निषेधे 'रामान्' इति रूपं सिद्धम् ।

लश—तद्धितको छोड़कर प्रत्ययके आदि लकार, शकार और कवर्गकी इत्संज्ञा हो । **तस्मा**—पूर्वसवर्णदीर्घसे पर शस् सम्बन्धी सकारके स्थानमें नकार आदेश हो, पुँल्लिङ्गमें । **अट्कु**—अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम् (और नुम्स्थानिक अनुस्वार)-इनसे व्यस्त (पृथक् पृथक्) व्यवधान रहनेपर अथवा यथासंभव मिलित (एकसे अधिक या सबसे भी) व्यवधान रहनेपर रेफ्-षकारसे पर नकारको णत्व हो, समान (एक) पदमें । **पदान्त**—पदान्त नकारको णकार नहीं हो ।

नोट :—णत्वविधायक और तन्निषेधक अनेक सूत्र हैं । पर उन सबोंके निष्कर्ष 'चुटुतुलशर्व्यवाये न' यह भाष्यवार्तिक स्मरण रखने योग्य है ।

फलित यह हुआ कि एक पदमें ऋकार, षकार और रेफसे पर चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और ल तथा शर् (श ष स) वर्णसे भिन्न एक, दो या अनेक वर्णोंका व्यवधान रहनेपर भी पदान्त भिन्न नकारके स्थानमें णत्व हो । इतना याद रहनेपर 'वार्तिकेन' आदिमें णत्वप्राप्तिकी शंका ही नहीं उठती ।

टाङसि—अदन्त अङ्गसे पर टा-ङसि-ङस्के स्थानमें क्रमसे इन्-आत्-स्य आदेश हो । **सुपि**—यञादि सुप्के परे अदन्त अङ्गको दीर्घ हो । **अतो**—अदन्त अङ्गसे पर भिस्के स्थानमें ऐस् आदेश हो । **ङेर्यः**—अदन्त अङ्गसे पर ङेके स्थानमें 'य' आदेश हो । **स्थानि**—आदेश स्थानिवत् (स्थानिधर्मवत्) हो, परन्तु स्थानिरूप जो अल् तदाश्रय

तु स्थान्यलाश्रयविधौ । इति स्थानिवत्त्वात् सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् । बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३। झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यै-कारः स्यात् । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् । वाऽवसाने ८।४।५६। अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात् । रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य । ओसि च ७। ३।१०४। ओसि परेऽतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामयोः । ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४। ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः स्यात् । नामि ६। ४। ३। नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाणाम् । रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते । आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९। इण्कवर्गाभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७। सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम ।

रामाय (ई० ४६,५१,५४)—रामशब्दात् ङेविभक्तौ 'ङेर्यः' इति ङेर्यादेशे ('स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावेन सुप्त्वमादाय) 'सुपि च' इत्यनेन मकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे 'रामाय' इति सिद्धम् ।

रामाणाम् (ई० ४७, ४९, ५२, ५४)—रामशब्दात् आमि विभक्तौ 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इत्यनेन नुटि उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च विहिते 'राम नाम्' इति जाते 'नामि' इति सूत्रेण दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामाणाम्' इति सिद्धम् ।

विधि कर्तव्यमें नहीं हो, (अर्थात् अलाश्रय विधि कर्तव्यमें स्थानिवद्भाव नहीं हो)। **बहु**—झलादि बहुवचन सुप्के परे अदन्त अङ्गके स्थानमें एत्व हो। **वाऽव**—अवसानमें विद्यमान झल्के स्थानमें चर् आदेश हो, ।विकल्पसे। **ओसि**—अदन्त अङ्गको एत्व हो, ओस्के परे। **ह्रस्व**—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्गसे पर जो आम् उसको नुट्का आगम हो। **नामि**—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, नाम्के परे। **आदेश**—इण् और कवर्गसे पर जो अपदान्त आदेशस्वरूप सकार और प्रत्ययावयव सकार उसके स्थानमें मूर्धन्य (षकार) आदेश हो। **सर्वा**—सर्वादि गणपठित शब्द सर्वनामसंज्ञक हों।

नोट :—सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् (३५)—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, (प्रत्ययान्त) डतम (प्रत्ययान्त) अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत् , त्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम (सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर (पश्चिम, आगे), अधर,

पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् । स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम् । जसः शी ७। १। १७। अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । सर्वे । सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४। अतः सर्वनाम्नो ङे इत्यस्य स्मै स्यात् । सर्वस्मै । ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७। १। १५। अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् । आमि सर्वनाम्नः सुट् ७। १। ५२। अवर्णान्तात्परस्यासर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः २। तस्येह पाठोऽकजर्थः । उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति । उभयः । उभये । उभयम् । उभयान् । उभयेन । उभयैः । उभयस्मै । उभयेभ्यः । उभयस्मात् ।

सर्वेषाम् (ई० ४८,५०,५२,५४,५६)—सर्वशब्दात् आमि 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन (वकारोत्तरवर्त्तिनोऽकारस्य) एत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन सस्य षत्वे 'सर्वेषाम्' इति सिद्धम् ।

(नीचे), स्व (आत्मा, आत्मीय), अन्तर (बाह्य, परिधानीय), त्यद् , तद् , यत् , एतद् , इदम् , अदस् , एक, द्वि, युष्मद् , अस्मद् , भवतु, किम् ।

पूर्वपरा—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन सातोंकी व्यवस्था (नियमसे अवधि आकांक्षा) में और असंज्ञामें सर्वनाम संज्ञा हो । **स्वम**—ज्ञाति (बान्धव) और धनवाचीसे भिन्न आत्मा-आत्मीयवाची अर्थ में 'स्व' शब्दकी सर्वनाम संज्ञा हो । **अन्तरं**—बहिर्योग (बाह्य) और उपसंव्यान (परिधानीय) अर्थमें 'अन्तर' शब्दकी सर्वनाम संज्ञा हो । **जसः**—अदन्त सर्वनामसे पर जस्के स्थानमें शी आदेश हो ।

नोट :—'शी' में शकार, इकार ये दो अल् हैं अतः अनेकाल्० सूत्रसे (दे० पृ० ३३) शी आदेश सम्पूर्ण जस्के स्थानमें होता है ।

सर्वना—अदन्त सर्वनामसे पर 'ङे' के स्थानमें स्मै आदेश हो । **ङसिङ्योः**—अदन्त सर्वनामसे पर 'ङसि' और 'ङि' के स्थानमें यथाप्राप्त स्मात् स्मिन् आदेश क्रमसे हों । **आमि**—अवर्णान्त अङ्गसे पर सर्वनामसे विहित 'आम्' को सुडागम हो । **उभशब्दो**-'उभ' शब्द दोका वाचक है इसलिये नित्य द्विवचनान्त है (एकवचन-बहुवचनमें इसका प्रयोग नहीं होता) । **तस्येह**—उस 'उभ' शब्दका सर्वादिगणमें पाठ सिर्फ अकच् प्रत्ययकी सिद्धिके लिये है । [सर्वनाम होनेसे 'उभकौ' में 'अव्ययसर्वनाम्ना०' से (प्राग्वीय

उभयेभ्यः। उभयस्य। उभयेषाम्। उभयस्मिन्। उभयेषु। डतरडतमौ प्रत्ययौ। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः तुल्यपर्यायस्तु न, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामिति ज्ञापकात्।

पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् १।१।३४। एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे। पूर्वाः। असंज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। **स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था।** व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५।** ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता सञ्ज्ञा सा जसि वा स्यात्। स्वे। स्वाः। आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु-स्वाः। ज्ञातयोऽर्था वा। **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६।** बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता सञ्ज्ञा सा जसि वा स्यात्। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा

प्रकरण देखो) अकच् होगा।] **डतर**—सर्वादिगणमें डतर-डतम प्रत्यय हैं—'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प्रत्ययके ग्रहणमें तदन्तका ग्रहण हो) इस परिभाषासे तदन्तविधि होकर डतरान्त और डतमान्त लिए जाते हैं। **नेम**—सर्वादिगणमें अर्धपर्यायवाची 'नेम' शब्द है। **समः**—सर्वादि गणमें सर्वपर्यायवाची 'सम' शब्द है—तुल्यपर्यायवाची नहीं है। अत एव 'यथासंख्य' सूत्रमें तुल्यपर्यायवाची 'समानाम्' पदमें सुट् होकर 'समेषाम्' नहीं हुआ। **पूर्वपरा**—पूर्वादि सातोंको प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह व्यवस्था और असंज्ञा अर्थमें जस्के परे विकल्पसे हो।

नोट :—'पूर्वपरा०' सूत्रका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि—**'नियमेन अवधिसापेक्षार्थे संज्ञाभिन्नार्थे च वर्तमानानां पूर्वादीनां (सप्तानां) जसि सर्वनामसंज्ञाविकल्पो न त्वन्यत्र'** अर्थात् जहाँ पर वह इससे पूर्व है, पर है, अवर है, दक्षिण है, उत्तर है, अपर है या अधर है, इस प्रकार नियमसे अवधि की आकांक्षा हो वहाँपर और संज्ञासे भिन्न अर्थमें प्रयुक्त पूर्वादि शब्दोंकी जस्के परे सर्वनामसंज्ञा होती है। इसीलिए—'दक्षिणा गाथकाः' (गाथकाः=गानेवाले, दक्षिणाः=कुशलाः—चतुर हैं) यहाँ दक्षिण शब्दका कुशल अर्थ है अतः अवधिकी आकांक्षा नहीं होनेसे सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई। असंज्ञायाम् का प्रत्युदाहरण—'उत्तराः कुरवः' है। यहाँ उत्तर शब्द 'उत्तर कुरुदेश' की संज्ञा है, इसलिए सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई।

स्वमज्ञा—ज्ञाति-धन वाचीसे भिन्न जो आत्मा-आत्मीयवाची 'स्व' शब्द उसकी गणसूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जस्के परे विकल्पसे हो। **अन्तरं**—बाह्य और परिधानीय अर्थमें अन्तर शब्दको प्राप्त सर्वनामसंज्ञा जस्के परे विकल्पसे हो।

वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः। **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६।** एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्। पूर्वात्। पूर्वस्मिन्। पूर्वे। एवं परादीनाम्। शेषं सर्ववत्। **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३।** एते जसि उक्तसञ्ज्ञा वा स्युः। प्रथमे। प्रथमाः। तयः प्रत्ययः। द्वितये। द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे। नेमाः। शेषं सर्ववत्। ***तीयस्य ङित्सु वा।** द्वितीयस्मै। द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः। **जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१।** जराशब्दस्य जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ। ***पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। एकदेशविकृतमनन्यवदिति** जर-शब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरस इत्यादि।

पूर्वस्मात् (ई० ३६)—सर्वादिगणपठितात् पूर्वशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसि 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इत्यनेन ङसेः स्थाने स्मादित्यादेशे जश्त्वे चर्त्वे 'पूर्वस्मात्' इति, 'चर्त्वाभावपक्षे पूर्वस्मादिति। स्मादादेशाभावपक्षे तु पूर्वशब्दात् ङसि 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङसेः स्थाने आदादेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे जश्त्वे चर्त्वे च कृते 'पूर्वात्' इति। चर्त्वाभावपक्षे पूर्वादिति।

निर्जरसौ (ई० २२,५७)—निर्जरशब्दस्य प्रथमाद्विवचने द्वितीयाद्विवचने च 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। न च जराशब्दस्य

पूर्वादिभ्यो—पूर्वादि नव शब्दोंसे पर 'ङसि' और 'ङि' के स्थानमें यथाक्रम स्मात्-स्मिन् आदेश हों, विकल्पसे। **प्रथम**—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दोंकी सर्वनामसंज्ञा हो, जस्के परे विकल्पसे। **तीयस्य**—तीयप्रत्ययान्तकी सर्वनामसंज्ञा हो, ङित् विभक्तिके परे विकल्पसे। **जराया**—'जरा' शब्दके स्थानमें 'जरस्' आदेश हो, अजादि विभक्तिके परे विकल्पसे।

नोट :—सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् विभक्तिको छोड़कर निर्जर शब्दको सर्वत्र जरसादेश विकल्पसे होता है।

पदाधि—पदाधिकार और अंगाधिकारसे जिसको जो कार्य विधान किया गया है, वह कार्य उसको तथा तदन्त (वह है अन्तमें जिसके उस) को भी हो।

नोट :—जरसादेश अंगाधिकारमें विहित है अतः यह जरसादेश 'जरा' शब्दको और तदन्त ('निर्जर' शब्द) को भी होता है।

निर्दिश्य—निर्दिश्यमान (सूत्रोच्चार्यमाण) को आदेश हो (**षष्ठीप्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिविषयत्वाश्रयत्वं निर्दिश्यमानत्वम्**)। **एकदेश**—'एकदेशविकृतमनन्यवत्'

पक्षे हलादौ च रामवत् । विश्वपाः । दीर्घाज्जसि च ६ । १ । १०५ । दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । विश्वपाम् । विश्वपौ । सुडनपुंसकस्य १ । १ । ४३ । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १ । ४ । १७ । कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् । यचि भम् १ । ४ । १८ । यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात् । आकडारादेका सञ्ज्ञा १ । ४ । १ । इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकाशा च । आतो धातोः ६ । ४ । १४० । आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य ।

विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दे कथमिति वाच्यम्, जरसादेशस्य अङ्गाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया निर्जरशब्दस्यापि जरसादेशोचितत्वात्, नन्वेवमपि जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः अनेकाल्त्वात् निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्यैव स्यादिति चेन्न, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषायाः जागरूकत्वात् । न चैवमपि निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वं कथमिति वाच्यम्, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया अर्थात् 'छिन्ने पुच्छेऽपि श्वा श्वैव, न चाऽश्वो न च गर्दभः' इति न्यायेन निर्जरशब्देऽपि जराशब्दान्तत्वस्य सुलभत्वात् । जरसादेशाभावपक्षे तु 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'निर्जरौ' इति बोध्यम् ।

(परिभाषा)—अवयवके एकदेशके विकृत होनेपर भी अवयवी अन्य नहीं कहाता । अतः प्रकृतिमें 'निर्जर' शब्दघटक 'जर' शब्दको भी जराशब्द मानकर जरसादेश हुआ । **दीर्घा**—दीर्घसे पर 'जस्' अथवा 'इच्' रहे तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हो । **सुडन**—स्वादि पंचवचन (सु-औ-जस्-अम्-औट्) की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो, नपुंसकलिंगको छोड़कर ।

नोट :—याद रहे कि नपुंसकलिङ्गमें जस् और शस् स्थानिक 'शि' मात्रकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है ('शि सर्वनामस्थानम्' अजन्तनपुंसकलिंग देखो) ।

स्वादिष्व—'सु' प्रत्ययसे लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय, परमें रहनेसे पूर्वकी पदसंज्ञा हो । **यचि भम्**—'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त जो यादि और अजादि असर्वनामस्थान प्रत्यय, उनके परे पूर्वकी भसंज्ञा हो । **आकडारा**—यहाँसे (प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादसे लेकर आगे) 'कडाराः कर्मधारये' ।१।२।३८। सूत्रमें पूर्व तक एककी एक ही संज्ञा हो (जो अष्टाध्यायीके क्रमसे पर हो या अनवकाश हो)। **आतो**—अकारान्त जो

विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् । हरिः । हरी । जसि च ७ । ३ । १०९ । ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः स्याज्जसि । हरयः । **ह्रस्वस्य गुणः** ७।३।१०८। ह्रस्वस्य गुणः स्यात्सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् । **शेषो घ्यसखि** १। ४। ७। 'शेष' इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसञ्ज्ञं स्यात् । **आङो नाऽस्त्रियाम्** ७। ३। १२०। घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङिति टासञ्ज्ञा । हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः । **घेर्ङिति** ७ । ३ । १११ । घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात् । हरये । हरिभ्याम् । हरिभ्यः । **ङसिङसोश्च** ६ । १ । ११० । एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेः २। हर्योः २। हरीणाम् । **अच्च घेः** ७ । ३ । ११९ । इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् स्यात्, घेरन्तादेशश्चाऽकारः ।

विश्वपः (ई० ३२, ४२, ४६, ५१, ५४, ५५)—विश्वपाशब्दाच्छसि विभक्तौ ('लशक्वतद्धिते' इति शसः शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते) 'विश्वपा अस्' इति स्थिते ('सुडनपुंसकस्य' इत्यनेन 'सु-औ-जस्-अम्-औट्' इति स्वादिपञ्च-वचनस्यैव सर्वनामस्थानसंज्ञाया विहितत्वात् शसो न सर्वनामस्थानसंज्ञा, तेन) 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन (सर्वनामस्थानभिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विश्वपाशब्दस्य) पदसंज्ञायां 'यचि भम्' इत्यनेन (सर्वनामस्थानभिन्नय-जादिषु स्वादिषु परेषु) भसंज्ञायां च प्राप्तायां (किमत्र विधेयम् इति शङ्कायाम्) 'आकडारादेका संज्ञा' इत्यनेन एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परत्वादनवकाशत्वाच्च भसंज्ञायां सत्याम् 'आतो धातोः' इत्यनेन पकारोत्तरवर्त्याकारस्य लोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'विश्वपः' इति सिद्धम् ।

हरेः (ई० ३३, ३८, ५२)—हरिशब्दात् पंचम्येकवचने षष्ठ्येकवचने च अनुबन्धलोपे सति 'हरि अस्' इति स्थिते, 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'हरेः' इति सिद्धम् ।

धातु, तदन्त जो भसंज्ञक अङ्ग उसका लोप हो । **जसि च**—ह्रस्वान्त अंगको गुण हो, जस्के परे । **ह्रस्वस्य**—ह्रस्वान्त अंगको गुण हो सम्बुद्ध 'सु' के परे । **शेषो**—नदीसंज्ञकसे भिन्न जो ह्रस्व इकार-उकार, तदन्त जो सखि-भिन्न शब्द, वह घिसंज्ञक हो (सूत्रमें शेषग्रहण स्पष्टार्थ है) । **आङो**—घिसंज्ञकसे पर 'आङ्' (टा विभक्ति) को 'ना' आदेश हो, स्त्रीलिंगको छोड़कर । **घेर्ङिति**—घिसंज्ञकको गुण हो, ङित्-सुप् विभक्तिके परे । **ङसि**—एङ्से पर ङसि-ङस् सम्बन्धी अकारको पूर्वरूप एक आदेश हो । **अच्च**—ह्रस्व इकार-उकारसे पर

हरौ। हरिषु। एवं कव्यादयः। **अनङ् सौ ७।१।९३।** सख्युरङ्गस्याऽनङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ। **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५।** अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्। **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ६।४।८।** नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः १।२।४१।** एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात्। **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८।** हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते। **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७।** प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात्। सखा। **सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२।** सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्। **अचो ञ्णिति ७।२।११५।** अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च परे। सखायौ। सखायः। हे सखे। सखायम्।

हरौ (ई० ४५, ५२)—हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने ङौ अनुबन्धलोपे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेरौत्वे घिसंज्ञकस्य रेफोत्तरवर्तिनः इकारस्य स्थाने अकारे च विहिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति।

सखा (ई० ४०, ४३, ४६, ४९)—सखिशब्दात् सौ विभक्तौ अनुबन्धलोपे 'सखि स्' इति स्थिते 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इति अङ्गसंज्ञायाम् 'अनङ् सौ' इत्यनेन 'ङिच्चे'ति सूत्रबलात् सखिशब्दघटकखकारोत्तरवर्तिनः इकारस्य अनङि अनुबन्धलोपे 'सखन् स्' इति दशायाम् 'अलोन्त्यात्पूर्व उपधा' इत्यनेन उपधासंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे 'सखान् स्' इति दशायाम् 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' इत्यनेन सस्य अपृक्तसंज्ञायाम् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इत्यनेन सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'सखा' इति।

'ङि' को औत् आदेश हो और घिसंज्ञकको अकारान्त आदेश हो। **अनङ् सौ**—सखिरूपी अंगको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धिभिन्न सुके परे। **अलोन्त्यात्**—अन्त्य अल्से पूर्व वर्णकी उपधासंज्ञा हो। **सर्वनाम**—नान्तकी उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थानके परे। **अपृक्त**—एक 'अल्' मात्ररूप जो प्रत्यय वह अपृक्तसंज्ञक हो। **हल्ङ्या**—हलन्तसे पर जो 'सु–ति–सि' सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक हल् और दीर्घरूपी ङी–आप् तदन्तसे पर जो 'सु' सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक हल् उसका लोप हो। **न लोपः**—प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, तदन्त जो नकार उसका लोप हो। **सख्यु**—सखिरूप अङ्गसे पर जो सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान, वह णिद्वत् हो (अर्थात् 'णित्' के परे जो वृद्ध्यादि कार्य होता है, वह उसके परे भी हो)। **अचो**—

सखायौ। सखीन्। सख्या। सख्ये। **ख्यत्यात्परस्य ६। १। ११२।** खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात्। सख्युः २। **औत् ७। ३। ११८।** इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्स्यात्। सख्यौ। शेषं हरिवत्। **पतिः समास एव १। ४। ८।** पतिशब्दः समास एव घिसञ्ज्ञः स्यात्। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। **बहुगणवतुडति संख्या १। १। २३।** एते संख्यासञ्ज्ञाः स्युः। **डति च १।१।२५।** डत्यन्ता संख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात्। **षड्भ्यो लुक् ७। १। २२।** षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात्। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १। १। ६१।** लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात्। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १। १। ६२।** प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति जसि चेति गुणे प्राप्ते। **न लुमता-**

सख्युः (ई० २४)—सखिशब्दात् पञ्चम्येकवचने षष्ठ्येकवचने च विभक्तौ अनुबन्धलोपे 'सखि अस्' इति दशायाम् 'इको यणचि' इति यणि 'ख्यत्यात्परस्य' इत्यनेन असोऽकारस्य उत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'सख्युः' इति।

पत्यौ (ई० २५, ५१)—पतिशब्दात् ङेविभक्तौ 'पतिः समास एवे'ति सूत्रेण निषेधादत्रासमासे घित्वाऽभावेन 'अच्च घेः' इत्यस्याऽप्राप्तया 'औत्' इत्यनेन ङेरौत्वे 'इको यणचि' इति यणि 'पत्यौ' इति सिद्धम्।

अजन्त अङ्गको वृद्धि हो, 'ञित्-णित्' प्रत्ययके परे। **ख्यत्यात्**—कृत यणादेशक जो ह्रस्व 'खि' शब्द, 'ति' शब्द और दीर्घ 'खी' शब्द 'ती' शब्द उससे पर जो ङसि-ङस् सम्बन्धी अकार उसके स्थानमें उकार आदेश हो। **औत्**—ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'ङि' को औत् आदेश हो। **पतिः समास**-पति शब्द समासमें ही घिसंज्ञक हो। अर्थात् केवल पति शब्द की घिसंज्ञा नहीं हो। **बहुगण**—बहु शब्द, गण शब्द तथा वतुप्रत्ययान्त, डतिप्रत्ययान्तकी संख्यासंज्ञा हो।

नोट :—वतुप्रत्ययान्तसे 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' इस सूत्रसे निष्पन्न 'यावत्' आदि और डतिप्रत्ययान्तसे 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इस सूत्रसे निष्पन्न 'कति' शब्द लिये जाते हैं (कति शब्दका प्रयोग बहुवचनमें ही होता है)। **डति च**—(षान्त-नान्त शब्दके समान) डत्यन्त संख्यावाचक शब्द भी षट्संज्ञक हो। **षड्भ्यो**—षट्संज्ञकसे पर जस्-शस्का लुक् (अदर्शन) हो। **प्रत्ययस्य**—'लुक्-श्लु-लुप्' शब्दसे किया हुआ हो जो प्रत्ययका अदर्शन वह 'लुक्-श्लु-लुप्'संज्ञक हो। **प्रत्यय**—प्रत्ययका लोप होने पर भी प्रत्ययाश्रित कार्य हो। **न लुमता**—'लुक्-श्लु-लुप्' शब्दसे प्रत्ययका लोप (अदर्शन) होने

ङ्गस्य १।१।६३। लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिषु। **युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः।** त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २। **त्रेस्त्रयः** ७।१।५३। त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। **गौणत्वेऽपि।** प्रियत्रयाणाम्। **त्यदादीनामः** ७।२।१०२। एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ। **द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः।** द्वौ। द्वौ। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः। **दीर्घाज्जसि च** ६।१।१०५। दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। पप्यौ २। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः २। पप्यः २। पप्योः।

कति (ई० २४, ३०)—कतिशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'बहुगणवतुडति संख्या' इति डत्यन्तत्वात् संख्यासंज्ञायां 'डति च' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुकि, जसि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति प्रत्ययलक्षणेन 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्य' इति निषेधे 'कति' इति।

त्रयाणाम् (ई० ४६)-त्रिशब्दादामि 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयादेशे 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'त्रयाणाम्' इति।

गौणत्वेऽपि 'प्रियत्रयाणाम्' इति—अत्र 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् त्रिशब्दस्यान्यपदार्थे विशेषणत्वेन गौणत्वात् 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयादेशो न स्यादिति तु नाशंक्यम्, गौणमुख्यन्यायस्य पदकार्यविषयत्वात्।

पर (प्रत्यय लक्षणसे) तदाश्रित अंगकार्य नहीं हो। **युष्मदस्मद्**—युष्मद्-अस्मद् और षट्संज्ञक शब्दोंके तीनों लिङ्गोंमें समानरूप हों। **त्रिशब्दो**—त्रिशब्द बहुत्वसंख्याका वाचक है, अतः नित्य बहुवचनान्त है। **त्रेस्त्रयः**—त्रिशब्दको त्रय आदेश हो, आम्के परे। **गौणत्वेऽपि**-अयं भावः, 'प्रियास्त्रयो यस्य' इस विग्रहमें-**'इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वं गौणत्वम्'** अथवा **'स्वान्तसमुदायपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताप्रयोजकत्वम्'** इस लक्षणसे प्रियत्रिघटक 'त्रि'को गौण होनेपर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे 'प्रियत्रयाणाम्' यहाँ पर निषेध नहीं हुआ क्योंकि इस न्यायकी प्रवृत्ति पदकार्यमें ही होती है—ऐसा आचार्योंका सिद्धान्त है। **त्यदा**—त्यदादिको अकारान्त आदेश हो, विभक्तिके परे। **द्विप**—सर्वादिगणपठित जो त्यदादि हैं उनमें 'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्दपर्यन्त ही 'त्यदादि'से भाष्यकारको इष्ट है। **दीर्घा**—दीर्घसे पर 'जस्' और 'इच्' रहे तो पूर्वसवर्णदीर्घ एक आदेश नहीं हो।

दीर्घत्वान्न नुट् । पप्याम् । ङौ तु सवर्णदीर्घः, पपी । पप्योः । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः । बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी । **यू स्त्र्याख्यौ नदी** १।४।३। ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः । ॐ **प्रथमलिङ्गग्रहणं च** । पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** ७।३।१०७। अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि । **आण्नद्याः** ७।३।११२। नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात् । **आटश्च** ६।१।९०। आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः २ । बहुश्रेयसीनाम् । **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** ७।३।११६। नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात् । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः । अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् । प्रधीः । **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** ६।४।७७। श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्यस्य चाऽङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ

बहुश्रेयस्याः (ई० ३७, ५५)—बहुश्रेयसीशब्दात् पंचम्येकवचने ङसि अनुबन्धलोपे 'बहुश्रेयसी अस्' इति स्थिते 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वार्तिकेन नदीसंज्ञायाम् । 'आण्नद्याः' इत्यादि अनुबन्धलोपे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'बहुश्रेयस्याः' इति ।

बहुश्रेयसीनाम् (ई० ४६)—बहुश्रेयसीशब्दादामि 'बहुश्रेयसी आम्' इति स्थिते 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वार्तिकेन नदीसंज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नद्यन्तत्वान्नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'बहुश्रेयसीनाम्' इति सिद्धम् ।

बहुश्रेयस्याम् (ई० ४२, ४५, ५४, ५७)—बहुश्रेयसीशब्दात् ङिविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वार्तिकेन नदीसंज्ञायां 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यनेन ङेरामि कृते स्थानिवद्भावेन ङित्त्वमादाय 'आण्नद्याः' इत्यादि अनुबन्धलोपे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्याम्' इति सिद्धम् ।

यूस्त्र्या-ईदन्त, ऊदन्त जो नित्यस्त्रीलिंग वह नदीसंज्ञक हो । **प्रथम**-जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिंग हो और बादमें समास आदि वृत्ति होनेपर नित्यस्त्रीलिंग न भी रहे तो उसकी नदीसंज्ञा हो-ऐसा कहना चाहिये । **अम्बा**—अम्बा(माता)अर्थक शब्द और नद्यन्त शब्दको ह्रस्व हो, संबुद्धिके परे । **आण्**—नद्यन्तसे पर ङिद्वचन (ङित्प्रत्यय) को 'आट्' का आगम हो । **आटश्च**—'आट्' से पर अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो । **ङेरा**—नद्यन्त, आबन्त और 'नी' शब्दसे पर जो 'ङि' उसको आम् आदेश हो । **अचिश्नु**—'श्नु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त-उवर्णान्त जो धातु तथा 'भ्रू'रूप जो अंग-उनको इयङ्, उवङ्

प्रत्यये परे । इति प्राप्ते । **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६। ४। ८२ ।** धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् । एवं ग्रामणीः । ङौ तु ग्रामण्याम् । अनेकाचः किम् ? नीः । नियौ । नियः । अमि शसि च परत्वादियङ् । नियम् । ङेराम् । नियाम् । असंयोगपूर्वस्य किम् ? सुश्रियौ । यवक्रियौ । **गतिश्च १ । ४ । ६० ।** प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ॐगतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते । शुद्धधियौ । **न भूसुधियोः ६। ४। ८५।** एतयोरचि सुपि यण्न स्यात् । सुधियौ । सुधियः, इत्यादि । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतीः । सुख्यौ २ । सुत्यौ २ । सुख्युः २ । सुत्युः २ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः । **तृज्वत्क्रोष्टुः ७ । १ । ९५ ।** क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७ । ३ । ११० ।** ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यात् ङौ सर्वनामस्थाने च परे । इति प्राप्ते । **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७। १। ९४**

प्रध्यम् (ई० ३६)—प्रधीशब्दाद् अमि 'प्रधी अम्' इति स्थिते 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'प्रध्यम्' इति ।

प्रध्यि (ई० ३८, ४५)—प्रधीशब्दात् ङौ अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घं प्रबाध्य इयङि प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'प्रध्यि' इति ।

ग्रामण्याम् (ई० ४५)—'ग्रामं नयति = नियच्छति इति ग्रामणीः' । तस्य सप्तम्येकवचने ङौ अनुबन्धलोपे 'ग्रामणी इ' इति स्थिते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यनेन नीशब्दात्परस्य ङेरामि 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि तत् सिद्धम् ।

आदेश हो, अजादि प्रत्ययके परे। **एरने**—धात्ववयवसंयोग पूर्वमें न हो, ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अंग, उसको यण् हो, अजादि प्रत्ययके परे । **गति—** प्रादि (प्र, परा आदि) की क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो । **गति**—कारकसे इतर (भिन्न) पूर्वपदको यण् इष्ट नहीं है—ऐसा सूत्रकारका मत है । **न भू**—भू शब्द और सुधी शब्दको यण् नहीं हो-अजादि 'सुप्' के परे । **तृज्वत्**—असंबुद्धि सर्वनामस्थानके परे क्रोष्टु शब्दको तृजन्तवत् रूप हो, अर्थात् क्रोष्टु शब्दके स्थानमें 'क्रोष्टृ' आदेश हो । **ऋतो**-ऋदन्त अङ्गको गुण हो, ङि और सर्वनामस्थान विभक्तिके परे । **ऋदुश**—ऋदन्त तथा उशनस् , पुरुदं-

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ । अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृ-
क्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११।। अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनाम-
स्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टून् । विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७।।
अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा । क्रोष्ट्रे । ऋत उत् । ६।१।१११।।
ऋतो ङसिङसोरति उदेकादेशः स्यात् । रपरः । रात्सस्य ८।२।२४।। रेफात्संयो-
गान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रस्य विसर्गः । क्रोष्टुः २ । *नुमचिरतृज्व-
द्भावेभ्यो नुट्पूर्वविप्रतिषेधेन । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भु-
वत् । हूहूः । हूहौ । हूहः । हूहूम्-इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः ।

क्रोष्टा (ई० २१, ३०)—क्रोष्टुशब्दात् सौ अनुबन्धलोपे 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति
तृज्वद्भावे 'क्रोष्टृ स्' इति दशायाम् 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तम्प्र-
बाध्य 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि एकदेशविकृतन्यायेन 'अप्तृन्तृच्स्वसृ-
नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशातृणाम्' इति उपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुति-
स्यपृक्तं हल्' इति सुलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'क्रोष्टा' इति ।

क्रोष्टुः (ई० ४१, ४२, ५१)—क्रोष्टुशब्दात् ङसि अनुबन्धलोपे 'क्रोष्टु
अस्' इति स्थिते 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे क्रोष्टृ अस्' इति जाते
'ऋत उत्' इति उत्वे एकादेशे रपरत्वे च कृते 'क्रोष्टुर्स्' इति स्थिते 'रात्सस्य'
इत्यनेन सलोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति ।
तृज्वद्भावाऽभावपक्षे 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे
'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'क्रोष्टोः' इति च सिद्धं भवति ।

सस् और अनेहस् शब्दोंको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धि भिन्न 'सु' के परे । अप्तृन्—'अप्
शब्द तथा तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षतृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृ-शब्दों
की उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । **विभाषा**—क्रोष्टु शब्दको तृज्व-
द्भाव (क्रोष्टृ आदेश) हो, विकल्पसे, अजादि तृतीयादि (टा-ङे-ङसि-ङस्-ओस्-आम्-
ङि) विभक्तिके परे । **ऋत्**—ऋदन्त अङ्गसे ङसि-ङस् सम्बन्धी अकारके परे पूर्व-परके
स्थानमें 'उत्' एकादेश हो । **रात्सस्य**—रेफसे पर यदि संयोगान्तका लोप हो तो सकारका
ही हो-अन्यका नहीं । **नुम्**—नुम् , अच्के परे रभाव और तृज्वद्भावसे पहले पूर्वविप्रतिषे-
धेन (प्र० २९ देखो) आम्को नुट् ही हो ।

नोट :—'क्रोष्टूनाम्' यहाँ पर नुट् होनेसे अच्परत्वका नाश हो जाता, अतः तृज्व-
द्भावकी पुनः प्राप्ति नहीं होती । एवं 'तिसृणाम्' और वारीणाम्' यहाँ पर भी नुट् होनेसे

हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः २ । अतिचमूनाम् । खलपूः । ओः सुपि ६।४।८३।। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्याऽनेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्वौ । खलप्वः । एवं सुल्वादयः । स्वभूः । स्वभुवौ । स्वभुवः । वर्षाभूः । वर्षाभ्वश्च ६।४।८४।। अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वावित्यादि । दृन्भूः । *दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः । दृन्भ्वौ । एवं करभूः । धाता । हे धातः । धातारौ । धातारः । *ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् । धातॄणाम् । एवं नप्त्रादयः । नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेनेह न । पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । शेषं धातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ । नृ च ६ । ४ । ६ ।। 'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात् । नृणाम् । नॄणाम् । गोतो णित् ७ । १ । ९०।। ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्व-

---

पितरौ (ई० ४७, ४९)—पितृशब्दात् औविभक्तौ 'ऋतोङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन गुणे रपरत्वे च कृते 'पितरौ' इति । अत्र व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य निमार्थत्वात् 'अप्तृन्नि'ति दीर्घो न । अव्युत्पत्तिपक्षे तु अप्तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नोदेतीति ।

नियमप्रकारस्त्वित्थम्—'अप्तृन्तृच्–' इति सूत्रे 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' इति पक्षे नप्त्रादीनां सप्तानां तृन्नन्तत्वात्तृजन्तत्वाच्च तृन्तृच्ग्रहणेनैव दीर्घे सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं, 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवती'ति सिद्धान्तात् नियमार्थम्—'तृन्तृजन्तानां चेतर्हि नप्त्रादीनामेवे'ति । नियमेन च स्वेतरस्वजातीयव्यावृत्तिः क्रियते, इति नप्त्रादीतरोणादिनिष्पन्नतृन्नन्ततृजन्तशब्दानां न दीर्घ इति ।

नृणाम् (ई० ४८)-नृशब्दात् आमि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घं प्रबाध्य 'नृ च' इति विभाषया दीर्घे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'

अच्परत्वका नाश हो जाता है अतः 'तिसृणाम्' में 'अचि र ऋतः' से रभाव और 'वारीणाम्' में 'एकोऽचि विभक्तौ' से नुम् नहीं होते । ओः सुपि-धात्ववयवसंयोग पूर्वमें नहीं है ऐसा जो उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको यण् हो, अजादि सुप् विभक्तिके परे । वर्षा—वर्षाभू शब्दको यण् हो, अजादि सुप् विभक्तिके परे । दृन्—दृन्-कर-पुनर् पूर्वक 'भू' को यण् हो, अजादि सुप् विभक्तिके परे—ऐसा सूत्रकारको कहना चाहिये । ऋवर्णा—ऋवर्णसे पर नकारको णत्व हो—ऐसा कहना चाहिये । नृ च—'नृ' शब्दको दीर्घ हो, नाम्के परे, विकल्पसे । गोतो—ओकारसे विहित जो सर्वनामस्थान, वह

त्स्यात्। गौः। गावौ। गावः। औतोऽम्शसोः ६। १। ९३॥ औकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात्। गाम्। गावौ। गाः। गवा। गवे। गोः इत्यादि। रायो हलि ७। २। ८५॥ रैशब्दस्याकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ। राः। रायौ। रायः। राभ्यामित्यादि। ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लौभ्यामित्यादि।

॥ इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः ॥

—०॰०—

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।

रमा। औङ आपः ७। १। १८॥ आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात्। औङित्यौकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः। सम्बुद्धौ च ७। ३। १०६॥ आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः। हे रमे। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः। आङि चाऽऽपः ७। ३। १०५॥ आङि ओसि च परे आबन्तस्याऽङ्गस्य एकारः स्यात्। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः। याडापः ७।३।११३॥ आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात्। वृद्धिः। रमायै। रमाभ्याम्।

इति णत्वे 'नॄणाम्' इति। दीर्घाऽभावपक्षे 'नृणाम्' इति। अत्र 'नामी'ति दीर्घस्तु न सकृद्गतौ यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति सिद्धान्तात्।

गाम् (ई० ५२)—गोशब्दाद् अमि 'औतोऽम्शसोः' इति सूत्रेण गोशब्दस्यौकारस्य विभक्तेरकारस्य च आकारैकादेशे 'गाम्' इति।

इति 'इन्दुमती' टीकायामजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ॥

—०॰०—

णिद्वत् हो। औतो—ओकारसे पर अम्‌शस् सम्बन्धी अच् रहे तो पूर्व-परके स्थानमें आकार एक आदेश हो। रायो—'रै' शब्दको आकारान्त आदेश हो, हलादि विभक्तिके परे।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अजन्तपुँल्लिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ।

—०॰०—

औङ—आबन्त अङ्गसे पर औङ् (औकार विभक्ति) के स्थान में 'शी' आदेश हो सम्बु—आबन्त अङ्गको एकार आदेश हो, सम्बुद्धिके परे। अङि—आङ् और ओस्‌के परे 'आप्' को एकार हो। याडापः—आबन्त अङ्गसे पर ङिद्वचनको याट्‌का आगम हो।

रमाभ्यः । रमायाः २ । रमयोः २ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गाऽम्बिकादयः । **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७। ३। ११४॥** आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वादय आबन्ताः । **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ । १।१।२८॥** अत्र सर्वनामता वा स्यात् । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थेति ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । जरा । जरसौ । जरे इत्यादि । पक्षे रमावत् । गोपा विश्वपावत् । मतीः । मत्या । **ङिति ह्रस्वश्च १। ४। ६॥** इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै । मतये । मत्याः । मत्याः । मतेः । मतेः । **इदुद्भ्याम् ७ । ३ । ११७ ॥** नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । मत्याम् । मतौ । शेषं हरिवत् ।

रमायाः (ई० २०, २५)—रमाशब्दात् ङसौ ङसि वा 'रमा अस्' इति स्थिते 'याडापः' इति याटि अनुबन्धलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'रमायाः' इति सिद्धम् ।

सर्वस्यै (ई० २०, २७,)—सर्वाशब्दात् ङेविभक्तौ 'सर्वा ए' इति स्थिते 'याडापः' इति याटि प्राप्ते तं बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आपो ह्रस्वे च कृते अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'सर्वस्यै' इति सिद्धम् ।

सर्वस्याम् (ई० २१,२२)—सर्वाशब्दात् ङिविभक्तौ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि स्थानिवद्भावेन ङित्वमादाय 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आपो ह्रस्वे च कृते 'सर्वस्या आम्' इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'सर्वस्याम्' इति ।

जरसौ (ई० २०)—जराशब्दात् प्रथमाद्विवचने 'जरा औ' इति स्थिते 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण जरसादेशे 'जरसौ' इति । जरसादेशाभावपक्षे तु 'औङ आपः' इत्यनेन औङः श्यादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे 'जरे' इति भवति ।

सर्व—आबन्त सर्वनामसे पर ङिद्वचनको याट्का आगम हो और आप्' को ह्रस्व हो । **विभाषा**—बहुव्रीहि समासमें दिग्वाचक शब्दों की सर्वनाम संज्ञा हो, विकल्पसे । **ङिति**—इयङ्-उवङ्के स्थानी रहे, 'स्त्री' शब्दसे भिन्न रहे तथा नित्यस्त्रीलिङ्ग रहे, ऐसा जो दीर्घ ईकार और ऊकार, इनकी नदीसंज्ञा हो, ङित्के परे विकल्पसे । और ह्रस्व इवर्ण-उवर्णकी नदीसंज्ञा हो, ङित्के परे स्त्रीलिङ्गमें विकल्पसे । **इदुद्**—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार-

एवं बुद्ध्यादयः। त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ ७।२।९९। स्त्रीलिङ्गयोरेतादेशौ स्तो विभक्तौ। अचि र ऋतः ७।२।१००। 'तिसृ' 'चतसृ' एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः। तिस्रः। तिसृभिः। तिसृभ्यः। आमि नुट्। न तिसृचतसृ ६।४।४। एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात्। तिसृणाम्। तिसृषु। द्वे। द्वे। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि। गौर्यै-इत्यादि। एवं नद्यादयः। लक्ष्मीः। शेषं

ङिति ह्रस्वश्च (ई० ४७)—अत्र 'इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ङिति नदीसंज्ञौ वा स्तः' इत्यर्थकं 'ङिति' इत्येकं वाक्यम्। 'ह्रस्वाविवर्णोवर्णौ ङिति स्त्रियां नदीसंज्ञौ वा स्तः' इत्यर्थकं 'ह्रस्वश्च' इत्यपरं वाक्यम्। तत्र 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इत्यतोऽनुवृत्ताऽस्त्रीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्यैव पर्युदासः, न तु ह्रस्वावित्यादिद्वितीयवाक्यविहितनदीत्वस्याऽपि, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः।

मत्याम् (ई० ३१, ३५, ४१, ४६, ५०, ५१)—मतिशब्दात् सप्तम्येकवचने ङिविभक्तौ 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि कृते स्थानिवद्भावेन ङित्वमादाय 'आण्नद्याः' इत्याडागमे अनुबन्धलोपे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्याम्' इति। नदीसंज्ञाऽभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घेरकारादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'मतौ' इति।

तिस्रः (ई० ३२, ४३, ५२)—त्रिशब्दाज्जसि अनुबन्धलोपे 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति त्रिशब्दस्थाने 'तिसृ' इत्यादेशे 'तिसृ अस्' इति स्थिते 'ऋतो ङी'ति गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'तिस्रः' इति। (एवं शसि विभक्तावपि तिस्रादेशे सति दीर्घं बाधित्वा रेफादेशे रुत्वे विसर्गे 'तिस्रः' इति)

तिसृणाम् (ई० ४२, ४६, ५५)— त्रिशब्दस्य षष्ठीबहुवचने 'त्रि आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति त्रिशब्दस्य स्थाने तिसृ' इत्यादेशे 'नुमचिरतृज्व-

---

उकारसे पर 'ङि' को 'आम्' आदेश हो। **त्रिचतुरोः**—स्त्रीलिंगमें वर्तमान 'त्रि' और 'चतुर' शब्दके स्थानमें क्रमसे तिसृचतसृ आदेश हो, विभक्तिके परे। **अचि र**—तिसृ और चतसृ शब्दके ऋकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, अच् के परे। **गुणदी**—'ङि' और 'जस्' विभक्तिमें 'ऋतो ङि' से प्राप्त गुण और 'शस्' में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त दीर्घ एवं 'ङसि-ङस्' में 'ऋत उत्' से प्राप्त उत्का रेफादेश बाधक है। **न तिसृ**—तिसृ-चतसृ शब्दको नाम्के परे दीर्घ नहीं हो।

गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि । **स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ।** स्त्रीशब्दस्ये-यङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः । **वाऽम्शसोः ६ । ४ । ८० ।** अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् । स्त्रियम् । स्त्रीम् । स्त्रियः । स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । परत्वान्नुट् । स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु । श्रीः । श्रियौ । श्रियः । **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १ । ४ । ४ ।** इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री । हे श्रीः । श्रियै, श्रिये । श्रियाः, श्रियः । **वाऽऽमि १ । ४ । ५ ।** इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो न तु स्त्री । श्रीणाम्, श्रियाम् । श्रियि, श्रियाम् । धेनुर्मतिवत् । **स्त्रियाञ्च ७ । १ । ९६ ।**

ड्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति बलात् 'अचि र ऋतः' इति प्राप्तं रेफादेशं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'तिसृणाम्' इति ।

स्त्रियम् (ई० २८, ४७, ४९)—स्त्रीशब्दाद् द्वितीयैकवचने अमि 'स्त्री अम्' इति स्थिते 'वाऽम्शसोः' इत्यनेन इयङि अनुबन्धलोपे 'स्त्रियम्' इति । इयङभावे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'स्त्रीम्' इति च भवति ।

स्त्रीणाम् (ई० ४५)—स्त्रीशब्दाद् आमि 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिरिति 'नामि' इत्यनेन दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'स्त्रीणाम्' इति ।

श्रियै—श्रीशब्दात् ङेविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे कृते 'ङिति ह्रस्वश्च' इति विकल्पेन नदी-संज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि अनुबन्धलोपे 'श्रियै' इति । नदीत्वाऽभावे इयङि 'श्रिये' इति भवति ।

श्रीणाम् (ई० २१, २६)—श्रीशब्दाद् आमि 'वामि' इत्यनेन नदीसंज्ञायां

तरीतन्त्र्यादयः—'अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥'

स्त्रियाः—'स्त्री' शब्दको इयङ् हो, अजादि प्रत्ययके परे । **वाऽम्**—अम् और शस् विभ-क्तिके परे 'स्त्री' शब्दको इयङ् आदेश हो, विकल्पसे । **नेयङ्**—इयङ् उवङ्के स्थानी जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनकी नदीसंज्ञा नहीं हो, 'स्त्री' शब्दको छोड़कर । अर्थात् 'स्त्री' शब्दको निषेध नहीं हो । **वाऽऽमि**—इयङ्-उवङ् स्थानी तथा नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनकी नदीसंज्ञा हो, 'आम्' विभक्तिके परे, विकल्पसे—'स्त्री' शब्दको छोड़कर । **स्त्रियां च**—स्त्रीवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त (क्रोष्टृ शब्द) के सदृश रूपको प्राप्त करे । अर्थात्

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते । ऋन्नेभ्यो ङीप् ४ । १ । ५ । ऋद्-न्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात् । क्रोष्ट्री । गौरीवत् । भ्रूः-श्रीवत् । स्वयंभूः-पुंवत् । न षट्स्वस्रादिभ्यः ४ । १ । १० । षट्सञ्ज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्-टापौ न स्तः । स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा । याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः । स्वसा । स्वसारौ । माता—पितृवत् । शसि मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः—पुंवत् । नौग्लौवत् । इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

अतोऽम् ७ । १ । २४ । अतोऽङ्गात् क्लीबात्स्वमोरम् । अमि पूर्वः । ज्ञानम् । एङ्ह्रस्वादिति हल्मात्रलोपः । हे ज्ञान । नपुंसकाच्च ७ । १ । १९ । क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् । यस्येति च ६ । ४ । १४८ । ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णाऽवर्णयोर्लोपः स्यात् । इत्यल्लोपे प्राप्ते । ॐऔङः श्यां

'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'श्रीणाम्' इति । नदीत्वाऽभावपक्षे इयङि 'श्रियाम्' इति ।

क्रोष्ट्री—क्रोष्टुशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'स्त्रियां च' इति तृज्वद्भावे 'क्रोष्टृ' इति जाते 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि 'क्रोष्टृ ई' इति स्थिते यणि 'क्रोष्ट्री' शब्दो निष्पन्नः, तस्मात् सौ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुलोपे 'क्रोष्ट्री' इति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायामजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

पुंलिङ्गके समान स्त्रीलिंगमें भी ऋकारान्त बन जावे । ऋन्ने—ऋदन्त और नान्त शब्दोंसे 'ङीप्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । न षट्—षट्संज्ञक और स्वस्रादि (स्वसृ-तिसृ-चतसृ-ननान्दृ-दुहितृ-यातृ-मातृ) शब्दोंसे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं हों ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अतोऽम्—अदन्त क्लीव (नपुंसक) अंगसे पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो । नपुं—क्लीब अंगसे पर 'औङ्' के स्थानमें 'शी' आदेश हो । यस्येति—भसंज्ञक इवर्ण और अवर्णका लोप हो, ईकार और तद्धितके परे । औङः—'औङ्'स्थानिक 'शी' के परे भसंज्ञक

प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने। जश्शसोः शिः ७।१।२०। क्लीबादनयोः शिः स्यात्। शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२। 'शि' इत्येतत् सर्वनामस्थानसंज्ञं स्यात्। नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२। झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने। मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित्स्यात्। उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धनवनफलादयः। अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात्। टेः ६।४।१४३। डिति भस्य टेर्लोपः स्यात्। कतरत्। कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्। इतरत्। अन्यत्। अन्यतरत्। अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव। ॐएकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यःॐ। एकतरम्। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७। क्लीबे प्रातिपदिकस्याऽजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपं-ज्ञानवत्। स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।७३। क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक्

ज्ञानानि (ई० २०, ३२, ४९)—ज्ञानशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'जश्शसोः शिः' इति जश्शसोः स्थाने श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यनेन 'मिदचोन्त्यात्परः' इति सूत्रसहकारात् अन्त्याज्रूपस्य नस्यान्त्यावयवीभूते नुमि अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधादीर्घे 'ज्ञानानि' इति।

कतरत्—कतरशब्दात् सौ अमादेशं प्रबाध्य 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति 'सोः' अद्डि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायाम् 'टेः' इति टेर्लोपे चर्त्वे 'कतरत्' इति।

इवर्ण-अवर्णका लोप नहीं हो। **जश्श**—क्लीब अंगसे पर जस्-शस्के स्थानमें 'शि' आदेश हो। **शि सर्व**—'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो। **नपुं**—झलन्त और अजन्त क्लीबको नुमागम हो, सर्वनामस्थानके परे। **मिद**—अचोंके मध्यमें अन्त्य जो 'अच्' उससे पर और उसीके अन्त्यावयव होकर मित (नुमादि) कार्य हों। **अद्**—डतरादि पाँचों क्लीबसे पर जो 'सु' और 'अम्' उसको 'अद्ड्' आदेश हो।

नोट:—डतरादिमें डतर-डतमप्रत्ययान्त और अन्य, अन्यतर, इतर ये पाँच हैं।

टेः—भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, 'डित्' के परे। **एकत**—क्लीबमें वर्तमान 'एकतर' शब्दसे पर 'सु' और 'अम्' को 'अद्ड्' आदेश नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये।

ह्रस्वो—क्लीबमें वर्तमान अजन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व हो। **स्वमो**—क्लीब अङ्गसे पर 'सु'

स्यात् । वारि । **इकोऽचि विभक्तौ ७ । १ । ७३ ।** इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् स्यादचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । न लुमतेत्यस्याऽनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे-हे वारि । घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते-**वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ।** वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । नुमचिरेति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् । **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७ । १ । ७५ ।** एषामनङ् स्याट्टादावचि स चोदात्तः । **अल्लोपोऽनः ६ । ४ । १३४ ।** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोपः स्यात् । दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ । दध्नाम् । **विभाषा ङिश्योः ६ । ४ । १३६ ।** अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः । दध्नि-दधनि । शेषं वारिवत् । एवमस्थि-

---

वारिणे (ई० २४,४१,४३)—वारिशब्दाच्चतुर्थ्येकवचने घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति प्रबाध्य 'वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेने'ति नुमि णत्वे 'वारिणे' इति ।

वारीणाम् (ई० ३३,४५,५४)—वारिशब्दात् षष्ठीबहुवचने नुटं बाधित्वा 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्पूर्वविप्रतिषेधेन' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे तत् सिद्धम् ।

दध्ना (ई० ३०,३७,४३,४८,५०,५२,५३)—दधिशब्दाट्टाविभक्तौ 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इति अनोऽकारस्य लोपे 'दध्ना' इति ।

दध्नि (ई० ४०,४४,४६,५४)—दधिशब्दात् सप्तम्येकवचने ङिविभक्तौ

और 'अम्' का लुक् हो । **इको**—इगन्त क्लीबको नुमागम हो, अजादि विभक्तिके परे । **वृद्ध्यौ**—वृद्धि, औत्त्व, तृज्वद्भाव और गुणकी अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेधेन 'नुम्' ही होता है ।

नोट :—'अतिसखीनि' में 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्भावात् प्राप्त वृद्धिको, 'वारिणि' में घित्वात् 'अच्च घेः' से प्राप्त औत्त्वको, 'प्रियक्रोष्टूनि' में प्राप्त तृज्वद्भावको और 'वारिणे-वारिणः' में 'घेर्ङिति' से प्राप्त गुणको बाधकर नुम् होता है । यही इस वार्तिकका उदाहरण समझना चाहिये । **अस्थि**—अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दको उदात्त अनङ् आदेश हो, टादि अजादि विभक्तिके परे । **अल्लो**—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि स्वादि प्रत्यय परक 'अन्' के अकारका लोप हो । **विभा**—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि-स्वादि प्रत्यय परक 'अन् के अकारका लोप हो, 'ङि' और 'शी' के परे विकल्पसे ।

नोट :—यजादिमें 'य् अच् आदि' ऐसा है । अर्थात् यादि और अजादि । ('यज् आदि यजादि स्वादि' ऐसा अर्थ करना गलत है) ।

सक्थ्यक्षि ॥ सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे-हे सुधि । **तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७ । १ । ७४ ।** प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा स्याट्टादावचि । सुधिया-सुधिनेत्यादि । मधु । मधुनी । मधूनि । हे मधो-हे मधु । सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा-सुलुनेत्यादि । धातृ । धातृणी । धातृणि । हे धातः-हे धातृ । धात्रा-धातृणा । धातॄणाम् । एवं ज्ञात्रादयः । **एच इग्घ्रस्वादेशे १ । १ । ४८ ।** आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्युनि । प्रद्यूनेत्यादि । प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । **एकदेशविकृतमनन्यवत् ।** प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् । सुनु । सुनुनी । सुनूनि । सुनुनेत्यादि ।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

अनुबन्धलोपे 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'विभाषा ङिश्योः' इति अनोऽकारस्य लोपे 'दध्नि' इति । लोपाभावपक्षे 'दधनि' इति ।

सुधिया—'सुष्ठु ध्यायति' इति विग्रहे 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति सुध्यातृत्वस्य शोभनज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च समानत्वात् पुंवद्भावेन ह्रस्व-नुमोरभावे इयङि 'सुधिया' इति । पक्षे ह्रस्वे नुमि 'सुधिना' इति ।

प्रराभ्याम् (ई० २८,४६)—प्रकृष्टः सः धनं यस्येति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दस्य 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वे प्राप्ते 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति ऐकारस्य इकारे 'प्ररि' इति। तस्मात् भ्यामि एकदेशविकृतन्यायेन 'रायो हलि' इत्यात्वे 'प्रराभ्याम्' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायामजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

तृती—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब, उसको पुंवद्भाव (पुँल्लिङ्ग के समान कार्य) हो, टादि-अजादि विभक्तिके परे विकल्पसे ।

नोटः—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तद् भाषितपुंस्कम् । अर्थात् नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तच्छब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कशब्देन विवक्षितम् ।

मधुना—'मधु मद्ये पुष्परसे'—'मधुर्वसन्ते चैत्रे च' इति कोशात् 'मधु' शब्दस्य भाषितपुंस्कत्वेऽपि पुन्नपुंसकयोः मधुत्व-वसन्तत्वादिरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् 'तृतीयादिष्वि'ति न पुंवत्त्वम् । **एच**—ह्रस्वताविधान होने पर 'एच्' के स्थानमें 'इक्' ही ह्रस्व हो । अर्थात् 'ए-ऐ' के स्थान में 'इ' और 'ओ-औ' के स्थानमें 'उ' ही ह्रस्व हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अजन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

हो ढः ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। लिट्-लिड्। लिहौ। लिहः। लिहा। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु-लिट्सु। दादेर्धातोर्घः ८।२।३२। उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च। एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७। धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात् से ध्वे पदान्ते च। धुक्-धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु। वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३। एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं-मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादि। धात्वादेः षः सः ६।१।६४। धातोरादेः षस्य सः स्यात्। स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्। एवं-स्निक्, स्निग्, स्निट्, स्निड्। विश्ववाट्। विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ। इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५। यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्। वाह ऊठ् ६।४।१३२। भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात्। सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८। सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। एत्येधत्यूठ्स्विति वृद्धिः। विश्वौहः, इत्यादि। चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८।

लिट्त्सु (ई० २०, ३५)—लिह्शब्दात्सुपि 'हो ढः' इत्यनेन हस्य ढत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन ढस्य जश्त्वेन डकारे 'डः सि धुट्' इति डस्य धुटि अनुबन्धलोपे 'खरि च' इत्यनेन धस्य चर्त्वेन तकारे पुनः 'खरि च' इति डस्य चर्त्वेन टकारे 'लिट्त्सु' इति। धुडभावपक्षे 'लिट्सु' इति।

विश्वौहः (ई० ३२, ३९, ४२, ४५, ४७, ४९, ५३, ५५)—विश्ववाह्-शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायां 'वाह ऊठ्' इत्यनेन 'इग्यणः

हो ढः—हकारके स्थानमें ढकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें। **दादे**—उपदेश अवस्थामें दादिधातुसम्बन्धी हकारके स्थानमें घकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें। **एकाचो**—धात्ववयव जो झषन्त एकाच्, तदवयव जो 'बश्' उसको भष्भाव हो, सकार और 'ध्व' शब्दके परे, पदान्तमें। **वा द्रु**—द्रुह, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् धातुके हकारको घकार आदेश हो, विकल्पसे, 'झल्' के परे, पदान्तमें। **धात्वा**—उपदेश अवस्थामें धातुके आदि षकारको सकार आदेश हो। **इग्यणः**—'यण्' के स्थानमें प्रयुज्यमान जो 'इक्' वह सम्प्रसारणसंज्ञक हो। **वाह ऊठ्**—भसंज्ञक 'वाह्' को सम्प्रसारणसंज्ञक 'ऊठ्' आदेश हो। **सम्प्र**-सम्प्रसारणसे 'अच्' परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश हो। **चतु**-'चतुर्'

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे । **सावनडुहः ७।१।८२।** अस्य नुम् स्यात् सौ परे । अनड्वान् । **अम् सम्बुद्धौ ७ । १ । ९९ ।** चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ । हे अनड्वन् । हे अनड्वाहौ । हे अनड्वाहः । अनडुहः । अनडुहा । **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२।** सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्तेति किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् । **सहेः साडः सः ८।३।५६।** साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट् तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्यामित्यादि । **दिव औत् ७।१।८४।** दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ परे । सुद्यौः । सुदिवौ । **दिव उत् ६ । १ । १३१।** दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते । सुद्युभ्यामित्यादि । चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ । **षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५।** षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्याऽऽमो नुडागमः स्यात् । **रषाभ्यां नो णः समानपदे ८। ४ । १।** रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे । **अचो रहाभ्यां द्वे ८ । ४ । ४६ ।** अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । चतुर्ण्णाम् । चतुर्णाम् । **रोः सुपि ८ । ३ । १६ ।** सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते । **शरोऽ-**

सम्प्रसारणम्' इति बलात् वरूपस्य यणः स्थाने उकाररूपे सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'विश्वौहः' इति ।

अनड्वान् (ई० ४१, ४८, ५१)—अनडुह्शब्दात् प्रथमैकवचने 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यनेन आमि अनुबन्धलोपे 'सावनडुहः' इत्यनेन नुमि अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति हकारस्य लोपे तत्सिद्धिः ।

चतुर्ण्णाम् (ई० ३७, ३८, ५०)—चतुर्शब्दादामि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि

और 'अनडुह्' शब्दको 'आम्' का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे । **साव**—'अनडुह्' शब्दको 'नुम्' का आगम हो—'सु' के परे । **अम्स**—'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'अम्' का आगम हो, सम्बुद्धिके परे । **वसुस्रं**—सान्त जो वस्वन्त ,और स्रंसादि (स्रंस्–ध्वंस्–अनडुह्) उसको दकार आदेश हो, पदान्तमें । **सहेः**—'साड्' रूप (बनजाने पर) सह्के सकारके स्थानमें मूर्धन्य षकार आदेश हो । **दिव**–'दिव्' प्रातिपदिकको 'औत्' आदेश हो, 'सु' के परे । **दिव उत्**—'दिव्' प्रातिपदिकको उकारान्त आदेश हो, पदान्तमें । **षट्**—षट्संज्ञक और 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' को 'नुट्' हो । **रषा**—रेफ और षकारसे पर नकारको णत्व (णकार) हो, समान पदमें । **अचो**–'अच्' से पर जो रेफ–हकार, उससे पर जो 'यर्' उसको द्वित्व हो, विकल्पसे । **रोः सुपि**—सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्तिके परे

चि ८।४।४९। अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। मो नो धातोः ८।२।६४। धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्। किमः कः ७।२।१०३। किमः कः स्याद्विभक्तौ। कः। कौ। के। कम्। कौ। कान्। इत्यादि। शेषं सर्ववत्। इदमो मः ७।२।१०८। इदमो दस्य मः स्यात् सौ परे। त्यदाद्यत्वापवादः। इदोऽय् पुंसि ७।२।१११। इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। सोर्लोपः। अयम्। त्यदाद्यत्वे। अतो गुणे ६।१।९७। अपदान्तादतो गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात्। दश्च ७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः। अनाप्यकः ७।२।११२। अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ। आबिति प्रत्याहारः। अनेन। हलि लोपः ७।२।११३। अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ। नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे। आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१। एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवाऽन्त इव स्यात्।

अनुबन्धलोपे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वे तत्सिद्धिः।

चतुर्षु (ई० ४४)—चतुर्शब्दात् सुपि रेफस्य विसर्गे प्राप्ते 'रोः सुपि' इति निषेधे षत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति निषेधे तत्सिद्धिः।

अयम् (ई० ५१)—इदम्शब्दात् सौ अत्वं प्रबाध्य 'इदमो मः' इत्यनेन इदमो मस्य मत्वे 'इदोऽय् पुंसि' इतीद्भागस्य अयादेशे सलोपे 'अयम्' इति।

'रु'सम्बन्धी रेफके स्थानमें ही विसर्ग हो—अन्य रेफको नहीं। **मो नो**—मान्त धातुके मकारको नकार आदेश हो, पदान्तमें। **किमः**—'किम्' के स्थानमें 'क' आदेश हो, विभक्तिके परे। **इदमो**—'इदम्'शब्दसम्बन्धी मकारके स्थानमें, मकार ही आदेश हो, 'सु' के परे। **इदोऽय्**—'इदम्' सम्बन्धी 'इद्' के स्थानमें 'अय्' आदेश हो, 'सु' के परे पुंल्लिङ्गमें। **अतो**—अपदान्त 'अत्' (ह्रस्व अकार) से पर गुण (अ-ए ओ) के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो। **दश्च**—'इदम्' शब्द संबन्धी दकारके स्थानमें मकार आदेश हो। (सुभिन्न) विभक्तिके परे। **अनाप्य**—ककार रहित जो 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' उसको 'अन्' आदेश हो, आप् (तृतीयादि) विभक्तिके परे। **हलि**—ककार रहित 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' का लोप हो, हलादि तृतीयादि विभक्तिके परे। **नानर्थके**—अभ्यासविकारको छोड़कर अनर्थकमें 'अलोन्त्य' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो। **आद्यन्त**—एकस्मिन् अर्थात् असहायमें क्रियमाण जो कार्य वह आदि तथा अन्त की तरह हो।

नोट:—तदादि और तदन्तको क्रियमाण जो कार्य वह तदादि और तदन्तकी तरह असहाय (एक) को भी हो (यथा—'देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः, स एव मध्यमः)।

सुपि चेति दीर्घः । आभ्याम् । नेदमदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसो- र्भिस ऐस् न स्यात् । एभिः । अस्मै । आभ्याम् । एभ्यः । अस्मात् । आ- भ्याम् । एभ्यः । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । अनयोः । एषु । द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः । यथा अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति । अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः । एनयोः । राजा । न ङिस-

---

आभ्याम् (ई० ४४)—इदम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ अत्त्वे पररूपे 'इद- भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इत्यनेन 'अलोन्त्यस्ये'ति परिभाषया अन्त्यस्य दकारस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलो- न्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'आभ्याम्' इति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इत्ये- कस्मिन्नेवाऽकारे अन्तवद्भावेनादन्तत्वं मत्वा 'सुपि चे'ति दीर्घे 'आभ्याम्' इति ।

नेद्—ककार रहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्दसंबन्धी 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हो ।

नोट :—'इदम्' शब्द पासमें स्थित किसी मनुष्य या वस्तुके लिये तथा 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तुके लिये प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार दूर स्थित प्रत्यक्षके लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्षके लिये 'तत्' शब्दका प्रयोग होता है । कहा भी है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिन्येतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥'

द्विती—'द्वितीया' विभक्तिके परे तथा 'टा' और 'ओस्' विभक्तिके परे 'इदम्' शब्द को 'एन' आदेश हो, अन्वादेशमें ।

किंचित्—किसी कार्यके विधानके लिये जिसका उपादान किया गया हो, उसीका कार्या- न्तरविधानके लिये पुनः उपादान करना 'अन्वादेश' कहा जाता है । यतो—(१) अनेन व्याकरणमधीतम् , (२) एनं छन्दोऽध्यापय । अर्थात् इसने व्याकरण पढ़ लिया, इसे वेद पढ़ाइये । यहाँ पहले व्याकरणाध्ययन रूप कार्यका विधान किया गया था और पुनः उसीके विषयमें वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्यका उपादान किया जा रहा है । अतः दूसरे वाक्यमें 'अन्वादेश' है । इसलिये यहाँ 'एनम् का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार (१) अनयोः पवित्रं कुलम् (२) एनयोः प्रभूतं स्वम्' यहाँ पहले वाक्यमें कुलकी पवित्रता का विधान करनेके हेतु ग्रहण किये हुए का दूसरे वाक्यमें धनकी अधिकताका विधानके लिये फिर उपादान होनेके कारण 'अन्वादेश' हो जानेसे 'एन' आदेश हुआ । न ङि—नकारका लोप

म्बुद्धयोः ८।२।८। नस्य लोपो न स्यान्ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् ! *ङावुत्त-रपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राज्ञः । **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** ८ । २ । २ । सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र-राजाश्व इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वञ्च न—राजभ्याम् , राजभिः । राजभ्यः । राज्ञि-राजनि । राजसु । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः । **न संयोगाद्वमन्तात्** ६। ४। १३७। वकारमकारान्तसंयोगात्परस्याऽनोऽ-कारस्य लोपो न स्यात् । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा । **इन्हन्पूषाऽर्यम्णां शौ** ६ । ४ । १२ । एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते । **सौ च** ६। ४। १३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् । **एकाजुत्तरपदे णः** ८। ४। १२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्स-मासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात् । वृत्रहणौ । **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** ७। ३। ५४। ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे ह-न्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः-इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन् । यशस्विन् । अर्यमन् ।

राज्ञः (ई० २२, ५६)—'राजन्' शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे 'राजन् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इति जकारोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य श्चुत्वेन ञकारे सस्य रुत्वे विसर्गे 'राज्ञः' इति ।

यज्वनः (ई० २०, २२)—'यज्वन्' शब्दाच्छसि विभक्तौ 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यल्लोपे प्राप्ते 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति निषेधे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'यज्वनः' इति सिद्धम् ।

वृत्रघ्नः (ई० २१, २५, २९, ५४)—'वृत्रहन्' शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे

नहीं हो 'ङि' और सम्बुद्धिके परे । **ङावु**—उत्तरपदपरक 'ङि' के परे नलोपका प्रतिषेध हो । अर्थात् 'न ङिसम्बुद्धयोः' यह निषेध नहीं लगे । **नलोप**—सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञा-विधि, और कृत्प्रत्ययके परे तुग्विधि कर्त्तव्यमें नलोप असिद्ध हो, अन्यत्र (राजाश्व इत्यादि स्थलमें) नहीं । **न संयो**—वकारान्त और मकारान्त संयोगसे पर 'अन्' के अकारका लोप नहीं हो । **इन्हन्**—इन् , हन् , पूषन् और अर्यमन्की उपधाको दीर्घ हो 'शि' के परे ही, अन्यत्र ('दाण्डनी-वृत्रहणी' इत्यादि स्थलमें) नहीं । **सौ च**—इनादिकी उपधाको दीर्घ हो, असंबुद्धि 'सु' के परे । **एकाजु**—एक 'अच्' है उत्तरपदमें जिस समासके ऐसा जो समास, उस समासमें पूर्वपदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर जो प्रातिपदिकान्त नकार, नुम्घटक नकार और विभक्तिस्थ नकार उसको णकार हो । **हो हन्ते**—ञित्-णित् प्रत्ययके परे और

पूषन् । मघवा बहुलम् ६। ४। १२८। मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत् । उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७। १। ७०। अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ । मघवन्तः । हे मघवन् । मघवद्भ्याम् । तृत्वाऽभावे-मघवा । सुटि-राजवत् । श्वयुवमघोनामतद्धिते ६। ४। १३३। अन्नन्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात् । मघोनः । मघवभ्याम् । एवं श्वन् । युवन् । न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६ । १। ३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् । इति यकारस्य नेत्वम् । अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम् । यूनः । यूना । युवभ्याम्— इत्यादि । अर्वा । हे अर्वन् । अर्वणस्त्रसावनञः ६। ४। १२७। नञा रहितस्याऽर्वन्नित्यस्याऽङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः । अर्वद्भ्यामि-

---

'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इत्यनेन नकारे परे हकारस्य कुत्वेन घकारे सस्य रुत्वे विसर्गे 'वृत्रघ्नः' इति ।

मघवान् (ई० २८, २९)—'मघवन्' शब्दात्सौ 'मघवा बहुलम्' इत्यनेन विभाषया 'तृ' इत्यन्तादेशे अनुबन्धलोपे 'उदिगचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रस्थबहुलग्रहणात् संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वाभावेन नान्तस्योपधायाः दीर्घे 'मघवान्' इति । तृत्वाऽभावे तु सुलोपे, दीर्घे नलोपे 'मघवा' इति ।

मघोनः (ई० २०, ४२, ४८, ५७)—'मघवन्' शब्दाच्छसि भसंज्ञायाम् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'आद्गुणः' इति गुणे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'मघोनः' इति तृत्वाऽभावे रूपं सिद्धम् ।

यूनः (ई० ४१,४६)—'युवन् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति वकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'यु उन् अस्' इति दशायां यकारस्याऽपि सम्प्रसारणे प्राप्ते 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधे सवर्णदीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'यूनः' इति ।

नकारके परे 'हन्' धातुके हकारको कुत्व हो । मघवा—'मघवन्' शब्दको 'तृ' अन्तादेश हो विकल्पसे । उगि—धातुभिन्न जो 'उगित्' और नलोपी जो 'अञ्च्' धातु उसको नुम्‌का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे । श्वयुव—अन्नन्त-भसंज्ञक 'श्वन्-युवन्-मघवन्' रूप अङ्ग को संप्रसारण हो, तद्धितभिन्न प्रत्ययके परे । न सम्प्र—सम्प्रसारणके परे पूर्व 'यण्' को सम्प्रसारण नहीं हो । अर्वणः—'नञ्' रहित 'अर्वन्' शब्दको 'त' अन्तादेश हो, 'सु' भिन्न

त्यादि। पथिमथ्यृभुक्षामात् ७। १। ८५। एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे। इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६। पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। थो न्थः ७। १। ८७। पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। भस्य टेर्लोपः ७। १। ८८। भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्याम्॥ एवं मथिन्। ऋभुक्षिन्। ष्णान्ता षट् १। १। २४। षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। पञ्चन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च २। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः-पञ्चभ्यः। नुट्। नोपधायाः ६। ४। ७। नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे। पञ्चानाम्। पञ्चसु। अष्टन आ विभक्तौ ७। २। ८४। अष्टन आत्वं वा स्याद्धलादौ विभक्तौ। अष्टाभ्य औश् ७। १। २१। कृताऽऽकारादष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात्। 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ २। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः २। अष्टानाम्। अष्टासु।

पन्थाः (ई० ३२, ४३)—'पथिन्' शब्दात्सौ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्यात्वे 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति थकारोत्तरवर्तीकारस्याकारे 'थो न्थः' इत्यनेन थकारस्य न्थादेशे सवर्णदीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'पन्थाः' इति।

अष्टौ (ई० ३०, ४३, ५२)—'अष्टन्' शब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'अष्टन आ विभक्तौ' इति नकारस्यात्वे सवर्णदीर्घे 'अष्टाभ्य औश्' इत्यौशि अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति। ननु हलादावात्वस्य विधानेन कथमत्र अजादावात्वमिति चेन्न, एकमात्रालाघवेन 'अष्टभ्य औश्' इति वक्तव्ये 'अष्टाभ्य' इति दीर्घोच्चारणं क्वचिदजादावपि 'अष्टन आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वं भवतीति ज्ञापनेनादोषात्।

अष्टानाम् (ई० ३१)—'अष्टन्' शब्दात् षष्ठीबहुवचने 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञायां 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'अष्टन आ विभक्तौ' इति पाक्षिके

विभक्तिके परे। पथि—पथ्यादि (पथिन्-मथिन्-ऋभुक्षिन्) शब्दोंको आकारान्त आदेश हो, 'सु' के परे। इतोऽत्—पथ्यादिके इकारको अकार आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे। थो न्थः—पथिन्-मथिन् शब्दोंके थकारको 'न्थ' आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे। भस्य—भसंज्ञक पथ्यादिके 'टि' का लोप हो। ष्णान्ता—षान्त-नान्त संख्यावाचक शब्द षट्संज्ञक हों। नोप—नान्तकी उपधाको दीर्घ हो, 'नाम्' के परे। अष्टन—अष्टन् शब्दको आत्व हो, हलादि विभक्तिके परे, विकल्पसे। अष्टा—कृताकारक 'अष्टन्' शब्दसे पर 'जस्-

आत्वाऽभावे-अष्ट, अष्ट इत्यादि पञ्चवत्। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९। एभ्यः क्विन् स्यात्, अञ्चेः सुप्युपपदे, युजिक्रुञ्चोः केवलयोः। क्रुञ्चेर्नलोपाऽभावश्च निपात्यते। कनावितौ। कृदतिङ् ३।१।९३। अत्र सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्। वेरपृक्तस्य ६।१।६७। अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात्। क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्याऽसिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वम्। ऋत्विक्-ऋत्विग्।

आत्वे सवर्णदीर्घे 'अष्टानाम्' इति। आत्वाऽभावेऽपि षट्संज्ञायां नुटि अनुबन्धलोपे 'नोपधायाः' इति दीर्घे नलोपे 'अष्टानाम्' इति।

ऋत्विक्—ऋतावुपपदे 'यज्' धातोः 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादिना क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इत्यनेन ककारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन नकारस्य च इत्संज्ञायां लोपे च कृते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन् गते क्विनो वकारस्य 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' इत्यपृक्तसंज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इत्यपृक्तसंज्ञकस्य वस्य च लोपे क्विनः सर्वाऽपहारे जाते 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे यणि 'ऋत्विज्' इति स्थिते 'कृदतिङ्' इति सूत्रेण कृत्संज्ञायां 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति जकारस्य कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति तस्य चर्त्वेन ककारे 'ऋत्विक्' इति।

शस्' को 'औश्' आदेश हो। ऋत्विग्—'ऋत्' शब्दपूर्वक यज्-धातु, धृष्-धातु, सृज्-धातु, दिश्-धातु, उत्पूर्वक स्निह्-धातु, अञ्च्-धातु, युज् धातु, और क्रुञ्च्-धातुओंसे 'क्विन्' प्रत्यय हो।

नोट:—'अञ्च्' धातुसे सुबन्त उपपद रहने पर ही 'क्विन्' प्रत्यय होता है, 'युज्' और 'क्रुञ्च्' धातुओंसे केवल अर्थात् उपपद रहित होने पर ही 'क्विन्' प्रत्यय होता है और 'क्रुञ्च्' धातु में 'क्विन्' प्रत्ययविधानके साथ २ सूत्रोक्त प्रकारसे 'अनिदिताम्—' से प्राप्त नलोपाभावका भी निपातन होता है। 'लक्षणं विनैव निपतति प्रवर्तते यत्तन्निपातनम्'—जो कार्य विना सूत्र नियमका होता है वह 'निपातन' कहा जाता है।

कृदतिङ्—इस (संनिहित) धात्वधिकारमें तिङ्-भिन्न जो प्रत्यय वह कृत्संज्ञक हो।

नोट:—'धातोः' इस सूत्रके अधिकारमें धातु से पर प्रत्ययों का विधान है। उनमें 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर शेषकी कृत्संज्ञा होती है। फल यह हुआ कि 'क्विन्' प्रत्यय 'धातोः' के अधिकारमें है। इसलिये इसकी कृत्संज्ञा हुई और कृत्संज्ञा होने पर कृदन्त होनेसे प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु-आदि विभक्तिकी उत्पत्ति हुई। **वेरपृ**—अपृक्तसंज्ञक वकारका लोप हो। **क्विन्प्रत्य**—क्विन् प्रत्यय जिससे विधान किया जाय उसको कवर्गान्तादेश हो, पदान्तमें।

ऋत्विजौ । ऋत्विजः । ऋत्विग्भ्याम् । **युजेरसमासे ७ । १ । ७१ ।** युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । कुत्वेन नस्य ङः । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ । युञ्जौ । युञ्जः । युग्भ्याम् । **चोः कुः ८।२।३०।** चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । सुयुक्-सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् । **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८। २। ३६।** व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्यात् झलि पदान्ते च । जस्त्वचर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् । ***परौ व्रजेः षः पदान्ते ।** परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद्दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि । परिव्राट् । परिव्राजौ । **विश्वस्य वसुराटोः ६। ३। १२८।** विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे । विश्वाराट्, विश्वाराड् । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् । **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८। २। २९।** पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात् । भृट् । सस्य श्चुत्वेन शः । झलाञ्जश् झशीति शस्य जः । भृज्जौ । भृड्भ्याम् । त्यदाद्यात्वं पररूपत्वं च । **तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६।** त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । **ङेः प्रथमयोरम् ७। १। २८।** युष्मद-

---

युङ् (ई० २३)—'युजिर् योगे' अस्माद्धातोः 'ऋत्विक्-' इत्यनेन क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां कृदन्तत्वात् सौ 'युजेरसमासे' इति नुमि हल्ङ्यादिना सलोपे संयोगान्तलोपे नस्य कुत्वेन ङकारे 'युङ्' इति ।

विश्वाराट्—विश्वोपपदात् राज्धातोः 'सत्सुद्विष्' इत्यादिसूत्रेण क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'विश्वराज्' इति, तस्मात् कृदन्तत्वात् सौ 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिना जकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति डस्य चर्त्वे 'विश्वस्य वसुराटोः' इति विश्वशब्दस्य दीर्घे हल्ङ्यादिना सलोपे 'विश्वाराट्' इति ।

युजेर—'युज्' धातुको नुम्का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे, असमासमें । **चोः कुः**—चवर्गको कवर्ग आदेश हो, 'झल' के परे, पदान्तमें । **व्रश्च**—व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज और भ्राज धातुओंको तथा छकारान्त और शकारान्तको षकारान्त आदेश हो, 'झल्' के परे पदान्तमें । **परौ**—'परि' उपपदक 'व्रज' धातुसे क्विप् प्रत्यय हो और (उपधा अकार को) दीर्घ हो तथा पदान्तमें षत्व भी हो । **विश्वस्य**—'विश्व' शब्दको दीर्घ हो, 'वसु' और 'राट्' शब्दके परे । **स्कोः**—पदान्त-झल्-परक संयोगादि 'सकार' और ककारका लोप हो । **तदोः**-त्यदादिके अनन्त्य तकार-दकारको सकार हो, 'सु' के परे । **ङेः प्रथ**—युष्मद्-अस्मद्

स्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः स्यात् । **त्वाहौ सौ** ७।२।९४। अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे । **शेषे लोपः** ७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । त्वम् । अहम् । **युवावौ द्विवचने** ७।२।९२। द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्** ७।२।८८। औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् । **यूयवयौ जसि** ७।२।९३। अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि । यूयम् । वयम् । **त्वमावेकवचने** ७।२।९७। एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ । **द्वितीयायां च** ७।२।८७। अनयोरात्स्याद् द्वितीयायाम् । त्वाम् । माम् । **शसो नः** ७।१।२९। आभ्यां परस्य शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् । **योऽचि** ७।२।८९। अनयोर्यकारादेशः । स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया । **युष्मदस्मदोरनादेशे** ७।२।८६। अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । **तुभ्यमह्यौ ङयि** ७।२।९५। अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् । **भ्यसोऽ-**

त्वया (ई० २५, ४०, ५०)—युष्मच्छब्दात्तृतीयैकवचने 'त्वमावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य त्वादेशे पररूपे 'योऽचि' इति दकारस्य यकारे 'त्वया' इति ।

शब्दसे पर 'ङे' और प्रथमा-द्वितीया विभक्तिको 'अम्' आदेश हो । **त्वाहौ**—युष्मद्-अस्मद् के मपर्यन्त भागको 'त्व' और 'अह' आदेश हो, 'सु'के परे । **शेषे**—आत्व-यत्वके निमित्ते-तर विभक्तिके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दोंकी 'टि' का लोप हो । **युवावौ**—द्वित्वार्थप्रतिपादक युष्मद्-अस्मद्के मपर्यन्त भागको 'युव' और 'आव' आदेश हो, विभक्तिके परे । **प्रथमायाश्च**-प्रथमाद्विवचनके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको आत्व हो, लोकमें । **यूय**—युष्मद् अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'यूय' 'वय' आदेश हो, 'जस्' के परे । **त्वमा**—एकत्वार्थ-प्रतिपादक युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो, विभक्तिके परे । **द्वितीया**—युष्मद्-अस्मद्को आकारान्तादेश हो, द्वितीयाविभक्तिके परे । **शसो**—युष्मद्-अस्मद् शब्दसे पर 'शस्' के आदिको नकार आदेश हो । **योऽचि**—युष्मद्-अस्मद् शब्दको यकार आदेश हो, अनादेश (विना आदेश हुआ) अजादि विभक्तिके परे । **युष्मद्**—युष्मद्-अस्मद् शब्दके अंगको आकार आदेश हो, अनादेश हलादि विभक्तिके परे । **तुभ्य**—युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्तभागको 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हो, 'ङे' विभक्तिके परे । **भ्यसो**—युष्मद्-अस्मद् शब्दसे पर 'भ्यस्' को 'भ्यम्' (वा अभ्यम्) आदेश हो ।

भ्यम् ७ । १ । ३० । आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । **एकवचनस्य च** ७।१।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य ङसेरत् स्यात् । त्वत् । मत् । **पञ्चम्या अत्** ७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् । **तवममौ ङसि** ७ । २ । ९६ । अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि । **युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्** ७।१।२७। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात् । तव । मम । युवयोः । आवयोः । **साम आकम्** ७। १। ३३। आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु । **युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ** ८।१।२०। पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वाम् नौ इत्यादेशौ स्तः । **बहुवचनस्य वस्नसौ** ८।१।२१। उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः । **तेमयावेकवचनस्य** ८ । १ । २२। उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्त-

---

युष्मभ्यम् (ई० २४, २६, ४२)—युष्मच्छब्दाद्भ्यसि 'भ्यसो भ्यम्' इति भ्यसो भ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'युष्मभ्यम्' इति । 'भ्यसो भ्यम्' इत्यत्र 'भ्यसोऽभ्यम्' इति छेदे तु 'अतो गुणे' इति पररूपेण सिद्धं बोध्यम् ।

युष्माकम् (ई० ३१, ३२, ३७, ४३, ५३, ५५)—युष्मच्छब्दात् आमि 'युष्मद् आम्' इति स्थिते 'साम आकम्' इति आमि साम्त्वारोपेण आकमादेशे 'युष्मद् आकम्' इति स्थिते 'शेषे लोपः' इति दलोपे सवर्णदीर्घे 'युष्माकम्' इति ।

एकवचन—युष्मद्-अस्मद्से पर पञ्चमी-एकवचन (ङसि) को 'अत्' आदेश हो। **पञ्चम्याः**—युष्मद्-अस्मद्से परे पञ्चमीके भ्यस् को 'अत्' आदेश हो । **तवममौ**—युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'तव' और 'मम' आदेश हों ङस् के परे। **युष्मद्**—युष्मद्-अस्मद्से पर 'ङस्' को 'अश्' आदेश हो । **साम**—युष्मद्-अस्मद्से पर 'साम्' (सुट् सहित आम्) को 'आकम्' आदेश हो। **युष्मदस्मदोः**—पदसे पर अपादादिमें (श्लोक या ऋचाके चरणके आदिमें नहीं) स्थित जो षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थ युष्मद्-अस्मद् शब्द उनको क्रमसे 'वाम्' 'नौ' आदेश हों ।

नोट :—अग्रिम तीनों सूत्रोंसे बाध होनेके कारण केवल सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें ही इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। **बहुवचनस्य**—पदसे पर अपादादिमें स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्दको क्रमसे 'वस्' 'नस्' आदेश हों ।

नोट :—सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें 'वाम्' 'न' और बहुवचनमें 'वस्' 'नस्' आदेश होते हैं। **तेमयावेक**—पदसे पर अपादादिमें स्थित षष्ठी-चतुर्थ्येकवचनान्त युष्मद्-

योस्ते मे एतौ स्तः। त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३। द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः।

श्रीशस्त्वाऽवतु मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः॥ १॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात्सेव्योऽत्र वः स नः॥ २॥

*समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। *एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न-ओदनं पच तव भविष्यति। इह तु स्यादेव-शालीनां ते ओदनं दास्यामि। *एते वान्नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। तस्मै ते नम इत्येव। सुपात्-सुपाद्। सुपादौ। पादः पत् ६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात्। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्। अग्नि-

---

श्रीशस्त्वाऽवतु०—इह=संसारे, श्रीशः=नारायणः, त्वा=त्वाम्, मा=माम्, अपि=च, अवतु=पातु। स हरिः=पूर्वोक्तः नारायणः, ते=तुभ्यम्, मे=मह्यम्, अपि=च, शर्म=सुखम्, दत्तात्=ददातु। स हरिः=पूर्वोक्तः नारायणः, ते=तव, मे=मम, अपि=च, स्वामी=प्रभुः, अस्तीति शेषः। (सः) विभुः=व्यापको नारायणः, वाम्=युवाम्, नौ=आवाम्, पातु=रक्षतु। (सः) ईशः=प्रभुः, वाम्=युवाभ्याम्, नौ=आवाभ्याम्, सुखं=कल्याणम्, ददातु=दत्तात्। (सः) हरिः=नारायणः, वां=युवयोः, नौ=आवयोः, पतिः=प्रभुः, अस्तीति शेषः। सः=हरिः, वः=युष्मान्, नः=अस्मान्, अव्यात्=रक्षेत्। सः=हरिः, वः=युष्मभ्यम्, नः=अस्मभ्यम्, शिवं=कल्याणं, दद्यात्। अत्र=इह लोके, सः=हरिः, वः=युष्माकम्, नः=अस्माकम्, सेव्यः=आराध्यः, अस्तीति शेषः।

अस्मद् शब्दको 'ते' 'मे' आदेश हों। **त्वामौ**—पदसे पर अपादादिमें स्थित युष्मद्-अस्मद् शब्द जब द्वितीयाका एकवचनान्त हो तब क्रमसे उनको 'त्वा' 'मा' आदेश हों। **समान**—युष्मद्-अस्मद् शब्दको समान (एक) वाक्यमें ही अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्-नौ' आदि आदेश होते हैं। **एक**—एक तिङ्घटित ही वाक्य होता है। **एते**—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश कहे गये हैं, वे अनन्वादेशमें विकल्पसे और अन्वादेशमें नित्य ही हों। **पादः**-'पाद्' शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग तदवयव जो 'पाद्' शब्द उसको 'पद्'

मत्-अग्निमद् । अग्निमथौ । अग्निमथः । **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४।** हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः स्यात् किति ङिति च । नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । **अचः ६।४।१३८।** लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः स्यात् । **चौ ६।४।१३८।** लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ । **उद ईत् ६।४।१३९।** उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य ईत् स्यात् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् । **समः समि ६।३।९३।** वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात् । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् । **सहस्य सध्रिः ६।३।९५।** वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे सहस्य सध्र्यादेशः स्यात् । सध्र्यङ् । **तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४।** अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात् । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिरश्चः । तिर्यग्भ्याम् । **नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०।** पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात् । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाऽभावादलोपो न । प्राञ्चः । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्क्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ ।

प्राचः (ई० ३५)—प्रपूर्वात् 'अञ्च्'धातोः 'ऋत्विग्' इति क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इत्युपधानकारलोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि 'प्र अच् अस्' इति स्थिते भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारस्य लोपे 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'प्राचः' इति ।

उदीचः (ई० २१, ४३, ५३)—उत्पूर्वाद् 'अञ्च्'धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितामि'त्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि तकारस्य जश्त्वेन दकारे भसंज्ञायाम् 'उद ईत्' इत्यचोऽकारस्य ईत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'उदीचः' इति ।

आदेश हो । **अनि**—हलन्त अनिदित् अङ्गके उपधानकारका लोप हो कित्-ङित् प्रत्ययके परे । **अचः**—लुप्तनकारक 'अञ्च्' धातुके भसंज्ञक अकारका लोप हो । **चौ**—लुप्ताऽकार नकारक 'अञ्च्' धातुके परे पूर्व 'अण्' को दीर्घ हो । **उद**—उद् शब्दसे पर लुप्तनकारक 'अञ्च्' धातुसम्बन्धी भसंज्ञक अकारको 'ईत्' आदेश हो । **समः**—'व' प्रत्ययान्त (क्विन् प्रत्ययान्त) 'अञ्च्' धातुके परे 'सम' को 'समि' आदेश हो । **सह**—'व'प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातुके परे 'सह' को 'सध्रि' आदेश हो । **तिर**—अलुप्ताकारक 'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च्' धातुके परे 'तिरस्' को तिरि आदेश हो । **नाञ्चेः**—पूजार्थक 'अञ्च्' धातुके उपधासंबन्धी नकारक

कुड्भ्याम् । पयोमुक्-पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुग्भ्याम् । उगित्त्वान्नुम् । **सान्तमहतः संयोगस्य ६। ४। १०।** सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महद्भ्याम् । **अत्वसंतस्य चाऽधातोः ६ । ४ । १४ ।** अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नाऽसन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे । उगित्वान्नुम् । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । भातेर्डवतुः । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । शत्रन्तस्य—भवन् । **उभे अभ्यस्तम् ६। १। ५।** षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । **नाभ्यस्ताच्छतुः ७। १। ७८।** अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्-ददद् । ददतौ । ददतः । **जक्षित्यादयः षट् ६। १। ६।** षड् धातवोऽन्ये जक्षिश्च सप्तम एते अभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः । जक्षत्-जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । गुप्-गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् । **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३ । २ । ६० ।** त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन् । **आ सर्वनाम्नः ६ । ३ । ९१ ।** सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक्-तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः ।

तादृक् (ई० ४४, ४५) तदुपदाद्दृशधातोः 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' इति चकारात् क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'आ सर्वनाम्नः' इति तच्छब्दस्याकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ हल्ङ्यादिना

लोप नहीं हो । **सान्त**—सान्त संयोगका और 'महत्' शब्दका जो नकार उसकी उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । **अत्व**—अत्वन्तकी उपधाको और धातुभिन्न जो असन्त उसकी भी उपधाको दीर्घ हो, संबुद्धिभिन्न 'सु' के परे । **उभे**—षष्ठाध्यायके द्वित्वप्रकरणमें जो द्वित्व विधान किये गये हैं, वे (दोनों) द्वित्व समुदित (संमिलित) अभ्यस्तसंज्ञक हों । **नाऽभ्यः**—अभ्यस्तसंज्ञकसे पर 'शतृ' को नुम् नहीं हो । **जक्षि**—'जागृ' आदि (वक्ष्यमाण) छै धातु और सातवां 'जक्ष्' धातु अभ्यस्तसंज्ञक हो ।

नोटः—जक्षित्यादि ये हैं—**'जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा । अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः' इति ।**

त्यदा—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक 'दृश' धातुसे 'कञ्' प्रत्यय हो और चकारात् 'क्विन्' प्रत्यय भी हो ।

आ सर्व—सर्वनामसंज्ञक शब्दको आकारान्त आदेश हो, 'दृग्' 'दृश्'के परे और 'वतु'

जश्त्वचर्त्वे । विट्-विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् । **नशेर्वा** ८ । २ । ६३ । नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्-नग्, नट्-नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् । **स्पृशोऽनुदके क्विन्** ३ । २ । ५८ । अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात् । घृतस्पृक्-घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्-दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्-रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुड्भ्याम् । षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २ । षण्णाम् । षट्सु । रुत्वं प्रति षत्वस्याऽसिद्धत्वात्ससजुषोरिति रुत्वम् । **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** ८ । २ । ७६ । रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठीर्भ्याम् । **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** ८ । ३ । ५८ । एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्षु-पिपठीःषु । चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु । विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् । **वसोः सम्प्रसारणम्** ६ । ४ । १३१ । वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात् । विदुषः । वसुस्रंस्विति दः । विद्वद्भ्याम् ।

सुलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चभ्रस्ज' इति षत्वे षस्य जश्त्वेन डकारे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति डस्य कुत्वेन गकारे तस्य चर्त्वेन ककारे 'तादृक्' इति।

षण्णाम् (ई० २१)—षष्शब्दात् आमि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि अनुबन्धलोपे षस्य जश्त्वेन डकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति नस्य ष्टुत्वेन णकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन डकारस्य च णत्वे 'षण्णाम्' इति । 'अत्र न पदान्ताट्टोरनाम्' इति ष्टुत्वनिषेधस्तु न 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति वार्तिकेन तन्निषेधात् ।

विद्वान् (ई० २१,४३)—'विद्' धातोः लटः शतरि 'विदेः शतुर्वसुः' इति वस्वादेशे कृदन्तत्वात् सौ 'उगिद्चाम्' इति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति विभक्तिसकारस्य लोपे संयोगान्तलोपे 'विद्वान्' इति ।

विदुषः (ई० २०,४२,५०)—'विद्वस्' शब्दाच्छसि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति वस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'विदुषः' इति ।

प्रत्ययके परे । **नशेर्वा**—'नश्' धातु को कवर्गान्त आदेश हो, विकल्पसे, पदान्तमें । **स्पृशो**-'उदक' शब्द भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर 'स्पृश्' धातुसे 'क्विन्' प्रत्यय हो । **र्वोरु**—रेफान्त और वान्त धातुकी उपधाके 'इक्' को दीर्घ हो, पदान्तमें । **नुम्**—नुम्, विसर्जनीय, 'शर्' इनमें से प्रत्येकके व्यवधान होने पर भी इण, कवर्गसे पर सकारको मूर्धन्य (षकार) आदेश हो । **वसोः**—वस्वन्त भसंज्ञकको संप्रसारण हो ।

पुंसोऽसुङ् ७ । १ । ८९ । सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात् । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुम्भ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् । उशना । उशनसौ । ॐअस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः । हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः । उशनसौ । उशनोभ्याम् । उशनस्सु । अनेहाः । अनेहसौ । हे अनेहः । वेधाः । वेधसौ । हे वेधः । वेधोभ्याम् । **अदस औ सुलोपश्च** ७ । २ । १०७ । अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे, सुलोपश्च । तदोरिति सः । असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धिः । **अदसोऽसेर्दादु दो मः** ८।२।८० । अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च । आन्तरतम्याद्ध्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः । अमू । जसः शी । गुणः । **एत ईद्बहुवचने** ८ । २ । ८१ । अदसो दात्परस्यैत ईद्दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ । अमी । पूर्वत्राऽसिद्धमिति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे । अमुम् । अमू । अमून् । मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः । **न मु ने** ८ । २ । ३ । नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नाऽसिद्धः । अमुना । अमूभ्याम् ३ । अमीभिः ।

पुमान् (ई० ४१, ४२)—'पुंस्'शब्दात् सौ अनुबन्धलोपे 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि अनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधादीर्घे सुलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'पुमान्' इति ।

अमी (ई० २२,५६)—'अदस्' शब्दाज्जसि 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'जसः शी' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एत ईद्बहुवचने' इति एकारस्य ईकारे दस्य मत्वे च कृते 'अमी' इति ।

अमुना (ई० ४७, ४९)—'अदस्'शब्दात्तृतीयैकवचने त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु आ' इति जाते नाभावे कर्तव्ये 'न मु ने' इत्यनेन मुत्वस्याऽसिद्धत्वाभावबोधनात् 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति 'आ' इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति ।

पुंसो—'पुंस्' को असुङ् आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे । **अस्य**—उशनस् शब्दको संबुद्धिके परे विकल्पसे अनङ् आदेश हो और नकारका लोप भी हो, विकल्पसे ।

अदस—'अदस्' शब्दको सुके परे औकारान्त आदेश हो और सुलोप भी हो ।

अदस—असान्त अदस्‌शब्दसम्बन्धी दकार से परको उत्-ऊत् (ह्रस्वको ह्रस्व, दीर्घको दीर्घ) तथा दकारको मकार आदेश हो । **एत**—असान्त अदस्‌शब्दसम्बन्धी दकारसे पर एकारको ईत् हो तथा दकारको मकार आदेश हो, बह्वर्थमें । **न मु ने**—'ना-

अमुष्मै । अमीभ्यः २ । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः २ । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमीषु । * इति हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् *

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

नहो धः ८। २। ३४ । नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च । **नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ६। ३। ११६** । क्विबन्तेषु परेषु पूर्वपदस्य दीर्घः स्यात् । उपानत्, उपानद् । उपानहौ । उपानत्सु । क्विबन्तत्वात्कुत्वेन घः । उष्णिक्, उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । एवं पूः । चतस्रः । चतसृणाम् । का । के । काः । सर्ववत् । **यः सौ ७। २। ११०** । इदमो दस्य यः स्यात् सौ । इयम् । त्यदाद्यत्वम् ।

नन्वाऽत्र मुत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घः कुतो नेति वाच्यम्, 'न मु ने' इत्यनेन कृते च नाभावे मुत्वस्य नासिद्धत्वमित्यर्थस्यापि बोधनात् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

उपानत् (ई० २१, ४८, ५०)—उपनह्यते इति विग्रहे उपपूर्वात् 'णह बन्धने' इत्यस्मात् 'णो नः' इति नत्वे ततः सम्पदादित्वात् कर्मणि क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'नहिवृतिवृषि' इति पूर्वपदस्य दीर्घे 'कृदतिङ्' इति हस्य धत्वे जश्त्वे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे 'नहो धः' इति हस्य धत्वे जश्त्वे चर्त्वे 'उपानत्' इति । चर्त्वाऽभावे 'उपानद्' इति ।

चतसृणाम् (ई० २३, ४४)—'चतुर्'शब्दात् आमि 'त्रिचतुरोः इति 'चतसृ' आदेशे 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिर' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

भावकर्तव्य हो या कर भी लिया गया हो, तो भी 'मु'भाव असिद्ध नहीं हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में हलन्तपुँल्लिङ्ग समाप्त हुआ ।

नहो—'नह्' धातुके हकारको धकार हो, झल्के परे पदान्तमें । **नहि**—क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातुके परे पूर्व 'अण्'को दीर्घ हो ।

यः सौ—इदम् शब्दके दकारको यकार आदेश हो, 'सु' के परे स्त्रीलिङ्गमें ।

पररूपत्वम् । टाप् । दश्चेति मः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया । हलि लोपः । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः२ । अनयोः२ । आसाम् । अस्याम् । आसु । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवं तद् , यद् , एतद् । वाक्, वाग् । वाचौ । वाग्भ्याम् । वाक्षु । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । अप्तृन्निति दीर्घः । आपः । अपः । अपो भि ७। ४। ४८। अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे । अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक् , दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक्, दृग् । दृशौ । दृग्भ्याम् । त्विट् , त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् । ससजुषोरुरिति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् । आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् २ । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः २ । अमुष्याः । अमुयोः २ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु । इति हलन्तस्त्रीलिङ्गाः ।

अनया (ई० ३८)—'इदम्' शब्दाट्टाविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'इदा आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्य अनादेशे 'आङि चापः' इति आबन्तस्यैकारे 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'अनया' इति ।

अद्भिः, अद्भ्यः (ई० २८, ४२, ५१, ५६)—'अप्' शब्दात् भिसि भ्यसि च 'अपो भिः' इति पस्य तकारे तस्य जश्त्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः ।

दृक् (ई० ३६)—'दृश्' शब्दात् सौ हल्ङ्यादिना सलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यनेन शस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' इति दृशेः क्विनो विधानादत्र क्विनोऽभावेऽपि 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति डकारस्य कुत्वेन गकारे तस्य चर्त्वेन ककारे 'दृक्' इति । पक्षे 'दृग्' इति ।

अमुष्यै (ई० २४,२७,४६,२९)—'अदस्'शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने अत्वे पररूपत्वे टापि सवर्णदीर्घे च कृते 'अदा ए' इति स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति ङेः स्याडागमे आबन्ताङ्गस्य ह्रस्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अदसोसेर्दादु दो मः' इत्युत्वे मत्वे च कृते 'आदेशप्रत्यययोः'इति षत्वे 'अमुष्यै' इति सिद्धम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

अपो —'अप्' शब्दको तकारान्त आदेश हो भकारादि प्रत्ययके परे।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहोरित्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि । वार्भ्याम् । चत्वारि । किम् । के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । ॐअन्वादेशे नपुंसके वा एनद्व-क्तव्यः । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः । अहः । 'विभाषा ङिश्योः' । अह्नी, अहनी । अहानि । अहन् ८।२।६८। अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते । अ-होभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । दण्डिना । दण्डिभ्याम् । सुपथि । टेर्लोपः । सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क्, ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । न-र-जानां संयोगः । तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । गवाक्, गवाग् । गोची ।

चत्वारि (ई० २०) चतुर्शब्दाज्जसि शसि च विभक्तौ 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि अनुबन्धलोपे 'इको यणचि' इति यणि उक्तं रूपं जातम् ।

एनयोः (ई० ५१)—'इदम्'शब्दाद् ओसि विभक्तौ 'अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः' इति वार्तिकेन एनदादेशे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'ओसि च' इत्यनेन अदन्ताङ्गस्यैकारे अयादेशे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'एनयोः' इति सिद्धम् ।

अहोभ्याम् (ई० २५, २७, ४१, ५०)—'अहन्'शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायाम् 'अहन्' इत्यनेन नस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति जातम् ।

गोचा (ई० ५१)—गामञ्चतीति विग्रहे क्विनि तस्य सर्वापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'गो अञ्च् आ' इति दशायाम् 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां सत्याम् 'अचः' इत्यनेन अचोऽकारस्य लोपे 'गोचा' इति । पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति नलोपनिषेधे सति 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यवङि सवर्णदीर्घे 'गवाञ्चा' इति । अवङभावपक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति पाक्षिके प्रकृतिभावे 'गो अञ्चा' इति । प्रकृतिभावाभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे 'गोऽञ्चा' इति बोध्यम् ।

गवाक्छब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतम्मतम् ॥

अन्वा—अन्वादेशके विषय रहने पर नपुंसकलिङ्गमें 'इदम्' और 'एतद्' शब्दको 'एनत्' आदेश हो । अहन्—'अहन्' शब्द (के नकार) को 'रु' हो, पदान्तमें ।

गवाक्षि । पुनस्तद्वत् । गोवा । गवाभ्याम् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । ददत् । ददती । **वा नपुंसकस्य** ७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे । ददन्ति, ददति । तुदत् । **आच्छीनद्योर्नुम्** ७।१।८०। अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम् वा स्यात्, शी-नद्योः परतः । तुदन्ती, तुदती । तुदन्ति । **शप्-श्यनोर्नित्यम्** ७।१।८१। शप्-श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्यात् शी-नद्योः परतः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । सान्तेति दीर्घः । नुम्विसर्जनीयेति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पयः । पयसी । पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् । इति हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

स्वम्सुप्सुनवषड्भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥

ददन्ति (ई० ४८)—'ददत्'शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'वा नपुंसकस्य' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे 'ददन्ति' इति । पक्षे 'ददति' इति ।

दीव्यन्ती (ई० २१, २८, ४२, ४९)—दिव्धातोर्लटः शतरि, श्यनि 'हलि चे'ति दीर्घे 'दीव्यत्' इति । तस्मात् औविभक्तौ औङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे 'दीव्यन्ती' इति ।

धनूंषि (ई० ३५, ४५, ४७)—'धनुष्'शब्दाज्जसि शसि च 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे अनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधायाः दीर्घे नस्यानुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे 'धनूंषि' इति सिद्धम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

वा न—अभ्यस्तसंज्ञकसे पर शतृप्रत्ययान्त क्लीब अङ्गको नुमागम हो, विकल्पसे, सर्वनामस्थानके परे । **आच्छी**—अवर्णान्तसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अङ्ग, उसको नुमागम हो, 'शी' और 'नदी'के परे विकल्पसे । **शप्**—शप्-श्यन्‌संबन्धी अकारसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अङ्ग, उसको नित्य नुमागम हो, 'शी' और 'नदी'के परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्तनपुंसकलिङ्ग समाप्त हुआ ।

अथाऽव्ययप्रकरणम्

स्वरादिनिपातमव्ययम् १। १। ३७। स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः। स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। पुनर्। सनुतर। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। ऋते। युगपत्। आरात्। पृथक्। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। अवस्। अधस्। समया। निकषा। स्वयम्। वृथा। नक्तम्। नञ्। हेतौ। इद्धा। अद्धा। सामि। वत्। ब्राह्मणवत्। क्षत्रियवत्। सना। सनत्। सनात्। उपधा। तिरस्। अन्तरा। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। श्रौषट्। वौषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मृषा। मिथ्या। मुधा। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रायस्। मुहुस्। प्रवाहुकम्। [प्रवा-

---

'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (ई० ५०)—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः, ते च

स्वरा—स्वरादि और निपातकी अव्ययसंज्ञा हो। **स्वर्** (**स्वः**)—स्वर्ग। **अन्तर्** (**अन्तः**)—मध्य। **प्रातर्** (**प्रातः**)—प्रातःकाल। **पुनः**-फिर। **सनुतर्** (**सनुतः**)—अन्तर्धान। **उच्चैस्** (**उच्चैः**)-ऊर्ध्व भागमें। **नीचैस्** (**नीचैः**)-अधोभागमें। **शनैस्** (**शनैः**)-धीरे-धीरे। **ऋधक्**-सचमुच। **ऋते**-विना। **युगपत्**-एकसाथ। **आरात्**-दूर या समीप में। **पृथक्**-भिन्न। **ह्यस्** (**ह्यः**)-पूर्व दिनमें। **श्वः**-पर दिनमें। **दिवा**-दिन। **रात्रौ**-रातमें। **सायम्**-संध्यामें। **चिरम्**-विलम्ब। **मनाक्**-थोड़ा। **ईषत्**-बहुत थोड़ा, किञ्चित्। **जोषम्**-काना-फूँसी। **तूष्णीम्**-चुप। **बहिस्** (**बहिः**), **अवस्** (**अवः**) बाहर। **अधस्** (**अधः**)-नीचे। **समया, निकषा**-समीप। **स्वयम्**-अपने ही। **वृथा**-व्यर्थ। **नक्तम्**-रात। **न, नञ्**-नहीं। **हेतौ** करण। **इद्धा**-प्रकाश्य। **अद्धा**-स्फुट। **सामि**-आधा। **ब्राह्मणवत्**-ब्राह्मणके समान। **क्षत्रियवत्**-क्षत्रियके समान। **सना, सनत्, सनात्**-नित्य। **उपधा**-घूस, नजराना। **तिरस्** (**तिरः**)-टेढ़ा, पराभव। **अन्तरा**-मध्य विना। **अन्तरेण**-विना। **ज्योक्**-शीघ्र, संप्रति। **कम्**-जल, निन्दा, सुख। **शम्**-सुख, कल्याण। **सहसा**-अकस्मात्। **विना**-अभाव। **नाना**-अनेक। **स्वस्ति**-मंगल, शुभ। **स्वाहा**-देवहविर्दानमें। **स्वधा**-पितृहविर्दानमें। **अलम्**-भूषण, पर्याप्त (बस), व्यर्थ। **वषट्, श्रौषट्, वौषट्**-देवहविर्दानमें। **अन्यत्**-और, दूसरा। **अस्ति**-सत्ता, विद्यमान। **उपांशु**-गुप्त। **क्षमा**-माफ। **विहायसा**-आकाश। **दोषा**-रात्रि। **मृषा, मिथ्या**-असत्य, झूठ। **मुधा**-व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन। **पुरा**-पहले। **मिथो, मिथस्** (**मिथः**)-परस्पर, एकान्त। **प्रायस्** (**प्रायः**)-संभव, हो सकता है। **मुहुस्** (**मुहुः**)-बार-बार। **प्रवाहु-**

हिका]। आर्यहलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्धम्। हिरुक्। धिक्। अथ। अम्। आम्। प्रताम्। प्रशाम्। प्रतान्। मा। माङ्। आकृतिगणोऽयम्। च। वा। ह। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। भूयस्। कूपत्। कुवित्। नेत्। चेत्। चण्। कच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिः। माकिम्। नाकिः। नकिम्। माङ्। नञ्। यावत्। तावत्। त्वै। द्वै। न्वै। रै। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। तुम्। तथाहि। खलु। किल। अथो। अथ। सुष्ठु। स्म। आदह। ❀उपसर्ग-विभक्ति-स्वरप्रतिरूपकाश्च❀। अवदत्तम्। अहंयुः। अस्ति-क्षीरा। अ। आ। इ। ई। उ। ऊ। ए। ऐ। ओ। औ। पशु। शुकम्। यथा-कथाच। पाट्। प्याट्। अङ्ग। है। हे। भोः। अये। द्य। विषु। एकपदे। युत्।

निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः, अव्ययम् इति पृथक् पदम्। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति स्मरणात् 'स्वरादयो निपाताश्च अव्ययसंज्ञाः स्युः' इत्यर्थः।

कम्-एक साथ, समान काल। **आर्यहलम्**-बलात्कार, जबरदस्ती। **अभीक्ष्णम्**-पुनः २, बार २। **साकम्, सार्धम्**-साथ २। **नमस् (नमः)**-नमस्कार, प्रणाम। **हिरुक्**-विना **धिक्**-धिक्कार, छी-छी। **अथ**-अनन्तर, और। (**अथ किम्**-और नहीं तो क्या ?)। **अम्**-शीघ्र, थोड़ा, किञ्चित्। **आम्**-हाँ, स्वीकार, मंजूर। **प्रताम्**-ग्लानि। **प्रशाम्**—समान। **प्रतान्**-विस्तार। **मा, माङ्**-नहीं, अस्वीकार। **च**-पुनः, अथवा, और। **वा**-अथवा। **ह**-प्रसिद्ध। **अह**-अद्भुत, खेद। **एव**-अवश्य, हाँ। **एवम्**-इस प्रकार। **नूनम्**-निश्चय, तर्क। **शश्वत्**-सदा, साथ २, पुनः २। **युगपत्**-एक साथ। **भूयस् (भूयः)**-पुनः, प्रचुर, ढेरसा। **कूपत्, सूपत्**-प्रश्न, प्रशंसा। **कुवित्**-बहुत, प्रशंसा। **नेत्**-शंका। **चेत्-चण्**-यदि। **क्वचित्**-कहीं, कोई। **यत्र**-जहाँ। **नह**-प्रत्यारंभ। **हन्त**-हर्ष, विषाद। **माकिः माकिम्, नाकिः**-विना, वर्जन। **नञ्**-नहीं। **यावत्**-जब तक। **त्वै, द्वै, न्वै**-वितर्क। **रै**-दान, हीन संबोधन। **श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा**-देवहविर्दान। **अलम्**-पर्याप्त। **स्वधा, वषट्**-पितृहविर्दान। **तुम्**-तुम। **तथाहि**—जैसे, इस प्रकार। **खलु, किल**-निश्चय। **अथ**-अनन्तर। **सुष्ठु**-अच्छा। **स्म**-भूतकाल। **आदह**-निन्दा।

उपसर्ग-उपसर्ग प्रतिरूपक, विभक्त्यन्त प्रतिरूपक और स्वर प्रतिरूपक शब्दों का भी चादिगण में पाठ समझना चाहिये। (प्रतिरूपकका अर्थ है 'सदृश')

अवदत्तम्-दिया। **अहंयु**-अहंकारी। **अस्तिक्षीरा**-दूधवाली। **अ**-संबोधन। **आ**-वाक्य, स्मरण। **इ**-संबोधन, जुगुप्सा, विस्मय। **ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ**-संबोधन। **पशु**-सम्यक्। **शुकम्**-शीघ्र। **यथाकथाच**-जब-कभी। **पाट्, प्याट्, अंग, है, हे, भोः, अये**—संबोधन। **द्य**—हिंसा। **विषु**—अनेक। **एकपदे**—सहसा। **युत्**—निन्दा। **आतः,**

आतः। चादिरप्याकृतिगणः। तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः १। १। ३८। यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्त्तव्यम्। तसिलादयः प्राक् पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोर्थाः। तसिवती। नानाञौ। एतदन्तमप्यव्ययम्। कृन्मेजन्तः १। १। ३९। कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै। क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १। १। ४०। एतदन्तमव्ययं स्यात्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः। अव्ययीभावश्च १। १। ४१। अव्ययीभावश्चाऽव्ययसंज्ञः स्यात्। अधिहरि। अव्ययादाप्सुपः २। ४। ८२। अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक् स्यात्। तत्र शालायाम्।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ १॥

उदेतोः (ई० ४४,४६)—उत्पूर्वादिण्धातोः 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' इति तोसुन् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे उपसर्गसम्बन्धिनस्तस्य जश्त्वे 'उदेतोस्' इत्यस्य तोसुन्प्रत्ययान्तत्वेन 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इत्यनेन अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इत्यनेन तस्माद्विहितस्य सोर्लुकि सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'उदेतोः' इति सिद्धम्।

अतः—इसलिये।

तद्धि—जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हों ऐसा जो तद्धितान्त वह भी अव्यय संज्ञक हो। **अम्, आम्**—स्वीकार।

कृन्मे—कृत् जो मान्त और एजन्त तदन्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो।

स्मारं स्मारम्—स्मरण कर करके।

जीवसे—जीनेके लिये। **पिबध्यै**—पीनेके लिये।

क्त्वातो—क्त्वा प्रत्ययान्त, तोसुन् प्रत्ययान्त और कसुन् प्रत्ययान्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो। **कृत्वा**—करके। **उदेतोः**—उदय होकर। **विसृपः**—फैलकर।

अव्ययी—अव्ययीभाव समासकी अव्ययसंज्ञा हो। **अधिहरि**—हरिमें।

अव्य—अव्यय से विहित 'आप्' और 'सुप्' का लुक् हो।

तत्र शालायाम्—उस घरमें।

सदृशं—जिस शब्दका तीनों लिङ्गोंमें, सब विभक्तियोंमें और सब वचनों में समान रूप हो। कुछ भी 'न व्येति'—विकारको प्राप्त न करे, वह अव्यय कहलाता है।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

वगाहः, अवगाहः । पिधानम्, अपिधानम् ।

* इति लघुसिद्धान्तकौमुद्यामव्ययप्रकरणम् *

पिधानम् (ई० ४४,४६)—अत्र 'भागुरि'नामकाचार्यमते अपीत्युपसर्गस्याऽकारस्य लोपे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलोपे च कृते 'पिधानम्' इति सिद्धं भवति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां सुबन्तप्रकरणं समाप्तम् ।

वष्टि—भागुरि आचार्य 'अव' 'अपि' उपसर्गके आदि अकारका लोप करते हैं । यथा—अव+गाहः = वगाहः । अपि+धानम् = पिधानम् । आचार्यजी हलन्त शब्दोंसे स्त्रीलिंगमें 'आप्' (टाप्) भी करते हैं । यथा—वाच्+आ=वाचा । निश्+आ=निशा । दिश्+आ=दिशा । पाणिनि मुनिके मतसे अकारका लोपविधायक कोई सूत्र नहीं है, अतः अवगाह और अपिधानम् ये भी रूप होते हैं ।

वगाहः, अवगाहः—स्नान । **वाचा**—वाणी । **निशा**—रात्रि । **दिशा**—दिशा । **पिधानम्, अपिधानम्**—ढकन ।

नोटः—(१) जातिवाचक शब्द, समूहार्थक शब्द और समष्टिबोधक शब्दोंकी यदि विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो एकवचनमें ही प्रयोग होता है । यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः, बलवती सेना, विद्वद्गणः आदि । एवं समाहार द्वन्द्व और द्विगु समाससे परिनिष्ठित शब्दोंका भी एकवचन में ही प्रयोग होता है । यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम् आदि । (२) अश्विनीकुमार तथा दम्पति, जम्पति शब्दोंका द्विवचनमें ही प्रयोग होता है । (३) दार, अक्षत, लाज, असु और प्राण शब्द नित्य पुंलिङ्ग हैं और बहुवचनमें ही प्रयुक्त होते हैं । एवं अप्, वर्षा तथा सिकता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग हैं और बहुवचनमें ही प्रयुक्त होते हैं । अस्मद् शब्द तथा आदर अर्थमें अन्य शब्द भी विकल्पसे बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं । (लिंगानुशासन प्रकरण देखें) ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अव्ययप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ तिङन्ते भ्वादिप्रकरणम्

लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ्—एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः। **लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ३।४।६९।** लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च। **वर्त्तमाने लट्**

नोट :—प्रयोगकालमें धातुके उत्तर जो 'तिङ' विभक्ति होती है, उस तिङ् विभक्तिके योगसे जो पद निष्पन्न होता है वह 'तिङन्त' कहलाता है।

लट्—कालका ज्ञान एवं विधि आदिका अर्थज्ञान कराने के लिए धातु के बाद लडादि तिङ् विभक्तियाँ दश प्रकार की होती हैं। इनमें 'लेट्' का प्रयोग वेदमें ही देखा जाता है।

लः—सकर्मक धातुसे कर्म-कर्तामें तथा अकर्मक धातुसे भाव और कर्तामें लकार हों।

नोट :—१ कर्तृवाच्यमें कर्ता प्रथमान्त और कर्म द्वितीयान्त तथा क्रियाके पुरुष-वचन कर्ताके अनुसार प्रयुक्त होते हैं। यथा—'इन्दुमती पुष्पं चिनोति'। एवं कर्मवाच्यमें कर्ता तृतीयान्त और कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया के पुरुष-वचन कर्मके अनुसार होते हैं। यथा—रामेण वेदाः पठ्यन्ते। एवं भाववाच्यमें कर्ता कर्मवाच्यवत् तृतीयान्त होता है पर कर्म नहीं होता तथा क्रिया सदैव प्रथमपुरुषकी एकवचनान्त ही होती है। यथा—'अस्माभिः स्थीयते। (भावकर्मप्रकरण देखें) तथाहि हरिकारिका :—

प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत्। द्वितीया कर्मणि, तथा क्रिया कर्तृपदान्विता॥
प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात्तु कर्तरि। कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी॥
कर्माभावः सदा भावे तृतीया चैव कर्तरि। प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं च क्रियापदे॥

फल और व्यापार धातुके अर्थ होते हैं—**'फलव्यापारयोर्धात्वर्थः'** व्यापारका आश्रय कर्ता और फलका आश्रय कर्म होता है। जिसका फल और व्यापार भिन्न २ आश्रयमें हो उसे सकर्मक कहते हैं :—**'फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्'**। यथा—'देवदत्तः तण्डुलं पचति' यहाँ विक्लिति रूप फल तण्डुलमें और पाकरूप व्यापार देवदत्तमें है। अतः 'पच्' धातुको सकर्मक समझना चाहिये। जिसका फल और व्यापार एक ही आश्रयमें हो उसे अकर्मक कहते हैं—**'फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्'**। यथा—'रामः शेते' यहाँ विश्राम रूप फल और चक्षुर्निमीलनादि रूप व्यापार भी राममें है अतः 'शीङ्' धातु अकर्मक है। सामान्य नियम :—साकाँक्षित क्रिया 'सकर्मक', यथा—पठति, खादति आदि आदि क्या पढ़ता है? क्या खाता है? एवं निराकाँक्षित क्रिया 'अकर्मक', यथा-जागता है, हँसता है, यहाँ क्या जागता है, क्या हँसता है, इत्यादि आकाँक्षा ही नहीं उठती। **वर्त**—वर्तमान क्रियावृत्ति धातुसे लट् लकार हो।

नोट :—जिसमें क्रियाका प्रारम्भ हो उसे 'वर्तमान' कहते हैं। वर्तमानके सामीप्य रहने पर भूत और भविष्यद् कालमें भी 'लट्' होता है। यथा—'इदानीमेव आगच्छामि' (अभी आया हूँ)। 'अयमहं गच्छामि' (मैं अभी जाऊँगा)। 'स्म' के योगसे भूतकालमें भी 'लट्'

३।२।१२३। वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्वम्। भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते—तिप्तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिब्वस्-मस्-ताऽऽतांझ-थासाथांध्व-मिड्वहि महिङ् ३।४।७८। एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः। लः परस्मैपदम् १।४।९९। लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः। तङानावात्मनेपदम् १।४।१००। तङ् प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२। अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्। स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२। स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले। शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८। आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात्। तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१। तिङ् उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः। तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२। लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः। युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५। तिङ्वाच्य-

---

का प्रयोग होता है। यथा—'स पठतिस्म' (उसने पढ़ा)। 'यावत्' के योगसे भविष्यत् कालमें भी 'लट्' का प्रयोग होता है। यथा—'स यावत् नागच्छति' (वह जब तक नहीं आवेगा)। तिप्तस्—लकारके स्थानमें तिबादि १८ आदेश हों।

नोट :—इन अठारहों को 'तिङ्' कहते हैं। आरंभके 'ति' से लेकर अन्तिम 'ङ्' तक 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है।

लः—लकारके स्थानमें तिबादि आदेशकी 'परस्मैपद' संज्ञा हो। तङा—'तङ्' प्रत्याहार और शानच्-कानच् (प्रत्ययों) की आत्मनेपदसंज्ञा हो।

नोट :—'ताताम्' के आदि तकारसे महिङ्के ङकार पर्यन्त नवोंको 'तङ्' कहते हैं। 'तङ्' भी प्रत्याहार कहा जाता है।

अनुदात्त—अनुदात्तेत् जो धातु और उपदेशावस्थामें जो ङित्, तदन्त जो धातु, उससे पर लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो। स्वरित्—स्वरितेत् और ञित् धातुसे आत्मनेपद हो—कर्तृगामी क्रियाफलमें।

नोट :—जहाँ फलाकाँक्षा रहती है वहाँ यदि कर्ता फलभागी हो तो उभयपदी धातुसे आत्मनेपद होता है और यदि फलभागी कोई दूसरा (यजमान) हो तो परस्मैपदका प्रयोग होता है। अतः सङ्कल्प-वाक्यमें अपने लिये 'करिष्ये' और यजमानके लिये 'करिष्यामि' का प्रयोग किया जाता है।

शेषा—आत्मनेपदके निमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्तामें परस्मैपद हो। तिङ—'तिङ'संबन्धी आत्मनेपद और परस्मैपदके जो तीन तीन वे यथाक्रमसे प्रथम, मध्यम, उत्तम संज्ञक हों। तान्ये—लब्ध (प्राप्त) प्रथमादि संज्ञक जो 'तिङ' के तीन तीन वचन वे प्रत्येक एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक हों। युष्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो

कारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः स्यात्। अस्मद्युत्तमः १।४।१०७। तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः स्यात्। शेषे प्रथमः १।४।१०८। मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्। भू-ति इति जाते। तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३। तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः। कर्तरि शप् ३।१।६८। कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात्। सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४। अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। अवादेशः। भवति। भवतः। झोऽन्तः

भवति (ई० ४२)—भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति खले कपोतन्यायेन कर्तरि दशापि लकाराः प्राप्ताः, एषु केनाऽत्र भाव्यमित्याकाङ्क्षायां 'वर्तमाने लट्' इति भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तित्वविवक्षायां लटि अनुबन्धलोपे 'भू ल्' इति दशायां 'लस्य' इत्यधिकृत्य 'तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्ताताञ्झथासाथान्ध्वमिड्वहिमहिङ्' इत्येतेऽष्टादश लादेशाः प्राप्ताः ततश्च 'लः परस्मैपदम्' इत्यनेन अष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसंज्ञा सम्प्राप्ता किन्तु 'तङानावात्मनेपदम्' इत्यनेन तङ्प्रत्याहारान्तःपातिनां नवानामात्मनेपदसंज्ञा सञ्जाता एवं सति तिबादयः परस्मैपदसंज्ञाः, तादयश्च आत्मनेपदसंज्ञा, एषां मध्यादत्र परस्मैपदसंज्ञिनः आहोस्विद् आत्मनेपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युरिति सन्देहे 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेन भूधातोरात्मनेपदनिमित्तहीनत्वात्कर्तरि परस्मैपदं प्राप्तं, ततः परस्मैपदसंज्ञिनां नवानां मध्यात्कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायाम् 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इत्यनेन क्रमात्

वाची जो युष्मद् शब्द वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे मध्यम पुरुष हो। **अस्म**—तिङ्वाच्य कारकवाची जो अस्मद् शब्द वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे उत्तम पुरुष हो। **शेषे**—मध्यम और उत्तम पुरुष के अविषयमें प्रथम पुरुष हो।

नोट :—विभक्तियोंमें ३ पुरुष होते हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम। क्रियाके साथ युष्मद् वा अस्मद् शब्दसे भिन्न शब्दोंके प्रयोग रहने पर प्रथम पुरुष, युष्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर मध्यम पुरुष और अस्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर उत्तम पुरुष होता है। तथा कर्ताका जो वचन रहे वही क्रियाका भी वचन होता है। यथा—(१) बालकः पठति। बालकौ पठतः। बालकाः पठन्ति। (२) त्वं पठसि। युवां पठथः। यूयं पठथ। (३) अहं पठामि। आवां पठावः। वयं पठामः।

तिङ्—धात्वधिकारमें उक्त तिङ्-शित् प्रत्ययोंकी सार्वधातुक संज्ञा हो। **कर्तरि**—कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे धातुसे 'शप्' प्रत्यय हो। **सार्व**—इगन्त अंगको गुण हो सार्वधातुक, आर्धधातुकके परे। **झोऽन्तः**—प्रत्ययावयव 'झ' के स्थानमें 'अन्त' आदेश हो।

७।१।३। प्रत्ययावयवस्य झस्याऽन्तादेशः स्यात् । अतो गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ । **अतो दीर्घो यञि ७ । ३ । १०१।** अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्याद्यञादौ सार्वधातुके । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः । **परोक्षे लिट् ३ । २ । ११५ ।** भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् । लस्य तिबादयः । **परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३।४।८२।** लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयो नव स्युः । भू अ इति स्थिते । **भुवो वुग् लुङ्लिटोः ६।४।८८।** भुवो वुगागमः स्याल्लुङ्लिटोरचि । **लिटि धातोरनभ्यासस्य ६। १ । ८ ।** लिटि

त्रयाणां त्रिकाणां प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु च लब्धप्रथमादिसंज्ञानां तिङ्त्रयाणां वचनानां प्रत्येकमेकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाव्यम् , उत मध्यमेन आहोस्विद् उत्तमेन इत्याकांक्षायां 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्तथापि त्रीणि वचनानि, एष्वपि कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायां 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्यनेनाऽत्र एकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषे तिपि जाते अनुबन्धलोपे 'भू ति' इति स्थिते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'भूसुवोस्तिङि' इत्यनेन गुणनिषेधे 'कर्तरि शप्' इति शपि अनुबन्धलोपे 'भू अ ति' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति शपोऽकारस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'भवति' इति ।

अतो—अदन्त अङ्गको दीर्घ हो यञादि सार्वधातुकके परे । **परोक्षे**—भूत अनद्यतन और परोक्षार्थवृत्ति जो धातु उससे 'लिट्' लकार हो ।

नोट :—अनद्यतन कालके दो भेद हैं—भूत और भविष्य । पूर्व दिनकी आधी रात (१२ बजे) तक जो क्रिया हुई हो वह भूत अनद्यतन और आगामी (आज) रातके बारह बजेके बाद जो क्रिया होनेवाली हो वह भविष्यत् अनद्यतन (लुट्) की क्रिया कही जाती है। **'अतीताया रात्रेः पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः ।** 'परोक्ष' उसको कहते हैं जिसमें वक्ताका प्रत्यक्ष नहीं हो । एवञ्च यह सिद्ध हुआ कि परोक्ष और 'अनद्यतन' भूत कालमें 'लिट्'का प्रयोग हो । यथा—'रामो वालिनं जघान' । स्मरण रहे कि चित्तविक्षेपमें तथा किसी भी हालतमें स्वीकार नहीं करने पर प्रत्यक्ष (उत्तम पुरुष) में भी लिट् का प्रयोग होता है । यथा—(१) 'सुप्तोऽहं किल विललाप' (२) 'नाऽहं कलिङ्गां जगाम । (लकारार्थ देखें) ।

परस्मै—'लिट्' सम्बन्धी तिबादि नौ के स्थानमें णलादि नौ आदेश हों । **भुवो**—'भू' धातुको 'वुक्' का आगम हो, लुङ् और लिट् संबन्धी अच्के परे । **लिटि**—लिट्के परे अनभ्यास (द्वित्ववर्जित) धात्ववयव प्रथम एकाच्को द्वित्व हो और (अजादि धातु रहे

परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः। आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। भूव् भूव् अ इति स्थिते। **पूर्वोऽभ्यासः** ६।१।४। अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात्। **हलादिः शेषः** ७।४।६०। अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपः। **ह्रस्वः** ७।४।५९। अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात्। **भवतेरः** ७।४।७३। भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याल्लिटि। **अभ्यासे चर्च** ८।४।५४। अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च। झशां जशः, खयां चर इति विवेकः। बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। **लिट् च** ३।४।११५। लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात्। **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** ७।२।३५। वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ। बभूवथुः। बभूव २। बभूविव। बभूविम। **अनद्यतने लुट्** ३।३।१५। भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् स्यात्। **स्यतासी लृलुटोः** ३।१।३३। धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तो लृलुटोः परतः। शबाद्यपवादः। 'लृ' इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्॥

बभूव—(ई० २९,४२,५०,५४)—भूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि इकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते 'भू ल्' इति स्थिते 'तिप्तस्झि' इति लः स्थाने तिपि तत्स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' इति णलि अनुबन्धलोपे 'भू अ' इति दशायां नित्यत्वाद्गुणवृद्धी बाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति भूधातोर्वुगागमे अनुबन्धलोपे 'भूव् अ' इति जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भुवो द्वित्वे 'भूव् भूव् अ' इति दशायां 'पूर्वोऽभ्यासः' इति पूर्वस्य 'भुव्' इत्यस्य अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति वलोपे 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे 'भु भूव् अ' इति स्थिते 'भवतेरः' इत्यभ्यासोकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इत्यभ्यासभस्य बकारे 'बभूव' इति सिद्धम्।

बभूविथ (ई० ४४, ५१)—भूधातोर्लिटि सिपि सिपस्थलादेशे 'आर्धधातु-

तो) आदिभूत अच्से पर द्वितीय एकाच्को द्वित्व हो। **पूर्वो**—षाष्ठद्वित्व-प्रकरणमें जो दो (द्वित्व) विधान किये गये हैं, उनमें पूर्वकी अभ्याससंज्ञा हो। **हलादिः**—अभ्यासका आदि हल् शेष रहे (बच जाय) और अन्य हल्का लोप हो। **ह्रस्वः**—अभ्यासके अच्को ह्रस्व हो। **भव**-भू धातुके अभ्यासके उकारको अकार आदेश हो, लिट्के परे। **अभ्या**—अभ्यासमें झल्के स्थानमें 'चर्' आदेश हो और 'जश्' आदेश भी हो। अर्थात् 'झश्' के स्थानमें 'जश्' और 'खय्' के स्थानमें 'चर्' हो। **लिट्**—लिडादेश 'तिङ्' को आर्धधातुक संज्ञा हो। **आर्ध**—वलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम हो। **अन**—भविष्यत् अनद्यतन अर्थमें धातुसे 'लुट्' लकार हो। (यथा-श्वो गन्ताऽस्मि)। **स्यता**—धातुसे 'स्य' प्रत्यय और 'तासि' प्रत्यय हो—'लृ' (लृट्-लृङ्) और 'लुट्' के परे (यथाक्रमसे)।

आर्धधातुकं शेषः ३ । ४ । ११४ । तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् । **लुटः प्रथमस्य डारौरसः २ । ४ । ८५ ।** डा रौ रस् एते क्रमात्स्युः । डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भविता ॥ **तासस्त्योर्लोपः ७।४।५०।** तासेरस्तेश्च सस्य लोपः स्यात्सादौ प्रत्यये परे । **रि च ७ । ४ । ५१ ।** रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ॥ **लृट् शेषे च ३ । ३ । १३ ।** भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् स्यात् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्यां वा । स्यः । इट् । भविष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्यावः । भविष्यामः ॥ **लोट् च ३ । ३ । १६२ ।** विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् स्यात् । **आशिषि लिङ्लोटौ ३ । ३ । १७३ ।** आशिषि धातोर्लिङ्लोटौ स्तः । **एरुः ३ । ४ । ८६ ।** लोट इकारस्य उः स्यात् । भवतु ॥ **तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ७ । १ । ३५ ।** आशिषि तुह्योस्तातङ् वा स्यात् । परत्वात्सर्वादेशः । भवतात् ॥ **लोटो लङ्वत् ३ । ४ । ८५ ।** लोटो लङ इव कार्यं स्यात् । तेन तामादयः सलोपश्च ॥ **तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ३।४।१०१।** ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः । भवताम् । भवन्तु ॥ **सेर्ह्यपिच्च ३ । ४ । ८७ ।** लोटः सेर्हिः स्यात् सोऽपिच्च ॥ **अतो हेः ६।४।१०५।** अतः परस्य हेर्लुक् स्यात् । भव । भवतात् ।

कस्येड्वलादेः' इति थस्य इडागमे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति भुवो वुगागमे द्वित्वे

आर्ध—तिङ्-शित् से भिन्न (शेष) जो 'धातोः' इस अधिकारमें विहित प्रत्यय उसकी आर्धधातुकसंज्ञा हो। **लुटः**—'लुट्' लकार संबन्धी प्रथम पुरुषके स्थानमें क्रमसे डा, रौ, रस् आदेश हों। **तास्**—तास् और अस्तिके सकारका लोप हो सादि प्रत्ययके परे। **रि च**—तास् और अस्तिके सकारका लोप हो रादि प्रत्ययके परे। **लृट्**—भविष्यत् अर्थमें धातुसे 'लृट्' लकार हो, चाहे क्रियार्थक क्रिया रहे या न रहे।

नोट:—एक क्रिया यदि दूसरी क्रियाके लिये हो रही हो तो उस क्रियाको 'क्रियार्थक क्रिया' कहते हैं। यथा—'पठितुं गच्छति' इति—'पठिष्यति'।

लोट्—विध्यादि अर्थमें धातुसे लोट् लकार हो। **आशि**—आशीर्वाद अर्थमें धातुसे लिङ् और लोट् लकार हों। **एरुः**—लोट् संबन्धी इकारको उकार हो। **तुह्यो**—आशीर्वाद अर्थमें 'तु' और 'हि' के स्थानमें विकल्पसे तातङ् आदेश हो। **लोटो**-लोट् के स्थानमें लङ्के समान कार्य (तामादि आदेश और वस्-मस्के सकारका लोप) हो। **तस्थ**-ङित् लकार सम्बन्धी तसादि (तस्-थस्-थ-मिप्) के स्थानमें तामादि (ताम्-तम्-त-अम्) आदेश हों। **सेर्ह्य**—लोट् संबन्धी 'सि'के स्थानमें 'हि' आदेश हो-वह 'अपित्' हो। **अतो**—अदन्त अङ्ग

भवतम् । भवत । **मेर्निः** ३। ४। ८९। लोटो मेर्निः स्यात् । **आडुत्तमस्य पिच्च** ३।४।९२। लोडुत्तमस्याऽऽट् स्यात् पिच्च । हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् । **ते प्राग्धातोः** १ । ४ । ८० । ते = गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । **आनि लोट्** ८। ४। १६। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य लोडादेशस्याऽऽनीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । ❀ **दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः** । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । ❀ **अन्तश्शब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्** । अन्तर्भवाणि । **नित्यं ङितः** ३ । ४ । ९९ । सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्येति सलोपः । भवाव । भवाम । **अनद्यतने लङ्** ३।२।१११।

अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति वलोपे 'ह्रस्वः' इत्यनेन अभ्यासस्य ह्रस्वे 'भवतेरः' इत्यभ्यासस्योकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे 'बभूविथ' इति ।

से पर 'हि' का लुक् हो । **मेर्निः**—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थानमें 'नि' आदेश हो। **आडु**—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुषको 'आट्' का आगम हो और वह आट् पित् हो । **ते प्रा**—गतिसंज्ञक और उपसर्गसंज्ञक पूर्वोक्त प्रादिका धातुसे पहले प्रयोग करना चाहिये । **आनि**—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर लोट्के स्थानमें हुए 'आनि' के नकारको णकार हो ।

नोट:—प्रभवाणि, प्रणिगदति, इत्यादि स्थलोंमें उपसर्गके साथ समास नहीं होने पर भी संहिता नित्य रहती है । तदुक्तम्—

'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते' ॥
धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते । विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

एक पदमें धातु और उपसर्गकी तथा समासमें संहिता नित्य होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छापर रहती है । (यथा-'इन्दुमती उवाच' अथवा 'इन्दुमत्युवाच') ॥ १ ॥

कोई उपसर्ग धातुके मुख्यार्थको बाधकर नवीन अर्थका बोध कराता है, कोई धात्वर्थका ही अनुवर्त्तन करता है और कोई विशेषण होकर उसी धात्वर्थको और भी स्फुटित कर देता है । इस प्रकार उपसर्गकी गति तीन प्रकारकी होती है । उक्तञ्च—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । प्रहारा-ऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥

विविध उपसर्गके बलसे धात्वर्थ भी विविध अर्थमें परिवर्तित होता है । (परिशिष्ट देखो) **दुरः**—षत्व और णत्वके विषयमें 'दुर्' को उपसर्गत्व का प्रतिषेध कहना चाहिये (उपसर्ग-संज्ञा नहीं हो) । **अन्तः**—'आङ्'विधि, 'कि'विधि और 'णत्व'विधिके विषयमें अन्तर् शब्दको भी उपसर्ग कहना चाहिये । **नित्यं**—ङित् लकार सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुषके सकारका नित्य लोप हो । **अन**—अनद्यतन भूतार्थवृत्ति धातुसे 'लङ्' लकार हो ।

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् । लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१। एष्वङ्गस्याऽडागमः स्यात् स चोदात्तः । इतश्च ३।४।१००। ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः स्यात् । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम । विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३।३।१६१। एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् स्यात् । यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३। लिङः परस्मैपदानां यासुडागमः स्यात्स चोदात्तो ङिच्च । लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२।७९। सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः स्यात् । इति प्राप्ते । अतो येयः ७।२।८०। अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय् स्यात् । गुणः । लोपो व्योर्वलि ६।१।६६। वकारयकारयोर्लोपः स्याद्वलि । भवेत् । भवेताम् । झेर्जुस् ३।४।१०८। लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम । लिङाशिषि ३।४।११६। आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः

भवेत् (ई० ४१,४६,५६)—भूधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इति लिङि तत्स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिसूत्रेण तिपि अनुबन्धलोपे 'भू ति'

लुङ्—लुङ्, लङ्, लृङ्के परे अङ्ग को 'अट्' का आगम हो तथा वह उदात्त हो। **इतश्च**—ङित् लकार सम्बन्धी जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त (इकार) का लोप हो। **विधि**—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थोंमें धातुसे 'लिङ्' लकार हो।

नोट:—विध्यादि अर्थोंमें 'लोट्' का भी विधान हो चुका है। अब यहाँ दोनोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— **विधिः**=प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। जैसे—भवान् वस्त्रं क्षालयतु क्षालयेद्वा। **निमन्त्रणं**=नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। जैसे—इह मातामहश्राद्धे दौहित्रादयो भवन्तः भुञ्जताम् वा भुञ्जीरन्। **आमन्त्रणं**=कामचारानुज्ञा। जैसे—मत्पुत्रोत्सवे भवान् आगच्छतु, आगच्छेद्वा। **अधीष्टः**=सत्कारपूर्वको व्यापारः। जैसे—मदात्मजं भवान् अध्यापयतु अध्यापयेद्वा। **सम्प्रश्नः**—सम्प्रधारणम्। जैसे—किं भोः व्याकरणं भवान् अधीयीत। **प्रार्थनं**=याच्ञा। यथा—भवान् मे फलं ददातु दद्याद्वा।

यासु—लिङ् लकार सम्बन्धी परस्मैपद को 'यासुट्' का आगम हो और वह ङित् हो। **लिङः**—सार्वधातुक लिङ् (विधिलिङ्) संबन्धी अनन्तसकार का लोप हो। **अतो**—'अत्' से पर सार्वधातुकावयव 'यास्' को 'इय्' आदेश हो। **लोपो**—यकार और वकारका लोप हो, वलके परे। **झेर्जु**—लिङ् लकार सम्बन्धी 'झि' के स्थानमें 'जुस्' हो। **लिङा**—आशीर्वाद अर्थमें लिङादेश, 'तिङ्' को आर्धधातुकसंज्ञा हो।

स्यात्। किदाशिषि ३।४।१०४। आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात्। 'स्कोः संयोगाद्योरि'ति सलोपः। क्ङिति च १।१।५। गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्। भूयास्ताम्। भूयासुः। भूयाः। भूयास्तम्। भूयास्त। भूयासम्। भूयास्व। भूयास्म। लुङ् ३।२।११०। भूतार्थवृत्तेर्धातोर्लुङ् स्यात्। माङि लुङ् ३।३।१७५। माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात्। सर्वलकारापवादः। स्मोत्तरे लङ् च ३।३।१७६। स्मोत्तरे माङि लङ् स्याच्चाल्लुङ्। च्लि लुङि ३।१।४३। धातोश्च्लिप्रत्ययः स्याल्लुङि। शबाद्यपवादः। च्लेः सिच् ३।१।४४। च्लेः सिजादेशः स्यात्। इचावितौ। गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७। एभ्यः सिचो लुक् स्यात्। गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते। भूसुवोस्तिङि ७।३।८८। भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न स्यात्।

इति स्थिते तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि अनुबन्धलोपे 'भू अ ति' इति स्थिते शित्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'भवति' इति जाते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि अनुबन्धलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति प्रबाध्य 'अतो येयः' इति यासः इयादेशे 'भव इय् त्' इति जाते 'आद्गुणः' इति गुणे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'भवेत्' इति

भूयास्ताम् (ई० ३१, ४५)—भूधातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि तत्स्थाने 'तिप्तस्झि' इत्यादिना तसि 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति तसस्तामादेशे 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वात् शपोऽभावे 'भू ताम्' इति दशायां 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि अनुबन्धलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'भू यास् स् ताम्' इति स्थिते 'किदाशिषि' इति कित्त्वात् गुणनिषेधे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति यासुटः सस्य लोपे 'भूयास्ताम्' इति।

किदा—आशीर्वाद अर्थमें लिङ् सम्बन्धी यासुट् कित् हो। क्ङि—गित्, कित् और ङित् निमित्तक इग्लक्षण गुण-वृद्धि नहीं हो। लुङ्—भूतार्थवृत्ति धातुसे लुङ् लकार हो। माङि—'माङ्' उपपद रहने पर धातुसे लुङ् लकार हो। स्मो—'स्म' उत्तर (परक) 'माङ्' उपपद रहते धातुसे लङ् और लुङ् लकार हो। च्लि—धातुसे 'च्लि'प्रत्यय हो, लुङ्के परे। च्लेः—च्लिके स्थानमें 'सिच्' आदेश हो। गाति—इणादेश 'गा' धातु, 'स्था' धातु 'घुसंज्ञक' धातु, एवं 'पा' और 'भू' धातुओंसे पर जो सिच् उसका लुक् हो, परस्मैपदके परे। भूसु—'भू' तथा 'सू' धातुओंको गुण नहीं हो, सार्वधातुक तिङ्के परे।

अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् । अभूत । अभूवम् । अभूव । अभूम । न माङ्योगे ६।४।७४। अडाटौ न स्तः । मा भवान् भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् । लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३। ३ । १३९ । हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभविष्याम । 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । अत सातत्यगमने । अतति । अत आदेः ७ ।४। ७०। अभ्यासस्यादेरतो दीर्घः स्यात् । आत । आततुः । आतुः । आतिथ । आतथुः । आत । आत । आतिव । आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु । आडजादीनाम् ६। ४ । ७२ । अजादेरङ्गस्याऽऽट् स्यात् लुङ्लङ्लृङ्क्षु । आतत् । अतेत् । अत्यात् । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते । अस्तिसिचोऽपृक्ते ७। ३। ९६। विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल ईडागमः स्यात् । इट ईटि ८ । २ । २८ । इटः परस्य सस्य लोपः

अभूत् (ई० ३०, ३२, ४२, ५५)—भूधातोः 'लुङ्' इति सूत्रेण लुङि तत्स्थाने 'तिप्तस्झि०' इत्यादिना तिपि अनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधे 'अभूत्' इति सिद्धम् ।

अभूवन् (ई० ३७, ३८, ४८, ५७)—भूधातोर्लुङि तत्स्थाने झौ अडागमे अनुबन्धलोपे सिचि 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि झस्याऽन्तादेशे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति वुगागमे अनुबन्धलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'अभूवन्' इति ।

न मा—'माङ्' के योगमें अङ्गको 'अट्' या 'आट्' का आगम नहीं हो। **लिङ्नि**—भविष्यत् अर्थ में विद्यमान धातुसे हेतुहेतुमद्भावादि अर्थमें 'लृङ्' लकार हो क्रियाकी अनिष्पत्ति यदि गम्यमान रहे। **अत**—अभ्यासके आदि अत् (ह्रस्व अकार) को दीर्घ हो । **आडजा**—अजादि अङ्गको आट्का आगम हो, लुङ्, लङ्, लृङ्के परे। **अस्ति**—विद्यमान 'सिच्' से पर और 'अस्' धातुसे पर अपृक्त 'हल्' को ईट्का आगम हो । **इट**—'इट्' से पर

स्यादीटि परे । ❀ सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः । आतीत् । आतिष्टाम् । **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३ । ४ । १०९ ।** सिचोऽभ्यस्ताद्विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् स्यात् । आतिषुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट । आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । षिध गत्याम् । **ह्रस्वं लघु १ । ४ । १० ।** ह्रस्वं लघुसञ्ज्ञं स्यात् । **संयोगे गुरु १ । ४ । ११ ।** संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात् । **दीर्घञ्च १ । ४ । १२ ।** दीर्घञ्च गुरुसञ्ज्ञं स्यात् । **पुगन्तलघूपधस्य च ७ । ३ । ८६ ।** पुगन्तस्य लघूपधस्य चाऽङ्गस्येको गुणः स्यात् सार्वधातुकार्धधातुकयोः । धात्वादेरिति सः । सेधति । षत्वम् । सिषेध । **असंयोगाल्लिट् कित् १ । २ । ५ ।** असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित् स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः । सिषेधिथ । सिषिधथुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । एवम्-चिती संज्ञाने । शुच शोके । गद व्यक्तायां वाचि । गदति । **नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ८ । ४ । १७ ।** उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य नेर्नस्य णः स्याद्गदादिषु परेषु । प्रणिगदति । **कुहोश्चुः ७ । ४ । ६२ ।** अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः स्यात् । **अत उपधायाः ७ । २ । ११६ ।** उपधाया अतो

आतीत् (ई० २१, ४७, ५२)—अत्धातोर्लुङि तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इचि गते 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ सिचः सकारस्य 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीटि तिपः तकारस्य 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि अनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति वार्तिकेन सिज्लोपस्य असिद्धत्वाऽभावेन सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति ।

'सिच्' सम्बन्धी सकारका लोप हो, 'ईट्' के परे । **सिज्**—'सिच्' से पर, 'अभ्यस्तसंज्ञक' से पर तथा 'विद्' धातुसे पर 'ङित्' लकार संबन्धी 'झि' को 'जुस्' आदेश हो । **ह्रस्वं**—ह्रस्व वर्ण लघुसंज्ञक हो । **संयो**—संयुक्त वर्ण परमें रहे तो ह्रस्व वर्ण भी गुरुसंज्ञक हो । **दीर्घ**—दीर्घ वर्णकी गुरुसंज्ञा हो । **पुगन्त**—पुगन्त और लघूपध जो अङ्ग तदवयव 'इक्' को गुण हो, सार्वधातुक प्रत्ययके परे ।

असंयो-असंयोगसे पर अपित् 'लिट्' 'कित्' हो । **नेर्गद**—उपसर्गस्थनिमित्त (रेफ षकार) से पर 'नि' के नकारको णकार हो, गद-नदादि धातुके परे । **कुहो**—अभ्यास सम्बन्धी कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश हो । **अत** —उपधासम्बन्धी 'अत्' को वृद्धि हो,

वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे । जगाद । जगदतुः । जगदुः । जगदिथ । जगदथुः । जगद । णलुत्तमो वा ७ । १ । ९१ । उत्तमो णल् वा णित्स्यात् । जगाद-जगद । जगदिव । जगदिम । गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गद्यात् । अतो हलादेर्लघोः ७ । २ । ७ । हलादेर्लघोरकारस्य इडादौ परस्मैपदे सिचि वृद्धिर्वा स्यात् । अगादीत्-अगदीत् । अगदिष्यत् । णद अव्यक्ते शब्दे । णो नः ६ । १ । ६५ । धातोरादेर्णस्य नः स्यात् । णोपदेशास्त्वनर्द्नाटिनाथ्नाधृनन्दनक्कनॄनृतः । उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ८ । ४ । १४ । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः स्यात् समासे असमासे च । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद । अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६ । ४ । १२० । लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्याऽकारस्य एकारः स्यादभ्यासलोपश्च किति

जगाद, (ई० २५,५२)—गद्धातोर्लिटि तत्स्थाने तिपि 'परस्मैपदानाम्०' इति तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे अनुबन्धलोपे 'हलादिः शेषः' इति दकारस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासगकारस्य जकारे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'जगाद' इति । उत्तमपुरुषे तु 'णलुत्तमो वा' इत्यनेन णलः पाक्षिकत्वे णित्वे सति 'जगाद' 'जगद' इति रूपद्वयं भवतीति ।

अगादीत् (ई० २२, ५०)—गद्धातोर्लुङस्तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ च्लेः सिचि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेन सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्याऽसिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ 'अगादीत्' इति । वृद्ध्यभावे 'अगदीत्' इति ।

'ञित , णित्' प्रत्ययके परे । णल—उत्तम पुरुष सम्बन्धी 'णल्' को णिद्वद्भाव हो, विकल्पसे । अतो—हलादि सम्बन्धी लघु अकारको विकल्पसे वृद्धि हो, इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' के परे । णो नः—धातुके आदि णकारको नकार हो । उपस—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर 'णोपदेश' धातुके नकारको णकार हो, असमासमें और (अपि शब्दात्) समासमें भी ।

नोट :—नर्द, नाटि, नाथ् , नाध् , नन्द, नक्क, नॄ, नृत—इन धातुओंसे अन्य जो नकारादि धातु वे णोपदेश हैं । (उत्पत्ति अवस्थामें उनके आदिमें णकार ही था) । अत—'लिट्' निमित्तक आदेश नहीं हुआ हो, ऐसा जो 'अङ्ग' तदवयव जो असंयुक्त

लिटि। नेदतुः। नेदुः। थलि च सेटि ६।४।१२१। प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ। नेदथुः। नेद। ननाद-ननद। नेदिव। नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्-अनदीत्। अनदिष्यत्। टुनदि समृद्धौ। **आदिर्ञिटुडवः** १। ३। ५। उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः। **इदितो नुम् धातोः** ७। १। ५८। इदितो धातोर्नुमागमः स्यात्। नन्दति। ननन्द। नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्। **अर्च** पूजायाम्। अर्चति। **तस्मान्नुड् द्विहलः** ७।४।७१। द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात्परस्य नुट् स्यात्। आनर्च। आनर्चतुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्। व्रज गतौ। व्रजति। वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्। **वदव्रजहलन्तस्याचः** ७। २। ३। वदेर्व्रजेर्हलन्तस्य चाऽङ्गस्याऽचः स्थाने वृद्धिः स्यात्सिचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्। कटे वर्षाऽऽवरणयोः। कटति। चकाट। चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कट्यात्। **ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्** ७। २। ५। हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्न स्यादिडादौ सिचि। अकटीत्।

नेदतुः (ई० ४२) णद्धातोर्लिटस्तसि 'णो नः' इति धातोर्णस्य नत्वे तसोऽतुसादेशे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यन्त्यहलो लोपे, 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति एत्त्वेऽभ्यासलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'नेदतुः' इति।

आनर्च (ई० ५१, ५५)—अर्च् धातोर्लिटस्तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'अत आदेः' इत्यनेन अभ्यासाकारस्य दीर्घे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुट्यनुबन्धलोपे 'आनर्च' इति।

अकटीत् (ई० ४३,५४,५७)-कट्धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे मध्ये च्लौ तस्य सिचि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'अस्तिसिचोऽ-

---

हल्मध्यस्थ अकार, उसको एत्व हो और अभ्यासका लोप हो, कित्-लिट्के परे। **थलि**—सेट् (इट् सहित) 'थल्' के परे भी पूर्वोक्त प्रकारका एत्व हो। **आदि**—उपदेशावस्थामें धातुके आदिमें वर्तमान 'ञि-टु-डु' की इत्संज्ञा हो। **इदितो**—'इदित्' धातुको 'नुम्' का आगम हो। **तस्मा**—द्विहल् धातुको दीर्घीभूत अकारसे पर, नुट्का आगम हो (लिट् में)। **वद**—वद्, व्रज् और हलन्त धातुके 'अच्' को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'सिच्' के परे। **ह्म्यन्त**—हकारान्त, मकारान्त और यकारान्त धातु तथा क्षण्-श्वस्-जागृ धातु और ण्यन्त

अकटिष्यत् । गुपू रक्षणे । गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३।१।२८। एभ्य आयप्रत्ययः स्यात्स्वार्थे । सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ । सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः स्युः । धातुत्वाल्लडादयः । गोपायति । आयादय आर्धधातुके वा ३ । १ । ३१ । आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः । ॐ कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिटि । आस्कासोराम्विधानान्मस्य नेत्वम् । अतो लोपः ६। ४। ४८। आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तं तस्याऽकारस्य लोपः स्यादार्धधातुके । आमः २ । ४ । ८१ । आमः परस्य लुक् स्यात् । कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि ३ । १ । ४० । आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि । उरत् ७। ४। ६६। अभ्यासऋवर्णस्याऽत्स्यात्प्रत्यये परे । रपरः । हलादिः शेषः । वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते—द्विर्वचनेऽचि

प्रृक्ते' इत्यनेन तस्य ईटि च जाते 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्मयन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' इति तन्निषेधे 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अकटीत्' इति ।

गोपायाञ्चकार (ई० ३२, ३४, ४३, ५६)—गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेन आयप्रत्यये 'पुगन्तलघूपधस्य च'–इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्याम्प्रत्यये कृते आमो मकारस्येत्संज्ञायां लोपे च प्राप्ते लिटि आस्कासोराम्विधानान्मकारस्येत्त्वाभावेन लोपाभावे 'गोपाय आम् लिट्' इति स्थिते 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि लिटः कृत्वात्प्रत्ययलक्षणेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुबु-

---

धातु एवं श्वि धातुके 'अच्' को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'सिच्' के परे। गुपू—'गुप्-धूप्-विच्छ्-पण्-पन्' धातुओंसे 'आय्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें। सना—सन् से लेकर 'कमेर्णिङ्' सूत्रसे विहित 'लिङ्' पर्यन्त (द्वादश) प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा हो ।

नोट:—सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यप्, आचारार्थक क्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय्, ईयङ्, णिङ्—ये द्वादश 'सनादि' हैं ।

आया—आर्धधातुककी विवक्षामें आय्-ईयङ्-णिङ्-प्रत्यय हों, विकल्पसे । **कास्य**—'कास्' धातु और 'अनेकाच्' धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हों, 'लिट्' के परे। **अतो**—आर्धधातुकके उपदेशकालमें जो अदन्त, उसके अकारका लोप हो, आर्धधातुकके परे। **आमः**—'आम्' से पर 'लिट्' का लुक् हो। **कृञ्**—आमन्तसे पर 'लिट्'परक 'कृ' 'भू' 'अस्' धातुओंका अनुप्रयोग हो। **उरत्**—अभ्याससम्बन्धी ऋवर्णको 'अत्' आदेश हो, प्रत्ययके परे। **द्विर्व**—द्वित्वनिमित्त 'अच्' के परे अजादेश नहीं हो, यदि द्वित्व

१।१।५९। द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद्द्वित्वे कर्तव्ये। गोपायाञ्चक्रतुः। **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०।** उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च ततः परस्यार्धधातुकस्येण्न स्यात्। **ऊदॄदन्तैर्यौतिरुक्ष्णुशीङ्स्नुनुक्षुश्विडीङ्श्रिभिः। वृङ्वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः।** कान्तेषु शक्लेकः। चान्तेषु-पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिचः षट्। छान्तेषु-प्रच्छेकः। जान्तेषु-त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज-सृजः पञ्चदश। दान्तेषु-अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद-नुद्-पद्य-भिद्-विद्यतिर्विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्य-स्कन्द्-हदः षोडश। धान्तेषु-क्रुध्-क्षुध्-बुध्-बन्ध्-युध-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश। नान्तेषु-मन्यहनौ द्वौ। पान्तेषु-आप-क्षुप्-क्षिप्-तप्-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु—यभ्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु गम्-नम्-यम्-रमश्चत्वारः। शान्तेषु—क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु—कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्य-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश। सान्तेषु—घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु-दुह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ। **अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् (१०३)।** गोपायाञ्चकर्थ। गोपायाञ्चक्रथुः। गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार-गोपायाञ्चकर। गोपायाञ्चकृव। गोपायाञ्चकृम। गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप। जुगुपतुः। जुगुपुः। **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ७।२।**

त्पत्तौ 'कृन्मेजन्तः' इति अव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्यापि लुकि गोपायामित्यवशिष्टे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृञो द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्याससम्बन्धिवर्णस्य अकारे रपरे च कृते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन

कर्तव्य रहे। **एकाच**—उपदेशावस्थामें एकाच् अनुदात्त जो धातु, उससे पर आर्धधातुकको इट् नहीं हो। **ऊदृ**—दीर्घ ऊकारान्त और दीर्घ ॠकारान्त धातु, यु धातु तथा रु, क्ष्णु, शीङ्, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्, वृञ् धातु-से भिन्न जो एकाच् और अजन्त धातु, वे 'अनुदात्त' हैं। **अनुदा**—हलन्त धातुओंमें एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं।

स्वरति—स्वरत्यादि धातु और उदित धातुओंसे पर वलादि आर्धधातुकको इट्का आगम हो, विकल्पसे।

४५। स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। जुगोपिथ-जुगोप्थ। गोपायिता-गोपिता-गोप्ता। गोपायिष्यति-गोपिष्यति-गोप्स्यति। गोपायतु। अगोपायत्। गोपाय्यात्-गुप्यात्। अगोपायीत्। **नेटि ७।२।४४।** इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न स्यात्। अगोपीत्। अगौप्सीत्। **झलो झलि ८।२।२६।** झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि। अगौप्ताम्। अगौप्सुः। अगौप्सीः। अगौप्तम्। अगौप्त। अगौप्सम्। अगौप्स्व। अगौप्स्म। अगोपायिष्यत्-अगोपिष्यत्-अगोप्स्यत्। क्षि क्षये। क्षयति। चिक्षाय। चिक्षियतुः। चिक्षियुः। 'एकाच' इतीण्निषेधे प्राप्ते—**कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ७।२।१३।** क्रादिभ्य एव लिट इण्न स्यादन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्। **अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१।** उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततस्थल इण्न स्यात्। **उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२।** उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल

अभ्यासककारस्य चुत्वेन चकारे मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे च कृते 'गोपायाञ्चकार' इति आयप्रत्ययाभावे 'जुगोप' इति भवति।

अगोपीत् (ई० २१, २८, ४५, ४९)—गुप्धातोरायप्रत्ययाऽभावपक्षे लुङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे अडागमे च्लौ च्लेः सिचि 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इति विभाषया सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषेधे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'अगोपीत्' इति। इडभावपक्षे 'वदव्रजे'ति वृद्धौ 'अगौप्सीत्' इति।

अगौप्ताम् (ई० ४४, ४६)—गुप्धातोर्लुङि तसि तसस्तामादेशे 'लुङ्लङि'-त्यडागमे मध्ये च्लौ तस्य सिचि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'स्वरतिसूती'ति इडभावपक्षे 'झलो झलि' इति सलोपे 'अगौप्ताम्' इति।

नोट:—स्वरत्यादिसे 'स्वृ शब्दोपतापयोः'—भ्वादि, 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'—अदादि, 'षूङ् प्राणिप्रसवे'—दिवादि और 'धूञ् कम्पने'—स्वादि तथा 'धूञ् कम्पने'—क्र्यादि का भी ग्रहण समझना चाहिये।

नेटि—इडादि 'सिच्' के परे हलन्त लक्षण (वदव्रजहलन्तस्याचः से) वृद्धि नहीं हो। **झलो**—'झल्' से पर (सिच् सम्बन्धी) सकारका लोप हो 'झल्' के परे। **कृसृ**—कृ आदि धातुओंसे पर ही लिट् को इट् नहीं हो, पर क्रादिसे अन्य धातुओंके लिट् को चाहे वह अनिट् भी क्यों न हो, इट् होगा ही। **अचः**—उपदेशावस्था में अजन्त जो धातु वह यदि 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् हो तो उससे पर 'थल'को इट् नहीं हो। **उपदे**—उपदेशमें अकारवान् जो धातु वह यदि तासि प्रत्ययके परे नित्य अनिट् हो तो उससे पर थल्को इट् नहीं हो।

इण् न स्यात्। **ऋतो भारद्वाजस्य ७। २। ६३।** तासौ नित्याऽनिट ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन। तेनाऽन्यस्य स्यादेव। अयमत्र सङ्ग्रहः—अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्। ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्। चिक्षयिथ-चिक्षेथ। चिक्षियथुः। चिक्षिय। चिक्षाय-चिक्षय। चिक्षियिव। चिक्षियिम। क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्। **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७। ४। २५।** अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद्यादौ प्रत्यये परे न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात्। **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७। २। १।** इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदपरे सिचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्। **तप सन्तापे।** तपति। ततापं। तेपतुः। तेपुः। तेपिथ-ततप्थ। तेपिव। तेपिम। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अताप्ताम्। अतप्स्यत्। **क्रमु पादविक्षेपे। वा भ्राश-भ्लाशभ्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः ३। १। ७०।** एभ्यः श्यन्वा स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे शप्। **क्रमः परस्मैपदेषु ७। ३। ३६।** क्रमेर्दीर्घः स्यात्

चिक्षेथ (ई० ४४)—क्षिधातोर्लिटि तत्स्थाने सिपि सिपो थलादेशे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति भारद्वाजमते इटि 'सार्वधातुक' इति गुणे अयादेशे 'चिक्षयिथ' इति। इडभावपक्षे गुणे 'चिक्षेथ' इति।

अक्षैषीत् (ई० ४२, ५१)—क्षिधातोर्लुङि तिपि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे तिप इकारलोपे मध्ये च्लौ तस्य सिचि 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ षत्वे 'अक्षैषीत्' इति।

ऋतो भारद्वाजस्य—'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु उससे पर ही 'थल्' को 'इट्' नहीं हो, भारद्वाजके मतसे (अर्थात् विकल्पसे)। **अजन्तो**—अजन्त (या-पा-वा आदि) अथवा अकारवान् (पचादि) 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट जो धातु उसको 'थल्' में विकल्पसे 'इट्' होता है। तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु वह 'थल्' में नित्याऽनिट् (इट् का नित्य निषेध) होता है। और कृ-सृ-भृ आदि आठ धातुओंसे भिन्न जो अनिट् धातु, वह 'लिट्' में सेट् ही होता है। **अकृत्**—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, यकारादि प्रत्ययके परे, परन्तु यकारादि 'कृत्' और सार्वधातुकके परे दीर्घ नहीं हो। **सिचि**—इगन्त अङ्गको वृद्धि हो, परस्मैपद 'सिच' के परे। **वा भ्राश**—भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट् और लष् धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे, विकल्पसे। **क्रमः**—'क्रम' धातुको दीर्घ हो, परस्मैपद

परस्मैपदे शिति । क्राम्यति–क्रामति । चक्राम । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु–क्रामतु । अक्राम्यत्–अक्रामत् । क्राम्येत्–क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् । पा पाने । **पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्य-च्छ-धौ-शीय-सीदाः ७।३।७८॥** पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । पिबादेशोऽदन्तस्तेन च गुणः । पिबति । **आत औ णलः ७।१।३४।** आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । पपौ । **आतो लोप इटि च ६।४।६४ ॥** अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात् । पपतुः । पपुः । पपिथ–पपाथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् । **एर्लिङि ६।४।६७।** घुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्त्वं स्यादार्धधातुके किति लिङि । पेयात् । गातिस्थेति सिचो लुक् । अपात् । अपाताम् । **आतः ३।४।११०।** सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् स्यात् । **उस्यपदान्तात् ६।१।९६।** अपदान्तादकारादुसि परे पररूपमेकादेशः स्यात् । अपुः । अपास्यत् । **ग्लै** हर्षक्षये । ग्लायति ।

अपुः (ई० ४३)—पाधातोर्लुङि तत्स्थाने झौ 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे मध्ये च्लौ तस्य सिचि इचि गते 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि 'अपा झि' इति स्थिते 'आतः' इति नियमात् झेर्जुसि अनुबन्धलोपे 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'अपुः' इति सिद्धम् ।

'शित्' के परे । **पाघ्राध्मास्था**—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्ययके परे 'पा' आदि धातुओंको यथाक्रम पिबादि आदेश हों । (अर्थात् पाको पिब, घ्राको जिघ्र, ध्माको धम, स्थाको तिष्ठ, म्नाको मन, दाणको यच्छ, दृशको पश्य, ऋको ऋच्छ, सृको धौ, शदको शीय और सदको सीद आदेश हो) **आत औ**—आदन्त धातुसे पर 'णल्' को औकार आदेश हो । **आतो**—अजादि कित्–ङित् आर्धधातुक और 'इट्' के परे अकारका लोप हो । **एर्लि**-घुसंज्ञक धातु तथा मा माने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे और षोऽन्तकर्मणि धातु सम्बन्धी अकारको एत्व हो, आर्धधातुक कित्–लिङ् के परे ।

नोट:—घुसंज्ञकसे 'दाधाघ्वदाप्' से विहित 'घुसंज्ञक' अर्थात् डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे, डुधाञ् धारणपोषणयोः और धेट् पाने का तथा मास्थादिसे माङ् माने, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे और षो अन्तकर्मणि—**इन** धातुओंका ही ग्रहण करना चाहिये ।

आतः—'सिच्' का लुक्' होने पर आदन्त धातुसे पर ही 'झि' को 'जुस्' हो । **उस्य**—अपदान्त अवर्णसे पर 'उस्' के परे-पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।

आदेच उपदेशेऽशिति ६ । १ । ४५ ॥ उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं स्यान्न तु शिति । जग्लौ । ग्लाता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् । **वाऽन्यस्य संयोगादेः ६।४।६८॥** घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्त्वं वा स्यादार्धधातुके किति लिङि । ग्लेयात्-ग्लायात् । **यमरमनमातां सक् च ७।२।७३॥** एषां सक् स्यादेभ्यः सिच इट् स्यात्परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् । **ह्वृ** कौटिल्ये । ह्वरति । **ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१०॥** ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणः स्याल्लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार-जह्वर । जह्वरिव । जह्वरिम । ह्वर्ता । **ऋद्धनोः स्ये ७। २। ७० ॥** ऋतो हन्तेश्च स्यस्येट् स्यात् । ह्वरिष्यति । ह्वरतु । अह्वरत् । ह्वरेत् । **गुणोर्तिसंयोगाद्योः ७ । ४ । २९ ।** अतः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद्यकि यादावार्धधातुके लिङि च । ह्वर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् । **श्रु** श्रवणे । **श्रुवः शृ च ३ । १ । ७४ ।** श्रुवः शृ इत्यादेशः स्यात् श्नुप्रत्ययश्च । शृणोति ।

अग्लासीत् (ई० २८)-ग्लैधातोर्लुङि तिपि अनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे मध्ये च्लौ तस्य सिचि इचि गते 'यमरमनमातां सक् च' इति सकि सिचः सकारस्य इटि च कृते अनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसंज्ञकस्य तस्य ईटि अनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सिचः सकारस्य लोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अग्लासीत्' इति ।

ह्वर्यात् (ई० ३१,५१,५२)-ह्वृधातोराशीर्लिङि तिपि अनुबन्धलोपे यासुटि उटि गते यासुटः कित्वात् 'क्ङिति चे'ति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तगुणनिषेधे 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'ह्वर्यात्' इति ।

आदेच—उपदेशमें एजन्त धातुको आत्त्व हो, 'शित्' भिन्नके परे । **वान्यस्य**—घु-मा-स्थादि धातुओंसे भिन्न संयोगादि आदन्त धातुओंके आकारको विकल्पसे एत्व हो, आर्धधातुक कित् लिङ्के परे । **यम**—यम् , रम् , नम् और आदन्त धातुको 'सक्' हो तथा (एक ही साथ) उससे पर जो 'सिच्' उसको इडागम हो, परस्मैपदके परे । **ऋतश्च**—ऋदन्त संयोगादि अङ्गको गुण हो, लिट्के परे । **ऋद्ध**—'ऋदन्त' धातु तथा 'हन्' धातुसे पर 'स्य' को इट् हो । **गुणो**—'ऋ' धातु और संयोगादि 'ऋदन्त' जो धातु उसको गुण हो 'यक्' के परे तथा यादि आर्धधातुक 'लिङ्' के परे । **श्रुवः शृ**—'श्रु' को 'शृ' आदेश हो

सार्वधातुकमपित् १। २। ४। अपित्सार्वधातुकं ङिद्वत् स्यात् । शृणुतः । हुश्नुवोः सार्वधातुके ६ । ४ । ८७ । जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चाऽसंयोगपूर्वो-वर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि । लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ६ । ४ । १०७। असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययो-कारस्य लोपो वा स्यात् म्वोः परयोः । शृण्वः-शृणुवः । शृण्मः-शृणुमः । शुश्राव शुश्रुवतुः । शुश्रुवुः । शुश्रोथ । शुश्रुवथुः । शुश्रुव । शुश्राव-शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु-शृणुतात् । शृणुताम् । शृण्वन्तु । उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६ । ४ । १०६। असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तादङ्गा-त्परस्य हेर्लुक् स्यात् । शृणु-शृणुतात् । शृणुतम् । शृणुत । गुणाऽवादेशौ । शृणवानि । शृणवाव । शृणवाम । अशृणोत् । अशृणुताम् । अशृण्वन् । अशृणोः । अशृणुतम् । अशृणुत । अशृणवम् । अशृण्व-अशृणुव । अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात् । शृणुयाताम् । शृणुयुः । शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ॥ गम्लृ गतौ ॥ इषुगमियमां छः ७ । ३ । ७७ । एषां छः स्यात्-शिति । गच्छति । जगाम । गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६ । ४ । ९८ । एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ क्ङिति न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ । जग्मथुः ।

शृण्मः (ई० ४४)—श्रुधातोर्लटि तत्स्थाने 'तिप्तस्झि' इत्यादिना मसि 'श्रुवः शृ च' इति श्रुवः 'शृ' इत्यादेशे चकारात् 'श्नु'प्रत्यये च कृते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते शित्वात् सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति श्नोर्ङित्वे 'क्ङिति च'इति गुणनिषेधे 'शृ नु मस्' इति स्थिते णत्वे 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इति उकारलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'शृण्मः' इति । लोपाऽभावे 'शृणुमः' इति च सिद्धं रूपं भवति ।

जग्मतुः (ई० २५,३०,५५)-गम्धातोर्लिटि तसि तसोऽतुसादेशे 'लिटि धातोर-नभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति अभ्यासम-

---

तथा तत्सन्नियोगेन 'श्नु' प्रत्यय भी हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे । **सार्व**—'अपित्' सार्व-धातुक ङित् हो । **हुश्नु**—'हु' धातु तथा श्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच् 'अङ्ग' तदवयव जो असंयोगपूर्वक उवर्ण, उसको 'यण्' हो, अजादि सार्वधातुकके परे । **लोपश्चा**—असंयोग-पूर्वक प्रत्ययके उकारका लोप हो, मकार और वकारके परे विकल्पसे । **उतश्च**—असंयोग पूर्वक प्रत्यय संबन्धी उकारसे पर, 'हि' का लुक् हो । **इषु**—इष् , गम् और यम् धातुओंको छकारान्त आदेश हो, शित्प्रत्ययके परे । **गमहन**—गमादि धातुओंकी उपधाका लोप हो,

जग्म। जगाम-जगम। जग्मिव। जग्मिम। गन्ता। **गमेरिट् परस्मैपदेषु** ७।२।५८। गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्। **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** ३।१।५५। श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्। इति परस्मैपदिनः।

अथात्मनेपदिनः।

एध वृद्धौ। **टित आत्मनेपदानां टेरे** ३।४।७६। टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वं यात्। एधते। **आतो ङितः** ७।२।८१। अतः परस्य ङितामाकारस्य इय् स्यात्। एधेते। एधन्ते। **थासः से** ३।४।८०। टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे। एधेथे। एधध्वे। अतो गुणे। एधे। एधावहे। एधामहे। **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** ३।१।३६। इजादिर्यो धातुर्गुरुमान्-ऋच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि। **आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य** १।३।६३। आम्प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदं स्यात्। **लिटस्तझयोरेशिरेच्** ३।४।८१। लिडादेशयोस्तझयोरेश् इरेजित्येता-

---

कारस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति गस्य कुत्वेन जकारे 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' इत्युपधालोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'जग्मतुः' इति।

अगमत् (ई० २१, ४३, ४८, ५२)—गमधातोर्लुङि तिपि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे 'इतश्चे'ति तिप इकारलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ तस्य सिचि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङादेशे 'अगमत्' इति।

अजादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे। किन्तु 'अङ्' के परे नहीं हो। **गमे**—'गम्' धातुसे पर सादि आर्धधातुकको इट्का आगम हो, परस्मैपदके परे। **पुषा**—श्यन् विकरण पुषादि, द्युतादि तथा लृदित् धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, परस्मैपदके परे। **टित्**—टित् लकारसंबन्धी आत्मनेपदकी 'टि' को एत्व हो। **आतो**—'अत्' से पर 'ङित्' संबन्धी आकारको 'इय्' हो। **थासः**—टित् लकार सम्बन्धी 'थास्' के स्थानमें 'से' आदेश हो। **इजा**—ऋच्छ धातुसे भिन्न इजादि और गुरुमान् धातुसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे। **आम्प्र**—आम्प्रकृतिके तुल्य अनुप्रयुज्यमान 'कृञ्' धातुसे भी आत्मनेपद हो। **लिटः**—लिडादेश 'त' और 'झ' के स्थानमें (यथाक्रम) 'एश्' और 'इरेच' आदेश हों।

वादेशौ स्तः। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे। एधाञ्चक्राथे। **इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्** ८।३।७८। इण्णन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता। एधितारौ। एधितारः। एधितासे। एधितासाथे। **धि च** ८।२।२५। धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः स्यात्। एधिताध्वे। **ह एति** ७।४।५२। तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते। एधिष्येते। एधिष्यन्ते। एधिष्यसे। एधिष्येथे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्यावहे। एधिष्यामहे। **आमेतः** ३।४।९०। लोट एकारस्य आम् स्यात्। एधताम्। एधेताम्। एधन्ताम्। **सवाभ्यां वाऽमौ** ३।४।९१। सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वाऽमौ स्तः। एधस्व। एधेथाम्।

एधाञ्चक्रे (ई० २०, २२, २९, ४२)—एध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि 'एध् आम्' इति स्थिते 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे 'एध् आम् कृ लिट्' इति जाते 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' इत्यात्मनेपदत्वात् लिटः स्थाने तप्रत्यये 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन तस्यैशादेशे 'एधाम् कृ ए' इति स्थिते द्वित्वे प्राप्ते तं परत्वाद्-बाधित्वा यणि प्राप्ते तं 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधे पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्वेन गुणनिषेधे यणि मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे 'एधाञ्चक्रे' इति।

एधाञ्चकृषे (ई० ४४, ४६)— एध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि 'एध् आम्' इति स्थिते 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे 'एध् आम् कृ लिट्' इति जाते लिटः स्थाने थासि द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'एधाम् च कृ थास्' इति भूते 'थासः से' इत्यनेन 'से' इत्यादेशे 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे षत्वे मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'एधाञ्चकृषे' इति।

इणः—इण्णन्त अङ्गसे पर षीध्वं और लुङ्-लिट् संबन्धी धकार को ढकार आदेश हो। **धि च**—धादि प्रत्ययके परे सकारका लोप हो। **ह एति**—'तास' और 'अस्ति' के सकारको हकार आदेश हो 'एति' के परे। **आमे**—लोट् लकार सम्बन्धी एकारको 'आम्' आदेश हो। **सवा**—सकार और वकारसे पर लोट् सम्बन्धी एकार को (यथाक्रम) 'व' और 'अम्'

एधध्वम् । एत ऐ ३ । ४ । ९३ । लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । एधै । एधावहै । एधामहै । आटश्च । ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः । ऐधेथाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि । लिङः सीयुट् ३ । ४ । १०२ ॥ लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादात्मनेपदे । सलोपः । एधेत । एधेयाताम् । झस्य रन् ३ । ४ । १०५ । लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः । एधेयाथाम् । एधेध्वम् । इटोऽत् ३।४।१०६। लिङादेशस्य इटोऽत्स्यात् । एधेय । एधेवहि । एधेमहि । सुट् तिथोः ३ । ४ । १०७ । लिङस्तकारथकारयोः सुट् स्यात् । यलोपः । आर्धधातुकत्वात्सलोपो न । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि ॥ ऐधिष्ट । ऐधिषाताम् । आत्मनेपदेष्वनतः ७ । १ । ५ । अनकारात्परस्यात्मनेपदेषु झस्य अदित्यादेशः स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि ॥ ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि । ऐधिष्यामहि । कमु कान्तौ । कमेर्णिङ् ३ । १ । ३० । कमेर्णिङ् स्यात्स्वार्थे । ङित्त्वात्तङ् । कामयते । अयामन्ता-

---

ऐधिष्ट (ई०२८,४९)—एधधातोर्लुङि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते 'आडजादीनाम्' इत्यादि अनुबन्धलोपे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐध् त' इति स्थिते मध्ये च्लौ तस्य सिचि इचि गते सिचः अर्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'ऐधिस् त' इति दशायाम् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे ष्टुत्वे 'ऐधिष्ट' इति ।

आदेश हो । **एत ऐ**—लोट् लकार संबन्धी उत्तम पुरुषके एकारको ऐकार आदेश हो । **लिङः**—लिङादेशको सीयुट्का आगम हो, आत्मनेपदमें । **झस्य**—लिङ् लकार सम्बन्धी 'झ' को 'रन्' आदेश हो । **इटोऽत**—लिङादेश 'इट्' के स्थानमें 'अत्' आदेश हो । **सुट्**—'लिङ' लकार सम्बन्धी तकार-थकारको 'सुट्' का आगम हो । **आत्मने**—अनकारसे पर आत्मनेपदसम्बन्धी 'झ' को 'अत्' आदेश हो । **कमेर्णि**—'कमु' धातुसे 'णिङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । **अया**—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु के परे 'णि' को अय आदेश हो ।

नोट :—आम्—'कारयामास' । **अन्त**—गण्डयन्तो मण्डयन्तः (तॄभूवहि० इस उणादिसूत्र से 'झच' और 'झोन्तः' से अन्तादेश) ।

आलु—'स्पृहयालुः' ('स्पृहिगृहिपति०' इस सूत्रसे 'आलुच्') **आय्य**—'स्पृहयाय्यः' ('श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्यः' इस उणादिसूत्रसे 'आय्य') । **इत्नु**—'स्तनयित्नुः' (स्तनिहृषिपुषि०' इस उणादि सूत्रसे 'इत्नुच') । **इष्णु**—'वीरुधः पारयिष्णवः' ('णेश्छन्दसि' से

ल्वाय्येत्न्विष्णुषु ६।४।५५। आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु–एषु णेरयादेशः स्यात्। कामयाञ्चक्रे। आयादय इति णिङ् वा। चकमे। चकमाते। चकमिरे। चकमिषे। चकमाथे। चकमिध्वे। चकमे। चकमिवहे। चकमिमहे। कामयिता। कामयितासे। कमिता। कामयिष्यते। कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट। **विभाषेटः** ८।३।७९। इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः स्यात्। कामयिषीढ्वम्–कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट। कमिषीध्वम्। **णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्** ३।१।४८। ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'अ कामि अ त' इति स्थिते—**णेरनिटि** ६।४।५१। अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात्। **णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः** ७।४।१। चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्। **चङि** ६।१।११। चङि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। **सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे** ७।४।९३। चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति। **सन्यतः** ७।४।७९। अभ्यासस्याऽत इत् स्यात् सनि। **दीर्घो लघोः** ७।४।९४। लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भाव-विषये। अचीकमत। णिङभावपक्षे–***कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः**। अचकमत।

अचीकमत (ई० २७,४२,४५,४८,५५)—कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लुङि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुब-न्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि अनुब-न्धलोपे 'अकामि अ त' इति स्थिते 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'

'इष्णुच्')—इस प्रकार उदाहरण समझना चाहिये। **विभा**—इण्से पर जो इट् उससे पर जो षीध्वं या लुङ्-लिट् सम्बन्धी धकार उसको ढकार हो, विकल्प से। **णिश्रि**—ण्यन्त धातु तथा 'श्रि-द्रु-स्रु' धातुओंसे पर 'च्लि' को 'चङ्' आदेश हो, कर्त्रर्थक 'लुङ्' के परे। **णेर**—अनिडादि आर्धधातुकके परे 'णि' का लोप हो। **णौ**—'चङ्'परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्ग' उसकी उपधाको ह्रस्व हो। **चङि**—'चङ्' परमें रहने पर अभ्यासभिन्न धातुके प्रथमावयव एकाच् को द्वित्व होता है और अनादिके द्वितीय एकाच्को द्वित्व होता है। **सन्व**—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्ग' तदवयव जो लघुपरक अभ्यास उसको सन्वद्भाव हो—'णि' के परे यदि 'अक्' का लोप नहीं हुआ हो तो। **सन्य**—अभ्यास सम्बन्धी 'अत' को 'इत्व' हो, 'सन्' के परे। **दीर्घो**—अभ्या-सावयव लघुको दीर्घ हो, सन्वद्भावके विषयमें। **कमेः**—'कम्' धातु सम्बन्धी 'च्लि' को

अकामयिष्यत-अकमिष्यत । अय गतौ । अयते । उपसर्गस्याऽयतौ ८। २। १९। अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात् । प्लायते । पलायते । दयायासश्च ३ । १ । ३७ । दय् अय् आस् एभ्य आम् स्याल्लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अयताम् । आयत । अयेत । अयिषीष्ट । विभाषेटः । अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम् । आयिष्ट । आयिढ्वम्—आयिध्वम् । आयिष्यत । द्युत दीप्तौ । द्योतते । द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७ । ४ । ६७ । अनयोरभ्यासस्य संप्रसारणं स्यात् । दिद्युते । द्युद्भ्यो लुङि १ । ३ । ९१ । द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात् । पुषादीत्यङ् । अद्युतत्-अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवम्-श्विता वर्णे । ञिमिदा स्नेहने । ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । ञिक्ष्विदा चेत्येके । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च । घुट परिवर्त्तने । शुभ दीप्तौ । क्षुभ सञ्चलने । णभ तुभ हिंसायाम् । स्रंसु भ्रंसु अवस्रंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु विश्वासे । वृतु वर्त्तने । वर्तते । ववृते । वर्तिता । वृद्भ्यः स्यसनोः १ । ३ । ९२ । वृतादिभ्यः पञ्चभ्यः परस्मैपदं वा स्यात्स्ये सनि च । न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः

इति प्रत्ययलक्षणेन णेश्चङ्परत्वादुपधाया ह्रस्वत्वे 'चङि' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इत्यभ्याससम्बन्धिनो मस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासकवर्गस्य चुत्वे 'अचकमत' इति भूते 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अचीकमत' इति ।

अद्युतत् (ई० ४२,४३,५६)—द्युत्धातोर्लुङि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'द्युद्भ्यो लुङि' इति विभाषया परस्मैपदसंज्ञकतिपि अनुबन्धलोपे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङि अनुबन्धलोपे 'अद्युत् अ ति' इति स्थिते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे ङित्वात् गुणनिषेधे 'अद्युतत्' इति पक्षे 'अद्योतिष्ट' इति ।

'चङ्' हो—ऐसा कहना चाहिये । **उपस**—अय-धातुपरक उपसर्ग सम्बन्धी रेफको लत्व हो । **दया**—दय्-अय् और आस् धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो 'लिट्' के परे । **द्युति**—'द्युत्' धातु और णिजन्त 'स्वप्' के अभ्यासको सम्प्रसारण हो । **द्युद्भ्यो**—द्युतादिसे परस्मैपद हो, लुङ् के परे विकल्पसे । **वृद्भ्यः**—वृतादि (वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दू-कृपू) पाँच धातुओंसे परस्मैपद हो, 'स्य' तथा 'सन्' के परे, विकल्पसे । **न वृ**—वृतादि चार धातुओंसे पर सादि आर्धधातुकको 'इट्' नहीं हो, 'तङ्' और 'आन्' के अभावमें ।

७।२।५६। वृतुवृधुशृधुस्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे। वर्त्स्यति-वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत। वर्तिषीष्ट। अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्-अवर्तिष्यत। दद दाने। ददते। न शसददवादिगुणानाम् ६।४।१२६। शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन विहितश्च योऽकारस्तस्य एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः। ददे। ददाते। दददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत। त्रपूष् लज्जायाम्। त्रपते। तॄफलभजत्रपश्च ६।४।१२२। एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता-त्रप्ता। त्रपिष्यते-त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट-त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट-अत्रप्त। अत्रपिष्यत-अत्रप्स्यत। इत्यात्मनेपदिनः।

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम्। श्रयति-श्रयते। शिश्राय-शिश्रिये। श्रयितासे। श्रयिष्यते। श्रयतु-श्रयताम्। अश्रयत्-अश्रयत। श्रयेत्-श्रयेत। श्रीयात्-श्रयिषीष्ट। चङ्। अशिश्रियत्-अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्-अश्रयिष्यत। भृञ् भरणे। भरति-भरते। बभार। बभ्रतुः। बभ्रुः। बभर्थ। बभृव। बभृम। बभ्रे। बभृषे। भर्तासि-भर्तासे। भरिष्यति-भरिष्यते। भरतु भरताम्। अभरत्-अभरत। भरेत्-भरेत। रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८। शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङादेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्या-

---

वर्त्स्यति (ई० ४२,५२,५७)—वृत्धातोर्लृटि 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति विभाषया परस्मैपदे तिपि अनुबन्धलोपे 'स्यतासीलृलुटोः' इति स्यप्रत्यये स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इति निषेधे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे रपरे 'वर्त्स्यति' इति। पक्षे 'वर्तिष्यते' इति।

अशिश्रियत्—श्रिधातोर्लुङि तिपि अडागमे अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'चङि' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति अभ्याससम्बन्धिनो रेफस्य लोपे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अशिश्रियत्' इति।

न शस्—शस्, दद् तथा वकारादि धातुओंको एवं गुण शब्दसे विहित अकारको एत्वाभ्यास लोप नहीं हो। तॄफ—'तॄ-फल-भज-त्रप' इन धातुओंको एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् सेट् थल्के परे। रिङ्—शकार, यक् एवं यकारादि आर्धधातुक लिङ् परमें हो तो ऋकारको रिङ् आदेश हो।

दीर्घो न । भ्रियात् । उश्च १ । २ । १२ । ऋवर्णात्परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि । भृषीष्ट । भृषीयास्ताम् । भृषीरन् । अभार्षीत् । अभार्ष्टाम् । अभार्षुः । अभार्षीः । अभार्ष्टम् । अभार्ष्ट । अभार्षम् । अभार्ष्व । अभार्ष्म । ह्रस्वादङ्गात् ८ । २ । २७ । सिचो लोपः स्याज्झलि । अभृत । अभृषाताम् । अभरिष्यत्-अभरिष्यत । हृञ् हरणे । हरति-हरते । जहार । जह्रे । जहर्थ । जह्रिव । जह्रिम । जह्रिषे । हर्तासि-हर्तासे । हरिष्यति-हरिष्यते । हरतु-हरताम् । अहरत्-अहरत । हरेत्-हरेत । ह्रियात् । हृषीष्ट । हृषीयास्ताम् । अहार्षीत्-अहृत । अहरिष्यत्-अहरिष्यत । धृञ् धारणे । धरति-धरते । णिञ् प्रापणे । नयति-नयते । डुपचष् पाके । पचति-पचते । पपाच । पेचिथ-पपक्थ । पक्तासि-पक्तासे । भज सेवायाम् । भजति-भजते । बभाज-भेजे । भक्तासि-भक्तासे । भक्ष्यति-भक्ष्यते । अभाक्षीत्-अभक्त । अभक्षाताम् । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । यजति-यजते । लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६ । १ । १७ । वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्याल्लिटि । इयाज । वचिस्वपियजादीनां

जहार (ई० २५)—हृधातोर्लिटि तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यभ्यासरेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्याससम्बन्धिनो हस्य चुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जश्त्वे 'जहृ अ' इति स्थिते 'अचोञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे 'जहार' इति सिद्धम् ।

अभाक्षीत् (ई० ४२)—भज्धातोर्लुङि तिपि अडागमे च्लौ सिचि इटि गते सिचः सस्यार्धधातुकत्वादिटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति तन्निषेधे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे तकारस्याापृक्तत्वात् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ जकारस्य कुत्वे चर्त्वे षत्वे 'अभाक्षीत्' इति ।

इयाज (ई० ४१)—'यज्' धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातो-

---

उश्च—ऋवर्णसे पर जो झलादि 'लिङ्' और आत्मनेपदपरक झलादि 'सिच्' वह कित् हो । **ह्रस्वा**—ह्रस्वान्त अङ्गसे पर 'सिच्' का लोप हो, 'झल्' के परे । **लिट्य**—वच्यादि और ग्रह्यादि धातुओंके अभ्यासको संप्रसारण हो, 'लिट्' के परे ।

नोट :—वच्यादिसे वचि, स्वपि और यजादि नवों का एवं ग्रह्यादिसे 'ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-व्यष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जति' का ग्रहण समझना चाहिए । यजादि नव यथा—

'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसि-वेञ्-व्येञ् इत्यपि ।
ह्वेञ्-वदी-श्वयतिश्चैव यजाद्या स्युरिमे नव' । इति ।

वचि—वचि-स्वपि और यजादि को सम्प्रसारण हो, 'कित्' के परे ।

किति ६ । १ । १५ । वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ–इयष्ठ । ईजे । यष्टा । षढोः कः सि ८ । २। ४१। षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे । यक्ष्यति–यक्ष्यते । इज्यात्–यक्षीष्ट । अयाक्षीत्–अयष्ट । वह प्रापणे । वहति–वहते । उवाह । ऊहतुः । ऊहुः । उवहिथ । झषस्तथोर्धोऽधः ८। २। ४०। झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः । ढो ढे लोपः ८ । ३ । १३ । ढस्य लोपः स्याड्ढे परे । सहिवहोरोदवर्णस्य ६ । ३ । ११२ अनयोरवर्णस्य ओत्स्याड्ढलोपे । उवोढ । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः । अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ । अवक्षाताम् । अवक्षत । अवोढाः । अवक्षाथाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि । अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि । इति तिङन्ते भ्वादयः ।

रनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यनेन अभ्यासयकारस्य लोपे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणेन इकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'इयाज' इति ।

उवोढ (ई० २२, ४३)—वह्धातोर्लिटि सिपि थलि अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति अभ्याससम्बन्धिहकारस्य लोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ष्टुत्वेन ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति ढलोपे 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इत्यकारस्य ओत्वे 'उवोढ' इति ।

आवाक्षीत् (ई० ४३, ४६)—वह्धातोर्लुङि तिपि अडागमे अनुबन्धलोपे च्लौ सिचि इचि गते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'षढोः कः सि' इति ढस्य कत्वे सिचः सस्य षत्वे 'अवाक्षीत्' इति रूपं भवति । आत्मनेपदे 'अवोढ' इति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां भ्वादिप्रकरणम् ।

षढोः—ष और ढ को क हो, सकारके परे । झषस्तथोः—'झष्' से पर 'त' और 'थ' को 'ध' हो, परन्तु 'दधाति' को नहीं हो । ढो ढे लोपः—ढकारका लोप हो, ढकारके परे । सहि—'सह' और 'वह' धातुके अवर्णको 'ओत्' हो, ढलोप होने पर ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भ्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ अदादिप्रकरणम्

अद् भक्षणे । अदिप्रभृतिभ्यः शपः २ । ४ । ७२ । एभ्यः परस्य शपो लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्मि । अद्वः । अद्मः । लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४०। अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि । जघास । उपधा-लोपः । शासिवसिघसीनां च ८।३।६०। इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात् । घस्य चर्त्वम् । जक्षतुः । जक्षुः । जघसिथ । जक्षथुः । जक्ष । जघास-जघस । जक्षिव । जक्षिम । आद । आदतुः । आदुः । इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ७। २। ६६। अद् ऋ व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात् । आदिथ । अत्ता । अत्स्यति । अत्तु-अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु । हुझल्भ्यो हेर्धिः ६। ४। १०१। होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि-अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि । अदाव । अदाम । अदः सर्वेषाम् ७। ३।१००। अदःपरस्याऽपृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात्सर्वमतेन । आदत् । आत्ताम् । आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त । आदम् । आद्व । आद्म । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्यास्ताम् । अद्यासुः । लुङ्सनोर्घस्लृ २।४।३७। अदो घस्लृ

जघास (ई० २२,४१)—अद्धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटय-न्यतरस्याम्' इति अदो 'घस्लृ' आदेशे अनुबन्धलोपे 'घस् अ' इति स्थिते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति अभ्याससकारस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति घस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'अत उपधायाः' इति घकाराकारस्य वृद्धौ 'जघास' इति, घस्लादेशाऽभावपक्षे 'आद' इति भवति ।

जक्षतुः (ई० २०, ४३)—अद्धातोर्लिटि तसि तसोऽतुसि 'लिटयन्य-तरस्याम्' इति अदो 'घस्लृ' आदेशे अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हला-दिशेषे 'कुहोश्चुः' इति घस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'गमहनजनखन-घसां लोपः क्ङित्यनङि' इति उपधाऽकारस्य लोपे 'खरि च' इति घस्य चर्त्वे 'शासिवसिघसीनां च' इति सस्य षत्वे अतुसः सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'जक्षतुः' इति ।

अदिप्रभृतिभ्यः—अदादि गणपठित धातुओंसे पर 'शप्' का लुक् (लोप) हो। **लिट्य**—'अद्' को 'घस्लृ' आदेश हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे । **शासि**—इण्-कवर्गसे पर 'शास्' 'वस्' और 'घस्' धातुसंबन्धी सकारको षकार आदेश हो । **इडत्य**—अद्, ऋ और व्येञ् धातुओंसे पर थल्को नित्य इट्का आगम हो । **हुझ**—'हु' धातु और झलन्त धातुओंसे पर 'हि' को 'धि' आदेश हो । **अदः**—'अद्' धातुसे पर अपृक्त सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, सभी आचार्योंके मतसे । **लुङ्**—'अद्' धातुको 'घस्लृ' आदेश हो, 'लुङ्' और

स्याल्लुङि सनि च । लुदित्वादङ् । अवसत् । आत्स्यत् । हन हिंसागत्योः । हन्ति । **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७।** अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ किति ङिति परे । यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु वनु मनु तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ । हन्मि । हन्वः । हन्मः । जघान । जघ्नतुः । जघ्नुः । **अभ्यासाच्च ७।३।५५ ।** अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् । जघनिथ-जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान-जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता । हनिष्यति । हन्तु-हतात् । हताम् । घ्नन्तु । **हन्तेर्जः ६।४।३६।** हन्तेर्जादेशः स्याद्धौ परे । **असिद्धवदत्राभात् ६।४।२२।** इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम् । समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् । इति जस्याऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक् । जहि-हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् । अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् । हन्याताम् । हन्युः । **आर्धधातुके २।४।३५ ।** इत्यधिकृत्य । **हनो वध लिङि २।४।४२। लुङि च २।४।४३।** हनो वधादेशः स्याल्लिङि लुङि च । वधादेशोऽदन्तः । आर्धधातुके इति विषयसप्तमी तेन आर्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो

जघनिथ (ई० २९, ३५)—हन्धातोर्लिटः सिपि थलि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यभ्यासनकारस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे भारद्वाजनियमादिड्विकल्पे 'अभ्यासाच्च' इति हस्य कुत्वेन घत्वे 'जघनिथ' इति । इडभावे 'जघन्थ' इति ।

जहि (ई० २२,२८,२९,५७)—हन्धातोर्लोटि तत्स्थाने सिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः हौ 'हन् हि' इति जाते 'हन्तेर्जः' इति हनः स्थाने जादेशे 'जहि' इति । अत्र जादेशे कृते हेर्लुक् तु न भवति, 'असिद्धवदत्राभात्' इति जादेशस्यासिद्धत्वात् ।

'सन्' के परे । **अनु**—अनुनासिकान्त जा अनुदात्तोपदेश और तनोत्यादि (तनु विस्तारे आदि) धातु तथा 'वन्' धातु, इनके अनुनासिकका लोप हो, झलादि कित् ङित्के परे । **अभ्या**—अभ्यास से पर 'हन्' धातुके हकारको कुत्व हो । **हन्ते**-'हन्' धातुको 'ज' आदेश हो 'हि' के परे । **असि**—समानाश्रय 'आभीय' कार्य कर्तव्य हो तो कृतसमानाश्रय आभीयशास्त्र असिद्ध हो । (इस सूत्रसे लेकर षष्ठाध्यायके चतुर्थ पादको समाप्ति पर्यन्त 'आभीय' कहलाता है) **आर्ध**—यह अधिकारसूत्र है । **हनो वध लिङि, लुङि च**—हन् धातुको 'वध' आदेश हो, लिङ् और

लोपः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । आदेशस्यानेकाच्त्वादेकाच इतीण्निषेधाऽभावादिट् । अतो हलादेरिति वृद्धौ प्राप्तायाम्—**अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** १ । १ । ५७ । परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इत्यल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेनोपधात्वाऽभावान्न वृद्धिः—अवधीत् । अहनिष्यत् । यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः । **उतो वृद्धिर्लुकि हलि** ७ । ३ । ८९ । लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात् पिति हलादौ सार्वधातुके, नत्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युथः । युथ । यौमि । युवः । युमः । युवाव । यविता । यविष्यति । यौतु । युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युयात् । इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्नेति व्याख्यानात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः । यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयातात् । **लङः शाकटायनस्यैव** ३ । ४ । १११ । आदन्तात्परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात् । अयुः । अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् । वा गतिगन्धनयोः । भा दीप्तौ । ष्णा शौचे । श्रा पाके । द्रा कुत्सायां, गतौ । प्सा भक्षणे । रा दाने । ला आदाने । दाप् लवने । पा रक्षणे । ख्या प्रक-

---

अवधीत् (ई० ४८)—हन्धातोर्लुङि 'लुङि च' इति हनो वधादेशे लुङः स्थाने तिपि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इचि गते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्ततकारस्य ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्लोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अवधीत्' इति ।

अयुः (ई०५६)—याधातोर्लङि तत्स्थाने झौ सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसि 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अयुः' इति । जुसोऽभावे झस्यान्तादेशे इकारलोपे तलोपे च कृते सवर्णदीर्घे 'अयान्' इति ।

लुक्के परे । **अचः**—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो, स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्टको यदि विधि (कार्य) कर्त्तव्य हो । **उतो**—लुक्के विषयमें (ह्रस्व) उकारको वृद्धि हो, हलादि पित् सार्वधातुकके परे—अभ्यस्तसंज्ञक धातुको छोड़कर । **लङः**—आदन्त धातुसे पर

थने। अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः। विद ज्ञाने। **विदो लटो वा ३।४।८३।** वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद। विदतुः। विदुः। वेत्थ। विदथुः। विद। वेद। विद्व। विद्म। पक्षे—वेत्ति। वित्तः। विदन्ति। **उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।३८।** एभ्यो लिटि आम्वा स्यात्। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः। विदाञ्चकार-विवेद। वेदिता। वेदिष्यति। **विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३।१।४१।** वेत्तेर्लोटि आम, गुणाऽभावो, लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते। **तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९।** तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। विदाङ्करोतु। अत उत्सा-

---

विदाञ्चकार (ई० ४८)—विद्धातोर्लिटि 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' इत्यामि आमः आर्धधातुकत्वेऽपि विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात् लघूपधगुणाऽभावे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे 'विदाम् कृ लिट्' इति स्थिते लिटः स्थाने तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इति अभ्यासरेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासककारस्य चुत्वेन चकारे 'अचोञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे मकारस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'विदाञ्चकार' इति। आमोऽभावपक्षे 'विवेद' इति।

विदाङ्करोतु (ई० ३३, ४५)—विद्धातोर्लोटि 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति आमि गुणाऽभावे लोटो लुकि लोट्परककृञोऽनुप्रयोगे च निपातिते 'विदाम् कृ लोट्' इति स्थिते लोटः स्थाने तिपि तिपः सार्वधातुकत्वात् शपि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरत्वे च विहिते तिपो निमित्तमादाय पुनः उकारस्य गुणे 'एरुः' इति तिप इकारस्य उत्वे मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'विदाङ्करोतु' इति। तातङि पक्षे 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककाराकारस्य उत्वे 'विदाङ्कुरुतात्' इति। पक्षे 'वेत्तु' इति।

'लङ्' संबन्धी 'झि' को जुस् हो विकल्पसे। **विदो**—'विद' धातुसे पर 'लट्' सम्बन्धी परस्मैपदको णलादि आदेश हो, विकल्पसे। **उष**—उष्, विद् और जागृ धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे। **विदा**—'लोट्' के परे—'विद' धातुसे 'आम्' गुणका अभाव और 'लोट्' का लुक् एवं लोडन्त कृधातुका अनुप्रयोग निपातन हो, विकल्पसे। **तना**—तनादिगण-पठित धातु और 'कृञ्' धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे। **अत**—उप्रत्ययान्त कृञ् धातुके 'अत्' को 'उत्' आदेश हो, सार्वधातुक कित्-ङित्के

र्वधातुके ६।४।११०। उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उत्स्यात्सार्वधातुके क्ङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् । विदाङ्कुर्वन्तु । विदाङ्कुरु । विदाङ्करवाणि । अवेत् । अवित्ताम् । अविदुः । दश्च ८।२।७५। धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा स्यात् । अवेः-अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् । विद्यास्ताम् । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । अस् भुवि । अस्ति । श्नसोरल्लोपः ६।४।१११। श्नस्याऽस्तेश्चाऽतो लोपः स्यात्सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः । उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ८।३।८७। उपसर्गेणः प्रादुसश्चाऽस्तेः सस्य षः स्याद्यकारेऽचि च परे । निष्यात् । प्रनिषन्ति । प्रादुःषन्ति । यच्परः किम् ? अभिस्तः । अस्तेर्भूः २।४।५२। अस्तेर्भू इत्यादेशः स्यादार्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु-स्तात् । स्ताम् । सन्तु । घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९। घोरस्तेश्च एत्वं स्याद्धौ परे अभ्यासलोपश्च । एत्वस्यासिद्धत्वाद्धेर्धिः । श्नसोरित्यल्लोपः । तातङ्पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात् । एधि-स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव । असाम । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् । इण गतौ । एति । इतः । इणो यण् ६।४।८१। इणो यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । यन्ति । अभ्यासस्याऽसवर्णे ६।४।७८। अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि ।

निष्यात्—'नि' उपसर्गात् 'अस्' धातोर्लिङि तिपि यासुटि 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' इति धातोः सस्य षत्वे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'निष्यात्' इति ।

एधि (ई० ५६)—अस्धातोर्लोटि सिपि सिपो हेरादेशे 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति सस्य एत्वे एत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धौ 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'एधि' इति । तातङ्पक्षे परेण तातङा बाधादेत्वाऽभावे 'स्तात्' इति भवति ।

परे । दश्च—धातुके पदान्त दकारको 'रुत्व' हो, सिप् के परे, विकल्पसे । श्नसो—'श्नम्' प्रत्यय और 'अस्' धातुके अकारका लोप हो, सार्वधातुक कित्-ङित्के परे । उपस—उपसर्ग संबन्धी 'इण्' से पर और 'प्रादुस्' (सान्त अव्यय) से पर 'अस्' धातुके सकारको षकार हो, यकार और अच्के परे । अस्ते—'अस्' धातुको 'भू' आदेश हो, आर्धधातुकके परे । घ्वसो—घुसंज्ञक धातु और 'अस्' धातुको 'एत्व' और अभ्यासका लोप हो, 'हि' के परे । इणो—इण् धातुको यण् हो, अजादि प्रत्ययके परे । अभ्या—अभ्यास सम्बन्धी इवर्ण-उवर्णको

इयाय । दीर्घ इणः किति ७ । ४ । ६९ । इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात्किति लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ-इयेथ । एता । एष्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आयन् । इयात् । ईयात् । एतेर्लिङि ७ । ४ । २४ । उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अभीयात् । अणः किम् ? समेयात् । इणो गा लुङि २ । ४ । ४५ । इणो गादेशः स्याल्लुङि । गातिस्थेति सिचो लुक् । अगात् । ऐष्यत् ।

अथ आत्मनेपदिनः ।

शीङ् स्वप्ने । शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१। शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके । क्ङिति चेत्यस्यापवादः । शेते । शयाते । शीङो रुट् ७ । १ । ६ । शीङः परस्य झादेशस्याऽतो रुडागमः स्यात् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे । शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शिश्याते । शिश्यिरे । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । शयाताम् । अशेत । अशयाताम् । अशेरत । शयीत । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत । इङ् अध्ययने । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते । गाङ् लिटि २ । ४ । ४९ । इङो गाङ् स्याल्लिटि । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । अध्येता ।

ईयतुः—इण्धातोर्लिटि तसि तसोऽतुसि द्वित्वे अभ्यासत्वे 'इणो यण्' इति यणि 'दीर्घ इणः किति' इत्यभ्यासस्य दीर्घे रुत्वे विसर्गे 'ईयतुः' इति ।

अशयिष्ट (ई० ३७, ४६)—शीङ्धातोर्लुङि आत्मनेपदे ते 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे च्लौ च्लेः सिचि इचि गते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अयादेशे सिचः सस्य षत्वे ष्टुत्वे 'अशयिष्ट' इति ।

अधिजगे (१९४२)—अधिपूर्वक'इङ्'धातोर्लिटि 'गाङ् लिटि' इति इङो गाङादेशे लिटः स्थाने ते तस्य एशि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'अधिजगे' इति ।

इयङ्-उवङ् आदेश हो, असवर्ण 'अच्' के परे । दीर्घ—'इण्' धातुके अभ्यासको दीर्घ हो, कित् लिट्के परे । एतेर्लि—उपसर्गसे पर 'इण्' धातुके 'अण्' को ह्रस्व हो, आर्धधातुक कित्-लिङ्के परे । उभय—उभयतः आश्रयणमें अन्तादिवद्भाव नहीं हो । इणो—'इङ्' को 'गा' आदेश हो लुङ् के परे । शीङः—'शीङ्' धातुको गुण हो, सार्वधातुकके परे । शीङो—'शीङ् से पर झ् देश 'अत्'को 'रुट्'का आगम हो । गाङ्—इङ् को 'गाङ्' आदेश हो 'लिट्' के परे ।

अध्येष्यते। अधीताम्। अधीयाताम्। अधीयताम्। अधीष्व। अधीयाथाम्। अधीध्वम्। अध्ययै। अध्ययावहै। अध्ययामहै। अध्यैत। अध्यैयाताम्। अध्यैयत अध्यैथाः। अध्यैयाथाम्। अध्यैध्वम्। अध्यैयि। अध्यैवहि। अध्यैमहि। अधीयीत। अधीयीयाताम्। अधीयीरन्। अध्येषीष्ट। **विभाषा लुङ्लृङोः २।४।५०।** इङो गाङ् वा स्यात्। **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् १।२।१।** गाङादेशात्कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६।** एषामात ईत्स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट—अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत—अध्यैष्यत। इत्यात्मनेपदिनः।

अथोभयपदिनः।

दुह प्रपूरणे। दोग्धि। दुग्धः। दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे। दुहाते। दुहते। धुक्षे। दुहाथे। धुग्ध्वे। दुहे। दुह्वहे। दुह्महे। दुदोह-दुदुहे। दोग्धासि-दोग्धासे। धोक्ष्यति—धोक्ष्यते। दोग्धु-दुग्धात्। दुग्धाम्। दुहन्तु। दोग्धि-दुग्धात्। दुग्धम्। दुग्ध। दोहानि। दोहाव। दोहाम। दुग्धाम्। दुहाताम्। दुहताम्। धुक्ष्व। दुहाथाम्। धुग्ध्वम्। दोहै। दोहावहै। दोहामहै। अधोक्। अदुग्धाम्। अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध। अदुहाताम्। अदुहत। अधुग्ध्वम्।

अध्यगीष्ट (ई० ४०, ५०)—अधिपूर्वकादिङ्धातोर्लुङि तप्रत्यये 'विभाषा लुङ्लृङोः' इति इङो गाङादेशे 'लुङ् लङ्' इत्यडागमे च्लौ च्लेः सिचि इत्वि गते 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इति सिचो ङित्वे 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति आकारस्य ईत्वे यणि षत्वे ष्टुत्वे 'अध्यगीष्ट' इति। 'गाङोऽभावे 'अध्यैष्ट' इति।

दुग्धः (ई० ५२) दुह्धातोर्लटि तत्स्थाने तसि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति घस्य जश्त्वेन गत्वे तसः अपित्वेन ङित्वात् 'क्ङिति चे'ति गुणनिषेधे सस्य रुत्वे विसर्गे 'दुग्धः' इति।

अधोक् दुह्धातोर्लङस्तिपि अनुबन्धलोपे शपो लुकि अङ्गस्याडागमे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति

विभाषा 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश हो, लुङ्-लङ्के परे, विकल्पसे। **गाङ्**—'इङ्' स्थानिक 'गाङ्' और कुटादिसे पर ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय 'ङित्' हो। **घुमा**—घुसंज्ञक धातु तथा मा, स्था, गा, पा, हा और 'षो' धातुके आकारको 'ईत्व' हो, हलादि कित्-ङित् आर्ध-

दुह्यात्–दुहीत । **लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११।** इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि । धुक्षीष्ट । **शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५।** इगुपधो यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात् । अधुक्षत् । **लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७। ३। ७३।** एषां क्सस्य लुग्वा स्याद्दन्त्ये तङि । अदुग्ध–अधुक्षत । **क्सस्याचि ७।३।७२।** अजादौ तङि क्सस्य लोपः स्यात् । अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अदुग्धाः–अधुक्षथाः । अधुक्षाथाम् । अधुग्ध्वम्–अधुक्षध्वम् । अधुक्षि । अदुह्वहि–अधुक्षावहि । अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत । एवं–दिह उपचये । **लिह् आस्वादने ।** लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते । लिहते । लिक्षे । लिहाथे । लीढ्वे । लिलेह–लिलिहे । लेढासि–लेढासे । लेक्ष्यति–लेक्ष्यते । लेढु–लीढात् । लीढाम् । लिहन्तु । लीढि । लेहानि । लीढाम् । अलेट्–अलेड् । अलिक्षत् । अलीढ–अलिक्षत । अलेक्ष्यत् । अलेक्ष्यत । **ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ।**

तलोपे 'अदोह्' इति जाते 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति दस्य धत्वे घस्य जश्त्वे तस्य चर्त्वेन ककारे 'अधोक्' इति ।

धुक्षीष्ट (ई० २४)—दुह्धातोराशीर्लिङि तत्स्थाने ते 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि अनुबन्धलोपे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति कित्त्वाद् गुणाऽभावे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो' इति भष्भावेन दस्य धत्वे घस्य जश्त्वे चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'धुक्षीत' इति 'सुट् तिथोः', इति सुटि अनुबन्धलोपे सस्य ष्टुत्वे च कृते 'धुक्षीष्ट' ।

अधुक्षत (ई० २८)—दुह्धातोर्लुङि तिपि अडागमे मध्ये च्लौ तस्य 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति क्सादेशे 'इतश्च' इति इकारलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशः' इति दस्य धत्वे घस्य जश्त्वे चर्त्वे सस्य षत्वे 'अधुक्षत्' इति ।

अधुक्षाताम् (ई० ३१)—दुह्धातोर्लुङि आतामि अडागमे च्लौ तस्य क्सादेशे 'क्सस्याचि' इत्यनेन 'अलोन्त्यस्ये'ति सहकारात् सस्याकारस्य लोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचः' इत्यनेन दस्य भष्भावेन धत्वे 'खरि च' इत्यनेन घस्य चर्त्वे सस्य षत्वे 'अधुक्षाताम्' इति ।

धातुकके परे । **लिङ्सिचा**—इक् समीप हल्से पर झलादि लिङ् और आत्मनेपद परक झलादि सिच्, कित हो । **शल**—इगुपध शलन्त धातुसे पर अनिट् 'च्लि' को 'क्स' आदेश हो । **लुग्वा**—दुहादि धातुसे पर 'क्स' का 'लुक्' हो, दन्त्य तङ्के परे विकल्पसे । **क्सस्याचि**—'क्स' (क्सके 'अ') का लोप हो, अजादि 'तङ्' के परे ।

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४। ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाऽऽहादेशः । आह । आहतुः । आहुः । **आहस्थः** ८।२।३५। आहस्थकारादेशः स्यात् झलि परे । चर्त्वम् । आत्थ । आहथुः । **ब्रुव ईट्** ७।३।९३। ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते । **ब्रुवो वचिः** २।४।५३। आर्धधातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचुः । उवचिथ उवक्थ । ऊचे । वक्ता । वक्तासि-वक्तासे । वक्ष्यति-वक्ष्यते । ब्रवीतु-ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रुवन्तु । ब्रूहि । ब्रवाणि । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्रवीत् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रवीत । उच्यात् । वक्षीष्ट । **अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्** ३। १। ५२। एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् । **वच उम्** ७ । ४ । २० । वच उमागमः स्यादङि परे । अवोचत्-अवोचत । अवक्ष्यत्-अवक्ष्यत । (ग० सू०) **चर्करीतञ्च** । चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, तददादौ बोध्यम् । **ऊर्णुञ् आच्छादने** । **ऊर्णोतेर्विभाषा** ७ । ३ । ९० । ऊर्णोतेर्वा वृद्धिः स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके । ऊर्णौति-ऊर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णुवन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णुवाते । ऊर्णुवते । **ऊर्णोते-**

आह—ब्रूधातोर्लटि तिपि शपि शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इति तिपो णलि ब्रुवः आहादेशे च कृते अनुबन्धलोपे 'आह' इति सिद्धम् ।

उवचिथ—ब्रूधातोर्लिटः सिपि सिपस्थलादेशे 'ब्रुवो वचिः' इति ब्रुवो वचादेशे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे भारद्वाजनियमाद् विभाषया इटि 'उवचिथ' इति । इडभावपक्षे 'चोः कुः' इति कुत्वे 'उवक्थ' इति ।

अवोचत् (ई० २७,४३,५४)–ब्रुवो लुङि तिपि अडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरङि 'ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'वच उम्' इति उमि 'आद्गुणः' इति गुणे 'अवोचत्' इति ।

ब्रुवः—'ब्रू' धातुसे पर लट्लकार संबन्धी तिबादि पाँचको णलादि आदेश हो, विकल्पसे और 'ब्रू' को 'आह' आदेश भी हो । **आहः**—'आह्'को थकारान्त आदेश हो, 'झल्'के परे । **ब्रुव**—'ब्रू' धातुसे पर हलादि 'पित्'को 'ईट्'का आगम हो । **ब्रुवो**—'ब्रू' को वचादेश हो, आर्धधातुकके परे । **अस्यति**—अस्, वच् और ख्या धातुओंसे पर च्लिको अङ् आदेश हो । **वच**—वच्को उम्का आगम हो, अङ् प्रत्ययके परे । **चर्क**-'चर्करीतम्' इस यङ्लुगन्त धातुओंको भी अदादिमें समझना । **ऊर्णो**—'ऊर्णु' धातुको वृद्धि हो, हलादि पित् सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । **ऊर्णो**—'ऊर्णु' धातुको 'आम्' नहीं हो, 'लिट्'के परे ।

रान्नेति वाच्यम् । नन्द्राः संयोगादयः ६।१।३। अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति । नुशब्दस्य द्वित्वम् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः । विभाषोर्णोः १ । २ । ३ । इडादिप्रत्ययो वा ङित्स्यात् । ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ । ऊर्णुविता-ऊर्णविता । ऊर्णुविष्यति-ऊर्णविष्यति । ऊर्णौतु-ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै । गुणोऽपृक्ते ७।३।९१। ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति । सार्वधातुके । वृद्ध्यपवादः । और्णोत् । और्णोः । ऊर्णुयात् । ऊर्णुयाः । ऊर्णुवीत् । ऊर्णूयात् । ऊर्णुविषीष्ट

नुशब्दस्य—अत्र धातौ 'नु' शब्द एव 'णु' इति श्रूयते । तदुक्तं—नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु । सकारजश्शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः' इति । अयमर्थः—धात्ववयवझलि परे कुत्रचिद् अनुस्वारः कुत्रचित् पञ्चमो वर्णः (ङ् ञ् ण् न् म्) दृश्यते, तौ द्वावपि नकारजौ (यथा-स्रंसु, भ्रंसु, ध्वंसु, इत्यादिषु अनुस्वारः । अङ्क, अञ्च, लुण्ठ, मन्थ, तृम्फ, इत्यादिषु पञ्चमो वर्णश्च) चकारे परे यः शकारः दृश्यते स श्चुत्वनिष्पन्नः सकारजः (यथा ओव्रश्चू , इत्यादौ) रेफषकाराभ्यां परः यः टवर्गः दृश्यते स णत्वष्टुत्वनिष्पन्नः तवर्गजः (यथा 'ऊर्णु, ष्टा, इत्यादौ) ।

ऊर्णुनाव—ऊर्णुधातोर्लिटस्तिपि तिपो णलि 'ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्' इति निषेधे 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति 'णु' शब्दस्य द्वित्वे प्राप्ते 'नन्द्राः संयोगादयः' इति रेफस्य द्वित्वाऽभावे णत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'नु' शब्दस्य द्वित्वे 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति प्रथमनकारस्य णत्वे 'अचोऽञ्णिति' इति वृद्धौ, आवि 'ऊर्णुनाव' इति ।

ऊर्णुविषीष्ट (ई० २१)—ऊर्णुधातोराशीर्लिङस्तप्रत्यये सीयुटि लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'विभाषोर्णोः' इति इटो ङित्वाऽभावपक्षे गुणे अवादेशे 'सुट्तिथोः' इति तस्य सुटि षत्वे ष्टुत्वे 'ऊर्णविषीष्ट' इति । इटो ङित्वाद् गुणाऽभावपक्षे उवङि 'ऊर्णुविषीष्ट' इति ।

और्णावीत्—ऊर्णुधातोर्लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे 'आडजादीनाम्' इत्याटि 'आटश्च' इति वृद्धौ मध्ये च्लौ च्लेः सिचि इचि गते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति सिचः सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसंज्ञकस्य तस्य ईटि अनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सलोपे 'विभाषोर्णोः' इति इटो

नन्द्राः—'अच'से पर संयोगादि नकार, दकार और रेफको द्वित्व नहीं हो ।
विभा—'ऊर्णु' धातुसे पर इडादि प्रत्यय 'ङित्' हो, विकल्पसे ।
गुणो—'ऊर्णु' धातुको गुण हो, अपृक्तसंज्ञक हलादि 'पित्' सार्वधातुकके परे ।

ऊर्णविषीष्ट । ऊर्णोतेर्विभाषा ७ । २ । ६ । इडादौ सिचि परस्मैपदे परे वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णावीत्-और्णुवीत्-और्णवीत् । और्णाविष्टाम्-और्णुविष्टाम्-और्णविष्टाम् । और्णाविष्ट-और्णुविष्ट-और्णविष्ट । और्णुविष्यत् । और्णविष्यत् । और्णुविष्यत-और्णविष्यत ॥ इत्यदादिप्रकरणम् ॥

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानादनयोः । जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २ । ४ । ७५ । एभ्यः परस्य शपः श्लुः स्यात् । श्लौ ६ । १ । १० । धातोर्द्वे स्तः । जुहोति । जुहुतः । अदभ्यस्तात् ७ । १ । ४ । अभ्यस्तात्परस्य झस्यात्स्यात् । हुश्नुवोरिति यण् । जुह्वति । भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च ३ । १ । ३९ । एभ्यो लिट्याम्वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च । जुहवाञ्चकार-जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु-जुहुतात् । जुहुताम् । जुह्वतु । जुहुधि ।

ङित्वाद् गुणाऽभावे उवङि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'और्णुवीत्' इति । ङित्वाऽभावपक्षे गुणं बाधित्वा 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति विभाषया वृद्धौ आवादेशे 'और्णावीत्' इति । वृद्ध्यभावपक्षे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'और्णवीत्' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायामदादिप्रकरणम् ।

जुहवाञ्चकार—हुधातोर्लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति लिटः पाक्षिके आमि श्लुवद्भावे च विहिते द्वित्वे अभ्यासत्वे चुत्वेन हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे गुणेऽवादेशे 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपो णलि द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'जुहवाञ्चकार' इति । आमोऽभावपक्षे 'जुहाव' इति ।

ऊर्णो—ऊर्णु धातुको वृद्धि हो, इडादि परस्मैपद परक 'सिच्' के परे, विकल्पसे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीका में अदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

जुहो—जुहोत्यादि गणपठित धातुओं से विहित 'शप्' का 'श्लु' (लोप) हो । श्लौ—धातु को द्वित्व हो 'श्लु' के परे (श्लुके विषयमें) । भीह्री—भी, ह्री, भृ और 'हु' धातुसे 'लिट्' के परे विकल्पसे 'आम्' प्रत्यय हो और 'आम्' के परे, 'श्लु' की तरह द्वित्वादि कार्य भी हो ।

जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् । **जुसि च ७ । ३ । ८३ ।** इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यादजादौ जुसि । अजुहवुः । जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् । (ञिभी भये । बिभेति । **भियोऽन्यतरस्याम् ६ । ४ । ११५ ।** इकारो वा स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके । बिभितः-बिभीतः बिभ्यति । बिभयाञ्चकार—बिभाय । भेता । भेष्यति । बिभेतु । बिभितात्-बिभीतात् । अबिभेत् । बिभीयात्-बिभियात् । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् । ह्री लज्जायाम् । जिह्रेति । जिह्रीतः । जिह्रियति । जिह्रयाञ्चकार । जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । अजिह्रेत् । जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् । पॄ पालनपूरणयोः । **अर्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७।** अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ । पिपर्ति । **उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२।** अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात् । **हलि च ८ । २ । ७७ ।** रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि । पिपूर्तः । पिपुरति । पपार । **शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२।** एषां लिटि ह्रस्वो वा स्यात् । पप्रतुः । **ऋच्छत्यॄताम् ७ । ४ । ११ ।** तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोॠतां च गुणः स्याल्लिटि । पपरतुः । पपरुः ।

बिभितात् (ई० ३३)—भियो लोटि तिपि अनुबन्धलोपे शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बत्वे 'एरुः' इति तिप इकारस्य उत्वे तातङि अनुबन्धलोपे 'भियोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन ईकारस्य इकारे 'बिभितात्' इति विकल्पपक्षे 'बिभीतात्' इति । तातङभावपक्षे गुणे 'बिभेतु' इति ।

पिपूर्तः (ई० २४,५४)—पॄधातोर्लटस्तसि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इकारान्तादेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'पि पॄ तस्' इति स्थिते 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति धातोरुपधायाः दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'पिपूर्तः' इति सिद्धम् ।

पप्रतुः (ई० ४०, ४८)—पॄधातोर्लिटस्तसि तसोऽतुसि 'लिटि धातोरनभ्या-

---

जुसि—इगन्त अंगको गुण हो 'अजादि जुस्'के परे । **भियो**—'भी' धातुको 'ह्रस्व' हो, हलादि कित्-ङित् सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । **अर्ति**—अर्त्ति पदे ऋ धातु और पिपर्त्ति पदे 'पॄ' धातुके अभ्यासको 'इत्व' हो, 'श्लु'के विषयमें । **उदोष्ठ्य**—अङ्गावयव ओष्ठ्य पूर्वक ॠदन्त अंगको 'उत्' आदेश हो । **हलि**—रेफान्त और वान्त धातु संबन्धी उपधा 'इक्'को दीर्घ हो 'हल्'के परे । **शॄदॄ**—'शॄ-दॄ-पॄ' धातुको ह्रस्व हो, कित्-लिट्के परे, विकल्पसे । **ऋच्छ**—तुदादिके 'ऋच्छ' धातु, 'ऋ' धातु और दीर्घ ॠकारान्त धातुको गुण हो, लिट्' के परे ।

वॄतो वा ७।२।३८। वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि । परीता-परिता । परीष्यति-परिष्यति । पिपर्तु । अपिपः । अपिपूर्ताम् । अपिपरुः । पिपूर्यात् । पूर्यात् । अपारीत् । सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०। अत्रेटो न दीर्घः । अपारिष्टाम् । अपरीष्यत्-अपरिष्यत् ॥ ओहाक् त्यागे । जहाति । जहातेश्च ६।४।११६ । इत्स्याद्वा हलादौ क्ङिति सार्वधातुके । जहितः । ई हल्यघोः ६।४।११३। श्नाभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि नतु घोः । जहीतः । श्नाभ्यस्तयोरातः ६।४।११२ । अनयोरातो लोपः स्यात् क्ङिति सार्वधातुके । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहातु-जहितात्-जहीतात् । आ च हौ ६।४।११७ । जहातेर्हौ परे आ स्याच्चादिदीतौ । जहाहि-जहिहि-जहीहि । अजहात् । अजहुः । लोपो यि ६।४।११८। जहातेरालोपः स्याद्यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । एर्लिङि । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् ।

अथात्मनेपदिनः ।

माङ् माने शब्दे च ॥ भृञामित् ७।४।७६। भृञ् माङ् ओहाङ् एषां

सस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वे अत्वे रपरत्वे अभ्यासलोपे 'शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा' इति वैकल्पिके ह्रस्वे यणि सस्य रुत्वे विसर्गे 'पप्रतुः' इति । ह्रस्वाऽभावपक्षे 'ऋच्छत्यॄताम्' इति गुणे रपरे च विहिते 'पपरतुः' इति ।

जहाहि (ई० २७,३७,४३,५५)—'ओहाक् त्यागे' अस्माद्धातोर्लोटः स्थाने सिपि 'सेर्ह्यपिच्च' इति सिपः स्थाने 'हि' इत्यादेशे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्याचो ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासहकारस्य कुत्वेन झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'आच हौ' इति आत्वपक्षे 'जहाहि' इति, इत्वपक्षे 'जहिहि' इति, ईत्वपक्षे 'जहीहि' इति ।

वॄतो—'वृङ्' धातु, 'वृञ्' धातु और दीर्घ ॠदन्त धातुसे पर 'इट्'को दीर्घ हो, विकल्पसे, पर 'लिट्'के परे नहीं हो । सिचि—परस्मैपद 'सिच्'के परे 'वॄतो वा' से विहित 'इट्'का दीर्घ नहीं हो । जहा—'हा' धातुको 'इत्व' हो, हलादि 'कित्-ङित्' के परे, विकल्पसे । ईह—'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक आकारको 'ईत्व' हो, हलादि 'कित्-ङित्' सार्वधातुकके परे । श्नाभ्यः—श्ना प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातुके आकारका लोप हो, कित् ङित् सार्वधातुकके परे । आ च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'आत्व' हो, चकारात् 'इत्व' और 'ईत्व' भी हो । लोपो—'हा' धातुके आकारका लोप हो, यकारादि सार्वधातुकके परे । भृञा—'भृञ, माङ् और ओहाङ् धातु सम्बन्धी अभ्यासको 'इत्व' हो, 'श्लु'के विषयमें ।

त्रयाणामभ्यासस्य इत् स्यात् श्लौ । मिमीते । मिमाते । मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त । अमास्यत । ओहाङ् गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते । जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत ।

अथोभयपदिनः ।

डुभृञ् धारणपोषणयोः । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार-बभार । बभर्थ । बभृव । बिभराञ्चक्रे-बभ्रे । भर्तासि—भर्तासे । भरिष्यति-भरिष्यते । बिभर्तु । बिभराणि । बिभृताम् । अबिभः । अबिभृताम् । अबिभरुः । अबिभृत । बिभृयात्-बिभ्रीत । भ्रियात्-भृषीष्ट । अभार्षीत्-अभृत । अभरिष्यत्-अभरिष्यत । डुदाञ् दाने । ददाति । दत्तः । ददति । दत्ते । ददाते । ददते । ददौ-ददे । दातासि-दातासे । दास्यति । दास्यते । ददातु । दाधा घ्वदाप् १। १। २०। दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञकाः

मिमीते—(ई० ३९) 'माङ्' धातोर्लटस्ते टेरेत्वे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'भृञामित्' इति अभ्यासस्य इत्वे 'ई हल्यघोः' इति धातोराकारस्य ईत्वे 'मिमीते' इति ।

बिभ्रति (ई० ४३)—भृञ्धातोर्लटः झौ सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ द्वित्वे अभ्यासत्वे 'भृञामित्' इति अभ्यासस्य इत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इति अभ्यासरेफस्य लोपे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बत्वे 'उभे अभ्यस्तम्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्य अति यणि 'बिभ्रति' इति ।

भ्रियात् (ई० ४४, ४७)—भृधातोराशीर्लिङि तिपि इपावितौ यासुटि उटि गते 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति ऋकारस्य रिङादेशे 'रिङ्' विधानसामर्थ्यात् 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घाऽभावे 'भ्रियात्' इति ।

भृषीष्ट (ई० ४३)—'डुभृञ् इति धातोरात्मनेपदे आशीर्लिङस्ते 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटि गते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटि गते 'भृ सी स् त' इति स्थिते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इट्निषेधे 'उश्च' इति कित्वाद् गुणाऽभावे सकारस्य षत्वे ष्टुत्वे 'भृषीष्ट' इति सिद्धम् ।

दाधा—'दा' रूप तथा 'धा' रूप धातुओं की घुसंज्ञा हो, 'दाप्' 'दैप्' को छोड़कर ।

स्युर्दाप्दैपौ विना । घ्वसोरित्येत्त्वम् । देहि । दत्तम् । अददात्-अदत्त । दद्यात्-ददीत । देयात्-दासीष्ट । अदात् । अदाताम् । अदुः । **स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७।** अनयोरिदन्तादेशः स्यात् सिच्च कित्स्यादात्मनेपदे । अदित । अदास्यत्-अदास्यत । डुधाञ् धारणपोषणयोः । दधाति । **दधस्तथोश्च ८।२।३८।** द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्तथोः स्ध्वोश्च परतः । धत्तः । दधति । दधासि । धत्थः । धत्थ । धत्ते । दधाते । दधते । धत्से । धद्ध्वे । **घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ।** धेहि । अदधात् । अधत्त । दध्यात् । दधीत । धेयात् । धासीष्ट । अधात् । अधित । अधास्यत् । अधास्यत । **णिजिर् शौचपोषणयोः । ॐइर इत्संज्ञा वाच्या । णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५।** णिज्विज्विषामभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ । नेनेक्ति । नेनिक्तः । नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज । निनिजे । नेक्ता । नेक्ष्यति । नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्धि । **नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७।** अभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके लघूपधगुणो न स्यात् । नेनिजानि । नेनिक्ताम् । अनेनेक् । अनेनिक्ताम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् ।

देहि (ई० ४७, ५०)—दाधातोर्लोटः स्थाने सिपि तस्य हौ 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायां शपः श्लौ द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे च कृते 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'देहि' इति सिद्धम् ।

अदित (ई० ३४)—दाधातोरात्मनेपदे लुङस्तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे च्लौ च्लेः सिचि इचि गते 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायां 'स्थाघ्वोरिच्च' इति इदन्तादेशे सिचः कित्वे च कृते कित्वाद्गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचः सस्य लोपे 'अदित'इति ।

धेहि (ई० ५१)—धाञ्धातोर्लोटः सिपि 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हित्वे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासाकारस्य ह्रस्वे 'दाधाघ्वदाप्' इति घुत्वे 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वे अभ्यासलोपे च कृते 'धेहि' इति सिद्धम् ।

नेनिजानि (ई० ४१, ४९, ५६)—'णिजिर् शौचपोषणयोः' इत्यस्माद्धातोर्लोटि

स्था—'स्था' धातु और घुसंज्ञक धातुको इदन्तादेश हो और धातुसे पर जो 'सिच्' वह 'कित्' हो आत्मनेपदके परे । **दधस्त**—द्विरुक्त (कृतद्वित्व) झषन्त 'धाञ्' धातुके 'बश्' को भष्भाव हो, तकार, थकार, सकार और 'ध्व'के परे । **इर**-'इर्' की इत्संज्ञा कहनी चाहिये । **निजां**—निज्, विज् और विष् धातुके अभ्यासको 'गुण' हो, श्लुके विषयमें । **नाभ्य**—अभ्यस्तसंज्ञक

नेनिजीत। निज्यात्। निक्षीष्ट। इरितो वा ३।१।५७। इरितो धातोश्च्लेरङ् वा स्यात्परस्मैपदेषु। अनिजत्। अनैक्षीत्। अनिक्त। अनेक्ष्यत्। अनेक्ष्यत।

॥ इति जुहोत्यादयः॥

अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। **दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९।** एभ्यः श्यन् स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। शपोऽपवादः। हलि चेति दीर्घः। दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवं षिवु तन्तुसन्ताने। नृती गात्रविक्षेपे। नृत्यति। ननर्त। नर्तिता। **सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ७।२।५७।** एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड्वा स्यात्। नर्तिष्यति-नर्त्स्यति। नृत्यतु। अनृत्यत्। नृत्येत्। नृत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्-अनर्त्स्य-

---

'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति वार्तिकेन इर इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'णो नः' इति धातोर्णस्य नत्वे 'निज् लोट्' इति स्थिते लोटः स्थाने मिपि 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्यादि अनुबन्धलोपे 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणे 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति गुणनिषेधे 'नेनिजानि' इति।

इति 'इन्दुमती' टीकायां जुहोत्यादिप्रकरणम्।

नर्तिष्यति, नर्त्स्यति (ई० २१,२२)—नृत्धातोर्लृटस्तिपि 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये सेऽसिचि इति इटि 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे रपरत्वे सस्य षत्वे 'नर्तिष्यति' इति। इडभावे 'नर्त्स्यति' इति।

धातुको 'लघूपध' गुण नहीं हो, अजादि 'पित्' सार्वधातुकके परे। **इरितो वा**—इरित्संज्ञक धातुसे पर च्लिको अङ् हो, परस्मैपदके परे विकल्पसे।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें जुहोत्यादिप्रकरण समाप्त हुआ।

दिवा—दिवादिगणपठित धातुओं से 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे। **सेऽसि**—कृत-चृत-छृद-तृद-नृत धातुओं से पर 'सिच्' भिन्न सकारादि आर्धधातुकको

त्। त्रसी उद्वेगे। वा भ्राशेति श्यन्वा। त्रस्यति-त्रसति। तत्रास। **वा जॄभ्रमुत्रसाम्** ६।४।१२४। एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः। त्रेसतुः-तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे। **ओतः श्यनि** ७।३।७१। लोपः स्यात्। श्यनि। श्यति। श्यतः। श्यन्ति। शशौ। शशतुः। शाता। शास्यति। **विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः** २।४।७८। एभ्यः सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशाताम्। अशुः। इट्सकौ। अशासीत्। अशासिष्टाम्। छो छेदने। छ्यति। षोऽन्तकर्मणि। स्यति। ससौ। सेयात्। असात्। असासीत्। दो अवखण्डने। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने। **ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च** ६।१।१६। एषां सम्प्रसारणं स्यात्किति ङिति च। विध्यति। विव्याध। विविधतुः। विविधुः। विव्यधिथ-विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्।

पुष्टौ। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादीत्यङ्। अपुषत्। शुष शोषणे। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने। नश्यति। ननाश। नेशतुः। **रधादिभ्यश्च** ७।२।४५। रध् नश् तृप् दृप् द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह् एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट्। नेशिथ। **मस्जिनशोर्झलि** ७।१।६०। नुम् स्यात्। ननंष्ठ।

ससौ (ई० २८)—'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्माद्धातोर्लिटि 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे लिटस्तिपि तिपो णलि 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे वृद्धौ 'ससौ' इति।

ननंष्ठ—'णश् अदर्शने' इत्यस्माद्धातोर्लिटः सिपि सिपस्थलि 'णो नः' इति धातोर्णस्य नत्वे 'लिटि धातोरि'ति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'रधादिभ्यश्च' इति इटि 'थलि च सेटि' इति एत्वे अभ्यासलोपे च कृते 'नेशिथ' इति इडभावपक्षे,

---

'इट्' का आगम हो, विकल्पसे। **वा जॄ**—जॄ, भ्रम् और त्रस् धातुको एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् और सेट्थलके परे, विकल्पसे। **ओतः**—ओकारका लोप हो, 'श्यन्'के परे। **विभाषा**—'घ्रा' धातु, 'धेट्' धातु, 'शो' धातु, 'छो' धातुओंसे पर सिच्का लुक् हो, परस्मैपदके परे, विकल्पसे। **ग्रहिज्या**—ग्रह, ज्या, व्यध्, वष्टि, विच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् धातुओंको सम्प्रसारण हो, कित्, ङित् के परे। **रधादि**—रधादि धातुओंसे वलादि आर्धधातुकको इट् हो, विकल्पसे। **मस्जि**—मस्जि और नश् धातुको नुम हो, 'झल्'के परे।

नेनिजीत । निज्यात् । निक्षीष्ट । इरितो वा ३ । १ । ५७ । इरितो धातोश्च्लेरङ् वा स्यात्परस्मैपदेषु । अनिजत् । अनैक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत ।

॥ इति जुहोत्यादयः ॥

अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । दिवादिभ्यः श्यन् ३ । १ । ६९ । एभ्यः श्यन् स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । हलि चेति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं षिवु तन्तुसन्ताने । नृती गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त । नर्तिता । सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ७ । २ । ५७ । एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड्वा स्यात् । नर्तिष्यति-नर्त्स्यति । नृत्यतु । अनृत्यत् । नृत्येत् । नृत्यात् । अनर्तीत् । अनर्तिष्यत्-अनर्त्स्य-

---

'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति वार्तिकेन इर इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'णो नः' इति धातोर्णस्य नत्वे 'निज् लोट्' इति स्थिते लोटः स्थाने मिपि 'मेर्निः' इति मेर्न्यादेशे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्यादि अनुबन्धलोपे 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणे 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति गुणनिषेधे 'नेनिजानि' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां जुहोत्यादिप्रकरणम् ।

नर्तिष्यति, नर्त्स्यति (ई० २१,२३)—नृत्धातोर्लृटस्तिपि 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये सेऽसिचि इति इटि 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे रपरत्वे सस्य षत्वे 'नर्तिष्यति' इति । इडभावे 'नर्त्स्यति' इति ।

धातुको 'लघूपध' गुण नहीं हो, अजादि 'पित्' सार्वधातुकके परे । **इरितो वा**—इरित्संज्ञक धातुसे पर च्लिको अङ् हो, परस्मैपदके परे विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें जुहोत्यादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

दिवा—दिवादिगणपठित धातुओं से 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे । **सेऽसि**—कृत-चृत-छृद-तृद-नृत धातुओं से पर 'सिच्' भिन्न सकारादि आर्धधातुकको

त्। त्रसी उद्वेगे। वा भ्राशेति श्यन्वा। त्रस्यति-त्रसति। तत्रास। **वा जॄभ्रमुत्रसाम्** ६।४।१२४। एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः। त्रेसतुः-तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे। **ओतः श्यनि** ७।३।७१। लोपः स्यात्। श्यनि। श्यति। श्यतः। श्यन्ति। शशौ। शशतुः। शाता। शास्यति। **विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः** २।४।७८। एभ्यः सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशाताम्। अशुः। इट्सकौ। अशासीत्। अशासिष्टाम्। छो छेदने। छ्यति। षोऽन्तकर्मणि। स्यति। ससौ। सेयात्। असात्। असासीत्। दो अवखण्डने। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने। **ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च** ६।१।१६। एषां सम्प्रसारणं स्यात्किति ङिति च। विध्यति। विव्याध। विविधतुः। विविधुः। विव्यधिथ-विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्।

पुष पुष्टौ। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादीत्यङ्। अपुषत्। शुष शोषणे। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने। नश्यति। ननाश। नेशतुः। **रधादिभ्यश्च** ७।२।४५। रध् नश् तृप् दृप् द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह् एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट्। नेशिथ। **मस्जिनशोर्झलि** ७।१।६०। नुम्। स्यात्। ननंष्ठ।

ससौ (ई० २८)—'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्माद्धातोर्लिटि 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे लिटस्तिपि तिपो णलि 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे वृद्धौ 'ससौ' इति।

ननंष्ठ—'णश् अदर्शने' इत्यस्माद्धातोर्लिटः सिपि सिपस्थलि 'णो नः' इति धातोर्णस्य नत्वे 'लिटि धातोरि'ति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'रधादिभ्यश्च' इति इटि 'थलि च सेटि' इति एत्वे अभ्यासलोपे च कृते 'नेशिथ' इति इडभावपक्षे,

---

'इट्' का आगम हो, विकल्पसे। **वा जॄ**—जॄ, भ्रम् और त्रस् धातुको एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् और सेट्थलके परे, विकल्पसे। **ओतः**—ओकारका लोप हो, 'श्यन्'के परे। **विभाषा**—'घ्रा' धातु, 'धेट्' धातु, 'शो' धातु, 'छो' धातुओंसे पर सिच्का लुक् हो, परस्मैपदके परे, विकल्पसे। **ग्रहिज्या**—ग्रह, ज्या, व्यध्, वष्टि, विच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् धातुओंको सम्प्रसारण हो, कित्, ङित् के परे। **रधादि**—रधादि धातुओंसे वलादि आर्धधातुकको इट् हो, विकल्पसे। **मस्जि**—मस्जि और नश् धातुको नुम हो, 'झल्'के परे।

नेशिव-नेश्व । नेशिम-नेश्म । नशिता-नंष्टा । नशिष्यति-नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् । नश्येत् । नश्यात् । अनशत् ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः ।

षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । क्रादिनियमादिट् । सुषुविषे । सुषुविवहे । सुषुविमहे । सविता-सोता । दूङ् परितापे । दूयते । दीङ् क्षये । दीयते । दीङो युडचि क्ङिति ६।४।६३। दीङः परस्याऽजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट् स्यात् । ❋वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ । दिदीये । मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ६ । १ । ५० । एषामात्वं स्याल्ल्यपि, चादशित्येज्निमित्ते । दाता । दास्यति । ❋स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः । अदास्त । डीङ् विहायसा गतौ । डीयते । डिड्ये । डयिता । पीङ् पाने । पीयते । पेता । अपेष्ट । माङ् माने । मायते । ममे । जनी प्रादुर्भावे । ज्ञाजनोर्जा ७ । ३ । ७९ । अनयोर्जादेशः स्याच्छिति । जायते । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते । दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३।१।६१। एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे । चिणो लुक् ६ । ४।१०४। चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात् । जनिवध्योश्च ७ । ३ । ३५। अन-

---

'मस्जिनशोर्झलि' इति नुमि 'व्रश्चभ्रस्ज' इति षत्वे ष्टुत्वे नस्यानुस्वारे 'ननंष्ठ' इति ।

दिदीये (ई० २४)—'दीङ् धातोर्लिटि आत्मनेपदे ते 'लिटि धातोरि'त्ति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य एशि 'दीङो युडचि क्ङिति' इत्यसिद्धत्वात् 'एरनेकाचः' इति परत्वाद् यणि प्राप्ते 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' इति वार्तिकेनासिद्धत्वाऽभावात् युटि 'दिदीये' इति ।

अदास्त (ई० २४,४५,५३)—'दीङ् धातोर्लुङि आत्मनेपदे ते अडागमे च्लौ च्लेः सिचि 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इत्यनेन आत्वे 'दाधाघ्वदाप्' इति घुसंज्ञायां

दीङो—'दीङ्' धातुसे पर अजादि कित्-ङित् आर्धधातुकको 'युट्' का आगम हो । वुग्यु—उवङ् और यण् कर्त्तव्यमें वुक् तथा युट्का आगम सिद्ध ही रहे (असिद्ध न हो) । मीनाति—मीनाति (मीङ् हिंसायाम्), मिनोति (डुमिञ् प्रक्षेपणे) और 'दीङ्' धातुको आत्व हो, 'ल्यप्'के परे । चकारात्-एज्निमित्तक अशित् प्रत्ययके विषयमें । स्थाघ्वोः—'स्थाघ्वोरिच्च' सूत्रसे विहित इत्व 'दीङ्' धातुको नहीं हो । ज्ञाज—'ज्ञा' धातु और 'जन्' धातुको 'जा' आदेश हो, शित् प्रत्ययके परे । दीप—दीपादि धातुओंसे पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे, विकल्पसे । चिणो-'चिण्'से पर 'त' शब्दका लुक् (लोप) हो । जनि—'जन्' और 'वध'की उपधाको वृद्धि नहीं हो, 'चिण्'के परे और

योऽपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति किति च। अजनि-अजनिष्ट। दीपी दीप्तौ। दीप्यते। दिदीपे। अदीपि-अदीपिष्ट। पद गतौ। पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्सीष्ट। **चिण् ते पदः** ३।१।६०। पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे। अपादि। अपत्सताताम्। अपत्सत। **विद** सत्तायाम्। विद्यते। वेत्ता। अवित्त। **बुध** अवगमने। बुध्यते। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सीष्ट। अबोधि-अबुद्ध। अभुत्साताम्। **युध** सम्प्रहारे। युयुधे। योद्धा। अयुद्ध। **सृज** विसर्गे। सृज्यते। ससृजे। ससृजिषे। **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** ६।१।५८। अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। स्रष्टा। स्रक्ष्यते। सृक्षीष्ट। असृष्ट। असृक्षाताम्। अथोभयपदिनः।

मृष तितिक्षायाम्। मृष्यति-मृष्यते। ममर्ष। ममर्षिथ। ममृषिषे। मर्षितासि। मर्षितासे। मर्षिष्यति-मर्षिष्यते। **णह** बन्धने। नह्यति। नह्यते। ननाह। नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्-अनद्ध।

॥ इति दिवादिप्रकरणम् ॥

'स्थाघ्वोरिच्च' इति इत्वे प्राप्ते 'स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः' इति तन्निषेधे अदास्त इति।

अजनि—(ई० ४१, ५५)—'जनधातोर्लुङ्स्तादेशे अडागमे च्लौ 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' इति विभाषया च्लेश्चिणि 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'जनिवध्योश्च' इति निषेधे 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अजनि' इति चिणोऽभावपक्षे च्लेः सिचि इटि षत्वे ष्टुत्वे 'अजनिष्ट' इति।

अपादि (ई० ३७,४२, ५०)—'पद् गतौ' इति धातोर्लुङ्स्तादेशे अटि अनुबन्धलोपे च्लौ 'चिण् ते पदः' इति च्लेश्चिणि अनुबन्धलोपे 'चिणो लुक्' इति चिणः परस्य तशब्दस्य लुकि 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'अपादि' इति सिद्धम्।

असृष्ट—(ई० २७)—'सृज् विसर्गे' अस्माद्धातोर्लुङ्स्तादेशे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे च्लौ च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति। सिचः कित्वाद्गुणाऽभावे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इत्यस्याप्यप्राप्ते 'झलो झलि' इति सिचः सस्य लोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज' इति षत्वे ष्टुत्वे 'असृष्ट' इति सिद्धम्।

ञित्-णित्-कितके परे। **चिण्**-'पद्' धातुसे पर 'च्लि'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे। **सृजि**—सृज् और दृश् धातुको अम्का आगम हो, झलादि अकित्के परे।

इति 'इन्दुमती' टीकायां दिवादिप्रकरणम्।

अथ स्वादिप्रकरणम्

षुञ् अभिषवे । स्वादिभ्यः श्नुः ३ । १ । ७३ । स्वादिभ्यः श्नुः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । सुनोति सुनुतः । हुश्नुवोरिति यण् । सुन्वन्ति । सुन्वः-सुनुवः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुन्वहे-सुनुवहे । सुषाव । सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि । सुनवै । सुनुयात् । सूयात् । स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७।२।७२। एभ्यस्सिच इट् स्यात्परस्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट । चिञ् चयने । चिनोति । चिनुते । विभाषा ७ । ३ । ५८ । अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात्सनि लिटि च । चिकाय—चिचाय । चिक्ये-चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट । स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते । शर्पूर्वाः खयः ७। ४। ६१। अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्तेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । गुणोर्तीति गुणः । स्तर्यात् । ऋतश्च संयोगादेः ७।२।४३। ऋदन्तात्संयोगादेः परयो लिङ्सिचोरिड्वा स्यात्तङि । स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट—अस्तृत । धूञ् कम्पने । धुनोति । धुनुते । दुधाव । स्वरतीति वेट् । दुधविथ-दुधोथ । अधुक्षः

असावीत् (ई० ४५,५०)—'षुञ्' धातोर्लुङि लुङस्तिपि तिप इकारलोपे 'धात्वादेः ष सः' इति सत्वे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे च्लौ च्लेः सिचि 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति सिचः सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन तिपस्तकारस्य ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे 'असावीत्' इति । आत्मनेपदे गुणे षत्वे ष्टुत्वे 'असोष्ट' इति ।

अचैषीत् (ई० ५२) चिधातोर्लुङि तिपि अडागमे तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि सस्य इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईटि 'सिचि वृद्धिः' इति वृद्धौ सस्य षत्वे 'अचैषीत्' इति ।

दुधविथ (ई० ३७)—'धूञ् धातोर्लिटः सिपि थलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'दु धू थ' इति स्थिते 'स्वरतिसूति' इति वेटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'दुधविथ' इति । इडभावे गुणे 'दुधोथ इति ।

स्वादि—स्वादि-गणपठित धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे । **स्तुसु**—'स्तु-सु-धू' इन धातुओंसे पर 'सिच्' को इट् हो, परस्मैपदके परे । **विभा**—अभ्याससे पर 'चि' धातु संबन्धी चकारको कुत्व हो, सन् और लिट् के परे, विकल्पसे । **शर्पूर्वा**—अभ्यासके शर् पूर्वक खय्का शेष हो और अन्य हल्का लोप हो । **ऋतश्च**—संयोगादि ऋदन्त धातुसे पर 'लिङ्' और 'सिच्'को इडागम हो, 'तङ्'के परे, विकल्पसे ।

क्ङिति ७।२।११। श्रिन एकाच उगन्ताच्च गित्किनोरिण् न स्यात् । परमपि स्वरत्या-दिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात्प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनि-यमान्नित्यमिट् । दुधुविव । दुधुवे । अधावीत् । अधविष्ट-अधोष्ट । अधविष्यत्-अधोष्यत् । अधविष्यताम्-अधोष्यताम । अधविष्यत-अधोष्यत ॥

॥ इति स्वादिप्रकरणम् ॥

अथ तुदादिप्रकरणम्

अथोभयपदिनः ।

तुद व्यथने । तुदादिभ्यः शः ३। १। ७७। तुदादिभ्यः शः स्यात्कर्त्रर्थे सार्व-धातुके परे । शपोऽपवादः । तुदति । तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत् । अतुत्त । णुद प्रेरणे । नुदति । नुदते । नुनोद । नोत्ता । भ्रस्ज पाके । ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन शः । शस्य जश्त्वेन जः । भृज्जति । भृज्जते । भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ६। ४। ४७। भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके । मित्वादन्त्यादचः परः । स्थानषष्ठीनिर्देशा-द्रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जिथ-बभर्ष्ठ । बभ्रज्ज । बभ्रज्जतुः ।

अधावीत् (ई० ४६,४९)—'धूञ्' धातोर्लुङि लुङ्स्थाने तिपि अडागमे तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदे' इति सिचः परत्वान्नित्यमिटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तकारस्य ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः' इति वृद्धौ आवादेशे सवर्णदीर्घे 'अधावीत्' इति । आत्मनेपदे तु लुङस्तादेशे अडागमे च्लौ च्लेः सिचि स्वरत्यादिना विभाषया इटि गुणे अवादेशे सिचः सस्य षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'अधविष्ट' इति । इडभावे 'अधोष्ट' इति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां स्वादिप्रकरणम् ।

बभर्जिथ (ई० २१)—भ्रस्जधातोर्लिटि सिपि थलि 'लिटि धातोः'

श्र्युकः—श्रिञ् और एकाच् उगन्त धातुओंसे पर गित्-कित् प्रत्ययको इट्का आगम नहीं हो।
इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में स्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

तुदा—तुदादि गणपठित धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । भ्रस्जो—'भ्रस्ज' धातुके रेफ और

बभ्रज्जिथ । स्कोरिति सलोपः । व्रश्चेति षः । बभ्रष्ठ । बभर्जे-बभ्रज्जे । भर्ष्टा-भ्रष्टा । भर्क्ष्यति-भ्रक्ष्यति । क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन । भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् । भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट-भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत्-अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट । अभ्रष्ट । कृष विलेखने । कृषति । कृषते । चकर्ष । चकृषे ।
अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ६।१।५९। उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याऽम्वा स्याज्झलादावकिति । क्रष्टा-कर्ष्टा । कृक्षीष्ट । *स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः । अक्राक्षीत् अकार्क्षीत्-अकृक्षत् । अकृष्ट । अकृक्षाताम् । अकृक्षत । क्सपक्षे-अकृक्षत । अकृक्षाताम् । अकृक्षन्त । मिल सङ्गमे । मिलति-मिलते । मिमेल । मेलिता । अमेलीत् । मुच्लृ मोचने । शे मुचादीनाम् ७।१।

इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे अभ्यासभकारस्य बकारे 'भ्रस्जो रोपधयोरमन्यतरस्याम्' इति रेफस्योपधाभूतस्य सकारस्य च स्थाने रमि प्राप्ते 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इत्यन्त्याचो भकारान्तर्गताऽकारात्परस्यैव रमागमे स्थानषष्ठीनिर्देशात् रेफस्योपधाभूतस्य च निवृत्तौ 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इट्निषेधे भारद्वाजनियमाद् विकल्पेन इटि 'बिभर्जिथ' इति । इडभावे द्वित्वादिकार्ये रमि रोपधयोश्च निवृत्तौ 'भ्रभ्रस्ज' इति जस्य षत्वे ष्टुत्वे 'बभर्ष्ठ' इति । रमभावपक्षे-'द्वित्वादिकार्ये कृते भारद्वाजनियमाद् विकल्पेनेटि सस्य श्चुत्वेन शत्वे सस्य जत्वे 'बभ्रज्जिथ' इति रमभावे इडभावे च पक्षे पूर्ववद् द्वित्वादिकार्ये 'स्कोः' इति सलोपे 'भ्रभ्रस्ज' इति जस्य षत्वे ष्टुत्वे 'बभ्रष्ठ' इति ।

भृज्ज्यात् (ई० ४४,४५)—भ्रस्ज्धातोराशीर्लिङि तिपि तिप इकारलोपे यासुटि 'भ्रस्जोरोपधयोः' इति रमागमं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वं कित्त्वात् 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'स्कोः' इति सकारस्य लोपे धातोस्सकारस्य श्चुत्वेन शकारे 'झलां जश् झशि' इति शस्य जत्वे 'भृज्ज्यात्' इति ।

क्रष्टा (ई० २१, ५०) कृष्धातोर्लुटि तिपि तासिप्रत्यये तिपो डादेशे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'अनुदात्तस्य' इति अमागमे यणि ष्टुत्वे 'क्रष्टा' इति । अमोऽभावे 'पुगन्त' इति गुणे ष्टुत्वे 'कर्ष्टा' इति ।

उपधाके स्थानमें 'रम्'का आगम हो, आर्धधातुकके परे, विकल्पसे । **क्ङिति**—'कित्-ङित्' आर्धधातुकके परे रमागमको बाधकर पूर्वविप्रतिषेधेन सम्प्रसारण ही हो । **अनुदा**—उपदेशावस्थामें जो अनुदात्त ऋदुपध धातु, उसको अम्का आगम हो, कित् भिन्न झलादिके परे । **स्पृश**—स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप्, दृप् धातुओंसे पर च्लिको सिच् हो, विकल्पसे । **शे मु**—

५६। मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् शे परे। मुञ्चति। मुञ्चते। मोक्ता। मुच्यात्। मुक्षीष्ट। अमुचत्। अमुक्त। अमुक्षाताम्। लुप्लृ छेदने। लुम्पति। लुम्पते। लोप्ता। अलुपत्। अलुप्त। विद्लृ लाभे। विन्दति। विन्दते। विवेद-विविदे। व्याघ्रभूतिमते सेट्। वेदिता। भाष्यमतेऽनिट्। परिवेत्ता। षिच क्षरणे। सिञ्चति। सिञ्चते। लिपिसिचिह्वश्च ३।१।५३। एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत्। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ३।१।५४। लिपिसिचिह्वः परस्य च्लेरङ् वा (स्यात् तङि)। असिचत्, असिक्त। लिप उपदेहे। उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति। लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्। अलिपत। अलिप्त।

अथ परस्मैपदिनः।

कृती छेदने। कृन्तति। चकर्त। कर्तिता। कर्तिष्यति-कर्त्स्यति। अकर्तीत्। खिद परिघाते। खिन्दति। चिखेद। खेत्ता। पिश अवयवे। पिशति। पेशिता। ओव्रश्चू छेदने। वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ। व्रश्चिता-व्रष्टा। व्रश्चिष्यति-व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्-अव्राक्षीत्। व्यच व्याजीकरणे। विचति। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्यचीत्-अव्याचीत्। व्यचेः कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्तते, अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्। उछि उञ्छे। उञ्छति। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः। ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। ऋच्छ-

---

असिचत् (ई० २१, ४९, ५७)—'षिच् क्षरणे' अस्माद्धातोर्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने परस्मैपदे लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति इकारलोपे 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे च्लौ 'लिपिसिचिह्वश्च' इति च्लेरङि अनुबन्धलोपे ङित्त्वाद्गुणाऽभावे 'असिचत्' इति।

व्यचेः कुटादित्वमिति—अयम्भावः 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इति व्यच्-धातोः कुटादित्वात् 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' इत्यनेन तासादेर्ङिद्वद्भावे तस्मिन् परे व्यचो यकारस्य 'ग्रहिज्ये'त्यनेन सम्प्रसारणे लुटि 'विचिते'त्यादिः कथन्नेति चेन्न, अनसीति पर्युदासेन असुभिन्नाऽसुसदृशस्य कृत्वेनैव तत्र ग्रहणात्। तथाच असुभिन्नकृत्प्रत्यये परे एव तत्प्रवृत्तिरिति भावः।

मुचादि धातुको नुमागम हो, 'श' प्रत्ययके परे। लिपि—लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातुसे पर च्लिको अङ् हो। आत्मने—आत्मनेपदके परे लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातुसे पर च्लिको

ति । ऋच्छत्यृतामिति गुणः । द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुट् । आनर्च्छ । आनर्च्छतुः । ऋच्छिता । उज्झ उत्सर्गे । उज्झति । लुभ विमोहने । लुभति । तीषसहलुभरुषरिषः ७ । २ । ४८ । इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड्वा स्यात् । लोभिता-लोब्धा । लोभिष्यति । तृप तृम्फ तृप्तौ । तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति । ॐशे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः । आदिशब्दः प्रकारे । तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः । ततृम्फ । तृफ्यात् । मृड पृड सुखने । मृडति । पृडति । शुन गतौ । शुनति । इषु इच्छायाम् । इच्छति । एषिता-एष्टा । ऐषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । कुट कौटिल्ये । गाङ्कुटादीति ङित्वम् । चुकुटिथ । चुकोट-चुकुट । कुटिता । पुट संश्लेषणे । पुटति । पुटिता । स्फुट विकसने । स्फुटति । स्फुटिता । स्फुर स्फुल सञ्चलने । स्फुरति । स्फुलति । स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ८।३।७६। षत्वं वा स्यात् । निःस्फुरति-निःष्फुरति । णू स्तवने । परिणूतगुणोदयः । नुवति । नुनाव । नुविता । टुमस्जो शुद्धौ । मज्जति । ममज्ज । ममज्जिथ । मस्जिनशोरिति नुम् । ॐमस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः । संयोगादिलोपः । ममङ्क्थ । मङ्क्ता । मङ्क्ष्यति । अमाङ्क्षीत् । अमाङ्क्ताम् । अमा-

---

आनर्च्छ (ई० ४०)—ऋच्छ्धातोर्लिटस्तिपि णलि 'लिटि धातो'रिति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यभ्यासरेफस्यच्छस्य च लोपे 'अत आदेः' इति दीर्घे 'तस्मान्नुड्द्विहलः' इति द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुटि 'ऋच्छ त्यृताम्' इति गुणे रपरे 'आनर्च्छ' इति ।

तृम्फति—'तृम्फ' धातुरुपदेशे 'तृन्फ्' इति । तस्माल्लटि तिपि 'तुदादिभ्यः शः' इति शपं प्रबाध्य शप्रत्यये शस्याऽपित्त्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वे 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः' इति वार्तिकेन नुमि अनुबन्धलोपे अनुस्वारे परसवर्णे 'तृम्फति' इति ।

ममङ्क्थ (ई० ३१, ४६)—मस्ज्धातोर्लिटि सिपि थलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिः शेषः इति हलादिः शेषे 'म मस्ज् थ' इति भूते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति सस्य श्चुत्वेन शत्वे 'झलां जश्

अड् हो विकल्पसे । तीषसह—इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् धातुओंसे पर तादि आर्धधातुकको विकल्पसे इट् हो । शे तृ—तृम्फादि धातुओंको नुमागम हो, 'श' प्रत्ययके परे । स्फुर—निर्, नि और वि उपसर्गसे पर 'स्फुर' और 'स्फुल' धातुके सकारको षत्व हो, विकल्पसे । मस्जे—'मस्ज' धातुके अन्त्य (जकार) से पूर्व नुम् हो ।

रुक्षुः। रुजो भङ्गे। रुजति। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। भुजो कौटिल्ये। रुजिवत्। विश प्रवेशने। विशति। मृश आमर्शने। आमर्शनं स्पर्शः। अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्। अम्राक्षीत्—अमार्क्षीत्—अमृक्षत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। सीदतीत्यादि। शद्लृ शातने। शदेश्शितः १।३।६०॥ शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः। शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयेत। शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्। कॄ विक्षेपे। ॠत इद्धातोः ७।१।१००॥ ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात्। किरति। चकार। चकरतुः। चकरुः। करीता-करिता। कीर्यात्। किरतौ लवने ६।१।१४०॥ उपात्किरतेः सुट् स्याच्छेदने। उपस्किरति। अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट्कात् पूर्व इति वक्तव्यम्। उपास्किरत्।

झशि' इति शस्य जश्त्वेन जत्वे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति विभाषया इटि 'ममज्जिथ' इति। इडभावे तु 'मस्जिनशोर्झलि' इति सूत्रेण 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' इति वार्तिकबलात् सकारात् परे नुमि 'स्कोः' इति सलोपे 'चोः कुः' इति जस्य कुत्वेन गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे नस्यानुस्वारे परसवर्णे 'ममङ्क्थ' इति।

अम्राक्षीत् (ई० २०, २१)—मृशधातोर्लुङि लुङस्तिपि अटि च्लौ 'स्पृशमृशकृष' इति वार्तिकेन च्लेः सिचि 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति विभाषया अमि ऋकारस्य यणि 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति शस्य षत्वे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे सिचः सस्य षत्वे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसंज्ञकस्य तस्य ईटि 'अम्राक्षीत्' इति। अमोऽभावे उक्तसूत्रेण च्लेः सिचि ईटि 'वदव्रजे'ति वृद्धौ रपरत्वे 'व्रश्चे'ति षत्वे कत्वे सिचः सस्य च षत्वे 'अमार्क्षीत्' इति। सिजभावे तु 'शल इगुपधादनिटः क्स' इति च्लेः क्सादेशे 'व्रश्चे'ति षत्वे कत्वे सिचः सस्य च षत्वे क्त्वाद्वृद्ध्यभावे 'अमृक्षत्' इति।

उपस्किरति (ई० २०,२१,४८) उपोपसर्गात् कॄ धातोर्लटि तिपि शे अनुबन्धलोपे 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे च कृते 'उप किरति' इति स्थिते 'किरतौ लवने' इति सुटि उटावितौ टित्वादाद्यवयवे 'उपस्किरति' इति।

उपास्किरत् (ई० ३७)—उपोपसर्गात् कॄधातोर्लङस्तिपि शे 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे तिप इकारलोपे 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' 'सुट्

शदेः शितः—शिद्भावी 'शद्' धातुसे 'तङ्' और 'आन' हो। ॠत—(दीर्घ) ॠदन्त धातुके अङ्ग (ॠ) को 'इत्व' हो। किरतौ—'उप' उपसर्गसे 'कॄ' धातुको सुडागम हो, छेदन अर्थ में। अडभ्यासव्य—'अट्' और 'अभ्यास' के व्यवधानमें भी 'उप' से पर 'कॄ' धातुको

उपचस्कार । **हिंसायां प्रतेश्च ६ । १ । १४१ ॥** उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्याद्धिंसायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति । गॄ निगरणे । **अचि विभाषा ८। २। २१।** गिरते रेफस्य लो वा स्यादजादौ प्रत्यये । गिरति-गिलति । जगार-जगाल । जगरिथ-जगलिथ । गरीता-गरिता । गलीता-गलिता । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम् । पृच्छति । प्रपच्छ । पप्रच्छतुः । पप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् । मृङ् प्राणत्यागे । **म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च १। ३। ६१।** लुङ्लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङ् नान्यत्र । रिङ् । इयङ् । म्रियते । ममार । मर्ता । मरिष्यति । मृषीष्ट । अमृत । पृङ् व्यायामे । प्रायेणाऽयं व्याङ्पूर्वः । व्याप्रियते । व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । व्यापृत । व्यापृषाताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः । जुषते । जुजुषे । ओविजी भयचलनयोः । प्रायेणायमुत्पूर्वः । उद्विजते । **विज इट् १ । २ । ६२ ।** विजः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्स्यात् । उद्विजिता ।

इति तुदादिप्रकरणम् ॥

कारपूर्वः इति वक्तव्यम्' इति ककारात्पूर्वं सुटि सवर्णदीर्घे 'उपास्किरत' इति ।

अप्राक्षीत् (ई० ४५,५१)—'प्रच्छ्धातोर्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने लुङस्तिपि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि इचि गते 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' इति छस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईटि 'वदव्रजे'ति वृद्धौ 'अप्राक्षीत्' इति ।

उद्विजिता (ई० २५, ३०, ४१) उत्पूर्वात् ओविजी भयचलनयोः इत्यस्माद्धातोर्लुटि लुटस्तादेशे तासि प्रत्यये इडागमे तिपो डादेशे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'विज इट्' इति ङित्त्वाद् गुणाऽभावे 'उद्विजिता' इति सिद्धम् ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां तुदादिप्रकरणम् ।

सुट् हो और वह 'सुट्' ककारसे पूर्व हो—ऐसा कहना चाहिये । **हिंसा**—'उप' तथा 'प्रति' उपसर्गसे पर 'कॄ' धातुको 'सुट्' हो, हिंसा अर्थमें । **अचि**—'गॄ' धातुके रेफको 'लत्व' हो, अजादि प्रत्ययके परे, विकल्पसे । **म्रियते**—लुङ्, लिङ् और 'शित्' प्रत्ययके प्रकृतिभूत 'मृङ्' धातुसे ही 'तङ्' तथा 'आन' (आतमनेपद) हो—अन्यत्र नहीं । **विज इट**—'विज्' धातुसे पर इडादि प्रत्यय 'ङिद्वत' हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तुदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ रुधादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः

रुधादिभ्यः श्नम् ३ । १ । ७८ । शपोऽपवादः । रुणद्धि । श्नसोरल्लोपः रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्धः । रुन्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध- रुरुधे । रोद्धासि-रोद्धासे । रोत्स्यति-रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्-अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणः-अरुणत्-अरुणद् । अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः रुन्ध्यात्-रुन्धीत । रुध्यात्-रुत्सीष्ट । अरुधत्-अरौत्सीत् । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरौत्स्यत्-अरौत्स्यत । भिदिर् विदारणे । छिदिर् द्वैधीकरणे । युजिर् योगे । रिचिर् विरेचने । रिणक्ति-रिङ्क्ते । रिरेच । रेक्ता । रेक्ष्यति । अरिणक् । अरिचत्—अरैक्षीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति-विङ्क्ते । क्षुदिर् सम्पेषणे । क्षुणत्ति-क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत्-अक्षौत्सीत्-अक्षुत्त । उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः । छृणत्ति-छृन्ते । चच्छर्द । सेऽसिचीति वेट् । चच्छृदिषे—चच्छृत्से । छर्दिष्यति—छर्त्स्यति । अच्छृदत्—अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट । अच्छर्दिष्यत् । उतृदिर् हिंसानादरयोः । तृणत्ति—तृन्ते ।

अथ परस्मैपदिनः ।

कृती वेष्टने । कृणत्ति । तृह हिसि हिंसायाम् । तृणह इम् ७।३।९२। तृहः

रुन्धः (ई० ४६)—रुध्धातोर्लटस्तसि शपमपवाय श्नमि 'श्नसोरल्लोपः' इति श्नमो नकारान्तर्गताकारस्य लोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तसस्तकारस्य धत्वे 'झरो झरि सवर्णे' इति धातोर्धस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'रुन्धः' इति ।

तृणेढि (ई० ३७, ४१, ४७)—'तृह् हिंसायाम्' इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि शपमपवाय श्नमि अनुबन्धलोपे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति श्नमो नस्य णत्वे 'तृणह् ति' इति स्थिते 'तृणह इम्' इति इमि अनुबन्धलोपे 'तृण इ ह् ति' इति दशायाम् 'आद्गुणः' इति गुणे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तिपस्तकारस्य

रुधादि—रुधादि गणपठित धातुओंसे 'श्नम्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
तृणः—'तृह' धातुसे 'श्नम्' करने पर इमागम हो, हलादि 'पित्' के परे ।

अथ तनादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः ।

तनु विस्तारे । तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ । तनादेः कृञश्च उप्रत्ययः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । तनोति-तनुते । ततान—तेने । तनितासि-तनितासे । तनिष्यति-तनिष्यते । तनोतु—तनुताम् । अतनोत्—अतनुत । तनुयात्-तन्वीत । तन्यात्-तनिषीष्ट । अतानीत्-अतनीत् । **तनादिभ्यस्तथासोः** २।४।७९। तनादेः सिचो वा लुक् स्यात्तथासोः । अतत—अतनिष्ट । अतथाः-अतनिष्ठाः । अतनिष्यत्-अतनिष्यत । षणु दाने । सनोति-सनुते । **ये विभाषा** ६।४।४३। जनसनखनामात्वं वा स्याद्यादौ क्ङिति । सायात्-सन्यात् । **जनसनखनां सञ्झलोः** ६।४।४२। एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति । असात-असनिष्ट । असाथाः—असनिष्ठाः । क्षणु हिंसायाम् । क्षणोति-

---

अतानीत् (ई० ४६)—'तनु विस्तारे' अस्माद्धातोर्लुङि तिपि लुङ्लङ् इत्यडागमे तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य च ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ 'अतानीत्' इति वृद्ध्यभावे 'अतनीत्' इति । आत्मनेपदे तु-लुङः स्थाने तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे च्लौ च्लेः सिचि 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति विभाषया सिचो लुकि अनुदात्तोपदेश इत्यनुनासिकनकारस्य लोपे 'अतत' इति । सिज्लोपाभावे सिचः सकारस्य इटि षत्वे ष्टुत्वे 'अतनिष्ट' इति ।

असात (ई० २२)—उकारेत्संज्ञक 'षणु दाने' इत्यस्माद्धातोर्लुङि 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वे निमित्तापाये इति परिभाषया णत्वस्यापि निवृत्तौ लुङस्तादेशे अटि च्लौ च्लेः सिचि 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लोपे 'जनसनखनां सञ्झलोः' इत्यनेन 'अलोन्त्यस्ये'ति सहकारेण नस्यात्वे सवर्णदीर्घे 'असात' इति ।

तनादि—तनादिगण पठित धातु और कृञ् धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

नोट:—तनादि कहनेसे 'कृञ्' धातुका भी ग्रहण होता ही फिर 'कृञ्' का पृथक् उपादान क्यों किया गया, इससे सिद्ध होता है कि **'गणकार्यमनित्यम्'**—गणकार्य अनित्य है ।

तना—तनादिसे पर 'सिच्'का लुक् (लोप) हो 'त' और 'थास्' के परे, विकल्पसे ।

येविभा—जन् , सन् और खन् धातुको आत्व हो, यकरादि कित्-ङित्के परे, विकल्पसे ।

जनसन—जन् , सन् और खन् धातुको अकारान्त आदेश हो, झलादि 'सन्' और झलादि

क्षणुते । ह्मयन्तेति न वृद्धिः । अक्षणीत्-अक्षत-अक्षणिष्ट । अक्षथाः-अक्षणिष्ठाः । क्षिणु च । उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा । क्षेणोति-क्षिणोति । क्षेणिता । अक्षेणीत्-अक्षित-अक्षेणिष्ट । तृणु अदने । तृणोति-तर्णोति । तृणुते-तर्णुते । डुकृञ् करणे । करोति । अत उत्सार्वधातुके ६।४।११०। उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उः स्यात् । कुरुतः । न भकुर्छुराम् ८ । २ । ७९। रेफवान्तस्य भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात् । कुर्वन्ति । नित्यं करोतेः ६। ४। १०८। करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपः स्यान्म्वोः परयोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार-चक्रे । कर्तासि । कर्तासे । करिष्यति-करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत्-अकुरुत । ये च ६। ४। १०९। कृञ उलोपः स्याद्यादौ प्रत्यये । कुर्यात्—कुर्वीत । क्रियात्-कृषीष्ट । अकार्षीत्—अकृत । अकरिष्यत्—अकरिष्यत । सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ६ । १ । १३७ । समवाये च ६ । १ । १३८ । सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्यात् भूषणे सङ्घाते चार्थे । संस्करोति । अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्कुर्वन्ति । सङ्घीभवन्ती-

---

कुर्वन्ति (ई० ३८, ४५, ४८, ५२)—'डुकृञ् करणे' इत्यस्माद्धातोर्लटि तत्स्थाने झौ झस्य अन्तादेशे शपं प्रबाध्य 'तनादिकृञ्भ्यः उः' इत्युप्रत्यये 'कृ उ अन्ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरत्वे 'क र् उ अन्ति' इति भूते 'अत उत्सार्वधातुके' इति कृञोऽकारस्य उत्वे 'इको यणचि' इत्युप्रत्ययसम्बन्धिन उकारस्य यणि 'हलि च' इति प्राप्ते 'न भकुर्छुराम्' इति निषेधे 'कुर्वन्ति' इति ।

कुर्वीत (ई० ३६)—कृञ्धातोर्विधिलिङि लिङः स्थाने आत्मनेपदतादेशे शपं प्रबाध्य 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये गुणे रपरत्वे 'करु त' इति स्थिते 'अत उत्सार्वधातुके' इति उत्त्वे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटि गते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोप' इति सलोपे यणि 'कुर्वीत' ।

अकार्षीत् (ई० ५१)—कृधातोर्लुङ्लिलतिपि 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि इचि गते सस्यार्धधातुकत्वादिटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य ईटि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ षत्वे 'अकार्षीत्' इति ।

कित्-ङित् प्रत्ययके परे । अत—उ प्रत्ययान्त कृञ् धातुके अकारको उकार हो, कित्-ङित् सार्वधातुकके परे । न भकु—रेफान्त वान्त भसंज्ञक और 'कुर्, छुर्'की उपधाको दीर्घ नहीं हो । नित्यं—'कृ' धातुके प्रत्ययसम्बन्धी उकारका लोप हो, मकार-वकारादि प्रत्ययके परे । ये च—कृञ् धातुके उकारका लोप हो, यकारादि प्रत्ययके परे । संपरि—'सम्' और

त्यर्थः । सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट् 'संस्कृतं भक्षा' इति ज्ञापनात् । उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च ६ । १ । १३९ । उपात्कृञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु, चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम् । विकृतमेव वैकृतं-विकारः । वाक्याध्याहारः-आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृता ब्राह्मणाः । एधोदकस्योपस्कुरुते । उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं ब्रूते । वनु याचने । वनुते । ववने । मनु अवबोधने । मनुते । मेने । मनिता । मनिष्यते । मनुताम् । अमनुत । मन्वीत । मनिषीष्ट । अमत—अमनिष्ट । अमनिष्यत । ॥ इति तनादिप्रकरणम् ॥

अथ क्र्यादिप्रकरणम्

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१। एभ्यः श्ना स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । क्रीणाति । ईहल्यघोः । क्रीणीतः । श्नाभ्यस्तयोरातः । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रयिथ-चिक्रेथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति-क्रेष्यते । क्रीणातु-क्रीणीतात् । क्रीणाताम् । अक्रीणात्-अक्रीणीत । क्रीणीयात्-क्रीणीत । क्रीयात्-क्रेषीष्ट । अक्रैषीत्-अक्रेष्ट । अक्रेष्यत्-अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च । प्रीणाति-प्रीणीते । श्रीञ् पाके । श्रीणाति-

---

उपस्कृतं ब्रूते (६० २१) अत्र 'उपात्प्रतियत्ने'ति सूत्रेण वाक्याध्याहारार्थे सुट् । वाक्याध्याहारेण ब्रूते इत्यर्थः । 'एधोदकस्योपस्कुरुते' इत्यत्र तु प्रतियत्नेर्थे सुड् भवति । प्रतियत्नः = गुणाधानमिति मूले स्पष्टम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां तनादिप्रकरणम् ।

'परि' पूर्वक 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, भूषण और संघात अर्थमें । उपात्—'उप' उपसर्गसे पर 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, प्रतियत्नादि अर्थमें, चकारात् भूषण और संघात अर्थमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में तनादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

क्र्यादि – क्र्यादिगणपठित धातुओंसे 'श्ना' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

श्रीणीते। मीङ् हिंसायाम्। हिनुमीना ८।४।१५। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यै-तयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति-प्रमीणीते। मीनातीत्यात्त्वम्। ममौ। मिम्यतुः। ममिथ-ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति-मास्यते। मीयात्-मासीष्ट। अमासीत्। अमास्त। षिञ् बन्धने। सिनाति। सिनीते। सिषाय-सिष्ये। सेता। स्कुञ् आप्लवने। स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ।३।१।८२। एभ्यः श्नुः स्यात्, चात् श्ना। स्कुनोति—स्कुनाति। स्कुनुते स्कुनीते। चुस्काव। चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्-अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः। हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३॥ हलः परस्य श्नः शानजादेशः यादौ परे। स्तभान। जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च ३।१।५८। एभ्यश्च्लेरङ् वा स्यात्। स्तन्भेः ८।३।६७। स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्-अस्तम्भीत्। युञ् बन्धने।

प्रमीणीते (ई० ३७)—प्रोपसर्गात् 'मीञ् हिंसायाम्' इति धातोर्लटि तत्स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये टेरेत्वे शपं प्रबाध्य 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'हिनुमीना' इत्यनेन णत्वे 'ई हल्यघोः' इति ईत्वे 'प्रमीणीते' इति जातम्।

स्तभान (ई० २९, ३०, २५, ५१)—उकारेत्संज्ञक-रोधनार्थक-'स्तन्भ'-धातुः सौत्रः। तस्माल्लोटि तत्स्थाने सिपि सिपः सार्वधातुकत्वात् शपि प्राप्ते तमपवाद्य 'स्तन्भुस्तुन्भु—' इत्यादिसूत्रेण चकारात् श्नाप्रत्यये अनुबन्धलोपे सेर्ह्यादेशे 'स्तन्भ ना हि' इति स्थिते 'हलः श्नः शानज्झौ' इति नाशब्दस्य शानजादेशे अनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्त्वे सति 'अनिदिताम्—' इति धातोर्नस्य लोपे 'अतो हेः' इति हेर्लुकि 'स्तभान' इति जातम्।

व्यष्टभत् (ई० २२, ४९)—विपूर्वकात् 'स्तन्भ' धातोर्लुङि तिपि अडागमे अनुबन्धलोपे तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'जॄस्तन्भुम्रुचु—' इत्यादिना अङि अनुबन्धलोपे 'वि अ स्तन्भ् अ त्' इति जाते यणि 'अनिदिताम्-'

हिनुमीना—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ षकार) से पर हिनु और मीनाके नकारको णकार हो। स्तन्भु—स्तन्भ्वादि धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो, चकारात्-'श्ना' प्रत्यय भी हो। हलः—'हल्' से पर 'श्ना' के स्थानमें 'शानच्' आदेश हो, 'हि' के परे।

जॄस्तन्भु—'जॄ' आदि धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, विकल्पसे।

स्तन्भेः—सूत्रपठित स्तन्भ् धातुके सकारको षकार हो।

युनाति-युनीते। योता॥ क्नूञ् शब्दे। क्नूनाति। क्नूनीते। क्नविता॥ द्रूञ् हिंसायाम्। द्रूणाति-द्रूणीते॥ दॄ विदारणे। दृणाति-दृणीते॥ पूञ् पवने। **प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०।** पूञ् लूञ् स्तॄञ् कॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ झॄ धॄ नॄ कॄ ऋ गॄ ज्या री ली व्ली प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः स्यात्। पुनाति पुनीते। पविता। लूञ् छेदने। लुनाति-लुनीते। स्तॄञ् आच्छादने। स्तृणाति। शर्पूर्वाः खयः। तस्तार। तस्तरतुः। तस्तरुः। तस्तरे। स्तरीता-स्तरिता। स्तृणीयात्। स्तृणीत। स्तीर्यात्। **लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७।२।४२।** वृङ्वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड्वा स्यात्तङि। **न लिङि ७।२।३९।** वॄत इटो लिङि न दीर्घः। स्तरिषीष्ट। उश्चेति कित्त्वम्। स्तीर्षीष्ट। सिचि च परस्मैपदेषु। अस्तारीत्। अस्तारिष्टाम्। अस्तारिषुः। अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट। कॄञ् हिंसायाम्। कृणाति-कृणीते। चकार-चकरे। वॄञ् वरणे। वृणाति-वृणीते। ववार-ववरे। वरिता-वरीता। उदोष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्त्वम्। वूर्यात्। वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट। अवारीत्। अवारिष्टाम्। अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवूर्ष्ट। धूञ् कम्पने। धुनाति-धुनीते। धविता-धोता।

इति नलोपे 'स्तन्भेः' इति सस्य षत्वे ष्टुत्वे 'व्यष्टभत्' इति। अङोऽभावे च्लेः सिचि इचि गते 'वि अस्तन्भ् स् त्' इति स्थिते यणि सस्य इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्य च ईटि अनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'स्तन्भेः' इति सस्य षत्वे ष्टुत्वे नस्यानुस्वारे परसवर्णे 'व्यष्टम्भीत्' इति च भवति। मूले तु अङभावे 'अस्तम्भीत्' इत्युक्तम्। अत्र 'स्तन्भेः' इति षत्वन्तु न उपसर्गादिणः परस्यैव स्तन्भेः सस्य षः स्यादित्यर्थात्।

स्तरिषीष्ट (ई० ५६)—स्तॄधातोराशीर्लिङि लिङः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटाविती 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'स्तृ सी त' इति स्थिते 'सुट्तिथोः' इति सुटि उटि गते 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति विभाषया इटि अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरत्वे 'स्तरि सी स् त' इति जाते 'वॄतो वा' इति इटो दीर्घे प्राप्ते 'न लिङि' इति निषेधे उभयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे 'स्तरिषीष्ट' इति जातम्। इडभावे तु 'उश्च' इति कित्त्वाद् गुणाभावे 'ॠत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'स्तीर्षीष्ट' इति। अन्यत्कार्यं तु पूर्ववदेव बोध्यम्।

प्वादी—पूञादि धातुओंको ह्रस्व हो, 'शित्' प्रत्ययके परे। **लिङ्**-वृङ्, वृञ् और ॠदन्त धातुओंसे पर लिङ्, सिच् को इट्का आगम हो तङ्के परे विकल्पसे। **न लिङि**-वृङ्, वृञ्

अधावीत्। अधविष्ट-अधोष्ट। ग्रह उपादने। गृह्णाति। गृह्णीते। जग्राह। जगृहे। ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७।२।३७। एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि। ग्रहीता। गृह्णातु। हलः श्नः शानज्झाविति श्नः शानजादेशः। गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्मयन्तेति न वृद्धिः। अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट। अग्रहीषाताम्॥

अथ परस्मैपदिनः।

कुष निष्कर्षे। कुष्णाति। कोषिता। अश-भोजने। अश्नाति। आश। अशिता। अशिष्यति। अश्नातु। अशान। मुष स्तेये। मोषिता। मुषाण। ज्ञा अवबोधने। जज्ञौ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः।

वृङ् सम्भक्तौ। वृणीते। ववृढ्वे। वरिता-वरीता। अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवृत।

॥ इति क्र्यादिप्रकरणम्॥

—oo—

ग्रहीता (ई० ४२, ५०, ५७)—ग्रह्धातोर्लुटि तिपि तासिप्रत्यये तिपो डादेशे अनुबन्धलोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि अनुबन्धलोपे 'ग्रहोऽलिटि' इति इटो दीर्घे 'ग्रहीता' इति।

गृहाण (ई० २३, ३५, ३६, ४१, ५२, ५३)—ग्रह्धातोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि अनुबन्धलोपे 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्ह्यादेशे शपमपवाद्य 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये अनुबन्धलोपे शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वे 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'हलः श्नः शानज्झौ' इति श्नः शानजादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते नस्य णत्वे 'अतो हेः' इति हेर्लुकि 'गृहाण' इति जातम्।

इति 'इन्दुमती'टीकायां क्र्यादिप्रकरणम्।

—oo—

और ऋदन्त धातुओंके इट्को दीर्घ नहीं हो, लिङ्के परे। ग्रहोऽलिटि—एकाच् 'ग्रह' धातुसे विहित 'इट्' को दीर्घ हो, 'लिट्' में छोड़कर।

अश्नाति—'शात्' इस सूत्रसे यहां श्चुत्वका निषेध होता है।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में क्र्यादिप्रकरण समाप्त हुआ।

—oo—

अथ ण्यन्तप्रकरणम्

स्वतन्त्रः कर्ता १।२।४५। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् । तत्प्रयोजको हेतुश्च १। ४। ५५। कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् । हेतुमति च ३।१।२६।। प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति–भावयति । ओः पुयण्ज्यपरे ७।४।८०। सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासोकारस्य इत्स्यात् पवर्गयण्जकारेष्ववर्णपरेषु परतः । अबीभवत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ ७। ३। ३६। स्थापयति । तिष्ठतेरित् ७।४।५। उपधाया इदादेशः स्याच्चङ् परे णौ । अतिष्ठिपत् । घट चेष्टा-

---

अबीभवत् (ई० ४६, ५२, ५४, ५७)—भूधातोः 'हेतुमति च' इति हेत्वर्थे णिचि 'णिच्यच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् पूर्वं वृद्ध्यभावे धातुत्वाल्लुङस्तिपि अनुबन्धलोपे तिप इकार लोपे च कृते 'लुङ्लङ्' इत्यटि च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि अनुबन्धलोपे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वे 'अ बु भू अ त्' इति दशायां प्रत्ययलक्षणेन वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाया ह्रस्वे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'ओः पुयण्ज्यपरे' इत्यभ्यासोकारस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

अतिष्ठिपत् (ई० ४४,४५,४८,५६)—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातुः, अत्र 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे ष्टुत्वनिवृत्तौ 'स्था' इति । तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौ' इति पुकि उकि गते धातुत्वाल्लुङस्तिपि अटि अनुबन्धलोपे तिप इकारलोपे च कृते च्लौ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' इति च्लेश्चङि 'णिच्यच् आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् इत्वाऽपेक्षया पूर्वं द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे अभ्यासह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे

स्वतन्त्रः—क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो । (कारक देखें) तत्प्रयो—कर्ताका प्रयोजक 'हेतु'संज्ञक और 'कर्तृ'संज्ञक हो । हेतु—प्रयोजकका प्रेरणादि व्यापार वाच्य रहने पर धातुसे 'णिच्' प्रत्यय हो । ओः पु—'सन्' परक जो अंग, तदवयव जो अभ्यासावयव उकार, उसको इत्व हो, अवर्णपरक पवर्ग, यण् और जकारके परे । अर्ति—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आदन्त धातुको 'पुक्' का आगम हो, 'णि' के परे । तिष्ठ—'स्था' धातुकी उपधाको 'इत्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे ।

याम् । मितां ह्रस्वः ६ । ४ । ९२ घटादीनां ज्ञपादीनां चोपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ । घटयति । ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ।

॥ इति ण्यन्तप्रकरणम् ॥

अथ सन्नन्तप्रकरणम्

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३ । १ । ७ । इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् । पठ व्यक्तायां वाचि । सन्यङोः

'अ त स्थाप् इ अ त्' इति स्थिते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'सन्यतः' इति इत्वे षत्वे ष्टुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इतीत्वे 'अतिष्ठिपत्' इति सिद्धम् ।

अजिज्ञपत् (ई० २४) ज्ञपधातोः हेत्वर्थे णिचि धातुत्वाल्लुङस्तिपि अटि अनुबन्धलोपे तिप इकारलोपे च्लौ च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये उपधावृद्धौ ह्रस्वे णिलोपे सन्वद्भावे 'सन्यतः' इतीत्वे 'अजिज्ञपत्' इति जातम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां ण्यन्तप्रकरणम् ।

धातोः—इच्छासमानकर्तृकत्वे सति इच्छाकर्मीभूतो यो व्यापारः तद्वाचकाद् धातोः इच्छायां सन् वा स्यादिति फलितार्थः ।

भाषार्थः—इष् धातुका जो कर्म तद्बोधक और इष् धातुके समानकर्तृक अर्थात्

मितां—घटादि और ज्ञपादि धातुओंकी उपधाको ह्रस्व हो, णिके परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ण्यन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

सन्यङोः—सन्नन्त तथा यङन्त धातुके प्रथम एकाच्को और अजादि धातुके द्वितीय एकाच्को द्वित्व हो ।

नोटः—शैषिक प्रत्ययान्तसे पुनः सरूप शैषिक प्रत्यय नहीं हो और मत्वर्थीय—मतुपादि, प्रत्ययान्तसे भी सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं हो तथा सन्नन्तसे पुनः सन् प्रत्यय नहीं हो । कहा भी है:—

शैषिकान् मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः । सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

६।१।९। सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोरनभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। सन्यतः। पठितुमिच्छति पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति। समानकर्तृकात् किम्? शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः। वा ग्रहणाद्वाक्यमपि। लुङ्सनोर्घस्लृ। सः स्यार्धधातुके ७।४।४९। सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति जिघत्सति। 'एकाच' इति नेट्। अज्झनगमां सनि ६।४।१६। अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि। इको झल् १।२।९। इगन्ता-

---

इष् धातुका जो कर्ता वही कर्ता हो जिसका ऐसे धातुसे इच्छा अर्थमें सन् प्रत्यय हो, विकल्पसे। जैसे रामः पठितुमिच्छति–'पिपठिषति'। यहाँ इष् धातुका कर्ता राम है और वही राम पठ् धातु (पठितुम्) का भी कर्ता है तथा इष् धातुका पठ् धातु (पठितुम्) कर्म भी है इसलिये पठ् धातु से सन् प्रत्यय हुआ।

पिपठिषति (ई० ३२, ३८, ४२)—पठ्धातोरिच्छार्थे 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सनि इटि अनुबन्धलोपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इतीत्वे षत्वे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

(१ पिपठिषति २ पिपठिषाञ्चकार ३ पिपठिषिता ४ पिपठिषिष्यति।)

जिघत्सति (ई० ३४, ३६, ४४, ४६, ५४, ५६)—अत्तुमिच्छतीत्यर्थे 'अद्' धातोः 'धातोः कर्मणः–' इति सनि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति अदो घस्लादेशे अनुबन्धलोपे 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यभ्याससकारस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासघकारस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'सन्यतः' इत्यभ्यासाऽकारस्य इत्वे 'सः स्यार्धधातुके' इति सस्य तकारे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे उक्तं रूपं निष्पन्नम्।

सः स्या—सकारको तकार आदेश हो, सादि आर्धधातुकके परे।

अज्झ—अजन्त धातु तथा 'हन्' धातु और अजादि (इण्–इक् इङ्) धातुके स्थानमें आदिष्ट 'गम्' को दीर्घ हो, झलादि 'सन्' के परे।

इको—इगन्त धातुसे पर झलादि सन् कित् हो।

ज्झलादिः सन् कित् स्यात्। ऋत इद्धातोः। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति। सनि ग्रह-गुहोश्च ७। २। १२। ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात्। बुभूषति।

॥ इति सन्नन्तप्रकरणम् ॥

अथ यङन्तप्रकरणम्

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२। पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात्। गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२। अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च परतः। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम्। पुनःपुनरतिशयेन वा भवति बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट। नित्यं कौटिल्ये गतौ ३। १। २३।

चिकीर्षति—(ई० ३१, ३३, ४५, ४८, ५०, ५७)—कर्तुमिच्छतीति विग्रहे कृधातोः 'धातोः कर्मणः–' इति सनि अनुबन्धलोपे 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीण्निषेधे 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घे 'इको झल्' इति कित्वाद्गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर्स' इति स्थिते 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यभ्यासरेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे 'हलि च' इति दीर्घे षत्वे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकीर्षति' इति।

बुभूषति (ई० ३०, ३५, ४१, ४७, ४९, ५१, ५५)—भूधातोः इच्छार्थे सनि 'सनि ग्रहगुहोश्च' इति इण्निषेधे 'इको झल्' इति कित्त्वाद्गुणाऽभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासोकारस्य ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'बुभूषति' इति।

इति 'इन्दुमती' टीकायां सन्नन्तप्रकरणम्।

बोभूयते (ई० ३२, ४८)—पुनःपुनः अतिशयेन वा भवतीति विग्रहे भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि 'सन्यङोः' इति

सनि—ग्रह्, गुह और उगन्त धातुओंसे पर 'सन्' को 'इट्' नहीं हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें सन्नन्तप्रकरण समाप्त हुआ।

धातोः—पौनःपुन्य (बार-बार) और भृशार्थ (अत्यधिकता) द्योत्य होनेपर हलादि, एकाच् धातुसे 'यङ्' प्रत्यय हो। गुणो—अभ्यासको गुण हो, 'यङ्' के परे और यङ्लुक्के विषयमें। नित्यं—गत्यर्थक धातुसे कौटिल्य (वक्रगति) अर्थमें ही 'यङ्' प्रत्यय हो किन्तु

गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे । **दीर्घोऽकितः ७।४।८३॥** अकितोऽभ्यासस्य दीर्घः स्याद्यङ्यङ्लुकोः । कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते । **यस्य हलः ६।४।४९॥** यस्येति संघातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोपः स्यादार्धधातुके । आदेः परस्य । अतो लोपः । वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता । **रीगृदुपधस्य च ७।४।९०।** ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङ्यङ्लुकोः । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवर्तिता । **क्षुभ्नादिषु च ८।४।३९।** णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ।

॥ इति यङन्तप्रकरणम् ॥

द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासोकारस्य गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटि ङित्वादात्मनेपदे तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

वाव्रज्यते (ई० ४७, ५२)—व्रज्धातोः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासस्य दीर्घे 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वाल्लटि तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे उक्तं रूपं जातम् ।

वरीवृताञ्चक्रे (ई० २७)—वृत्धातोर्यङि द्वित्वादिकार्ये 'रीगृदुपधस्य च' इति अभ्यासस्य रीगागमे धातुत्वाल्लिटि अनेकाच्त्वादाम्प्रत्यये 'आदेः परस्य' इति सहकारात् 'यस्य हलः' इति यलोपे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे लिटः स्थाने तप्रत्यये तस्य एशि कृञो द्वित्वे अभ्यासकार्ये मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'यणि' उक्तं रूपं सिद्धम् ।

नरीनृत्यते (ई० ४६, ४९)—पुनःपुनरतिशयेन वा नृत्यतीति विग्रहे यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये 'रीगृदुपधस्य च' इति रीगागमे धातुत्वाल्लटस्तप्रत्यये एत्वे शपि पररूपे 'क्षुभ्नादिषु च' इति णत्वनिषेधे तत्सिद्धिः ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां यङन्तप्रकरणम् ।

क्रियाके समभिहार (पौनःपुन्य या भृशार्थ) में नहीं हो । **दीर्घो**—अकित् अभ्यासको दीर्घ हो, यङ्के परे और यङ्लुक्के विषयमें । **यस्य**—हल्से पर 'य' शब्दका लोप हो, आर्धधातुकके परे । **रीगृ**—ऋदुपध धातुके अभ्यासको 'रीक्' का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । **क्षुभ्ना**—क्षुभ्नादिगण पठित धातुओंके नकारको णकार हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ यङ्लुगन्तप्रकरणम्

यङोऽचि च २।४।७४। यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनाऽपि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति। प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद्-द्वित्वम्। अभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। शेषात्कर्तरीति परस्मैपदम्। चर्करीतं चेत्यदादौ पाठाच्छपो लुक्। यङो वा ७।३।९४। यङ्लुगन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्येड् वा स्यात्। भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति–बोभोति। बोभूतः। अदभ्य-स्तात्। बोभुवति। बोभवाञ्चकार। बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु–बोभोतु–बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि। बोभवानि। अबो-

---

बोभवीति (ई० ४४, ५०)—भूधातोर्यङि 'यङोऽचि च' इति द्वित्वापेक्षया आदौ यङो लुकि ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासोकारस्य गुणे 'अभ्यासे चर्च' इत्यभ्यासभकारस्य बकारे 'बोभू' इति, तस्माद्धातुत्वाल्लटि तिपि शपि 'चर्करीतञ्च' इति यङ्लुगन्तस्यादादौ पाठाच्छपो लुकि 'यङो वा' इति पाक्षिके ईडागमे अनुबन्धलोपे 'बोभूतु तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधस्य यङ्लुकि भाषायामप्रवृत्त्या गुणेऽवादेशे 'बोभवीति' इति। ईडभावपक्षे गुणे 'बोभोति' इति भवति।

बोभवाञ्चकार (ई० २७, ४५)—भूधातोर्यङि 'यङोऽचि च' इति यङो लुकि प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य बत्वे धातुत्वाल्लिटि 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लुकि लिट्परककृञोऽनुप्रयोगे लिटः स्थाने तिपि णलि अनुबन्धलोपे गुणेऽवादेशे कृञो द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे 'कुहो-श्चुः' इति चुत्वे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ मस्यानुस्वारे परसवर्णे तत्सिद्धम्।

यङोऽचि च—'यङ्' का लुक् (लोप) हो, 'अच्' प्रत्ययके परे। चकारात् 'अच्' प्रत्ययके बिना भी कहीं लुक् हो। यङो वा—'यङ्लन्तसे पर हलादि पित्' सार्वधातुकको 'ईट्' का आगम हो, विकल्पसे।

नोट:—१-श्तिप् निर्देश, २-शप् निर्देश, ३-अनुबन्धनिर्देश, ४-गणनिर्देश और ५-एकाच् निर्देशसे जो कार्य निर्दिष्ट हुए हैं। वे पाँचों कार्य यङ्लुक्में नहीं हों। कहा भी है—

भवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः । बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयुः । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । गातिस्थेति सिचो लुक् । यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद्वुक् । अबोभूवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् । ॥ इति यङ्लुगन्तप्रकरणम् ॥

अथ नामधातुप्रकरणम्

सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८। इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१। एतयोरवयवस्य सुपो लुक् । क्यचि च ७।४।३३। अवर्णस्य ईत्स्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । नः क्ये १।४।१५। क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नाऽन्यत् ।

अबोभूवीत्, अबोभोत् (ई० २४, २९)—भूधातोर्यङि यङो लुकि प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासगुणे जश्त्वे धातुत्वाल्लुङस्तिपि इकारलोपे अटि अनुबन्धलोपे च्लौ च्लेः सिचि 'गातिस्थे'ति सिचो लुकि 'यङो वा' इति ईटि गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुकि 'अबोभूवीत्' इति ईडभावपक्षे 'अच्परत्वाऽभावाद् वुगभावे गुणे 'अबोभोत्' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां यङ्लुगन्तप्रकरणम् ।

पुत्रीयति (ई० ४४, ४९ ५५)—आत्मनः पुत्रमिच्छतीति विग्रहे 'पुत्र

'श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं, यद्गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि' ॥

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङ्लुगन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

सुप्—'इष्' धातुका कर्म और 'इच्छा करनेवाले' कर्ताके संबन्धिवाचक सुबन्तसे इच्छा अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

नोटः—'देवदत्तः आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति' यहाँ पुत्र इष धातुका कर्म है और इच्छा करनेवाला देवदत्तका संबन्धी भी है, अतः तद्वाचक सुबन्तसे क्यच् हुआ ।

सुपो—धात्ववयव और प्रातिपदिकावयव 'सुप्' का लुक् (लोप) हो ।

क्यचि—अवर्ण को 'ईत्' हो क्यच्के परे ।

नः क्ये—क्यच्-क्यङ्के परे नान्त शब्दकी ही पदसंज्ञा हो-अन्यकी नहीं ।

नलोपः। राजीयति। नान्तमेवेति किम्? वाच्यति। हलि च। गीर्यति। पूर्यति। धातोरित्येव। नेह-दिवमिच्छति दिव्यति। **क्यस्य विभाषा ६।४।५०।** हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके। आदेः परस्य। अतो लोपः। तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न। समिधिता। समिध्यिता। **काम्यच्च ३।१।९।** उक्तविषये काम्यच् स्यात्। पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता। **उपमानादाचारे ३।१।१०।** उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच्। पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्। ***सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः।** अतो गुणे। कृष्ण इवाचरति कृष्णति। स्व इवाचरति स्वति। सस्वौ। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५।** अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात्क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाचरति इदामति। राजेव राजानति। पन्था इव पथी-

---

अम्' इति सुबन्तात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि अनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति 'पुत्र अम् य' इत्यस्य धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि 'क्यचि च' इति अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय' इति तस्माद्धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'पुत्रीयति' इति निष्पन्नम्।

राजीयति (ई० ३१,५१,५२,५७)—'राजानमिच्छति' इति विग्रहे द्वितीयान्तात् राजञ्छब्दादिच्छार्थे क्यचि धातुत्वात् सुपो लुकि 'न क्ये' इति सूत्रेण 'राजन्' इत्यस्य पदत्वात् 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'क्यचि च' इतीत्वे 'राजीय' इति, तस्माद्धातुत्वाल्लटि शपि तिपि पररूपे 'राजीयति' इति।

समिधिता (ई० ४५, ५६) समिधमिच्छतीति विग्रहे द्वितीयान्तात् समिध् शब्दात् क्यचि धातुत्वात्सुब्लुकि 'नः क्ये' इति नान्तस्यैव पदत्वनियमात् पदत्वाभावेन जश्त्वाभावे धातुत्वाल्लुटि लुटस्तिबादिकार्ये 'समिध्य ता' इति दशायाम् इटि 'क्यस्य विभाषा' इति यलोपे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे अल्लोपस्य स्थानिवत्वाद् लघूपधगुणाऽभावे 'समिधिता' इति। यलोपाभावपक्षे 'समिध्यिता' इति।

इदामति (ई० ४१,४६,५४)—'इदमिवाचरति' इति विग्रहे 'सर्वप्रातिपदि-

---

क्यस्य—'हल्' से पर क्यच्-क्यङ्का लोप हो, आर्धधातुकके परे, विकल्पसे।

काम्यच—उक्त (सुप आत्मनः क्यच्) के विषयमें (ही) 'काम्यच्' प्रत्यय हो।

उपमानादाचारे—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्तसे आचार अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो।

सर्वप्राति—सभी प्रातिपदिकोंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, आचार अर्थमें, विकल्पसे।

अनु—अनुनासिकान्तकी उपधाको दीर्घ हो, क्विप् और झलादि कित्-ङित्के परे।

भवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः । बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयुः । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । गातिस्थेति सिचो लुक् । यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद्वुक् । अबोभूवीत्-अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ।　　　॥ इति यङ्लुगन्तप्रकरणम् ॥

अथ नामधातुप्रकरणम्

सुप आत्मनः क्यच् ३।१।८। इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१। एतयोरवयवस्य सुपो लुक् । क्यचि च ७। ४। ३३। अवर्णस्य ईत्स्यात् । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । नः क्ये १। ४। १५। क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नाऽन्यत् ।

अबोभूवीत्, अबोभोत् (ई० २४, २९)—भूधातोर्यङि यङो लुकि प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासगुणे जश्त्वे धातुत्वाल्लुङ्स्तिपि इकारलोपे अटि अनुबन्धलोपे च्लौ च्लेः सिचि 'गातिस्थे'ति सिचो लुकि 'यङो वा' इति ईटि गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुकि 'अबोभूवीत्' इति ईडभावपक्षे 'अच्परत्वाऽभावाद् वुगभावे गुणे 'अबोभोत्' इति ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां यङ्लुगन्तप्रकरणम् ।

पुत्रीयति (ई० ४४, ४९ ५५)—आत्मनः पुत्रमिच्छतीति विग्रहे 'पुत्र

'श्तिपा, शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं, यद्गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि' ॥

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङ्लुगन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

सुप्—'इष्' धातुका कर्म और 'इच्छा करनेवाले' कर्ताके संबन्धिवाचक सुबन्तसे इच्छा अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

नोटः—'देवदत्तः आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति' यहाँ पुत्र इष धातुका कर्म है और इच्छा करनेवाला देवदत्तका संबन्धी भी है, अतः तद्वाचक सुबन्तसे क्यच् हुआ ।

सुपो—धात्ववयव और प्रातिपदिकावयव 'सुप्' का लुक् (लोप) हो ।

क्यचि—अवर्ण को 'ईत्' हो क्यच्के परे ।

नः क्ये—क्यच्-क्यङ्के परे नान्त शब्दकी ही पदसंज्ञा हो-अन्यकी नहीं ।

समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४। रथेन सञ्चरते। **दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे** १।३।५५। सम्पूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते कामी। **पूर्ववत्सनः** १।३।६२। सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते। **हलन्ताच्च** १।२।१०। इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन् कित्स्यात्। निविविक्षते। **गन्धनाऽवक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः** १।३।३२। गन्धनं—सूचनम्। उत्कुरुते। सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणं—भर्त्सनम्। श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिमुपकुरुते। सेवते इत्यर्थः। परदारान्प्रकुरुते। तेषु सहसा प्रवर्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते।

समस्तृ—(सकर्मकादिति निवृत्तम्) सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिव्याहृतात् चर-धातोरात्मनेपदं स्यात्।

दास्या संयच्छते कामी—अत्र 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इति वार्तिकेन 'दास्या' इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया। ततश्च दास्येति तृतीयान्तयुक्तात्सम्पूर्वकाद् दाण्धातोः 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इत्यात्मनेपदे लडादिकार्ये तत्सिद्धिः।

एदिधिषते (ई० २२) एधधातोः सनि इटि द्वित्वे अभ्यासत्वे जश्त्वे षत्वे 'एदिधिष' इति सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यनेन सन्प्रकृतेरेधधातोरात्मनेपदित्वात्तत्प्रकृतिकसन्नन्तादप्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'एदिधिषते' इति सिद्धम्।

निविविक्षते—निपूर्वकाद् विश्धातोः सनि 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वाद्गुणाऽभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'व्रश्चे'ति षत्वे षस्य कत्वे सनः सस्य षत्वे 'निविविक्ष' इति सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

एधोदकस्योपस्कुरुते (ई० ३०, ५१)—अत्र 'गन्धनाऽवक्षेपण' इति सूत्रेण प्रतियत्नेऽर्थे आत्मनेपदं भवतीति। प्रतियत्नः = गुणाधानम्। 'अधोदैधौद्मप्रश्रथहिम-

---

समस्तृ—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'चर्' आत्मनेपद धातुसे हो।

दाणश्च—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'दाण' धातुसे आत्मनेपद हो, वह तृतीया यदि चतुर्थीके अर्थमें रहे।

पूर्ववत्—सन्से पूर्व (सन्प्रकृतिभूत) जो धातु उसीके समान सन्नन्तसे भी आत्मनेपद हो। **हलन्ता**—इक्समीप हल्से पर झलादि सन् कित् हो। **गन्धनावक्षेपण**—गन्धनादि

नति । **कष्टाय क्रमणे ३।१।१४।** चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः । **शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३। १। १७।** एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । (ग. सू.) तत्करोति तदाचष्टे—इति णिच् । **प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ।** प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात् , इष्ठे यथा–प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव–रभाव–टिलोप–विन्मतु–ल्लोपयणादिलोप–प्रस्थस्फाद्यादेश–भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः । इत्यल्लोपः । घटं करोत्याचष्टे वा घटयति । इति नामधातुप्रकरणम् ।

केभ्यः—' इति क्विपि तस्य लोपे धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घे 'इदामति' इति । राजानति (ई० २१, ४०)—राजा–इव–आचरतीति विग्रहे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः—' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि 'अनुनासिकस्य–' इति दीर्घे तत्सिद्धम् ।

कष्टायते (ई० ४८, ५०)–'कष्टाय क्रमते' इति विग्रहे चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दात् 'कष्टाय क्रमणे' इति क्यङि धातुत्वात् सुपो लुकि ङित्वादात्मनेपदे लटः स्थाने तप्रत्यये टेरेत्वे शपि पररूपे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घे तत्सिद्धिः ।

घटयति—घटं करोत्याचष्टे वेति विग्रहे घटशब्दात् 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इति णिचि इष्ठवद्भावाट्टिलोपे च जाते तस्य स्थानिवद्भावादुपधावृद्ध्यभावे धातुत्वाल्लटि तिपि शपि गुणे अयादेशे च कृते 'घटयति' इति ।

कष्टाय—चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्दसे क्यङ् प्रत्यय हो, उत्साह अर्थमें । **शब्दवैर**—कर्मीभूत–शब्द, वैर, आदि शब्दोंसे 'करोति' अर्थमें क्यङ् प्रत्यय हो । **प्रातिपदिक**—(सभी) प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे और 'इष्ठन्' प्रत्ययके परे यथा पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् तथा मतुप् लोप, यणादि लोप, प्र–स्थ–स्फ–आदि आदेश और भसंज्ञा कार्य होते हैं, तथा इस 'णिच्'के परे भी हों ।

नोट :—पुंवद्भावादिका उदाहरण—**पुंवद्भाव**—पट्वीमाचष्टे पटयति । **रभाव**—दृढं करोति द्रढयति । **टिलोप**—पट्वमाचष्टे पटयति । **विन्लोप**—स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति । **मतुब्लोप**—श्रीमन्तं करोति श्राययति । **यणादिलोप**—स्थूलमाचष्टे स्थवयति । दूरं करोति दवयति । **प्रादेश**—प्रियमाचष्टे प्रापयति । **स्थादेश**—स्थिरं करोति स्थापयति । **स्फादेश**—स्फिरमाचष्टे स्फावयति । **भसंज्ञा**—पट्वीमाचष्टे पटयति ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नामधातुप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ कण्ड्वादिप्रकरणम्

कण्ड्वादिभ्यो यक् ३ । १ । २७ । एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्स्वार्थे । कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । कण्डूयति । कण्डूयते-इत्यादि ।

॥ इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ॥

—∞:∞—

अथात्मनेपदप्रकरणम् ।

कर्तरि कर्मव्यतिहारे १ । ३ । १४ । क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनमन्यः करोतीत्यर्थः । न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५। व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति । नेर्विशः १ । ३ । १७ । निविशते ।

न गति—क्रियाविनिमये द्योत्ये गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्य आत्मनेपदं न स्यादित्यर्थः ।

व्यतिघ्नन्ति (ई० ३०)—वि + अति = व्यति-पूर्वाद् हन्धातोः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इति क्रियाविनिमयेऽर्थे आत्मनेपदे प्राप्ते 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' इति निषेधे लडादिकार्ये विहिते तत्सिद्धिः ।

निविशते (ई० ४७, ४९, ५० ५५)—निपूर्वकाद् विशधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थक 'नेर्विशः' इति आत्मनेपदे लडादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

कण्ड्वादि—कण्ड्वादिगणपठित धातुओंसे नित्य यक् प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

नोट :—'कण्डूयते'में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुणका 'क्ङिति च' से निषेधके लिये 'यक्' में कित्वका उपादान किया गया है, अतः कित्वनिर्देशात् कण्ड्वादि धातु है। एवं 'कण्डूञ्'में दीर्घका उपादान किया गया है, अतः कण्ड्वादि प्रातिपदिक भी है। अन्यथा यदि कण्ड्वादि धातु ही होता तो ह्रस्व पाठ करनेपर भी 'यक्' प्रत्ययके परे 'अकृत्सार्वधातुकयोः'से दीर्घ होकर 'कण्डूयते' प्रयोग बनता ही, दीर्घ निर्देश करना अनर्थक था । सूत्रकी वृत्तिमें 'धातुभ्यः' ऐसा कहा गया है अतः स्मरण रखना चाहिये कि कण्ड्वादि धातुसे ही यक् हो, प्रातिपदिकसे नहीं ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कण्ड्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

—∞:∞—

कर्तरि—क्रियाका विनिमय (अदल-बदल) अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे आत्मनेपद हो, कर्तामें । न गति—गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओंसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो । नेर्वि—'नि' उपसर्गक 'विश' धातुसे आत्मनेपद हो । परिव्यवे—परि, वि और

नति । **कष्टाय क्रमणे ३।१।१४।** चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः । **शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३। १। १७।** एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । (ग. सू.) तत्करोति तदाचष्टे—इति णिच् । **प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ।** प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात् , इष्ठे यथा–प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव–रभाव–टिलोप–विन्मतु–ल्लोपयणादिलोप–प्रस्थस्फाद्यादेश–भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः । इत्यल्लोपः । घटं करोत्याचष्टे वा घटयति । इति नामधातुप्रकरणम् ।

केभ्यः—' इति क्विपि तस्य लोपे धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घे 'इदामति' इति । राजानति (ई० २१, ४०)—राजा–इव–आचरतीति विग्रहे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः—' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे धातुत्वाल्लटस्तिपि शपि 'अनुनासिकस्य–' इति दीर्घे तत्सिद्धम् ।

कष्टायते (ई० ४८, ५०)–'कष्टाय क्रमते' इति विग्रहे चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दात् 'कष्टाय क्रमणे' इति क्यङि धातुत्वात् सुपो लुकि ङित्वादात्मनेपदे लटः स्थाने तप्रत्यये टेरेत्वे शपि पररूपे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घे तत्सिद्धिः ।

घटयति—घटं करोत्याचष्टे वेति विग्रहे घटशब्दात् 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इति णिचि इष्ठवद्भावाट्टिलोपे च जाते तस्य स्थानिवद्भावादुपधावृद्ध्यभावे धातुत्वाल्लटि तिपि शपि गुणे अयादेशे च कृते 'घटयति' इति ।

कष्टाय—चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्दसे क्यङ् प्रत्यय हो, उत्साह अर्थमें । **शब्दवैर**—कर्मीभूत–शब्द, वैर, आदि शब्दोंसे 'करोति' अर्थमें क्यङ् प्रत्यय हो । **प्रातिपदिक**—(सभी) प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे और 'इष्ठन्' प्रत्ययके परे यथा पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् तथा मतुप् लोप, यणादि लोप, प्र–स्थ–स्फ–आदि आदेश और भसंज्ञा कार्य होते हैं, तथा इस 'णिच्'के परे भी हों ।

नोट :—पुंवद्भावादिका उदाहरण—**पुंवद्भाव**—पट्वीमाचष्टे पटयति । **रभाव**—दृढं करोति द्रढयति । **टिलोप**—पटुमाचष्टे पटयति । **विन्लोप**—स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति । **मतुब्लोप**—श्रीमन्तं करोति श्राययति । **यणादिलोप**—स्थूलमाचष्टे स्थवयति । दूरं करोति दवयति । **प्रादेश**—प्रियमाचष्टे प्रापयति । **स्थादेश**—स्थिरं करोति स्थापयति । **स्फादेश**—स्फिरमाचष्टे स्फापयति । **भसंज्ञा**—पट्वीमाचष्टे पटयति ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नामधातुप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ कण्ड्वादिप्रकरणम्

कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७। एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे। कण्डूयति। कण्डूयते-इत्यादि।

॥ इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ॥

—००:०:००—

अथात्मनेपदप्रकरणम्।

कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४। क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनमन्यः करोतीत्यर्थः। न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५। व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति। नेर्विशः १।३।१७। निविशते।

न गति—क्रियाविनिमये द्योत्ये गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्य आत्मनेपदं न स्यादित्यर्थः।

व्यतिघ्नन्ति (ई० ३०)—वि + अति = व्यति-पूर्वाद् हन्धातोः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इति क्रियाविनिमयेऽर्थे आत्मनेपदे प्राप्ते 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' इति निषेधे लडादिकार्ये विहिते तत्सिद्धिः।

निविशते (ई० ४७, ४९, ५० ५५)—निपूर्वकाद् विशधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थक 'नेर्विशः' इति आत्मनेपदे लडादिकार्ये तत्सिद्धिः।

कण्ड्वादि—कण्ड्वादिगणपठित धातुओंसे नित्य यक् प्रत्यय हो, स्वार्थमें।

नोट :—'कण्डूयते'में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुणका 'क्ङिति च' से निषेधके लिये 'यक्' में कित्वका उपादान किया गया है, अतः कित्वनिर्देशात् कण्ड्वादि धातु है। एवं 'कण्डूञ्'में दीर्घका उपादान किया गया है, अतः कण्ड्वादि प्रातिपदिक भी है। अन्यथा यदि कण्ड्वादि धातु ही होता तो ह्रस्व पाठ करनेपर भी 'यक्' प्रत्ययके परे 'अकृत्सार्वधातुकयोः'से दीर्घ होकर 'कण्डूयते' प्रयोग बनता ही, दीर्घ निर्देश करना अनर्थक था। सूत्रकी वृत्तिमें 'धातुभ्यः' ऐसा कहा गया है अतः स्मरण रखना चाहिये कि कण्ड्वादि धातुसे ही यक् हो, प्रातिपदिकसे नहीं।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कण्ड्वादिप्रकरण समाप्त हुआ।

—००:०:००—

कर्तरि—क्रियाका विनिमय (अदल-बदल) अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे आत्मनेपद हो, कर्तामें। न गति—गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओंसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो। नेर्वि—'नि' उपसर्गक 'विश' धातुसे आत्मनेपद हो। परिव्यवे—परि, वि और

परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते। **विपराभ्यां जेः** १।३।१९। विजयते। पराजयते। **समवप्रविभ्यः स्थः** १।३।२२। सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते। **अपह्नवे ज्ञः** १।३।४४। शतमपजानीते। अपलपतीत्यर्थः। **अकर्मकाच्च** १।३।४५। सर्पिषो जानीते। सर्पिषोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः। **उदश्चरः सकर्मकात्** १।३।५३। धर्ममुच्चरते। उल्लंघ्य गच्छतीत्यर्थः।

परिव्यवेभ्यः—परि वि अव एभ्यः परस्मात् क्रीञ्धातोरात्मनेपदं स्यात्। **विपराभ्यां**—वि परा आभ्यां परस्मात् जिधातोरात्मनेपदं स्यात्। **समव**—सम् अव प्र वि एभ्यः परस्मात् स्थाधातोरात्मनेपदं स्यात्।

अपह्नवे ज्ञः—अपह्नवः = अपलापः, तद्वृत्तेर्ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यात्।

विजयते (ई० ५३, ५४) 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदमत्र।

उदश्चरः—उत्पूर्वात् सकर्मकात् चरधातोरात्मनेपदं स्यात्।

अव उपसर्गक 'क्रीञ्' धातुसे आत्मनेपद हो। **विपरा**—वि और परा उपसर्गक 'जि' धातुसे आत्मनेपद हो। **समव**—'सम्' 'अव' 'प्र' अथवा 'वि' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो। **अपह्न**—'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद हो, अपह्नव (अपलाप) अर्थमें। **अकर्म**—अकर्मक (सोपसर्गकसे भी) 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो।

नोट :—'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया'॥

यहाँ पर प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—(१) सकर्मक धातु यदि अर्थान्तर (अकर्मक क्रियारूप अर्थान्तर) को कहने लगे तो वह अकर्मक हो जाती है। यथा 'भारं वहति = प्रापयति' यहाँ प्रापणार्थक 'वह्' धातु सकर्मक है, परन्तु यही अर्थान्तर (स्यन्दते रूप अर्थमें वृत्ति (प्रवृत्ति) होकर कहीं अकर्मक होती है। यथा 'नदी वहति = स्यन्दते (प्रस्रवति)'। (२) यदि कर्मका धात्वर्थसे उपसंग्रह हो जाय तो धातु अकर्मक हो जाती है। यथा 'जीवति' 'नृत्यति' यहाँ 'जीव' का प्राणधारण करना और 'नृत' का अङ्गविक्षेप करना अर्थ है। परन्तु दोनों जगह प्राणधारण और अङ्गविक्षेप रूप कर्मका धात्वर्थमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ये दोनों धातु सकर्मक नहीं होते। (३) कहीं प्रसिद्ध कर्म रहने पर भी धातु अकर्मक हो जाती है। यथा 'मेघो वर्षति' (अर्थात् मेघो जलं वर्षति) यहाँ पर जलरूप कर्म प्रसिद्ध है, परन्तु धातु अकर्मक कही जाती है। (४) कर्मकी अविवक्षा करने पर भी धातु अकर्मक हो जाती है, यथा 'हिताञ्च यः संश्रृणुते' स किंप्रभुः, (हितात् पुरुषात् यः न संश्रृणुते = स्वहितं न मन्यते, स किंप्रभुः, कुत्सित इत्यर्थः) यहाँ स्वहित रूप कर्मकी अविवक्षा करने पर धातु अकर्मक हो जाती है। (७९ पृ० भी देखें)

उदश्चरः—'उत्' उपसर्गसे पर सकर्मक 'चर्' धातुसे आत्मनेपद हो।

समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४। रथेन सञ्चरते । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५। सम्पूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी । पूर्ववत्सनः १।३।६२। सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते । हलन्ताच्च १।२।१०। इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन् कित्स्यात् । निविविक्षते । गन्धनाऽवक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः १।३।३२। गन्धनं—सूचनम् । उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं-भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिमुपकुरुते । सेवते इत्यर्थः । परदारान्प्रकुरुते । तेषु सहसा प्रवर्तते । एधोदकस्योपस्कुरुते ।

समस्तृ—(सकर्मकादिति निवृत्तम्) सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिव्याहृतात् चर्धातोरात्मनेपदं स्यात् ।

दास्या संयच्छते कामी—अत्र 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इति वार्तिकेन 'दास्या' इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया । ततश्च दास्येति तृतीयान्तयुक्तात्सम्पूर्वकाद् दाण्धातोः 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इत्यात्मनेपदे लडादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

एदिधिषते (ई० २२) एध्धातोः सनि इटि द्वित्वे अभ्यासत्वे जश्त्वे षत्वे 'एदिधिष' इति सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यनेन सन्प्रकृतेरेधधातोरात्मनेपदित्वात्तत्प्रकृतिकसन्नन्तादप्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'एदिधिषते' इति सिद्धम् ।

निविविक्षते—निपूर्वकाद् विश्धातोः सनि 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वाद्गुणाऽभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे 'व्रश्चे'ति षत्वे षस्य कत्वे सनः सस्य षत्वे 'निविविक्ष' इति सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

एधोदकस्योपस्कुरुते (ई० ३०, ५१)—अत्र 'गन्धनाऽवक्षेपण' इति सूत्रेण प्रतियत्नेऽर्थे आत्मनेपदं भवतीति । प्रतियत्नः = गुणाधानम् । 'अवोदैधौद्मप्रश्रथहिम-

---

समस्तृ—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'चर्' आत्मनेपद धातुसे हो ।

दाणश्च—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'दाण' धातुसे आत्मनेपद हो, वह तृतीया यदि चतुर्थीके अर्थमें रहे ।

पूर्ववत्—सन्से पूर्व (सन्प्रकृतिभूत) जो धातु उसीके समान सन्नन्तसे भी आत्मनेपद हो । हलन्ता—इक्समीप हल्से पर झलादि सन् कित् हो । गन्धनावक्षेपण—गन्धनादि

गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते । प्रकथयतीत्यर्थः । शतं प्रकुरुते । धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति । भुजोऽनवने १।३।६६। ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ? महीं भुनक्ति । ॥ इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ॥

अथ परस्मैपदप्रकरणम्

अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९। अनुपराभ्यां कृञः कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १ । ३ । ८०। क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति । प्राद्वहः १।३।८१। प्रवहति । परेर्मृषः १।३।८२। परिमृषति । व्याङ्परिभ्यो रमः १ । ३ । ८३ । रमु क्रीडायाम् । विरमति । उपाच्च १ । ३ । ८४ । यज्ञदत्तमुपरमति । उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । ॥ इति परस्मैपदप्रकरणम् ॥

धयाः' इति सूत्रे निपातितः एधशब्दोऽदन्तः । एधश्च उदकं चेति एधोदकं तस्य = एधोदकस्य उपस्कुरुते, गुणमाधत्ते इत्यर्थः । इति टीकायामात्मनेपदप्रकरणम् ।

अभिप्रति—अभि प्रति अति इत्येवं पूर्वात् क्षिपः परस्मैपदं स्यात् ।

प्राद्वहः—प्रपूर्वाद् वहतेः परस्मैपदं स्यात् ।

परेर्मृषः—परिपूर्वाद् मृषतेः परस्मैपदं स्यात् ।

व्याङ्—वि आङ् परि इत्येवं पूर्वाद् रमतेः परस्मैपदं स्यात् ।

उपाच्च—उपपूर्वाद् रमतेः परस्मैपदं स्यात् । इति परस्मैपदप्रकरणम् ।

अर्थोंमें 'कृञ्' धातुसे आत्मनेपद हो। भुजो—(रुधादि पृ० १३५ देखो) ।

अनुपराभ्यां—'अनु' और 'परा' उपसर्गसे पर 'कृञ्' धातुसे परस्मैपद हो कर्तृगामी क्रियाफल में तथा गन्धनादि अर्थमें भी । अभिप्रत्यतिभ्यः—अभि, प्रति और अति उपसर्गसे पर क्षिप् धातुसे परस्मैपद हो । प्राद्वहः—'प्र' उपसर्गसे पर 'वह्' धातुसे परस्मैपद हो । परेर्मृषः—'परि' उपसर्गके 'मृष' धातुसे परस्मैपद हो । व्याङ्परिभ्यो—वि, आङ् और परि उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो ।

उपाच्च—'उप' उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें परस्मैपदप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ भावकर्मप्रकरणम्

भावकर्मणोः १।३।१३। भावे कर्मणि च धातोः लस्यात्मनेपदम्। सार्वधातुके यक् ३।१।६७। धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भावः-क्रिया। सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वे द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किं त्वेकवचनमेवौत्सर्गतः। त्वया मया अन्यैश्च भूयते। बभूवे। स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६।४।६२। उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाऽङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद्वृद्धिः। भाविता-भविता।

भूयते (ई० ४९)-भूधातोर्भावे लटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये टेरेत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि क्त्त्वाद्गुणाभावे 'भूयते' इति।

भाविता (ई० २०,२०,४१)—भूधातोर्भावे लुटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लुटस्तप्रत्यये तासि डादेशे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपे 'स्यसिच्' इति चिण्वद्भावे इटि च कृते चिण्वद्भावाद् वृद्धौ आवादेशे भाविता इति। चिण्वदभावपक्षे इटि

भावकर्मणोः—भाववाच्य और कर्मवाच्यमें लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो।

सार्वधातुके—भाववाची और कर्मवाची सार्वधातुकके परे धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो।

नोट :—भाव क्रियाको कहते हैं। वह भावार्थक लकारसे अनूदित होता है। भावमें प्रत्यय करनेपर तिङ् के साथ युष्मद्-अस्मद् शब्द एकार्थवाचक नहीं होते, अतः धातुसे प्रथम पुरुष ही होता है। (कर्तामें प्रत्यय करनेपर तिङ् और युष्मद्-अष्मद् शब्द कर्तारूप एकार्थके वाचक होते हैं, अतः धातुसे मध्यम-उत्तम पुरुष होते हैं। पृ० ८१ देखो) तिङर्थ क्रियाके द्रव्यरूप न होनेसे द्वित्व, बहुत्व संख्याकी प्रतीति नहीं होती इसलिये द्विवचन, बहुवचन नहीं होते, किन्तु स्वाभाविक एकवचन ही होता है। भावमें प्रत्यय होनेपर कर्ता अनुक्त होनेसे कर्तासे तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—'त्वं भवसि' इस अर्थमें 'त्वया भूयते' इत्यादि (पृ० ७९ देखो)।

स्यसिच्—उपदेशावस्थामें जो अच्, तदन्त जो धातु, उसको तथा हन्, ग्रह और दृश् धातुओंको 'णिच्' के परे जो २ अङ्ग कार्य होते हैं वे कार्य स्य, सिच्, सीयुट् और तास्के परे भाव तथा कर्मका अर्थ गम्यमान रहने पर विकल्पसे हों, एवं स्य, सिच्, सीयुट् और तासको चिण्वद्भावपक्षमें इट्का आगम भी हो।

भाविष्यते-भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भाविषीष्ट-भविषीष्ट। **चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६।** च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत-अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण

गुणे अवादेशे भवितेति। ण्यन्तात् 'भावि' इत्यस्मात् कर्मणि प्रत्ययेऽपि 'भाविता' इति भवति। तत्र चिण्वद्भावे इटि च कृते तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोप इति विशेषः। अत्र चिण्वद्भावपक्षे इटि गुणे अयादेशे 'भावयिता' इति बोध्यम्।

भाविषीष्ट (ई० २०)—भूधातोर्भावे आशीर्लिङि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदत्वाल्लिङस्तप्रत्यये सीयुटि 'सुट् तिथोः' इति सुटि 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'स्यसिच' इति चिण्वद्भावे इटि च कृते वृद्धौ आवादेशे उभयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे 'भाविषीष्ट' इति। चिण्वद्भावे तु 'भविषीष्ट' इति।

अभावि—भूधातोर्भावे लुङि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लुङस्तप्रत्यये अटि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि वृद्धौ आवादेशे 'चिणो लुक्' इति तलोपः।

चिणभाव—'च्लि' के स्थानमें चिण् आदेश हो, भाव और कर्मवाची 'त' शब्दके परे।

अकर्मकोप्युपसर्गवशात्सकर्मकः—अकर्मक धातु भी उपसर्गवशात् सकर्मक हो जाता है। यथा—'अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण' इत्यादि। यहां अनुपूर्वक भूधातु अनुभवार्थक होनेसे सकर्मक हो गया और उससे कर्ममें भी प्रत्यय सिद्ध हुआ। कर्म उक्त होनेपर कर्मसे प्रथमा और कर्ता अनुक्त होनेपर कर्तासे तृतीया विभक्ति होती है। एवं कर्मके एकवचन रहनेपर क्रिया प्रथम पुरुषके एकवचन, द्विवचन रहनेपर द्विवचन और बहुवचन रहनेपर बहुवचन होती है। केवल युष्मद् कर्म रहनेपर मध्यम पुरुषकी और अस्मद् कर्म रहनेपर उत्तम पुरुषकी क्रिया होती है। यथा—चैत्रेण आनन्दः अनुभूयते, चैत्रेण आनन्दौ अनुभूयेते, चैत्रेण आनन्दाः अनुभूयन्ते। एवं चैत्रेण त्वम् अनुभूयसे, चैत्रेण युवाम् अनुभूयेथे, चैत्रेण यूयम् अनुभूयध्वे। चैत्रेण अहम् अनुभूये, चैत्रेण आवाम् अनुभूयावहे, चैत्रेण वयम् अनुभूयामहे। (इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना)

नोट:—अकर्मक धातु भी ण्यन्त होनेपर सकर्मक हो जाता है और सकर्मक होनेपर उससे कर्ममें भी प्रत्यय होने लगता है तथा कर्मानुसार क्रिया होती है। यथा कर्तामें—रामः भवति कृष्णः तं प्रेरयति इति कृष्णः रामं भावयति। कर्म में—कृष्णेन रामः भाव्यते, रामौ भाव्येते, रामाः भाव्यते। एवं—कृष्णेन—त्वं भाव्यसे, युवां भाव्येथे, यूयं भाव्यध्वे। अहं भाव्ये, आवाम् भाव्यावहे, वयम् भाव्यामहे।

द्विकर्मक धातुओंके किस कर्ममें लकार होगा इसकी व्यवस्था निम्न है:—

'गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्'।

त्वया मया च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनुभूये । अन्वभावि । अन्वभाविषाताम्-अन्वभविषाताम् । णिलोपः । भाव्यते । भावयाञ्चक्रे । भावयाम्बभूवे । भावयामासे । चिण्वदिट् । आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाण्णिलोपः । भाविता । भावयिता । भाविष्यते-भावयिष्यते । अभाव्यत । भाव्येत । भाविषीष्ट-भावयिषीष्ट । अभावि । अभाविषाताम्-अभावयिषाताम् । बुभूष्यते । बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बोभूय्यते । बोभूयते । अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः । स्तूयते विष्णुः । स्ताविता-स्तोता । स्ताविष्यते-स्तोष्यते । अस्तावि । अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम् । ऋ गतौ । गुणोऽर्तीति गुणः । अर्यते । स्मृ स्मरणे । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट् । आरिता-अर्ता । स्मारिता-स्मर्ता । अनिदितामिति नलोपः । स्रस्यते । इदितस्तु नन्द्यते । सम्प्रसारणम्-इज्यते । तनोतेर्यकि

अस्तावि (ई० ३८, ४०)—'ष्टु' इत्यत्र षस्य सत्वे ष्टुत्वनिवृत्तौ 'स्तु इति । तस्मात् कर्मणि लुङि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदत्त्वाल्लुङस्तप्रत्यये अटि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि वृद्धौ आवादेशे 'चिणो लुक्' इति तस्य लुकि 'अस्तावि' इति ।

आरिता (ई० ४५)—ऋधातोः कर्मणि लुटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदत्वाल्लुटः स्थाने तप्रत्यये तासि 'स्यसिच्' इति चिण्वदिटि चिण्वद्भावाद् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे तस्य डादेशे डित्वादभस्यापि टेलोपे 'आरिता' इति ।

इज्यते (ई० ३१)—यजधातोः कर्मणि लटि 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे-

---

बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया ॥
प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः ॥

अर्थात् दुह्, याच्, पच्, दण्ड रुधि, प्रच्छि, चि, ब्रू, शास्, जि, मन्थ मुष् इन धातुओं के (अकथितञ्चेति सूत्रविहित) गौणकर्ममें लकारहोता है। (इसलिये गौण कर्मसे ही प्रथमा विभक्ति होती है, यथा '**गौर्दुह्यते पयः**'। नी, हृ, कृष् तथा वह धातुओंके (अकथितञ्च' से भिन्न सूत्रविहित) प्रधान कर्ममें लकार होता है, (इस लिये प्रधान कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है) यथा '**अजा ग्रामं नीयते**'। बुद्ध्यर्थक, भक्षार्थक और शब्दकर्मक धातुओंके ('गतिबुद्धि' सूत्रविहित गौण या तदतिरिक्त सूत्रविहित प्रधान) दोनों कर्मोंमें स्वेच्छासे लकार होता है—(इसलिये प्रधानाऽप्रधान उभय कर्मोंसे प्रथमा विभक्ति होती है) यथा '**बोध्यते माणवकं धर्मः, माणवको धर्मम्' इति वा**। **अन्येषां**—पूर्वोक्तोंसे अन्य अर्थात् ण्यन्त जो-गत्यर्थक, अकर्मक तथा 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इस सूत्रोपात्त कृञ् धातुओंके प्रयोज्य कर्ममें लकार होता है (अतः प्रयोज्य कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है) यथा **मासमास्यते माणवकः, हार्यते कार्यते वा भृत्यः कटं देवदत्तेन** ।

तनोतेर्यकि—'तन्' धातुको अकारान्त आदेश हो, यक्के परे, विकल्पसे । 'तप'

६।४।४४। तनोतेर्यकि आकारोऽन्तादेशो वा स्यात् । तायते-तन्यते । तपोऽनुतापे च ३।१।६५। तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तर्यनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । घुमास्थेतीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे । आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३। आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च । दायिता-दाता । दायिषीष्ट-दासीष्ट । अदायिषाताम् । भज्यते । भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३। नलोपो वा स्यात् । अभाजि-अभञ्जि । लभ्यते । विभाषा चिण्णमुलोः ७ । १ । ६९ । लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि-अलाभि ।　　॥ इति भावकर्मप्रकरणम् ॥

लटस्तप्रत्यये टेरेत्वे यकि 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'इज्यते' इति ।

अन्वतप्त—'अनु' पूर्वात् तप्धातोः कर्मणि लुङस्तप्रत्यय अटि यणि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि प्राप्ते 'तपोऽनुतापे च' इति तन्निषेधे च्लेः सिचि 'झलो झलि' इति सलोपे 'अन्वतप्त, पापेन' इति । पापेनेति कर्तरि तृतीया । ननु अनुपूर्वस्य तपेः पश्चात्तापार्थकत्वे असंगतिः, नहि पापस्य सूर्यादिवत्तपनशक्तिरस्ति, शोकार्थकत्वे तु अकर्मकत्वापत्त्या कर्मणि लकार एव नेति चेन्न, अनुपूर्वकस्य तप्धातोः उपसर्गवशात् अभिहननार्थके प्रवर्तमानत्वेन सकर्मकत्वस्य जागरूकत्वात् ।

अभाजि (ई० ४६, ४७, ५०, ५५)—भन्ज्धातोः कर्मणि आत्मनेपदे लुङस्तप्रत्यये अटि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि 'भञ्जेश्च चिणि' इति पाक्षिके नलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अभाजि' इति ।

अलम्भि (ई० २२, २९, ४८)—लभ्धातोः कर्मणि आत्मनेपदे लुङस्त प्रत्यये अटि च्लौ 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे 'अलम्भि' इति ।

धातुसे पर 'च्लि' को चिण् नहीं हो, कर्म-कर्ता और अनुताप अर्थमें । आतो—आदन्त धातुको 'युक्'का आगम हो, चिण्के परे और ञित्-णित-कृतके परे । भञ्जेश्च—'भञ्ज' धातुके नकारका लोप हो, 'चिण्'के परे, विकल्पसे । विभाषा—'लभ्' धातुको नुम् हो, चिण् और णमुल्के परे, विकल्पसे । नोटः—कर्तृवाच्यमें कृदन्तकी क्रिया कर्ताका विशेषण और कर्म वाच्यमें कर्मका विशेषण होती है और भाववाच्यमें नपुंसक लिंगका एकवचनान्त होती है । यथा कर्तृवाच्य-'स अस्मान् उक्तवान्' । कर्मवाच्य—'तेन वयं उक्ताः' । भाववाच्य—'तेन उक्तम्' ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ कर्मकर्तृप्रकरणम्

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च लकारः। कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे-भिद्यते काष्ठेन।

॥ इति कर्मकर्तृप्रकरणम् ॥

पच्यते फलम् (ई० ४५, ५०)—गोपालः फलं पचतीत्यत्र गोपालस्य कर्तृत्वेन अविवक्षायां फलरूपस्य कर्मण एव कर्तृत्वेन विवक्षायां 'पच्' धातोरकर्मकत्वात् कर्तरि लटि लटा कर्तुरुक्तत्वात् प्रथमायां 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति फलस्य कर्तुः कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लटस्तप्रत्यये टेरेत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि 'पच्यते फलम्' इति सिद्धम्।

भिद्यते काष्ठम् (ई० २१, ५१, ५२)—रथकारः काष्ठं भिनत्तीत्यत्र रथकारस्य कर्तृत्वेन अविवक्षायां काष्ठरूपस्य कर्मण एव कर्तृत्वेन विवक्षायां 'भिद्' धातोरकर्मकत्वात् कर्तरि लटि लटा कर्तुरुक्तत्वात् प्रथमायां 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति काष्ठस्य कर्तुः कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे लटः स्थाने तप्रत्यये टेरेत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि 'भिद्यते काष्ठम्' इति जातम्।

(भावे तु काष्ठस्य कर्तुरनुक्तत्वात्तत्र तृतीयायां 'भिद्यते काष्ठेन' इति भवति)

यदा—जब कर्मकी ही कर्तृत्वेन विवक्षा की जाय तब सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाते हैं और उनसे भाव तथा कर्तामें लकार होता है।

कर्मवत्कर्म—कर्मस्था (कर्ममें वर्तमान) जो क्रिया, उसके समान ही क्रिया है जिसकी ऐसा जो कर्ता, वह कर्मवत् हो, इससे यगादि होते हैं। (जहां कर्ममें क्रियाकृत विलक्षणता दिखाई पड़े वहां कर्मस्था क्रिया होती है। जैसे पके ओदनमें।)

नोट—कर्म ही यदि कर्ता हो, अर्थात् क्रियाका कर्तृत्व यदि कर्ममें आरोपित हो तो 'कर्म कर्ता' हो जाता है और कर्मकर्तामें प्रथमा विभक्ति होती है—अन्य कर्म पद नहीं रहता तथा क्रियाका रूप कर्मवाच्यकी क्रियाके तुल्य होता है। यथा—**'काष्ठं भिद्यते स्वयमेव'**। कार्य करनेके समय जो 'कर्मकारक' कर्ताके सुखकर निजगुणोंसे स्वयं ही सिद्ध होता है, उसे 'कर्मकर्ता' कहते हैं। कहा भी है:—

क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः 'कर्मकर्ते'ति तद्विदुः॥

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कर्मकर्तृप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ लकारार्थप्रकरणम्

अभिज्ञावचने लृट् ३।२।११२। स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् । लङोऽपवादः । वस निवासे । स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः । एवं 'बुध्यसे'—'चेतयसे' इत्यादिप्रयोगेऽपि । न यदि ३।२।११३। यद्योगे उक्तं न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्ज्महि ? । लट् स्मे ३ । २ । ११८ । लिटोऽपवादः । यजति स्म युधिष्ठिरः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ३।३।१३१। वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः । कदाऽऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागमं वा । कदा गमिष्यसि ? । एष गच्छामि, गमिष्यामि वा । हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३ । ३ । १५६ । हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा स्यात् । कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति । भविष्यत्येवेष्यते । नेह—हन्तीति

स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः (ई० ३५, ५१)—स्मरसीत्युपपदात् 'वस्'धातोर्भूतानद्यतने लङि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'अभिज्ञावचने लृट्' इति लृटि तत्स्थाने मसि 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्यप्रत्यये 'सः स्यार्धधातुके' इति सस्य तकारे 'अतो दीर्घो यञि' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः ।

यजति स्म युधिष्ठिरः (ई० ४६, ५०, ५२, ५४, ५६)–अत्र 'स्म' शब्दो भूतकालद्योतकः । ततश्च यज्धातोः लिटि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'लट् स्मे' इति स्मयोगे लटि तिपि शपि तत्सिद्धिः ।

कदा गमिष्यसि ! एष गच्छामि (ई० ४५)—कदा गमिष्यसीति प्रश्ने एष गच्छामीत्युत्तरम् । अत्र भूधातोः भविष्यति लृटि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानवद्भावाद् लटि तत्स्थाने मिपि शपि 'इषुगमि-

---

अभिज्ञावचने—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर भूत-अनद्यतन अर्थमें धातुसे 'लृट्' लकार हो ।

न यदि—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर 'यत्' के योगमें 'लृट्' नहीं हो ।

लट् स्मे—'स्म' के योगमें धातुसे 'लिट्' का अपवाद लट् लकार हो ।

वर्तमानसामीप्ये—वर्तमान कालमें जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे वर्तमानके समीप भूत और वर्तमानके समीप भविष्यत् कालमें भी हों, विकल्पसे ।

हेतुहेतु—हेतुहेतुमद्भाव (कार्यकारणभाव) गम्यमान हो तो भविष्यत् कालमें लिङ् लकार हो, विकल्पसे ।

पलायते । विधिनिमन्त्रणेति लिङ् । विधिः प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । यजेत । निमन्त्रणं—नियोगकरणम् , आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । इह भुञ्जीत । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा । इहाऽऽसीत । अधीष्टं सत्कारपूर्वको व्यापारः । पुत्रमध्यापयेद् भवान् । सम्प्रश्नः सम्प्रधारणम् । किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम् ? प्रार्थनं याच्ञा । भो भोजनं लभेय । एवं लोट् ।

॥ इति लकारार्थप्रकरणम् ॥

अथ कृदन्ते कृत्यप्रकरणम्

धातोः ३ । १ । ९१ । आ तृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङिति कृत्संज्ञा । **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** ३। १। ९४। अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् , स्त्र्यधिकारोक्तं विना । **कृत्याः** ३।१।९५। ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः । **कर्तरि कृत्** ३।४।६७। कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते—**तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** ३।४।७०। एते भावकर्मणोरेव स्युः । **तव्यत्तव्यानीयरः** ३। १। ९६। धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम् , एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च । चेतव्यश्चयनीयो

यमां छः' इति छत्वे तुकि श्चुत्वे 'अतो दीर्घो यञि' इति दीर्घे तत्सिद्धिः ।

इति श्रीरामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यविरचितायां 'इन्दुमती'

टीकायां तिङन्तप्रकरणम् समाप्तम् ।

एधितव्यम् (ई० ४३)—एध्धातोः 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रं प्रबाध्य

विधिनिमन्त्रण—(पृ० ८६ देखें) ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में लकारार्थप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातोः—(यह अधिकार सूत्र है) तृतीय अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त जो (वक्ष्यमाण तव्यदादि) प्रत्यय हैं, वे धातुसे परमें हों । **वासरूपो**—इस धात्वधिकार में असरूप जो अपवाद प्रत्यय, वह उत्सर्गका बाधक हो विकल्पसे, स्त्र्यधिकारोक्त (प्रत्ययों) को छोड़कर । **कृत्याः**—'ण्वुल्तृचौ' सूत्रसे पूर्व उक्त प्रत्यय कृत्संज्ञक हों । **कर्तरि**—कृत्प्रत्यय कर्तामें हों । **तयोरेव**—कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्ममें ही हों । **तव्यत्तव्या**—तव्यत् प्रत्यय, तव्य प्रत्यय और अनीयर् प्रत्यय धातुसे ही हों (भाव कर्ममें)।

वा धर्मस्त्वया। *केलिमर उपसंख्यानम्। पचेलिमा माषाः। पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः। भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि प्रत्ययः। कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३॥

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥ १॥

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। अचो यत् ३।१।९७। अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात्। चेयम्। ईद्यति ६।४।६५। यति परे आत ईत्स्यात्। देयम्। ग्लेयम्। पोरदुपधात् ३।१।९८। पवर्गान्तादुपधायत्स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्। एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९। एभ्यः

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति नियमाद्भावे 'तव्यत्तव्यानीयरः' इति तव्यप्रत्यये 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'एधितव्य' इति स्थिते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'भावे औत्सर्गिकं क्लीबत्वम्' इति क्लीबत्वात् सोरमि पूर्वरूपे 'एधितव्यम्' इति सिद्धम्।

चेयम्—चेतुं योग्यं चेयम्। 'चिधातोः 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इति तस्यार्धधातुकत्वे गुणे कृदन्तत्वात् सौ सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः।

देयम् (ई० ३३)—दातुं योग्यं-देयम्। दाधातोः 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये 'ईद्यति' इति धातोराकारस्य ईकारे गुणे कृदन्तत्वात्सौ अमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः।

शप्यम् (ई० २९) शप्तुं योग्यं-शप्यम् 'शप् आक्रोशे' इत्यस्माद्धातोः 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्यये सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः। इत्यः (ई० २९)—एतुं योग्यः-इत्यः। इण्धातोः 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति कर्मणि क्यपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि कित्त्वाद्गुणाऽभावे विभक्तिकार्ये 'इत्यः' इति।

केलिमर—धातुसे केलिमर प्रत्यय हो (भाव, कर्ममें) कृत्यल्युटो—कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार (निम्न चार प्रकार) से हों। क्वचित् प्रवृत्तिः—कहीं अप्राप्तमें भी प्राप्त हो जाना, कहीं प्राप्तमें भी अप्राप्त होना, कहीं विकल्पसे प्राप्त होना और कहीं इन तीनोंसे भी भिन्न अर्थात् विकल्पमें भी नित्य ही प्राप्त हो जाना। (यथा 'अवङ्स्फोटायनस्य'-'गवाक्षः') इस प्रकार अनेक तरहसे सूत्रोंका विधान समझ कर उनके चार भेद कहे गये हैं। अचो यत्—अजन्त धातुसे यत् प्रत्यय हो।

ईद्यति—'आत्' को 'ईत्' हो, यत् के परे। पोरदु—पवर्गान्त अदुपध धातुसे यत् प्रत्यय हो। ('ण्यत्' का यह अपवादक है)। एतिस्तु—'इण्' आदि धातुओंसे 'क्यप्' प्रत्यय हो।

क्यप् स्यात्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।** इत्यः। स्तुत्यः। शासु अनुशिष्टौ। **शास इदङ्हलोः ६।४।३४।** शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः। **मृजेर्विभाषा ३।१।११३।** मृजेः क्यब्वा स्यात्। मृज्यः। **ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४।** ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्। **चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२।** चजोः कुत्वं स्याद्घिति ण्यति च परे। **मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४।** मृजेरिको वृद्धिः स्यात्सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः। **भोज्यं भक्ष्ये ७।३।६९।** भोग्यमन्यत्।

॥ इति कृत्यप्रकरणम् ॥

शिष्यः (ई० २२,४७,४९)—शासितुं योग्यः–शिष्यः। शास्धातोः 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति कर्मणि क्यपि 'शास इदङ्हलोः' इत्युपधाया इत्वे 'शासिवसिघसीनां च' इति सस्य षत्वे विभक्तिकार्ये 'शिष्यः' इति।

वृत्यः (ई० २६)—वरितुं योग्यः–वृत्यः। वृधातोः 'एतिस्तुशास्–' इति क्यपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

आदृत्यः (ई० ३५)—आदर्तुं योग्यः–आदृत्यः। 'आङ्' उपसर्गक दृधातोः 'एतिस्तुशास्–' इति क्यपि 'ह्रस्वस्य' इति तुकि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

मार्ग्यः (ई० २१, २४, २७)—मार्जितुं योग्यः–मृज्यः, मार्ग्यः। मृज्धातोः 'मृजेर्विभाषा' इति विकल्पेन क्यपि कित्त्वाद्गुणाऽभावे विभक्तिकार्ये 'मृज्यः' इति। क्यपोऽभावे 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यति 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति जस्य कुत्वे 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ रपरत्वे विभक्तिकार्ये 'मार्ग्यः' इति च सिद्धं भवति।

इति 'इन्दुमती'टीकायां कृत्यप्रकरणम्।

ह्रस्वस्य—ह्रस्व को तुक् हो, पित् और कृत् प्रत्ययके परे। **शास**–'शास्' धातुकी उपधाको इत्व हो, 'अङ्' के परे और हलादि कित्–ङित् प्रत्ययके परे। **मृजेर्वि**—'मृज्' धातुसे 'क्यप्' हो, विकल्पसे। **ऋहलो**—ऋवर्णान्त और हलन्त धातुसे 'ण्यत्' प्रत्यय हो।

चजोः कु—चकार-जकारको कुत्व हो, घित् और ण्यित् प्रत्ययके परे।

मृजेर्वृद्धिः—मृज्धातुके इक्को वृद्धि हो, सार्वधातुक और आर्धधातुकके परे।

भोज्यं—भक्ष्य अर्थमें 'भोज्य' निपातन हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कृत्यप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ पूर्वकृदन्तप्रकरणम्

ण्वुल्तृचौ ३। १। १३३। धातोरेतौ स्तः। कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे। युवोरनाकौ ७। १। १। 'यु' 'वु' एतयोरनाकौ स्तः। कारकः। कर्ता। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३। १। १३४। नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनमर्दयतीति जनार्दनः। लवणः। ग्राही। स्थायी। मन्त्री। पचादिराकृतिगणः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३। १। १३५। एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः। आतश्चोपसर्गे ३। १। १३६। प्रज्ञः। सुग्लः। गेहे कः ३। १। १४४। गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात्। गृहम्। कर्मण्यण् ३। २। १। कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात्। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। आतोऽनुपसर्गे कः ३। २। ३। आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे। कः स्यात्। अणोऽपवादः। आतो लोप इटि च। गोदः। धनदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे

जनार्दनः—जनमर्दयतीति विग्रहे 'अर्द हिंसायाम्' इति धातोः णिचि 'नन्दिग्रहि–' इति ल्युप्रत्यये 'युवोरनाकौ' इति योरनादेशे णिलोपे 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति जनमिति कर्मणि षष्ठीविभक्तौ षष्ठीसमासे सुब्लुकि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे 'जनार्दनः' इति सिद्धम्।

लवणः (ई० ५१) लुनातीति—लवणः। 'लूञ् छेदने' धातोः 'नन्दिग्रहि' इति ल्युप्रत्यये 'युवोरनाकौ' इति योरनादेशे गुणे अवादेशे निपातनात् णत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः। प्रज्ञः (ई० २९) प्रकर्षेण जानातीति–प्रज्ञः।

गृहम् (ई० २६) गृह्णाति धान्यादिकमिति–गृहम्। ग्रह्धातोः 'गेहे कः' इति कप्रत्यये 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे स्वादिकार्ये 'गृहम्' इति।

कुम्भकारः (ई० ४२,५५)–कुम्भं करोतीति विग्रहे 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इति कुम्भशब्दस्योपपदसंज्ञायां सत्यां कुम्भोपपदात् कृधातोः 'कर्मण्यण्' इत्यणि

ण्वुलतृचौ—धातुसे ण्वुल् और तृच् प्रत्यय हों, कर्तामें। युवोरनाकौ—अनुनासिक 'यु' और 'वु' को क्रमसे 'अन' 'अक' आदेश हों। नन्दिग्रहि—नन्द्यादिसे 'ल्यु' ग्रह्यादिसे 'णिनि' और पचादिसे 'अच्' प्रत्यय हो। इगुपध—इगुपध धातु तथा ज्ञा, प्री और कृ धातुओंसे 'क' प्रत्यय हो। आतश्चोपसर्गे—उपसर्ग उपपदक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो। गेहे—गेह कर्ता रहने पर ग्रह धातुसे कप्रत्यय हो।

कर्मण्यण्—कर्म उपपद रहनेपर धातुसे अण् प्रत्यय हो। आतो—कर्म उपपद रहनेपर

किम्? गोसन्दायः। *मूलविभुजादिभ्यः कः। मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः। कुध्रः। चरेष्टः ३।२।१६। अधिकरण उपपदे। कुरुचरः। भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७। भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायेति ल्यबन्तम्। आदायचरः। कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२०। एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात्। अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६। आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः स्यात्करोत्यादिषु परेषु। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरी। वचनकरः। एजेः खश् ३।२।२८। ण्यन्तादेजेः खश् स्यात्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७। अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात्खिदन्ते परे, न त्वव्ययस्य। शित्त्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः। प्रियवशे वदः

'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरे 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठ्यां 'गतिकारके'ति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्रागेव 'कुम्भ अस् कार' इत्यलौकिकविग्रहे 'उपपदमतिङ्' इति समासे सुब्लुकि एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'कुम्भकारः' इति।

यशस्करी (ई० ४६)—विद्यायाः यशोहेतुत्वात् यशः करोतीति विग्रहे कृधातोः 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्यये गुणे रपरे 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठ्यां 'गतिकारके'ति सुबुत्पत्तेः प्रागेव 'यशस् अस् कर' इति स्थिते 'उपपदमतिङ्' इति समासे सुब्लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'यशः कर' इति स्थिते 'अतः कृकमि-' इति विसर्गस्य सत्वे स्त्रीत्वविवक्षायां 'टिड्ढाणञ्-' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यलोपे ङ्यन्तत्वात् सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

जनमेजयः (ई० ४७,५१,५४)-जनमेजयतीति विग्रहे ण्यन्तादेज्धातोः 'एजेः खश्' इति खशि अनुबन्धलोपे शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां शपि गुणे अयादेशे

अनुपसर्गक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो। मूलविभुजा—मूलविभुजादिसे 'क'प्रत्यय हो। चरेष्टः—अधिकरण उपपदक 'चर्' धातुसे 'ट' प्रत्यय हो। भिक्षासेना—भिक्षा, सेना और आदाय कर्मोपपदक 'धातुसे 'ट' प्रत्यय हो। कृञो हेतु—कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'ट' प्रत्यय हो, हेत्वादि अर्थ गम्यमान रहने पर। अतः कृ-कमि—'अत' से पर अनव्ययसम्बन्धी विसर्गके स्थानमें सत्व हो, कृ, कमि, कंसादि उत्तर पदके परे, समासमें। एजेः खश्—कर्मोपपदक ण्यन्त 'एज्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो। अरुर्द्विष—अरुष्, द्विषत और अजन्तको मुगागम हो, खिदन्त पदके परे—अव्ययको छोड़कर।

प्रियवशेः—'प्रिय' और 'वश' कर्मोपपदक 'वद्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो।

खच् ३।२।३८। प्रियंवदः । वशंवदः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ३। २। ७५। मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः । नेड्वशि कृति ७ । २ । ८। वशादेः कृत इण् न स्यात् । शॄ हिंसायाम् । सुशर्मा । प्रातरित्वा । विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ६। ४। ४१। अनुनासिकस्याऽऽत्स्यात् । विजायते इति विजावा । ओणृ अपनयने । अवावा । विच् । रुष रिष हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् । क्विप् च ३।२।७६। अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८। अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी । मनः ३। २ । ८२। सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी । आत्ममाने खश्च ३ । २ । ८३ । स्वकर्मके मनने वर्त्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् , चाण्णिनिः ।

पूर्वरूपे कर्मणि षष्ठ्यां 'जन अस् एजय' इत्यलौकिकविग्रहे सुबुत्पत्तेः प्रागेव उपपदसमासे सुब्लुकि 'अरुर्द्विष' इति सुमि विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

वशंवदः (ई० २१, ५२)—वशं वदतीति विग्रहे विद्धातोः 'प्रियवशे' इति खचि 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इति कर्मषष्ठ्यां 'गतिकारे'ति सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासे सुब्लुकि 'अरुर्द्विष' इति सुमि मस्यानुस्वारे विभक्तिकार्ये तत् सिद्धम् ।

सुशर्मा (ई० ३८,५७)–सुष्ठु शृणातीति विग्रहे सुपूर्वकात् शॄधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे गुणे रपरत्वे 'नेड्वशि कृति' इतीण्निषेधे कृदन्तत्वात् सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'सुशर्मा' इति निष्पन्नम् ।

विजावा (ई० २६) विजायत इति–विजावा । विपूर्वात् 'जनी प्रादुर्भावे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति वनिपि 'विड्वनोः' इत्यात्वे सवर्णदीर्घे 'विजावन्' इति तस्मात् कृदन्तत्वात् सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'विजावा' इति ।

उष्णभोजी (ई० ५०)—उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः इति विग्रहे उष्णोपपदाद् भुजधातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिप्रत्यये लघूपधगुणे कर्मणि षष्ठ्यामुपपदसमासे कृदन्तत्वात् सौ 'सौ च' इति दीर्घे सुलोपे नलोपे तत्सिद्धिः ।

अन्येभ्यो—आकारान्त धातुसे भिन्न धातुसे भी मनिन् , क्वनिप् , वनिप् और विच् हों । नेड्वशि—वशादि कृत्प्रत्ययको इट् नहीं हो । विड्वनो—अनुनासिकको आत् हो, विट् और वन्के परे । क्विप् च—सामान्यतया सभी धातुओंसे क्विप् प्रत्यय हो (ऐसा देखा जाता है) । सुप्यजातौ—अजात्यर्थक सुबन्त उपपद रहनेपर धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो, ताच्छील्य अर्थमें । मनः—सुबन्त उपपदक (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो । आत्ममाने—सुबन्त उपपदक स्वकर्मक मनन अर्थमें वर्तमान (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे

पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी । खित्यनव्ययस्य ६।३।६६। खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो मुम् । कालिम्मन्या । करणे यजः ३।२।८५। करणे उपपदे भूतार्थे यजेर्णिनिः स्यात्कर्तरि । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी । दृशेः क्वनिप् ३। २। ६४। कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान् पारदृश्वा । राजनि युधि कृञः ३। २। ६५। क्वनिप्स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा । सहे च ३ । २ । ६६ । कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा । सप्तम्यां जनेर्डः ३। २। ६७ । तत्पुरुषे कृति बहुलम् ६ । ३ । १४ । ङेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् । उपसर्गे च संज्ञायाम्

पण्डितम्मन्यः (ई० २७, ४९)—पण्डितमात्मानं मन्यते इति विग्रहे मन्धातोः 'आत्ममाने खश्च' इति खशि शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि पररूपे कर्मषष्ठ्यामुपपदसमासे 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमि विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं जातम् । णिनिपक्षे 'पण्डितमानी'

कालिम्मन्या (ई० २४)—कालीमात्मानं मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इति खशि श्यनि पररूपे कर्मषष्ठ्यामुपपदसमासे सुब्लुकि 'खित्यनव्ययस्य' इति ह्रस्वे 'अरुर्द्विष–' इति मुमि अजन्तत्वेन स्त्रीत्वाट्टापि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

सोमयाजी (ई० ५१) सोमेन इष्टवानिति विग्रहे सोमोपपदात् यज्धातोः 'करणे यजः' इति णिनिप्रत्यये उपधावृद्धौ उपपदसमासे सुब्लुकि कृदन्तत्वात् सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सरसिजम् (ई० २३, ३६)—सरसि जातमिति विग्रहे सप्तम्यन्तसरश्शब्दोपपदाज्जनधातोः 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्यये डित्त्वाट्टिलोपे उपपदसमासत्वात् सप्तम्याः लुकि प्राप्ते 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति तन्निषेधे कृदन्तत्वात् सौ सोरमि पूर्वरूपे 'सरसिजम्' इति । लुकि तु रुत्वे गुणे 'सरोजम्' इति भवति ।

'खश' प्रत्यय और चकारात् 'णिनि' प्रत्यय भी हो। खित्यन—खिदन्त उत्तर पदके परे अव्ययसे भिन्न पूर्व पदको ह्रस्व हो । करणे यजः—करण (संज्ञक सुबन्त) उपपदक 'यज्' धातुसे भूतकालमें 'णिनि' प्रत्यय हो, कर्तामें । दृशे क्वनिप्—कर्मोपपदक 'दृश्' धातुसे भूतकालमें 'क्वनिप्' प्रत्यय हो । राजनि—कर्मसंज्ञक 'राजन्' शब्द उपपदक 'युध्' तथा 'कृञ्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो । सहे च—'सह' शब्दोपपदक 'युध्' और 'कृञ्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो । सप्तम्यां—सप्तम्यन्त उपपदक 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय हो । तत्पुरुषे—तत्पुरुष समासमें कृदन्त उत्तरपदपरक 'ङि' विभक्तिका अलुक् हो, बहुलता (विकल्प) से । उपसर्गे च—उपसर्ग उपपदक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो संज्ञा में ।

३।२।६६। 'प्रजा स्यात्सन्तजौ जने'। **क्तक्तवतू निष्ठा १। १। २६।** एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः। **निष्ठा ३।२।१०२।** भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र तयोरेवेति भावकर्मणोः क्तः। कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः। उकावितौ। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः। **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२।** रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात् निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ हिंसायाम्। ऋत इत्। रपरः। णत्वम्। शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः। **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८। २। ४३।** निष्ठातस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः। **ल्वादिभ्यः ८।२।४४।** एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या धातुः। ग्रहिज्येति संप्रसारणम्। **हलः ६।४।२।** अङ्गावयवाद्धलः परं यत्संप्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः। जीनः। **ओदितश्च ८।२।४५।** भुजो—भुग्नः। टुओश्वि—उच्छूनः। **शुषः कः ८।२।५१।**

भिन्नः (ई० ३२, ४८, ५०, ५२)—अभेदि इति भिन्नः। भिद्धातोः कर्मणि 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये कित्वाद्गुणाभावे 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति निष्ठातकारस्य भिदो दकारस्य च नत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

भुग्नः (ई० ३१, ३४, ३५)—'भुजो कौटिल्ये' इति धातोः भावे 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये नत्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं 'चोः कुः' इति जस्य कुत्वे ततः 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

उच्छूनः (ई० २९, ४५) उदश्वत् इति उच्छूनः। उत्पूर्वकात् 'टुओश्वि गतिवृद्धयोः' इति धातोः 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इतीण्निषेधे 'हलः' इति दीर्घे 'ओदितश्च' इति निष्ठातकारस्य नत्वे श्चुत्वे छत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

क्तक्तवतू—'क्त' और 'क्तवतु' की निष्ठासंज्ञा हो। **निष्ठा**—भूतार्थवृत्ति धातुसे निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्यय हों। **रदाभ्यां**—रेफ-दकारसे पर निष्ठासंबन्धी तकारको नकार आदेश हो और निष्ठासे पूर्व जो धातुसंबन्धी तकार उसको भी नकार आदेश हो।

संयोगा—यण्वान् जो संयोगादि आकारान्त धातु, उससे पर निष्ठासंबन्धी तकार को नकार आदेश हो।

ल्वादिभ्यः—एकविंशति (२१) ल्वादि धातुओंसे पर निष्ठासंबन्धी तकारको नकार आदेश हो।

हलः—अंगावयव हल्से पर जो सम्प्रसारण, तदन्त जो अंग, उसको दीर्घ हो।

ओदितश्च—ओदित धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो।

निष्ठातस्य कः । शुष्कः । पचो वः ८।२।५२। पक्वः । क्षै क्षये । क्षायो मः ८।२।५३। क्षामः । निष्ठायां सेटि ६।४।५२। णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृह हिंसायाम् । दृढः स्थूलबलयोः ७।२।२०। स्थूले बलवति च निपात्यते । दधातेर्हिः ७।४।४२। तादौ किति । हितम् । दो दद् घोः ७।४।४६। घुसंज्ञकस्य 'दा' इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति । चर्त्वम् । दत्तः । लिटः कानज्वा ३।२।१०६। क्वसुश्च ३।२।१०७। लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् । चक्राणः । म्वोश्च ८।२।६५। मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् । लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३ । २ । १२४ । अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट

शुष्कः (ई० ४७, ५१, ५५)—अशुषत् इति शुष्कः । 'शुष् शोषणे' धातोः कर्तरि क्ते 'शुषः कः' इति निष्ठातस्य कत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

क्षामः (ई० ३३)—अक्षासीत् इतिक्षामः । क्षैधातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे 'क्षायो मः' इति निष्ठातस्य मत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

भावितः (ई० २६, ३४)—देवदत्तः यज्ञदत्तम् अबीभवत्, देवदत्तेन यज्ञदत्तः अभावि-इत्यर्थे 'भावितः' इति । भावयतेः 'निष्ठा' इति कर्मणि क्तप्रत्यये इटि 'निष्ठायां सेटि' इति णेर्लोपे विभक्तिकार्ये 'भावितः' इति ।

हितम् (ई० २५, ३८)—अधायि-इति 'हितम्' । धाधातोः क्तप्रत्यये 'दधातेर्हिः' इति ह्यादेशे विभक्तिकार्ये 'हितम्' इति ।

चक्राणः (ई० २६)—चक्रे इति 'चक्राणः' । कृधातोर्लिटि 'लिटः कानज्वा' इति लिटः कानचि द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषे यणि चुत्वे 'रषाभ्याम्-' इति णत्वे विभक्तिकार्ये 'चक्राणः' इति ।

लटः शतृशानचौ—परस्मैपदे शतृप्रत्ययः, आत्मनेपदे शानच्प्रत्ययः इत्येव द्योतयितुमत्र वृत्तौ 'वा' इत्युक्तं नतु विभाषार्थं वेत्यवसेयम् ।

शुषः कः—'शुष्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको ककार आदेश हो । **पचो वः**—'पच्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको वकार आदेश हो । **क्षायो मः**—'क्षै' धातुसे पर निष्ठासंबन्धी तकारको मकार आदेश हो । **निष्ठायां**—सेट् निष्ठाके परे 'णि' का लोप हो ।

दृढः—स्थूल और बलवान् अर्थमें 'दृढ' निपातन हो । **दधा**—'धा' धातुको 'हि' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । **दो दद्घोः**—घुसंज्ञक 'दा' धातुको 'दद्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । **लिटः कानज् वा । क्वसुश्च**—लिट् के स्थानमें 'कानच्' और 'क्वसु' आदेश हों, विकल्पसे । **म्वोश्च**—मान्त धातुके मकारको नकार हो, मकार और वकारके परे । **लटः शतृ**—लट्के स्थानमें शतृ और शानच् आदेश हों, अप्रथमा-समानाधिकरणमें ।

एतौ वा स्तः। शबादिः। पचन्तं चैत्रं पश्य। आने मुक् ७।२।८२। अदन्ताऽङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात्प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः। विदेः शतुर्वसुः ७।१।३६। वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्। तौ सत् ३।२।१२७। तौ = शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः। लृटः सद्वा ३।३।१४। लृटः शतृशानचौ वा स्तः। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य। **आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३।२।१३४।** क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः। तृन् ३।२।१३५। कर्ता कटान्। जल्प-भिक्ष-

---

पचन्तं पचमानं वा चैत्रं पश्य—पच्धातोर्लटि 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति लटो लः स्थाने शतृप्रत्यये शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञायां शपि पररूपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां द्वितीयैकवचने अमि उगित्वान्नुमि नस्यानुस्वारे परसवर्णे 'पचन्तम्' इति। शानचि पक्षे तु 'आने मुक्' इति मुकि 'पचमानम्' इति।

सन् द्विजः (ई० ४६)—'वर्तमाने लट्' इत्यतो लडित्यनुवर्तमाने 'लटः शतृशानचा'विति सूत्रे पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासमानाधिकरणेऽपि क्वचित् शतृशानचोर्विधानात् 'अस्'धातोर्लटः शतृप्रत्यये शपो लुकि 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे प्रातिपदिकत्वात् सौ नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे 'सन्' इति।

विद्वान्, विदन् (ई० २८, ५१)—वेत्तीति विग्रहे विद्धातोः शतरि तत्स्थाने 'विदेः शतुर्वसुः' इति विभाषया वस्वादेशे 'विद्वस्' इति, तस्मात् कृदन्तात् सौ उगित्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इत्युपधादीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'संयोगान्तलोपे च कृते 'विद्वान्' इति। वस्वादेशाभावे लटः शतरि शपि शपो लुकि 'विदत्' इति, तस्मात् सौ नुमि सुलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'विदन्' इति।

कर्ता कटान्—कटान् करोति तच्छील इति विग्रहे कृधातोः 'तृन्' इति तृन्प्रत्यये गुणे रपरत्वे सौ 'ऋदुशनस्-' इत्यनङि उपधादीर्घे सुलोपे नलोपे रूपं सिद्धम्।

आने मुक्—अंगावयव अत्को 'मुक्' का आगम हो, 'आन' के परे। **विदेः शतुः**—'विद्' धातुसे पर 'शतृ' के स्थानमें 'वसु' आदेश हो, विकल्पसे। **तौ सत्**—शतृ और शानच् 'सत्' संज्ञक हों। **लृटः सद्वा**—लृट्के स्थानमें शतृ और शानच् विकल्पसे हों।

आ क्वे—वक्ष्यमाण 'भ्राजभास' सूत्रसे विहित 'क्विप्' को व्याप्त करके (वहाँ तक) जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में हों। **तृन्**—धातुसे 'तृन्' प्रत्यय हो,

कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् ३। २। १५५। **षः प्रत्ययस्य** १। ३। ६। प्रत्ययस्यादिः षः इत्संज्ञः स्यात्। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः। वराकी। **सनाशंसभिक्ष उः** ३। २। १६८। चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः। **भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्** ३। २। १७७। विभ्राट्। भाः। **राल्लोपः** ६। ४। २१। रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्। ***क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च**। वक्तीति वाक्। **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** ६।४।१९। सतुकस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौतीति आयतस्तूः। कटं प्रवते कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिं श्रीः। **दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे** ३। २। १८२। दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे। दात्यनेन दात्रम्। नेत्रम्। **ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च** ७।२।९। एषां दशानां कृत्प्र-

---

जल्पाकः (ई० ४८,५४)–जल्पतीति विग्रहे जल्पधातोः जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन्' इति षाकनि 'षः प्रत्ययस्य' इति प्रत्ययस्यादिषकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः। **चिकीर्षुः**—सन्नन्तात् चिकीर्षधातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वात् अतो लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

प्राट्—पृच्छतीति 'प्राट्'। प्रच्छ्धातोः 'क्विब्वचि' इति क्विपि दीर्घे सम्प्रसारणाभावे च विहिते क्विपो लुकि 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति छस्य शादेशे सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज–' इति षत्वे षस्य जश्त्वे चर्त्वे 'प्राट्' इति।

तच्छीलादि अर्थमें। **जल्पभिक्ष**-जल्पादि धातुओंसे 'षाकन्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। **षः प्रत्यय**—प्रत्ययके आदि षकारकी इत्संज्ञा हो। **सनाशंस**—सन् (सन्नन्त), आशंस् और भिक्ष् धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। **भ्राजभास**—भ्राज्, भास्, धुर्वि, द्युत, ऊर्जि, पॄ, जु, ग्राव, स्तु–इन धातुओंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें। **राल्लोपः**—रेफसे पर छकार तथा वकारका लोप हो, क्विप्के परे और झलादि कित्-ङित्के परे। **क्विब्वचि**—वचादि धातुओंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, अच्को दीर्घ हो तथा संप्रसारणका अभाव हो। **च्छ्वोः शूड्**—तुक्-विशिष्ट छकार तथा वकारको क्रमसे श् तथा ऊठ् आदेश हो, क्विप्के परे और झलादि कित् ङित्के परे। **दाम्नीशस**—दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दश् और नह् धातुसे करण अर्थमें 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हो। **तितुत्रतथ**—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स इन दशों कृत्प्रत्ययोंको इट्

स्ययानामिण् न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री । अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर-इत्रः ३।२।१८४। अर्त्यादिभ्यः इत्र् स्यात्करणेऽर्थे । अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् । पुवः सञ्ज्ञायाम् ३।२।१८५। करणे पुवः इत्र् स्यात् संज्ञायाम् । पवित्रम् ॥ इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

लवित्रम् (ई० ४९)—लुनात्यनेनेति विग्रहे 'लूञ् छेदने' इति धातोः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इति करणेऽर्थे इत्रप्रत्यये गुणेऽवादेशे स्वादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

खनित्रम् (ई० २६) खनत्यनेनेति विग्रहे 'अर्तिलूधू–' इति करणेऽर्थे इत्रप्रत्यये विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । एवं चरत्यनेनेति 'चरित्रम्' (ई० २५) ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ।

नहीं हो । अर्तिलू—ऋ, लू, धू, सू, खन् , सह् और चर् धातुओंसे 'इत्र' प्रत्यय हो, करणमें । पुवः संज्ञायां—पूङ् और पूञ् धातुसे करणमें 'इत्र' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

नोट :—'कृत्' प्रत्यय क्रिया या धातुके अन्तमें प्रयुक्त होते हैं और उनके योगसे बने शब्द 'कृदन्त' कहलाते हैं । (कृदन्तके निम्न मुख्य पाँच प्रत्ययों पर ध्यान दें ।)

(१) तव्य-अनीयर्—इनके प्रयोगमें कर्तासे तृतीया अथवा षष्ठी विभक्ति होती हैं । सकर्मक धातुसे ये प्रत्यय होनेपर तीनों लिङ्ग और तीनों वचनोंमें होते हैं, और अकर्मक धातुसे होनेपर केवल नपुंसक लिङ्ग और एकवचनमें ही प्रयुक्त होते हैं । यथा—**'तेन पाठः पठितव्यः'** । **'तेन आसितव्यम्'** । **'त्वयेदं कर्तव्यम्, करणीयं वा'** । प्रायः 'विधि' अर्थमें ही इसका प्रयोग होता है ।

(२) क्त—'क्त' प्रत्यय भूतकालमें होता है और 'क्त' प्रत्ययान्त क्रियाके साथ कर्तासे तृतीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्मके लिङ्गके अनुसार ही क्तप्रत्ययान्त पदका लिङ्ग होता है । जैसेः—**तेन माला निर्मिता । मया फलं भक्षितम् ।** अकर्मक धातुसे 'क्त' प्रत्यय प्रायः नपुंसक लिङ्गमें होता है । **(मया हसितम्)** । कुछ धातुएँ ऐसी भी हैं जिनसे 'क्त' प्रत्यय कर्तामें भी होता है । जैसे—गत्यर्थक, अकर्मक, श्लिष, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह और जॄ धातु । कभी २ 'क्त'प्रत्ययान्त शब्द विशेषण रूपसे भी प्रयुक्त होता है । यथा-**'वनं गतो रामः'** ।

(३) क्तवतु—'क्तवतु' प्रत्यय भी भूतकालमें होता है, परन्तु यह कर्तामें ही होता है और कर्तृवाच्यके अनुसार कर्ता और कर्मसे विभक्तियां भी होती है ।जैसे—**'अहं पुस्तकं पठितवान्'** । **'तौ पुस्तकं पठितवन्तौ'** ।

अथोणादिप्रकरणम्

कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्य-शूभ्य उण् १। करोतीति कारुः। वातीति वायुः। पायुर्गुदम्। जायुरौषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु शीघ्रम्। उणादयो बहुलम् ३।३।१। एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

॥ इत्युणादिप्रकरणम् ॥

कृवापाजि—डुकृञ् करणे, वा गतिगन्धनयोः, पा पाने, जि अभिभवे, डुमिञ् प्रक्षेपणे, स्वद् आस्वादने, साध् संसिद्धौ, अशू व्याप्तौ, इत्येतेभ्यः धातुभ्यः उण्-प्रत्ययः स्यात् कर्त्रर्थे। सूत्रमिदं शाकटायनप्रणीतं नतु पाणिनिना प्रोक्तमिति ध्येयम्।

वायुः—वाधातोः 'कृवापाजी'त्युणि 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि कृदन्तत्वात् सौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'वायुः' इति।

संज्ञासु—'उणादयो बहुलम्' इत्युक्त्वा 'केचिदविहिताप्यूह्याः' इत्युक्तं मूले,

---

(क्त्वा)—जब एक क्रियाके बाद दूसरी क्रिया की जाती है तब प्रथम क्रियासे 'क्त्वा' प्रत्यय किया जाता है और क्त्वा-प्रत्ययान्त क्रिया अव्ययरूपसे प्रयुक्त होती हैं तथा कर्म आदि मुख्य (द्वितीय) क्रियाके समान ही होते हैं। यथा—**'शत्रून् जित्वा निवर्तते रामः'**। 'क्त्वा'-प्रत्ययान्त क्रियाके पूर्व यदि कोई उपसर्ग रखा जाय तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'य' हो जाता है। जैसेः—**विजित्य, निहत्य,** आदि।

(५) तुमुन्—(उत्तर कृदन्त देखो) जब एक क्रिया करनेके लिये दूसरी क्रिया की जाती है, तब प्रथम क्रियासे 'तुमुन्' प्रत्यय होता है और वह अव्यय हो जाता है। 'तुमुन्' प्रत्ययान्त क्रियाके कर्मादि भी मुख्य क्रियाके समान ही होते हैं परन्तु कर्ताका संबन्ध मुख्य क्रियासे ही होता है। जैसे—**'इन्द्रियाणि जेतुमुपक्रमते'**।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पूर्वकृदन्तप्रकरण समाप्त हुआ।

कृवापाजि—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद, साध और अश् धातुओंसे उण् प्रत्यय हो।
उणादयो—धातुसे वर्तमान कालमें और संज्ञामें उणादि प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे।
संज्ञासु—संज्ञा (डित्थादि शब्दों) में धातुकी कल्पना करनी चाहिये और फिर उससे

अथोत्तरकृदन्तप्रकरणम्

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३। ३। १०। क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति। **कालसमयवेलासु तुमुन् ३। ३। १६७।** कालार्थेषूपपदेषु तुमुन् स्यात्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्। **भावे ३। ३। १८।** सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ३। ३। १९।**

तदेव प्रतिपादयति–संज्ञास्विति। संज्ञासु=संज्ञाशब्देषु (डित्थ–डवित्थादिषु) धातुरूपाणि ऊह्यानि, ततः परं प्रत्ययाश्च ऊहनीयाः = कल्पनीयाः, प्रत्ययेष्वपि गुणवृद्ध्यभावादिकार्यं दृष्ट्वा अनूबन्धम् = ञित्–णित्–कित्ङिदित्याद्यनुबन्धं विद्यात्=कल्पयेत्, एतत् = एतावदेव, उणादिषु, शास्त्रम् = अनुशासनमस्तीत्यर्थः। उदाहरणं यथा–'ऋफिड्डः' इति। अत्र ऋधातुः प्रकृतिः, तस्मात् फिड्डः प्रत्ययः, ततो गुणाऽभावदर्शनात् प्रत्ययस्य कित्त्वमूह्यते।

इति 'इन्दुमती'टीकायामुणादिप्रकरणम्।

द्रष्टुम्, दर्शकः (ई० २०,४४)—दृश्धातोः 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति तुमुनि अनुबन्धलोपे 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इति अमि 'द् ऋ अ श् तुम्' इति स्थिते यणि 'व्रश्चभ्रस्ज–' इति षत्वे ष्टुत्वे 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि 'द्रष्टुम्' इति। दृशो ण्वुलि वोरकि गुणे रपरत्वे विभक्तिकार्ये 'दर्शकः' इति।

पाकः (ई० २५)—पच्धातोः 'भावे' इति घञि अनुबन्धलोपे उपधावृद्धौ 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति चस्य कुत्वे विभक्तिकार्ये 'पाकः' इति।

प्रत्ययकी कल्पना करनी चाहिये तथा प्रयोगमें गुणाभाव अथवा वृद्धि आदि कार्योंको देखकर प्रत्ययोंसे अनुबन्ध (कित्, ङित्, णित्, ञित् आदि) की कल्पना भी करनी चाहिये—यही उणादिमें विशेषता कही गई है।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में उणादिप्रकरण समाप्त हुआ।

तुमुन्ण्वुलौ—क्रियार्थक क्रिया उपपद रहने पर भविष्यत् अर्थमें धातुसे 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय हों। **कालसमय**—काल, समय और वेला उपपद रहने पर धातुसे 'तुमुन्' प्रत्यय हो। **भावे**—सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ वाच्य हो तो धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो। **अकर्तरि च**—कर्तृभिन्न कारक अर्थमें धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, संज्ञामें।

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् । घञि च भावकरणयोः ६ । ४ । २७ । रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः । अनयोः किम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः । निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१। एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः । एरच् ३ । ३ । ५६ । इवर्णान्तादच् । चयः । जयः । ऋदोरप् ३ । ३ । ५७ । ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताच्चाऽप् । करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः । ❀घञर्थे कविधानम् । प्रस्थः । विघ्नः । ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८। क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।४।२०। क्त्रिप्रत्ययान्तान्मप् स्यान्निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् । डुवप्-उप्त्रिमम् । ट्वितोऽथुच् ३।३।८९। ट्वितोऽथुच् स्याद्भावे । टुवेपृ कम्पने । वेपथुः । यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९०। यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः । स्वपो नन् ३।३।९१। स्वप्नः । उपसर्गे घोः किः ३।३।९२। प्रधिः । उपधिः । स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४। स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।

रागः (ई० २१, ४१)—रञ्ज्धातोः 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञि अनुबन्धलोपे 'घञि च भावकरणयोः' इति रञ्जेर्नलोपे 'चजोः कु घिण्यतोः' इति जस्य कुत्वे उपधावृद्धौ विभक्तिकार्ये 'रागः' इति ।

चयः (ई० ४८, ५०)—चिधातोः 'एरच्' इत्यचि अनुबन्धलोपे गुणे अयादेशे विभक्तिकार्ये 'चयः' इति (चीयतेऽसौ चयः) ।

लवः (ई० ४९)—लूधातोः 'ऋदोरप्' इत्यपि गुणे अवादेशे 'लवः' इति ।

उप्त्रिमम् (ई० २६)—वापेन निर्वृत्तम् 'उप्त्रिमम्' । 'डुवप् बीजसन्ताने' इत्यस्माद्धातोः 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रौ 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति निर्वृत्तेर्थे मपि अनुब-

---

घञि च—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, घञ् प्रत्ययके परे—भाव और करणमें ।

निवास—निवासादि अर्थमें 'चिञ्' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो और धातुके आदि चकारको ककार भी हो ।

एरच्—इवर्णान्त धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । **ऋदोरप्**—ऋवर्णान्त और उवर्णान्त धातुसे 'अप्' प्रत्यय हो । **घञर्थे**—घञर्थमें 'क' प्रत्यय हो **ड्वितः क्त्रिः**—'डु' इत्संज्ञक धातुसे 'क्त्रि' प्रत्यय हो, भावमें । **क्त्रेर्मम्**—'क्त्रि' प्रत्ययान्तसे तद्धित संज्ञक 'मप्' प्रत्यय हो, निर्वृत्त अर्थमें । **ट्वितोऽथुच्**—'ट्वित' धातुसे 'अथुच्' प्रत्यय हो, भावमें । **यजयाच**—यज्, याच्, यत, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातुसे 'नङ्' प्रत्यय हो । **स्वपो नन्**—स्वप् धातुसे नन् प्रत्यय हो । **उपसर्गे**—उपसर्ग उपपदक घुसंज्ञक धातुसे 'कि' प्रत्यय हो । **स्त्रियां क्तिन्**—भाव

ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः । तेन नत्वम् । कीर्णिः । गीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः । सम्पदादिभ्यः क्विप् । सम्पत् । विपत् । आपत् । क्तिन्नपीष्यते । सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च ३।३।९७। एते निपात्यन्ते । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ६।४।२०। एषामुपधावकारयोरूठ् स्यादनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति । अतः क्विप् । जूः । तूः । स्रूः । ऊः । मूः । इच्छा ३ । ३ । १०१ । एषेर्निपातोऽयम् । अ प्रत्ययात् ३।३। १०२ । प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या । गुरोश्च हलः ३।३।१०३। गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् ।

न्वलोपे 'वचिस्वपि–' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

कीर्णिः—कॄधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिनि अनुबन्धलोपे 'ॠत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'हलि चे'ति दीर्घे 'ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः' इति निष्ठावद्भावात् तस्य नत्वे णत्वे विभक्तिकार्ये 'कीर्णिः' इति ।

ऊतियूति–एते स्त्रियां क्तिन्नन्ताः निपात्यन्ते, इत्यर्थः । तथाहि–'अव रक्षणे' इति धातोः क्तिनि तस्य निपातनादुदात्तत्वे 'ज्वरत्वर–' इत्यकारवकारयोरूठि 'ऊतिः' इति युधातोर्जुधातोर्वा क्तिनि निपातनाद्दीर्घे यूतिः, जूतिरिति च । 'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्मात् क्तिनि 'धात्वादेः' इति सत्वे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे 'द्यतिस्यति'–इतीत्वे प्राप्ते निपातनात्तदभावे सातिरिति । अथवा सन्धातोः क्तिनि 'जनसन–' इत्यात्वम् । अत्र क्तिन उदात्तत्वं निपात्यते । हनः क्तिनि नकारस्य निपातनादित्त्वे 'आद्गुणः' इति गुणे हेतिरिति । अथवा हिधातोः क्तिनि निपातनाद्गुणः । ण्यन्तकॄतधातोः 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति युचं प्रबाध्य निपातनात् क्तिनि इत्वे रपरत्वे दीर्घे 'झरो झरि' इति तलोपे कीर्तिरिति ।

चिकीर्षा (ई० ४२, ४६, ५४)—कृधातोः सनि द्वित्वादिके 'चिकीर्ष' इत्यस्य

और कर्तृभिन्न कारक अर्थमें धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । ॠल्वा—'ॠ' धातु तथा ल्वादि धातुओंसे पर जो 'क्तिन्' वह निष्ठावद् हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओंसे स्त्रीलिंगभावमें 'क्विप्' प्रत्यय हो । क्तिन्नपीष्यते—सम्पदादिसे 'क्तिन्' प्रत्यय भी हो । ऊतियूति—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, कीर्त्ति—इन शब्दोंका निपातन हो । ज्वरत्वर—ज्वर, त्वर, स्रिव, अव और मव धातुओंकी उपधा और वकारको ऊठ् हो, क्विप् के परे और झलादि अनुनासिकादि प्रत्ययके परे । इच्छा—'इष्' धातुसे 'इच्छा' यह निपातन हो । अ प्रत्ययात्—प्रत्ययान्तसे 'अ' प्रत्यय हो, स्त्रीलिंगमें । गुरोश्च—गुरुमान् हलन्त

ईहा । ण्यासश्रन्थो युच् ३ । ३ । १०७। अकारस्यापवादः । कारणा । हारणा । नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४। ल्युट् च ३।३।११५। हसितम् । हसनम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८। छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ६।४।९६। द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेन दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः अवे तृस्त्रोर्घञ् ३ । ३ । १२०। अवतारः कूपादेः । अवस्तारो जवनिका । हलश्च ३।३।१२१। हलन्ताद्घञ् । घापवादः । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः । ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३ । ३ । १२६ । करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखार्थेषूपदेषु खल् । तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे-ईषत्करः । सुकरः । आतो युच् ३ । ३ । १२८ । खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः । अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३। ४। १८। प्रतिषेधार्थयोरलङ्-

---

धातुत्वेन तस्मात् 'अ प्रत्ययात्' इत्यप्रत्यये 'अतो लोपः' इति सनोऽकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन स्त्रीत्वे टापि सवर्णदीर्घे सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

अपामार्गः (ई० ३१, ५२)—अपपूर्वान्मृज्धातोः 'हलश्च' इति घञि 'मृजेर्वृद्धिः' इति वृद्धौ 'चजोः कु-' इति कुत्वे 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः।

दुष्करः (ई० ४५)—दुस्पूर्वात् कृञ्धातोः 'ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' इति खलि अनुबन्धलोपे गुणे रपरे 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति सस्य षः।

सुपानः (ई० ३२,५२)-सुष्ठु पीयते इति सुपानः । सुपूर्वकात् पाधातोः 'ईषद्दुस्सुषु-' इति प्राप्तं खलं प्रबाध्य 'आतो युच्' इति युचि योरनादेशे सवर्णदीर्घः ।

धातुसे स्त्रीलिङ्गमें 'अ' प्रत्यय हो। ण्यासश्रन्थ—ण्यन्त धातु 'आस्' धातु और 'श्रन्थ' धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग और भावमें। नपुंसके—धातुसे 'क्त' प्रत्यय हो, नपुंसकमें और भावमें। ल्युट् च—धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय भी हो, नपुंसक और भावमें।

पुंसि संज्ञायां—पुलिङ्गमें संज्ञामें धातुसे प्रायः 'घ' प्रत्यय हो, करण और अधिकरण अर्थमें। छादेर्घे—द्विप्रभृति उपसर्गहीन अङ्गावयव 'छाद्' की उपधाको ह्रस्व हो, 'घ' के परे। अवे तृस्त्रोर्घञ्—अवपूर्वक 'तॄ' और 'स्तॄ' धातुसे प्रायः 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें। हलश्च—करण और अधिकरण अर्थमें हलन्त धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें। ईषद्दुःसुषु—दुःखार्थक तथा सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर धातुसे 'खल्' प्रत्यय हो, भाव और कर्ममें। आतो युच्—दुःखार्थक और सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर आदन्त धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो (यह 'खल्' का अपवादक है)। अलंखल्वोः—प्रतिषे-

ल्योरुपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः । दो दद्घोः । अलं दत्त्वा घुमास्थेतीत्वम् । पीत्वा खलु । अलङ्खल्वोः किम् ? मा कार्षीत् । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः । **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१।** समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति । **न क्त्वा सेट् १ । २ । १८ ।** सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा । **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६।** इवर्णोवर्णोपधाद्धलादे रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा-द्योतित्वा । लिखित्वा-लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा । **उदितो वा ७।२।५६।** उदितः परस्य क्त्व इड् वा स्यात् । शमित्वा-शान्त्वा । देवित्वा-द्यूत्वा ।

शयित्वा (ई० २३)—शीङ्धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये इटि अनुबन्धलोपे 'न क्त्वा सेट्' इति कित्वनिषेधाद् गुणेऽयादेशे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि तत्सिद्धिः ।

द्युतित्वा (ई० २८, ३८)—द्युत्धातोः क्त्वाप्रत्यये इटि अनुबन्धलोपे 'न क्त्वा सेट्' इति कित्वनिषेधं प्रबाध्य 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च' इति पाक्षिककित्वाद् गुणनिषेधे कृदन्तत्वात् सौ 'क्त्वातोसुन्-' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि तत्सिद्धिः ।

शमित्वा (ई० २७)—शम्धातोः क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'उदितो वा' इति विभाषया इटि 'क्त्वातोसुन्-' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि 'शमित्वा इति ।

इडभावपक्षे 'अनुनासिकस्य' इत्यात्वे अनुस्वारे परसवर्णे 'शान्त्वा' इति ।

देवित्वा (ई० २९,४६)—दिव्धातोः क्त्वाप्रत्यये 'उदितो वा' इति पाक्षिके इटि लघूपधगुणे सौ 'क्त्वातोसुन्-' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि 'देवित्वा' इति ।

इडभावे 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठि अनुबन्धलोपे यणि 'द्यूत्वा' इति ।

धार्थक 'अलम्' तथा 'खलु' उपपदक धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो, भावमें । (यहाँ सूत्रमें 'प्राचां' ग्रहण विकल्पार्थक नहीं है, प्रत्युत पूजार्थक है) । **समानकर्तृकयोः**—समानकर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकालिक क्रियावाची धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो, भावमें ।

न क्त्वा—'इट्' सहित 'क्त्वा' 'कित्' नहीं हो ।

रलोव्युपधात्—इवर्णोवर्णोपध हलादि रलन्त धातुओंसे पर सेट् 'क्त्वा' और 'सन्' कित् हो, विकल्पसे ।

उदितो—उदित् धातुसे पर 'क्त्वा' को इट् हो, विकल्पसे ।

दधातेर्हिः, हित्वा । जहातेश्च क्त्वि ७।४।४३। हित्वा । हाङ्स्तु-हात्वा । **समासेऽनञ्पूर्वेक्त्वो ल्यप् ७।१।३७।** अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक् । प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा । **आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ३।४।२२।** आभीक्ष्ण्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च । **नित्यवीप्सयोः ८।१।४।** आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये वीप्सायां च पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु च । स्मारं-स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा-स्मृत्वा । पायं-पायम् । भोजं-भोजम् । श्रावं-श्रावम् । **अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् ३।४।२७।** एषु कृञो

हित्वा (ई० २५,४९,५६,५८)—धाधातोः 'समानकर्तृकयोः-' इति क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'दधातेर्हिः' इति धास्थाने 'हि' इत्यादेशे प्रातिपदिकत्वात् सौ अव्ययत्वात् सुब्लुकि 'हित्वा' इति । 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्य क्त्वायां तु 'जहातेश्च' इत्यनेन हित्वं बोध्यम् । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोः क्त्वायां तु 'हात्वा' इति भवति । अत्र 'जहातेश्च' इति हित्वं तु न, सूत्रे जहातेरिति निर्देशात् । अन्यथा तत्र 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इतीत्वे 'जिहीतेश्चे'ति सूत्रस्वरूपापत्तेः ।

प्रकृत्य (ई० २३, ३२)—प्रपूर्वात् कृधातोः 'समानकर्तृकयोः-' इति क्त्वाप्रत्यये 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति ल्यपि अनुबन्धलोपे 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि सौ 'क्त्वातोसुन्-' इत्यव्ययत्वात् सुब्लुकि तत्सिद्धिः ।

स्मारं स्मारम् (ई० ४३)—स्मृधातोः 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति णमुलि अनुबन्धलोपे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वे कृदन्तत्वात् सौ 'कृन्मेजन्तः' इति मान्तत्वादव्ययसंज्ञायां सुब्लुकि प्रथममकारस्यानुस्वारे 'स्मारं स्मारम्' इति । स्मृत्वा स्मृत्वा इत्यर्थः ।

पायं पायम् (ई० ५०)—पाधातोः 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति णमुलि अनुबन्धलोपे 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वे मान्तत्वादव्ययत्वेन सुब्लुकि प्रथममकारस्यानुस्वारे तत्सिद्धिः । (पीत्वा पीत्वा इत्यर्थः) ।

जहातेश्च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'हि' आदेश हो, 'क्त्वा' प्रत्ययके परे ।
समासे—अव्ययपूर्वपदक 'अनञ्' समासमें 'क्त्वा' के स्थानमें 'ल्यप्' आदेश हो ।
आभीक्ष्ण्ये—पौनःपुन्य अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे 'णमुल्' और 'क्त्वा' प्रत्यय हो ।
नित्यवीप्सयोः—पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य होने पर पदको द्वित्व हो ।
अन्यथैवं—अन्यथा, एवम् , कथम् या इत्थम् अव्यय उपपदक 'कृञ्' धातुसे 'णमुल्'

णमुल् स्यात्सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ्। व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्। एवङ्कारम्। कथङ्कारम्। इत्थङ्कारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते। ॥ इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥

—०ः०ः०—

अथ कारकप्रकरणम्

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६। नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे–उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे–तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे-द्रोणो व्रीहिः। वचनं सङ्ख्या। एकः। द्वौ। बहवः। सम्बोधने च २। ३। ४७। प्रथमा स्यात्। हे राम। * इति प्रथमा *

अन्यथाकारम् (ई० २७,४५,५४)—अन्यथेत्यस्य प्रयोगे कृधातोः 'अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' इति णमुलि अनुबन्धलोपे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ रपरत्वे प्रातिपदिकत्वात् सौ मान्तत्वेन अव्ययत्वात् सुब्लुकि 'अन्यथाकारम्' इति।

इति 'इन्दुमती'टीकायामुत्तरकृदन्तप्रकरणम्।

—०ः०ः०—

प्रातिपदिकार्थेति—पदम्पदमिति प्रतिपदम्, प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम्, तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः। स च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि। तान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं तस्मिन्। 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते' इति भाष्योक्त्या द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयात् प्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः सम्पद्यते। नियतोपस्थितिकः इति-नियता=व्यापिका, उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः। यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स नियतोपस्थितिकः।

प्रत्यय हो, यदि वह 'कृञ्' धातु व्यर्थ होनेसे प्रयोगानर्ह हो रहा हो तो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उत्तरकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ।

—०ः०ः०—

प्राति—प्रातिपदिकार्थमात्रमें, लिङ्ग मात्रकी अधिकतामें परिमाणमात्रमें प्रथमा विभक्ति हो। सम्बो—सम्बोधनमें प्रथमा विभक्ति हो।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १। ४। ४९। कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । **कर्मणि द्वितीया २। ३। २।** अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा—हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितः । **अकथितञ्च १।४।५१।** अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥ १ ॥

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । अविनीतं विनयं याचते । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां

कर्तुरीप्सिततमं कर्म (ई० २०, ४१) कारके इत्यनुवर्तते तच्च प्रथमया विपरिणम्यते । कर्तुरिति 'क्तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी । आप्तुमिष्यमाणमीप्सितम् , अतिशयेनेप्सितमीप्सिततमम् । धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्ता । केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणीभूतव्यापारेणेत्यर्थाल्लभ्यते । ततश्च—कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यादिति मूलोक्तार्थः सम्पद्यते ।

हरिं भजति (ई० २२, ५५)— अत्र भजनक्रियया सम्बन्धुं देवदत्तादिकर्तुरत्यन्तेच्छाविषयीभूतस्य हरेः 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यनेन कर्मत्वात् 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया भवति । 'हरिः सेव्यते' इत्यत्र तु 'षेवृ सेवने' इत्यस्मात् कर्मणि तङो विधानात् तङा कर्मणो हरेरुक्तत्वात् प्रथमैव भवति न तु द्वितीया ।

गां दोग्धि पयः (ई० २२, ४३)—'गोः दोग्धि पयः' इति विग्रहे 'गोः' अपादानत्वाऽविवक्षया कर्मत्वविवक्षायाम् 'अकथितं च' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'गां दोग्धि पयः' इति भवति ।

कर्तुरीप्सित—कर्ताको क्रियाद्वारा प्राप्त करनेमें जो इष्टतम हो वह कारकसंज्ञक होकर कर्मसंज्ञक हो । **कर्मणि**—अनुक्त कर्ममें द्वितीया हो । **अकथितं च**—अपनादि विशेषसे अविवक्षित जो कारक वह कर्मसंज्ञक हो । **दुह्याच्** -१. **दुह** प्रपूरणे, २. **टुयाचृ** याच्ञायाम् , ३. **डुपचष्** पाके, ४. **दण्ड** दण्डनिपातने, ५. **रुधिर** आवरणे, ६. **प्रच्छ** ज्ञीप्सायाम् , ७. **चिञ्** चयने, ८. **ब्रूञ्** व्यक्तायां वाचि, ९. **शासु** अनुशिष्टौ, १० **जि** अभिभवे, ११. **मन्थ** विलोडने, १२. **मुष** स्तेये, १३. **णीञ्** प्रापणे १४. **हृञ्** हरणे, १५. **कृष** विलेखने, १६. **वह** प्रापणे—इन धातुओंके कर्मके साथ जो युक्त हो वही 'अकथित कर्म' होता है ।

नयति हरति कर्षति वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि। * इति द्वितीया *

स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

अर्थनिबन्धनेयम्—अर्थाश्रितेत्यर्थः। दुहादिपरिगणितधातूनामर्थो गृह्यते नतु दुहादयो धातव एवेति। तथा च दुहाद्यर्थकधात्वन्तरसंयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते इति बोध्यम्।

बलिं भिक्षते वसुधाम् (ई० ४५, ५१)—'अकथितं चे'ति सूत्रे 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा' इति कैयटादिभिर्व्याख्यातत्वेन याचनार्थक 'भिक्ष्' धातुयोगेऽप्यत्र बलेरपादानत्वाऽविवक्षया कर्मत्वविवक्षायां कर्मत्वाद् द्वितीया भवति।

स्वतन्त्रः—क्रिया (कार्य) में स्वतन्त्रतासे विवक्षित अर्थ (विषय, मनुष्य या पदार्थ) कर्तृसंज्ञक होता है। अर्थात् उसे कर्ता कहते हैं।

नोट:—क्रियाका जो साक्षात् जनक हो, उसे कारक कहते हैं (**साक्षात्-क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्।**) कारक छै होते हैं—

'कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणं च इत्याहुः कारकाणि षट्॥'

१, क्रियासम्पादनके विषयमें जो स्वतन्त्र (प्रधान) भावसे विवक्षित रहता हैं उसे कर्ता कहते हैं (**'क्रियासम्पादकः कर्ता'**) कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है।

'भवेद्विभक्तिः प्रथमा कर्तृवाच्यस्य कर्तरि। सम्बुद्धौ नाममात्रे च कर्मवाच्यस्य कर्मणि॥ क्वचिदव्यययोगे च प्रथमा कथ्यते बुधैः।'

२. संज्ञाके जिस रूप पर क्रियाके व्यापार का फल पड़ता है, उसे कर्म कहते हैं (**कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्त्वप्रकारकेच्छानिरूपितविषयताश्रयत्वं कर्मत्वम्**) कर्मसे द्वितीया विभक्ति होती है।

३. जो क्रियाके व्यापारमें कर्ताका सहायक हो अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो उसे 'करण' कहते हैं। करणसे तृतीया विभक्ति होती है।

४. (क) जिसको स्वसत्व-निवृत्तिपूर्वक कोई वस्तु दी जावे उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं। सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है। (अत एव दानवाक्यके अन्तमें 'न मम' का उपादान करना असंगत है-व्यर्थ है।)

(ख) जिसकी आकांक्षासे कोई कार्य किया जावे अर्थात् जो क्रियाकी प्रवृत्तिका फल हो उसे भी सम्प्रदान कहते हैं। (जैसेः—**मुक्तये हरिं भजति**)

५. परस्पर वियुक्त होनेवाले पदार्थोंमें जो स्थिर हो अर्थात् जिससे विश्लेष (विभाग) अथवा दूर गमन सम्पन्न हो, उसे 'अपादान' कहते हैं। अपादानमें पंचमी विभक्ति होती है।

साधकतमं करणम् १।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । **कर्तृकरणयोस्तृतीया** २।३।१८। अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो वाली । * इति तृतीया *

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२। दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् । **चतुर्थी सम्प्रदाने** २।३।१३। सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् ।

रामेण बाणेन हतो वाली—रामकर्तृकबाणकरणकहननाश्रयो बालीति शाब्दबोधः । अत्र रामो बाणेन वालिनं जघान इति विग्रहे हन्धातोः कर्मणि क्तप्रत्यये कर्मण उक्तत्वात् तत्र प्रथमा । हननक्रियायां रामस्य स्वातन्त्र्यविवक्षया 'स्वतन्त्रः कर्ते'ति कर्तृसंज्ञा । बाणस्य च हननक्रियायामत्यन्तोपकारकत्वात् 'साधकतमं करणम्' इत्यनेन करणसंज्ञा । ततश्चोभयत्र कर्तृकरणयोरनुक्तत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनेन तृतीयायां सत्यामुक्तं रूपं सिद्धम् ।

कर्मणेति (ई० २०, २८, ४४)—दानक्रियाकर्मणा कर्ता यमभिप्रैति सम्बध्नाति सम्बन्धुमीप्सति वा तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञकमित्यर्थः । सम्यक्प्रदीयतेऽस्मै तत्सम्प्रदानम् । 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापारः' दाधात्वर्थः । अत एव 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यत्र 'रजकाय वस्त्रं ददाति' इति न भवति ।

---

६. क्रियाके आश्रयभूत कर्ता और कर्म जिसमें अवस्थान करें उसे 'अधिकरण' कहते हैं । अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है ।

साधकतमं—क्रियाकी सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो, वह करणसंज्ञक हो ।

कर्तृकरणयोः—अनुक्त कर्ता और करणमें तृतीया हो ।

नोट :—'हेतु' और 'करण' के लक्षणोंमें किञ्चित वैषम्य है । तथाहिः—'**द्रव्य-गुण-क्रियात्मककार्यत्रयनिरूपित-निर्व्यापार-सव्यापारवृत्ति च यत्तद्धेतुत्वम्**' और '**क्रिया-जनकमात्रवृत्तिव्यापारवद्वृत्ति च यत् तत् करणत्वम्**' । 'दण्डेन घटः' यहां पर जो दण्डरूप हेतु है उसमें व्यापार तो है पर क्रियाजनकत्वका अभाव है । अतः वह करण नहीं हुआ । एवं 'पुण्येन दृष्टो हरिः' यहाँ पर जो पुण्यरूप हेतु है, उसमें हरिदर्शनजनकत्वरूप क्रियाजनकता है, परन्तु वह व्यापारवान् नहीं है । अतः वह भी करण नहीं हो सका । '**तृतीया करणे चैव कर्मवाच्यस्य कर्तरि । सहार्थश्च तथा हेतौ प्रकृत्यादिभ्य एव च । ऊनार्थैर्वारणार्थैश्च सदृशार्थैस्तथैव च । अङ्गिनो विकृतिर्येन तृतीयास्यात्तदङ्गतः ॥**'

कर्मणा—दानके कर्मसे जिसको सम्बन्धित करना इष्ट हो, वह सम्प्रदानसंज्ञक होता है।

चतुर्थी—अनुक्त संप्रदानमें चतुर्थी हो ।

विप्राय गां ददाति । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २।३।१६। एभिर्योगे चतुर्थी । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । *इति चतुर्थी*

ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४। अपायो—विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये यद्ध्रुवम्= अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात् । अपादाने पञ्चमी २ । ३ । २८ । अपादाने पञ्चमी स्यात् । ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पततीत्यादि । * इति पञ्चमी *

षष्ठी शेषे २ । ३ । ५० । कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । * इति षष्ठी *

विप्राय गां ददाति (ई० ३९, ४८)—अत्र रामादिः कर्ता दानस्य कर्मणा गवा विप्रं सम्बन्धुमिच्छतीति 'कर्मणा यमभिप्रैति–' सूत्रेण विप्रस्य सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति ।

ग्रामादायाति (ई० २४,५८) राम इति शेषः । अत्र रामविभागावधिर्ग्रामः इति 'ध्रुवमपाये' इति तस्य अपादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इति पञ्चमी ।

(प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वं ध्रुवत्वम् । अपादानत्वन्तु– 'विभागजनकव्यापारानाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वम्' इति) ।

मातुः स्मरति (ई० २२, ४०, ४६)—'मातरं स्मरति' इत्यर्थे कर्मत्वाऽविवक्षायां शेषत्वविवक्षया 'शेषे षष्ठी' इति षष्ठी भवति ।

नमःस्वस्ति—नमः, स्वस्ति आदिके योगमें चतुर्थी हो ।

नोट :—'सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते ।
रुच्यर्थानां प्रीयमाणे नमोयोगे च सा भवेत् ॥'

ध्रुवमपाये—अपाय (विश्लेष = विभाग) में जो अवधिभूत (स्थिर) रहे, उसकी अपादान संज्ञा हो । अपादाने पञ्चमी—अपादानमें पञ्चमी विभक्ति हो ।

नोट :—'अपादाने ल्यबर्थे च योगे पूर्वादिभिस्तथा । उत्कर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे तु विभाषया ॥ ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधैः ।'

षष्ठी शेषे—कारक और प्रातिपदिकार्थसे भिन्न स्वस्वामिभावादि (जन्यजनकभावादि) सम्बन्ध 'शेष' कहाता है, उस शेषमें षष्ठी हो ।

नोट :—'षष्ठी भवति सम्बन्धे कृदन्ते कर्तृकर्मणोः । तृतीया स्यात् तथा षष्ठी कृत्यानां कर्तृकारके ॥ तुल्यार्थयोगे षष्ठी स्याद् तृतीया च विभाषया ।'

आधारोऽधिकरणम् १।४।४५। कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात्। सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६। अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद्दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। * इति सप्तमी *॥ इति कारकप्रकरणम्॥

कर्मणि द्वितीया' इत्यादिसूत्रेषु द्वितीयादिविधिषु हि कर्मकर्तृकरणसम्प्रदानाऽपादानाधिकरणकारकाण्यनुक्रान्तानि, प्रथमाविधौ प्रातिपदिकार्थोऽनुक्रान्तः, एतेभ्योऽन्यः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः 'शेषः', तत्र षष्ठी स्यादिति 'शेषे षष्ठी'ति सूत्रस्यार्थः।

कटे आस्ते (ई० ४७, ४९)—अत्र कर्ता रामादिस्तन्निष्ठास्तिक्रियायाः परम्परयाऽऽधारस्य कटस्य 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यनेन अधिकरणसंज्ञायां 'सप्तम्यधिकरणे' इत्यनेन सप्तमी भवति।

'आधारोऽधिकरणमि'ति सूत्रे 'औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चे'त्याधारस्त्रिधा। उप=समीपे, श्लेषः = सम्बन्धः, 'उपश्लेषः' तत्कृतमौपश्लेषिकम्। अस्योदाहरणं 'कटे आस्ते' इति। विषये भवो 'वैषयिकः' अस्योदाहरणं 'मोक्षे इच्छास्ति' इति। अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्तां क्रियां प्रति मोक्षस्य विषयतासम्बन्धपुरस्कारेण इच्छाद्वाराऽऽधारत्वादधिकरणम्। अभि=सर्वतोभावेन, व्याप्नोतीति अभिव्यापकः यः आधारः सर्वमभिव्याप्नोति सः अभिव्यापक इत्युच्यते। अस्योदाहरणं 'सर्वस्मिन्नात्मास्ति'(ई०४४)सर्वस्मिन्नभिव्याप्य आत्मा वर्तत इत्यर्थः। अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्तां क्रियां प्रति कृत्स्नव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा सत्ताधारत्वात् सर्वस्याधिकरणत्वम्।

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्मके द्वारा जो कर्तृ-कर्मनिष्ठ क्रियाका आधार वह कारकसंज्ञक होकर अधिकरणसंज्ञक हो। **सप्तम्यधिकरणे**—अनुक्त अधिकरणमें सप्तमी हो।

नोटः—'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत्।
अनादरे च निर्धारे षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा॥'

छै कारकोंके उदाहरण एक साथ निम्न श्लोकमें देखें—

'रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे।
रामेणाभिहिता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः॥
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्।
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम! मामुद्धर॥'

इति 'इन्दुमती'टीकायां कारकप्रकरणम्।

अथ समासप्रकरणम्

तत्रादौ केवलसमासः ।

समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः ॥ १ ॥ प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः ॥ २ ॥ प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः । तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः ॥ ३ ॥ प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः ॥ ४ ॥ प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ॥ ५ ॥ समर्थः पदविधिः २।१।१। पदसम्बन्धी यो

---

(१) विशेषेति—विशेषाश्च ताः संज्ञा विशेषसंज्ञा, अव्ययीभावादयस्ताभिर्विनिर्मुक्तः विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः । अव्ययीभावादिविशेषसंज्ञारहितः केवलसमास इत्यर्थः । (२) प्रायेण पूर्वपदार्थेति—पूर्वश्चाऽसौ पदार्थश्च पूर्वपदार्थः, स प्रधानो यस्मिन् स पूर्वपदार्थप्रधानः । यस्मिन् समासे पूर्वपदार्थस्य प्राधान्यं सोऽव्ययीभावसंज्ञक इत्यर्थः । सूपप्रति = उन्मत्तगङ्गमित्याद्यव्ययीभावेऽपि सूपोन्मत्तयोः पूर्वपदार्थयोरप्राधान्यात्प्रसक्तव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुक्तलक्षणे प्रायेणेति पदम् । (३) प्रायेणोत्तरेति—उत्तरपदार्थः प्रधानो यस्मिन् स उत्तरपदार्थप्रधानः । यस्मिन् समासे उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं स तत्पुरुषसंज्ञक इत्यर्थः । अतिमालादौ अतिक्रमणकर्तृत्वरूपपूर्वपदार्थस्यैव प्राधान्येन मालादिरूपोत्तरपदार्थस्याऽप्राधान्यादुक्तलक्षणे प्राप्तव्यभिचारनिवृत्तये प्रायेणेति । (४) प्रायेणान्यपदार्थेति—अन्यपदार्थः प्रधानो यस्मिन् सोऽन्यपदार्थप्रधानः । यस्मिन् समासेऽन्यपदार्थस्य वर्तिपदार्थातिरिक्तस्य प्राधान्यं स बहुव्रीहिसंज्ञक इत्यर्थः । बहुव्रीहावपि 'द्वित्रा' इत्यादावन्यपदार्थस्याऽप्राधान्यात् प्रायेणेत्युक्तम् । (५) प्रायेणोभयपदार्थेति—उभयः पदार्थः प्राधानो यस्मिन् स उभयप-

---

समासः पञ्चधा—समास पाँच प्रकारके होते हैं—१. केवलसमास, २. अव्ययीभाव समास, ३. तत्पुरुष समास, ४. बहुव्रीहि समास और ५. द्वन्द्व समास ।

नोट—'एकार्थवाचकतां प्राप्तो भिन्नार्थकाऽनेकपदसमूहः समासः ।'

दो या अधिक पदोंके एकपदीकरणको समास कहते हैं ।

विशेष—विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः अर्थात् तत्पुरुष, अव्ययीभावादि विशेषसंज्ञारहित को 'केवल समास' कहते हैं । यथा—पूर्वं भूतः—भूतपूर्वः । **समर्थः पदविधिः**—पदसंबन्धी जो विधि वह समर्थाश्रित हो ।

सामर्थ्यं द्विविधम् । व्यपेक्षारूपम्, एकार्थीभावरूपञ्च । तत्र 'स्वार्थपर्यवसायिनां

विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः। प्राक्कडारात्समासः २। १। ३। 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् 'समास' इत्यधिक्रियते। सह सुपा २। १। ४। सुप् सुपा सह वा समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्। परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थाऽवबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा। तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः। पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः। *इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव वागर्थाविव।

॥ इति केवलसमासः॥

दार्थप्रधानः। यस्मिन् समासे उभयपदार्थस्य प्राधान्यं स द्वन्द्वसंज्ञक इत्यर्थः। पाणिपादमित्यादिद्वन्द्वेऽपि उभयपदार्थस्याऽप्राधान्यात् प्रायेणेत्युक्तम्।

भूतपूर्वः (ई० ४४)—पूर्वं भूतः 'भूतपूर्वः'। 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इति समासे 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुकि 'पूर्वभूत' इति जाते 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति पूर्व-भूतशब्दयोरुभयोरप्युपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति विनिगमकाऽभावादुभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः।

इति 'इन्दुमती' टीकायां केवलसमासः।

पदानाम् आकाङ्क्षादिवशात्परस्परसम्बन्धरूपा व्यपेक्षा। सा च राज्ञः पुरुषः इत्यादि वाक्ये एव। 'स्वार्थपर्यवसायिनां पदानां विशेषणविशेष्यभावावगाह्येकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावत्वम्।' तच्च 'राजपुरुषः' इत्यादिवृत्तावेव।

प्राक्कडारात्—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्रसे पूर्व 'समास' यह अधिकार है।

सह सुपा—(समर्थ) सुबन्तका सुबन्तके सा मेँ समास हो, विकल्पसे।

वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः '**कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपपञ्चवृत्तीनामर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः**' इति त्पयम्।

इवेन समासो—'इव' शब्द के साथ समास हो, और विभक्तिका लोप नहीं हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें केवलसमासप्रकरण समाप्त हुआ।

अथाऽव्ययीभावसमासः

अव्ययीभावः २।१।५। अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् । **अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्याऽन्तवचनेषु २ । १ । ६ ।** विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते सोऽव्ययीभावः । प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा । **विभक्तौ**–'हरि ङि अधि' इति स्थिते । **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३।** समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् । **उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०।** समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि । **अव्ययीभावश्च**

अधिहरि (ई० २२, ४५, ५२)—हरौ इति 'अधिहरि' । हरि ङि अधि इति स्थिते 'अव्ययम्–' इति सूत्रेण अव्ययीभावसमासे समासविधायकसूत्रेऽव्ययमिति प्रथमान्तपदनिर्दिष्टस्य 'अधी'त्यस्य 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्यनेन उप-

---

अव्ययीभावः—तत्पुरुष समाससे पूर्व अव्ययीभावका अधिकार है । (अव्ययीभाव-समास-विधायक सूत्रसे अव्ययीभाव संज्ञा भी समासके साथ-साथ होगी)

नोट :—अव्ययीभाव-समास-निष्पन्न शब्द नपुंसकलिङ्ग ही होता है और उसके उत्तर पंचमी विभक्तिको छोड़कर सभी स्वादि विभक्तियोंके स्थानमें 'अम्' हो जाता है । केवल अकारान्त शब्दके उत्तर तृतीया और सप्तमीके स्थानमें विकल्पसे 'अम्' होगा । यथा :—अधिगोपं कृष्णः । अधिगोपं कृष्णं । अधिगोपम् , अधिगोपेन वा कृष्णेन । अधिगोपं कृष्णाय । अधिगोपात् कृष्णात् । अधिगोपं कृष्णस्य । अधिगोपम् , अधिगोपे वा कृष्णे ।

अव्ययं विभक्ति—विभक्त्यर्थादिमें वर्तमान जो अव्यय, वह समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समस्त हो । (यही अव्ययीभाव कहलाता है) **प्रथमानिर्दिष्टं**—समासशास्त्रमें प्रथमा निर्दिष्टकी उपसर्जन संज्ञा हो ।

नोट :—समासशास्त्र याने समासविधायक सूत्र, उस सूत्रघटक जो प्रथमान्त पद, तन्निर्दिष्ट समस्यमान जो 'प्रथमान्त' हो, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो । उदाहरण देखें–'अधिहरि' । यहाँ समासशास्त्र हुआ 'अव्ययं विभक्ति' यह शास्त्र (सूत्र), इस सूत्रघटक प्रथमान्त पद हुआ 'अव्ययं' यह पद, इससे निर्दिष्ट हुआ 'अधि' इसलिये अधिकी उपसर्जनसंज्ञा होती है—'हरि' की नहीं ।

उपसर्जनं पूर्वम्—समासमें उपसर्जनका पूर्व प्रयोग हो । **अव्ययीभावश्च**—अव्ययी-

२।४।१८। अयं नपुंसकं स्यात्। नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २।४।८३। अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्नित्यधिगोपम्। तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४। अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा। कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम्। मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम्। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययोऽतिहिमम्। निद्रा सम्प्रति न युज्यत इत्यतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि। विष्णोः पश्चा-

---

सर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते 'अधि हरि ङि' इति जाते समासत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुः' इति सुब्लुकि एकदेशविकृतन्यायेन समुदायात् सौ 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् सोर्लुकि 'अधिहरि' इति।

अधिगोपम् (ई० ५१)—गां पातीति 'गोपाः' तस्मिन्नित्यधिगोपम्। 'गोपा ङि अधि' इति स्थिते 'अव्ययम्–' इति समासे 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति 'अधी'त्यस्योपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन नपुंसकसंज्ञायाम् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति 'गोपा' इत्यस्य ह्रस्वत्वे 'अधिगोप' इति स्थिते एकदेशविकृतन्यायेन समुदायेन समासत्वात् सौ अव्ययत्वात् सोर्लुकि प्राप्ते 'नाऽव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति तन्निषेधे सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः।

उपकृष्णम् (ई० २१, २५, ४७)—कृष्णस्य समीपमुपकृष्णम्। 'कृष्ण ङस् उप' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययम्-' इति सूत्रेण सामीप्यार्थवाचक 'उप'-शब्देन सह समासे 'प्रथमानिर्दिष्टम्–' इति 'उप' इत्यस्योपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वप्रयोगे समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि समुदायात् टाविभक्तौ 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इत्यमादेशे पूर्वरूपे 'उपकृष्णम्' इति। अमादेशाऽभावपक्षे इनादेशे गुणे 'उपकृष्णेन' इति। प्रथमाविभक्तावपि 'अव्ययीभावश्चे'-त्यव्ययत्वात् सुब्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति तन्निषेधे सोरमि पूर्वरूपे 'उपकृष्णम्' इति, सप्तमीविभक्तौ तु 'उपकृष्णम्–उपकृष्णे' इति बोध्यम्।

भाव समास नपुंसकलिङ्ग हो। **नाव्ययी**—अदन्त अव्ययीभावसे पर 'सुप्' का लुक् नहीं हो, किन्तु पञ्चमीविभक्ति को छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों को 'अम्' आदेश हो जाय। **तृतीया**—अदन्त अव्ययीभावसे पर तृतीया और सप्तमीको बहुलप्रकार (विकल्प) से अम्

दनुविष्णु । योऽग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि-यथार्थाः । रूपस्य योग्यमनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति । **अव्ययीभावे चाऽकाले ६ । ३ । ८१।** सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत् सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते साऽग्नि । **नदीभिश्च २ । १ । २० ।** नदीभिः सह संख्या समस्यते । ॐसमाहारे चायमिष्यते । पञ्चगङ्गम् । द्वियमुनम् । **तद्धिताः ४। १। ७६।** आ-पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५। ४। १०७।** शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिविपाशम् ।

सहरि (ई० ३८)—हरेः सादृश्यं सहरि । 'हरि ङस् सह' इति विग्रहे सादृश्यार्थक 'सह' इत्यव्ययेन सह 'अव्ययम्-' इति सूत्रेण समासे सहेत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहस्य सादेशे समुदायात् सौ 'अव्ययीभावश्च' त्यव्ययत्वात् सुब्लुकि तत्सिद्धिः ।

पञ्चगङ्गम् (ई० २३,३९,४९,५८)—'पञ्चानां गङ्गानां समाहारः' इति लौकिकविग्रहः । अत्र 'पञ्चन् आम् गङ्गा आम्' इत्यलौकिकविग्रहे 'समाहारे चायमिष्यते' इति वार्तिकबलात् 'नदीभिश्च' इति समासे सुब्लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति 'गङ्गा' इत्यस्योपसर्जनत्वाद् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वे समुदायात् सौ 'अव्ययीभावश्चे' त्यव्ययत्वात् सोर्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावात्-' इति तन्निषेधे सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः । तृतीयाविभक्तौ तु 'तृतीयासप्तम्योः-' इति अमादेशे पूर्वरूपे 'पञ्चगङ्गम्' इति । पक्षे इनादेशे गुणे 'पञ्चगङ्गेन' इति । सप्तमीविभक्तौ तु पञ्चगङ्गम्-पञ्चगङ्गे इति रूपद्वयं भवति ।

उपशरदम् (ई० ४८,५०)—'शरद् ङस् उप' इत्यलौकिकविग्रहे सामीप्यार्थक 'उप' इत्यव्ययेन सह 'अव्ययम्-' इति सूत्रेण समासे 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति टचि अनुबन्धलोपे उपेत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते समासत्वात् प्रा-

---

भाव (अम् आदेश) हो । **अव्ययीभावे**—अव्ययीभाव समासमें 'सह' को 'स' आदेश हो, कालवाचकको छोड़कर । **नदीभिश्च**—नदीवाचक सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो, विकल्पसे । **समाहारे**—नदीवाचकका यह समास समाहारमें ही इष्ट है । **तद्धिताः**—पञ्चम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार है । **अव्ययीभावे शरत्**—शर-

(ग) जराया जरस् च । उपजरसमित्यादि । अनश्च ५।४।१०८। अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् स्यात् । नस्तद्धिते ६।४।१४४। नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् । नपुंसकादन्यतरस्याम् ५।४।१०९। अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपचर्मम् । उपचर्म । झयः ५।४।१११। झयन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपसमिधम् । उपसमित् ।

॥ इत्यव्ययीभावसमासः ॥

अथ तत्पुरुषसमासः

तत्पुरुषः २।१।२२। अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः । द्विगुश्च २।१।२३। द्विगुरपि

तिपदिकत्वेन सुपो लुकि समुदायात् सौ अव्ययत्वात् सुब्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावात्-' इति तन्निषेधे सोरमि पूर्वरूपे उक्तं रूपं जातम् ।

अध्यात्मम् (ई० ४०, ४६)—'आत्मन् ङि अधि' इत्यलौकिकविग्रहे 'अव्ययम्-' इति समासे 'प्रथमानिर्दिष्टम्-' इत्यधीत्यस्योपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वप्रयोगे समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सुपो लुकि यणि 'अध्यात्मन्' इति स्थिते 'अनश्च' इति टचि भत्वात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे समुदायात् सौ अव्ययत्वात् सब्लुकि प्राप्ते 'नाव्ययीभावात्' इति तन्निषेधे सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायामव्ययीभावप्रकरणम् ।

दादिसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, अव्ययीभावमें । **जराया**—'जरा' शब्दको 'जरस्' आदेश हो और चकारात् 'टच्' प्रत्यय भी हो, अव्ययीभावमें । **अनश्च**—अन्नन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो । **नस्तद्धिते**—नान्त भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, तद्धितके परे । **नपुंसकादन्य**—अन्नन्त जो क्लीब, तदन्त जो अव्ययीभाव, उससे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । **झयः**—झयन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अव्ययीभावप्रकरण समाप्त हुआ ।

तत्पुरुषः—बहुव्रीहिके पूर्व तत्पुरुषका अधिकार है ।

नोट :—तत्पुरुषमें जितने समासविधायक सूत्र हैं, उन सबोंसे समासके साथ-साथ तत्पुरुषसंज्ञा भी होगी ।

द्विगुश्च—द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक हो ।

नोट :—तत्पुरुषका भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारयका भेद 'द्विगु' समास कहलाता है ।

तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात्। **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४।** द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः-कृष्णश्रित इत्यादि। **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।३०।** तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनाऽर्थेन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनाऽर्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्? अक्ष्णा काणः। **कर्तृकरणे कृता बहुलम् २।१।३२।** कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातो हरित्रातः। नखैर्भिन्नो नखभिन्नः। **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्।** नखनिर्भिन्नः। **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३६।** चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् यद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्।

कृष्णश्रितः—'कृष्ण अम् श्रित सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'द्वितीया श्रिते'ति समासे सुब्लुकि समासशास्त्रघटक'द्वितीये'ति प्रथमान्तपदनिर्दिष्ट 'कृष्णे'त्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते एकदेशविकृतन्यायेन समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः।

नखनिर्भिन्नः (ई० २०, २२)—'नख भिस् निर्भिन्न सु' इति विग्रहे 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति समासविधौ तदन्तविधिनिषेधेन 'निर्भिन्ने'त्यस्य

(तत्पुरुष) जिस समासमें समस्त पदका अन्तिम खण्ड प्रधान हो और सभी खण्ड संबोधन तथा प्रथमाको छोड़कर अन्य किसी भी कारककी विभक्तिका अर्थ लेकर परस्पर सम्बद्ध हों, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। जैसे—**शोकाकुलः। मधुरमिश्रः** आदि। **(कर्मधारय)** जिस तत्पुरुष समासमें विशेष्य-विशेषण या उपमान-उपमेयके समानाधिकरण (विशेष्य-विशेषणभावापन्न) का बोध हो, उसे कर्मधारय समास कहते हैं। (इसमें उत्तर पदका अर्थ प्रधान रहता है) जैसे—**दीर्घाकारः। घनश्यामः** आदि। कर्मधारय समासमें दोनों पदोंमें सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले शब्दके लुप्त रहनेपर वह समास 'मध्यमपदलोपी समास' कहलाता है। जैसे—**'पर्णनिर्मिता शाला पर्णशाला' 'शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः'** आदि। **द्विगु**—सामासिक शब्दका पूर्व पद संख्यावाचक होनेसे वह समास द्विगु समास कहलाता है। यह समास अधिकतर समाहार अर्थमें और एकवचनान्त नपुंसकलिंग होता है। इसके बहुतसे समस्त पद अनियमितरूपसे बनते हैं। जैसे—**त्रिलोकी। पञ्चगवम्**, आदि।

द्वितीयाश्रिता—द्वितीयान्त पद, श्रितादि प्रकृतिक सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे। **तृतीयान्त**—तृतीयान्त पद, तृतीयान्तार्थकृत गुणवचनके साथ और अर्थ शब्दके साथ समस्त हो, विकल्पसे। **कर्तृकरणे**—कर्ता और करणमें जो तृतीया, वह कृदन्तके साथ बहुल प्रकार से समस्त हो। **कृद्ग्रहणे**—कृतग्रहणमें गतिकारकपूर्वका भी ग्रहण हो। **चतुर्थी**—चतु-

यूपाय दारु यूपदारु । ॐतदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली । ॐअर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् । द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् । पञ्चमी भयेन २।१।३७। चोराद्भयं चोरभयम् । स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन २। १। ३९ । पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२। अलुगुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । कृच्छ्रादागतः । षष्ठी २।२।८। षष्ठयन्तं सुबन्तेन प्राग्वत् । राजपुरुषः । पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे २ । २। १ । अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी । षष्ठीसमासापवादः । पूर्वकायः । अपरकायः । एकाधिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्राणाम् । अर्धं नपुंसकम् २। २। २। समांशवाच्यर्ध-

---

कृदन्तत्वाऽभावात् समासाप्राप्तौ 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषाबलात् 'कर्तृकरणे' इति समासे सुब्लुकि समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धम् ।

यूपदारु (ई० ३६)—'यूप ङे दारु सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'चतुर्थी तदर्थार्थ'-इति विभाषया समासे सुब्लुकि समुदायात् सौ 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इत्यस्य जागरूकत्वेन नपुंसकत्वात् सोर्लुकि तत्सिद्धम् ।

राजपुरुषः (ई० ३२, ४८, ५५)—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । 'राजन् ङस् पुरुष सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'षष्ठी' इति समासे सुब्लुकि अन्तर्वर्तिविभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नलोपे समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तन्निष्पन्नम् ।

र्थ्यन्तार्थके लिये जो है, तद्वाचक जो समर्थ सुबन्त उसके साथ और अर्थादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ चतुर्थ्यन्त समस्त हो, विकल्पसे ।

नोट :—'यूपाय दारु यूपदारु' यहाँ पर 'यूपाय' यह चतुर्थ्यन्त है, इसका अर्थ हुआ 'यूप' इसके लिये जो (दारु) है, तद्वाचक समर्थ सुबन्त हुआ 'दारु सु' इसके साथ चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' का समास होता है ।

अर्थेन—अर्थ शब्दके साथ चतुर्थ्यन्तका नित्य समास हो और विशेष्यलिंगता भी हो। **पञ्चमी भयेन**—भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ पञ्चम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे। **स्तोकान्तिक**—क्तान्त प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ स्तोकादि समस्त हो, विकल्पसे। **पञ्चम्याः**—स्तोकादिसे पर पञ्चमीका अलुक् हो, उत्तरपदके परे । **षष्ठी**—समर्थ सुबन्तके साथ षष्ठयन्तका समास हो। **पूर्वापरा**—यदि एकत्व संख्याविशिष्ट अवयवी हो तो, अवयववाची के साथ पूर्वादि समर्थ सुबन्त समस्त हो, विकल्पसे । **अर्द्धं नपुंसकम्**—समांश-

शब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पली। **सप्तमी शौण्डैः २।१।४०।** सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः, इत्यादि। द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि तृतीयादि-विभक्तीनां प्रयोगवशात्समासो ज्ञेयः। **दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।५०।** संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न-उत्तरा वृक्षाः। पञ्च ब्राह्मणाः। **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१।** तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्सङ्ख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः। पूर्वा शाला इति समासे जाते-**॥सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः।** **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४।२।१०७।** अस्माद्भवाद्यर्थे ञः स्यादसंज्ञायाम्। **तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७।** ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। यस्येति च। पौर्वशालः। पञ्च

अर्धपिप्पली (ई० ५२)—'अर्ध सु पिप्पली ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे समासशास्त्रघटकप्रथमान्तपदनिर्दिष्ट 'अर्ध सु' इत्यस्य उपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते सुब्लुकि समुदायात् सौ विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्। अत्र पिप्पलीशब्दस्य नियतविभक्तिकत्वेऽपि 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति निषेधादुपसर्जनत्वाऽभावाद् ह्रस्वो नेति तत्त्वविदः।

पूर्वेषुकामशमी—पूर्वश्चासौ इषुकामशमी पूर्वेषुकामशमी। देशविशेषस्य संज्ञेयम्। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इत्यनेनात्र समासः। न च 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमिति वाच्यम् 'संज्ञायामेवेति' नियमार्थं तस्यावश्यकत्वात्।

पौर्वशालः (ई० ४१, ४५, ५०)—पूर्वस्यां शालायां भवः इति लौकिकविग्रहे 'पूर्वा ङि शाला ङि' इति स्थिते 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुब्लुकि 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पूर्वाशब्दस्य पुंवत्वे 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः' इति ञप्रत्यये 'यस्येति च' इत्याकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ समुदायात् सौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

वाची नित्य नपुंसक अर्ध शब्द, समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे। **सप्तमी शौण्डैः**—शौण्डादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ सप्तम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे। **दिक्संख्ये**—दिग्वाची और संख्यावाचीका संज्ञामें ही समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे। **तद्धितार्थो**—तद्धितार्थके विषयमें उत्तर पदके परे और समाहार वाच्यमें दिग्वाचक और संख्यावाचकका समास हो, विकल्पसे। **सर्वनाम्नो**—सर्वनामको वृत्तिमात्रमें पुंवद्भाव हो। **दिक्पूर्वपदा**—दिक्पूर्वपदक (समास) से भवादि अर्थोंमें 'ञ' प्रत्यय हो, असंज्ञामें। **तद्धिते**—अचोंके मध्यमें आदि अच्‌को वृद्धि हो, ञित्-णित्-तद्धित प्रत्यय

गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ ॐद्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्। गोरतद्धितलुकि ५। ४। ९२। गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो, न तु तद्धितलुकि। पञ्चगवधनः। तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १। २। ४२। संख्यापूर्वो द्विगुः २। १। ५२। तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्। द्विगुरेकवचनम् २।४।१। द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात्। स नपुंसकम् २। ४। १७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम्। विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २। १। ५७। भेदकं समानाधिकरणेन

पञ्चगवधनः (ई० २२,२६,५६)—पञ्च गावो धनं यस्य स 'पञ्चगवधनः' अत्र 'पञ्चन् जस् गो जस् धन सु' इति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तर-'पञ्चन्-गोशब्दयोः' 'तद्धितार्थे'ति विभाषया समासे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' इति नित्ये समासे सुब्लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात् पञ्चन्-शब्दस्य नस्य लोपे 'पञ्चगो' इत्यस्मात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि अनुबन्धलोपे अवादेशे 'पञ्चगव' इति बहुव्रीहाववान्तरे 'तत्पुरुषे' जाते बहुव्रीहिसमासस्यापि प्रातिपदिकत्वात् सुलोपे समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे 'पञ्चगवधनः' इति।

पञ्चगवम् (ई० २७,३२,३४,४९)—'पञ्चन् आम् गो आम्' इति विग्रहे 'तद्धितार्थ-' इति समासे सुब्लुकि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वान्नलोपे 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि अनुबन्धलोपे अवादेशे 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायां 'द्विगुरेकवचनम्' इत्येकवद्भावे समुदायात् सौ 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वात् सोरमि पूर्वरूपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

के परे। **द्वन्द्वतत्पु**—समासचरमावयव उत्तरपदके परे अवान्तर द्वन्द्व और तत्पुरुषको नित्य ही समास होता है। **गोरतद्धित**—गोन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, परन्तु तद्धितलुक्में नहीं हो। **तत्पुरुषः**—समानाधिकरण (एकाधिकरण) तत्पुरुष कर्मधारय संज्ञक हो। **संख्यापूर्वो**—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्रसे विहित संख्यापूर्वकका समास द्विगुसंज्ञक हो। **द्विगुरेकवचनम्**—द्विग्वर्थ समाहार एकवत् हो। **स नपुंसकम्**—समाहारमें द्विगु और द्वन्द्व नपुंसकलिङ्ग हो। **विशेषणं**—विशेषण और विशेष्य, समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ बहुलप्रकारसे समस्त हो।

नोट :—**'भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम्।**
प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम्॥'
पदार्थे स्वार्थनिष्पन्नादप्रधानं विशेषणम्।
विशेष्यं तु प्रधानं स्यात्स्वार्थस्यैव समर्पणात्॥'

भेदेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात्क्वचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः । क्वचिन्न-रामो जामदग्न्यः । उपमानानि सामान्यवचनैः २ । १ । ५५ । घन इव श्यामो घनश्यामः । ॐशाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणो देवब्राह्मणः । नञ् २।२।६। नञ् सुपा सह समस्यते । नलोपो नञः ६ । ३ । ७३। नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः-अब्राह्मणः । तस्मान्नुडचि ६।३।७४। लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु 'न'शब्देन सह सुप्सुपेति समासः । कुगतिप्रादयः २ । २ । १८ । एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः । ऊर्यादिच्विडाचश्च १ । ४ । ६१ । ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । सुपुरुषः । ॐप्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया । प्रगत आचार्यः-प्राचार्यः । ॐअत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया । अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे-एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते १ । २ । ४४ । विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १ । २ । ४८ । उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तश्च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः । ॐअवा-

---

अनश्वः (ई० २४, २८) न अश्वः अनश्वः । 'अश्व सु न' इत्यलौकिकविग्रहे, 'नञ्' इति सूत्रेण समासे समासविधायकशास्त्रघटकप्रथमान्तपदनिर्दिष्ट 'न' इत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पू निपाते सुब्लुकि 'नलोपो नञः' इति नलोपे 'अ अश्व' इति स्थिते 'तस्मान्नुडचि' इति नुटि अनुबन्धलोपे समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धम् ।

अतिमालः (ई० ४२, ५८)—मालामतिक्रान्तः अतिमालः । 'माला अम्

उपमा—उपमानवाची जो सुबन्त, वह समानाधिकरण सामान्यधर्मवाचक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो । **शाक**—शाकपार्थिवादिकी सिद्धिके लिये उत्तर पदका लोप हो । **नञ्**—'नञ्'का समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । **नलोपो**—'नञ्' के नकारका लोप हो, उत्तर पदके परे । **तस्मान्नुडचि**—लुप्तनकारके 'नञ्' से पर अजादि उत्तर पदको नुट् हो । **कुगति**—कु, गति और प्रादिका समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समास हो । **ऊर्यादि**—ऊरी आदि शब्दकी तथा च्व्यन्त और डाजन्तकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो । **प्रादयो**—गताद्यर्थमें प्रादिका प्रथमान्तके साथ नित्य समास हो । **अत्यादयः**—क्रान्ताद्यर्थमें अत्यादिका द्वितीयान्तके साथ नित्य समास हो । **एकविभक्ति**—विग्रहमें जो नियत विभक्त्यन्त है, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो, परन्तु पूर्वनिपात नहीं हो । **गोस्त्रियो**—उपसर्जन

दयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया। अवक्रुष्टः कोकिलया–अवकोकिलः। ॐपर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोऽध्ययनाय–पर्यध्ययनः। ॐनिरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** ३।१।९२। सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्। **उपपदमतिङ्** २।२।१९। उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। अतिङ् किम्? मा भवान् भूत्। माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम्। **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः।** व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छ-

---

अति' इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासे समासशास्त्रघटकप्रथमान्तपदनिर्दिष्ट 'अती'त्यस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते सुब्लुकि 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इति नियतविभक्तिकस्य मालेत्यस्योपसर्जनसंज्ञायां 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वे समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे 'अतिमालः' इति।

कुम्भकारः (ई० २१, ४२)—कुम्भं करोतीत्यर्थे 'कर्मण्यण्' इत्यणि 'कुम्भ अस् कृ अण्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इति कुम्भशब्दस्योपपदसंज्ञायाम् 'उपपदमतिङ्' इति समासे सुपो लुकि 'कुम्भकार' इति भूते समासत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्।

व्याघ्री (ई० ५०)—विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्री। वि आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातोः 'आतश्चोपसर्गे कः' इति कप्रत्यये 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'गतिश्च' इति गतिसंज्ञायां 'गतिकारकोपपदानाम्–' इति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्राक् घ्रशब्देन आङः 'कुगतिप्रादयः' इति समासे ततः आघ्रशब्देन वेर्गतिसमासे यणि 'व्याघ्र' इति तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'व्याघ्री' इति।

जो गोशब्द और स्त्री प्रत्ययान्त, तदन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व हो। **अवादयः**—क्रुष्टाद्यर्थमें तृतीयान्तके साथ अवादिका नित्य समास हो। **पर्यादयो**—ग्लानाद्यर्थमें चतुर्थ्यन्तके साथ नित्य समास हो। **निरादयः**-पर्यादिका क्रान्ताद्यर्थमें पञ्चम्यन्तके साथ निरादिका नित्यसमास हो। **तत्रोपपदं**—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पदों में वाच्यत्वेन स्थित (पदोंका वाच्य) जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद (कुम्भ–आदि), उसकी उपपदसंज्ञा हो (और उपपदसंज्ञा होने पर ही वक्ष्यमाण अणादि प्रत्यय हों)। **उपपदमतिङ्**—उपपद सुबन्तका तिङन्तभिन्न समर्थके साथ नित्य समास हो।

गतिकारकोप—गति, कारक और उपपद संज्ञक का सुबुत्पत्तिसे पूर्व ही कृदन्तके

पीत्यादि । **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५ । ४ । ८६ ।** सङ्ख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । **अहः सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः ५।४।८७।** एभ्यो रात्रेरच् स्याच्चात्सङ्ख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् । **रात्राह्नाहाः पुंसि २ । ४ । २९ ।** एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्रः । सर्वरात्रः । सङ्ख्यातरात्रः । *संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् । **राजाहःसखिभ्यष्टच् ५।४।९१।** एतदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् । परमराजः । **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६।** महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे । महाराजः । प्रकारवचने जातीयर् । महाप्रकारो महाजातीयः । **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७।** आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशतिः । **त्रेस्त्रयः ६ । ३ । ४८ ।** त्रयोदश । त्रयोविंशतिः ।

अहोरात्रः (ई० २८)—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । 'अहन् सु रात्रि सु' इति विग्रहे द्वन्द्वसमासे सुब्लुकि 'अहः सर्वैकदेश–' इत्यचि भत्वात् 'यस्येति च' इतीकारलोपे 'परवल्लिङ्गम्–' इति बाधित्वा 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' इति नस्य रुत्वे उत्वे गुणे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

परमराजः (ई० २५, २९, ३०, ३५, ४७, ४९)—परमश्चासौ राजा परमराजः । 'परम सु राजन् सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इति समासे सुब्लुकि 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टचि भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् ।

महाराजः (ई० २७,५०,५७)—महांश्चासौ राजा महाराजः । 'महत् सु राजन् सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'सन्महत्–' इति समासे सुब्लुकि 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति

साथ समास हो । **तत्पुरुषस्या**—संख्यादि और अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । **अहःसर्वैकदेश**—अहरादि और संख्याव्ययादि पूर्वपदक रात्रि शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । **रात्राह्नाहाः**—रात्र, अह्न और अहः शब्दान्त जो द्वन्द्व और तत्पुरुष वह पुंलिङ्गमें ही हो । **संख्यापूर्वं**—संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द नपुंसक हो । **राजाहः**—राजन् शब्दान्त और अहन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो । **आन्महतः**—समानाधिकरण उत्तरपदमें या जातीयर् प्रत्यय परमें हो तो महत् शब्दको आकारान्त आदेश हो । **द्व्यष्टनः**—द्वि और अष्टन् शब्दको आत्व हो, संख्याके परे, परन्तु बहुव्रीहिमें और अशीतिके परे आत्व नहीं हो । **त्रेस्त्रयः**—'त्रि' शब्दको 'त्रयस्' आदेश हो

त्रयस्त्रिंशत्। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६।** एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरी–कुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली। **❀द्विगुप्राप्ता-पन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः।** पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः–पञ्च-कपालः पुरोडाशः। **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया २।२।४।** प्राप्तापन्ने च द्वितीयया समस्येते, अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नजी-विकः। अलं कुमार्यै–अलङ्कुमारिः। अत एव ज्ञापकात्समासः। निष्कौशाम्बिः। **अर्धर्चाः पुंसि च २।४।३१।** अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः। अर्धर्चम्। एवं ध्वज–तीर्थ–शरीर–मण्डप–यूप–देहा–ऽङ्कुश–पात्र–सूत्रादयः। सामान्ये नपुंसकम्। मृदु पचति। प्रातः कमनीयम्।

॥ इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ॥

टचि भत्वात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे 'आन्महतः' इत्यात्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

अर्धपिप्पली (ई० ३७, ५२)—अर्धं पिप्पल्याः अर्धपिप्पली। 'अर्धं सु पिप्पली ङस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे सुब्लुकि 'परवल्लिङ्गम्' इति समुदायस्य स्त्रीत्वे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

अलङ्कुमारिः (ई० २६)—'कुमारी ङे अलम्' इति विग्रहे 'द्विगुप्राप्तापन्न–' इति ज्ञापकात् समासे परपदलिङ्गत्वनिषेधे च कृते 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यु-पसर्जनसंज्ञायां 'गोस्त्रियोः–' इति ह्रस्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

इति 'इन्दुमती'टीकायां तत्पुरुषसमासप्रकरणम्।

संख्याके परे, किन्तु बहुव्रीहिमें और अज्ञातके परे नहीं हो। **परवल्लिङ्ग**—द्वन्द्व और तत्पुरुषमें पर पदकी तरह ही लिङ्ग हो। **द्विगुप्राप्ता**—द्विगु समास और प्राप्त, आपन्न तथा अलम् पूर्वक समास और गतिसमासको पर पदकी तरह लिङ्ग नहीं हो।

प्राप्तापन्ने—प्राप्त और आपन्न शब्दोंका द्वितीयान्तके साथ समास हो। **अर्द्धर्चा**—अर्द्ध-र्चादि गणपठित शब्द पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्गमें हो।

नोट:—सामान्यमें नपुंसक हो। अर्थात् किसी लिङ्गविशेषकी विवक्षा नहीं करके केवल लिङ्गसामान्यकी ही विवक्षा हो तो नपुंसक लिङ्ग हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में तत्पुरुषसमास प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३। अधिकारोऽयम् प्राग्द्वन्द्वात्। अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः। सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५। सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।९। हलन्तादन्ताच्च सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः। प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः ॐप्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः।

कण्ठेकालः—कण्ठे कालो यस्येति विग्रहे 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति ज्ञापकात् समासे सप्तम्यन्तस्य 'कण्ठे' इत्यस्य पूर्वनिपाते च 'हलदन्तात् सप्तम्याः' इति सप्तम्याः अलुकि सुपो लुकि समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तत्सिद्धिः।

शेषो बहुव्रीहिः—द्वन्द्व समाससे पूर्व बहुव्रीहिका अधिकार है।

नोट :—बहुव्रीहि समासमें जितने समासविधायक सूत्र हैं, सभीसे समासके साथ ही साथ बहुव्रीहिसंज्ञा भी होगी।

अनेकमन्य—अन्य पदार्थमें वर्तमान जो अनेक प्रथमान्त वे (परस्पर) समस्त हों, विकल्पसे और वह समास बहुव्रीहि संज्ञक हो।

नोट :—जिन समस्त शब्दोंमें किसीकी प्रधानता न हो, प्रत्युत समस्त शब्दसे कोई विशेष अर्थ प्रतिभासित हो जाय, उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं। जैसे—पीताम्बर, पीला अंबर जिसका (विष्णु भगवान्)। चन्द्रमुखी—चंद्र-सा मुख हो, जिसका (सुंदरी स्त्री) इत्यादि। बहुव्रीहि समाससे निष्पन्न विशेषणमें विशेषणसूचक प्रत्यय प्रायः नहीं रहता। जैसे-'निर्धन' और 'निरपराध' जिसका अर्थ 'निर्धनी' और 'निरपराधी' हो जाता है। शब्दान्तरकी विशेषणता या विशेष अर्थ नहीं होने पर बहुव्रीहि समासके शब्द यत्र तत्र कर्मधारय व द्विगु समासमें परिणत हो जाते हैं। जैसे—'पीताम्बर' यहाँ 'पीलावस्त्र' ऐसा अर्थ होने पर (पीतं च तद् अंबरं) कर्मधारय समास होता है। एवं 'चतुर्भुज' का अर्थ 'विष्णु' न होकर 'चार भुजायें' ऐसा अर्थ होने पर (चतुर्णां भुजानां समाहारः) द्विगु समास होता है।

सप्तमी—सप्तम्यन्त तथा विशेषणका बहुव्रीहिमें पूर्व निपात हो। हल-संज्ञामें हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका अलुक् हो। **प्रादि**—प्रादिसे पर जो धातुज (पतितादि), तत्प्रकृतिभूत जो प्रथमान्त, तदन्त जो प्रपतितादि पद, उनका पदान्तरके साथ समास हो, और पतितादि

प्रपतितपर्णः। प्रपर्णः। ※नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः।
अविद्यमानपुत्रः। अपुत्रः। स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे
स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६। ३। ३४। भाषितपुंस्कात्-अनूङ्=ऊङोऽभावोऽस्यामिति
बहुव्रीहिः। निपातनात्पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते
यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव
रूपं स्यात्, समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः।
गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्? वामोरूभार्यः।
पूरण्यान्तु—अप्पूरणीप्रमाण्योः ५। ४। ११६। पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं
तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः—
कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स—स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम्?
कल्याणीप्रिय इत्यादि। बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५। ४। ११३।

प्रपर्णः—प्रकृष्टं पतितं प्रपतितम्। 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः। प्रपतितं पर्णं यस्मादिति विग्रहे 'प्रादिभ्यो धातुजस्य-' इति वार्तिकेन समासे प्रपतितेति पूर्वपदे धातुजस्य उत्तरपदस्य लोपे च विहिते विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

चित्रगुः—(ई० २९, ३० ३२, ३४, ४१, ४७, ५०, ५१, ५२, ५८)—चित्रा गावो यस्येति लौकिकविग्रहे 'चित्रा जस् गो जस्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे सुपो लुकि 'स्त्रियाः पुंवत्-' इति 'चित्रा'शब्दस्य पुंवद्भावाट्टापो निवृत्तौ 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति गोशब्दस्योपसर्जनत्वाद् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति गोशब्दस्यौकारस्य ह्रस्वे समुदायात् सौ रुत्वे विसर्गे तत् सिद्धम्।

कल्याणीपञ्चमाः (ई० ५६)—पञ्चानां पूरणीति विग्रहे 'तस्य पूरणे डट्' इति पञ्चन्शब्दात् डटि 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' इति डटो मटि नलोपे टित्वात् ङीपि अलोपे पञ्चमीति। ततः 'कल्याणी सु पञ्चमी सु' इति विग्रहे समासे सुपो लुकि पञ्चमीशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तत्वेन तस्मिन् परे 'स्त्रियाः पुंवत्-' इति पुंवद्भावाऽप्राप्तौ

उत्तर पदका विकल्पसे लोप हो। नञो—नञ् से परे अस्त्यर्थक सुबन्तोंका बहुव्रीहि समास हो, और उत्तरपदस्थ अस्त्यर्थक शब्दोंका विकल्पसे लोप हो। स्त्रियाः पुंवत्—भाषितपुंस्कसे पर ऊङ् प्रत्ययका अभाव है जिसमें, ऐसा जो स्त्रीवाचक शब्द, उसका पुंवाचकके समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिंग उत्तर पदके परे। किन्तु पूरण प्रत्ययान्त और प्रियादिके परे यह पुंवद्भाव नहीं हो। अप्पूरणी—पूरणार्थ प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिंग, तदन्त बहुव्रीहिसे और प्रमाण्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो। बहुव्रीहौ—स्वाङ्गवाची

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद्बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच्। **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** ५।४।११५। आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद्बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः त्रिमूर्धः। **अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः** ५।४।११७। आभ्यां लोम्नोऽप्स्याद्बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः। **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** ५।४।१३८। हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद्बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः। **संख्यासुपूर्वस्य** ५।४।१४०। पादस्य लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्। **उद्विभ्यां काकुदस्य** ५।४।१४८। लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्। **पूर्णाद्विभाषा** ५।४।१४९। पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः। **सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः** ५।४।१५०। सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृत्–मित्रम्। दुर्हृद्–अमित्रः। **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** ५।४।१५१। **सोऽपदादौ** ८।३।३८। पाशकल्पककाम्येषु परेषु विसर्गस्य सः। **कस्कादिषु च** ८।३।४८। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यस्य

'अप्पूरणीप्रमाण्योः' इत्यपि मत्वात् 'यस्येति च' इतीकारलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

द्विमूर्धः (ई० ४८)—द्वौ मूर्धानौ यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुपो लुकि 'द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः' इति षप्रत्यये मत्वात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः। एवं 'त्रिमूर्धः' (ई० २४, ५७) इत्यपि।

सक्थ्यन्त और अक्ष्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'षच्' प्रत्यय हो। **द्वित्रिभ्यां**—'द्वि-त्रि'-शब्दसे पर 'मूर्धन्' शब्दसे 'ष' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें। **अन्तर्बहि**—'अन्तर् और बहिस्' शब्दसे पर 'लोमन्' शब्दसे 'अप्' प्रत्यय हो। **पादस्य**—हस्त्यादिभिन्न उपमानवाचीसे पर पादशब्दान्त (समासान्त प्रत्यय) का लोप हो, बहुव्रीहिमें। **संख्या**—'संख्या' और 'सु'पूर्वक पाद शब्दका समासान्त (प्रत्यय) लोप हो, बहुव्रीहिमें। **उद्विभ्यां**—'उत्' और 'वि' उपसर्गसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप हो, बहुव्रीहि में। **पूर्णाद्विभाषा**—'पूर्ण' शब्दसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें।

सुहृद्दुर्हृदौ—'मित्र' और 'अमित्र' अर्थमें 'सुहृत्' और 'दुर्हृत्' यह क्रमसे निपातन हो, अर्थात् 'सु' तथा 'दुर्' से पर हृदयको हृद्भाव निपातन हो। **उरःप्रभृतिभ्यः**—उरःप्रभृत्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'क' प्रत्यय हो। **सोऽपदादौ**—पाश, कल्प, क या काम्य प्रत्ययके परे विसर्जनीयको स आदेश हो। **कस्कादिषु**—कस्कादिगणपठित जो शब्द उनमें इणसे उत्तर जो विसर्ग उसके स्थानमें षत्व हो और अन्यत्र (इणसे अनुत्तर विसर्गके स्थानमें

तु सः । इति सः । व्यूढोरस्कः । इणः षः ८।३।३९। इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्-पाशकल्पककाम्येषु परेषु । प्रियसर्पिष्कः । निष्ठा २ । ३ । ३६ । निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् युक्तयोगः । शेषाद्विभाषा ५।४।१५४। अनुक्तसमासान्ताद्बहुव्रीहेः कब्वा । महायशस्कः । महायशाः ।

॥ इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ॥

अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९। अनेकं सुबन्तं चाऽर्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र ईश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । भिक्षामट गां चानयेत्यन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात्समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषमिति समूहः-समाहारः । राज-

---

महायशस्कः (ई० २४,५८)—महद्यशो यस्येति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे सुपो लुकि 'शेषाद्विभाषा' इति कपि 'आन्महतः-' इत्यात्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'सोऽपदादौ' इति विसर्गस्य सत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । कपोऽभावपक्षे तु 'अत्वसन्तस्य चाऽधातोः' इति दीर्घे 'महायशाः' इति भवति ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां बहुव्रीहिप्रकरणम् ।

सत्व हो । इणः षः—पाश, कल्प, क तथा काम्य प्रत्ययके परे इण्से पर विसर्गको षत्व हो । निष्ठा—बहुव्रीहि समासमें निष्ठान्त शब्दका पूर्व निपात हो । शेषाद्विभाषा—अनुक्त समासान्त शेषाधिकारस्थ बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें बहुव्रीहिप्रकरण समाप्त हुआ ।

चार्थे द्वन्द्वः—चार्थ (इतरेतरयोग और समाहार अर्थ) में वर्तमान अनेक समर्थ सुबन्तका समास हो, विकल्पसे और वह समास द्वन्द्वसंज्ञक हो ।

नोट :—जिस समासमें सभी पद प्रधान हों और उनके बीचका योजक अव्यय (च) लुप्त रहे, उसे द्वन्द्व समास कहते हैं ।

राजदन्तादिषु—राजदन्तादिमें पूर्वप्रयोगार्हका पर प्रयोग हो ।

दन्तादिषु परम् २ । २ । ३१ । एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजानो राजदन्ताः । *धर्मादिष्वनियमः । अर्थधर्मौ । धर्मार्थावित्यादि । द्वन्द्वे घि २।२।३२। द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ । अजाद्यदन्तम् २। २। ३३ । द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ । अल्पाच्तरम् २ । २ । ३४ । शिवकेशवौ । पिता मात्रा १ । २ । ७० । मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ वा । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २। ४। २। एषां द्वन्द्व

हरिहरौ (ई० ५०) 'हरि सु हर सु' इति विग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे सुब्लुकि 'द्वन्द्वे घि' इति घिसंज्ञकस्य हरिशब्दस्य पूर्वनिपाते समुदायादौ वृद्धौ तत्सिद्धिः।

शिवकेशवौ (ई० ४७, ४९)—शिवश्च केशवश्चेति विग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे सुब्लुकि 'अल्पाच्तरम्' इति शिवशब्दस्य पूर्वनिपाते विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

पितरौ (ई० २३,४८)—माता च पिता चेति लौकिकविग्रहे 'मातृ स पितृ सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे सुब्लकि 'पिता मात्रा' इति पाक्षिके पितृशब्दस्यैकशेषे (मातृशब्दस्य लोपे) प्रातिपदिकत्वाद् औ 'ऋतो ङि–' इति गुणे रपरत्वे 'पितरौ' इति। एकशेषाऽभावे 'मातापितरौ' इति। अत्र 'चार्थे द्वन्द्वः' इति समासे सुब्लुकि कृते 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' इति स्मृत्या

धर्मादि—धर्मादिमें पूर्व निपातका कोई नियम नहीं है। द्वन्द्वे—द्वन्द्वमें घिसंज्ञकका पूर्व निपात हो।

अजाद्यन्तम्—अजादि जो अदन्त, उसका द्वन्द्वमें पूर्व निपात हो।

अल्पाच्तरम्—द्वन्द्वमें अल्प 'अच्' का पूर्व प्रयोग (निपात) हो।

नोट :—(१) समाक्षर (तुल्यसंख्यक अक्षरवाले) ऋतु तथा नक्षत्रवाचक शब्दका द्वन्द्वमें आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो। (हेमन्त–शिशिर–वसन्ताः) (२)—लघु (ह्रस्व) अक्षरवाले पदका द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो। (कुशकाशम्) (३)—अभ्यर्हित (पूज्य) का द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो। (४)—ब्राह्मणादि वर्णोंका द्वन्द्वमें आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो। (५)—द्वन्द्वमें बड़े भाईका पूर्व प्रयोग हो। पिता मात्रा—मातृशब्दके साथ कहा गया पितृशब्द विकल्पसे शेष रहे। द्वन्द्वश्च प्राणि—प्राण्यंग, तूर्यांङ्ग और सेनांग वाची द्वन्द्व एकवत् हो।

नोट :—(१) प्राणिसे भिन्न जातिवाचियोंका द्वन्द्व एकवत् हो। (धानाशष्कुलि) (२)—ग्रामवर्ज भिन्नलिङ्गक देशवाची और नदीवाचीका द्वन्द्व एकवत् हो। (कुरुकुरुक्षेत्रम्। गङ्गाशोणम्) (३) क्षुद्र जन्तुओंका द्वन्द्व एकवत्। (४)—जिनका (परस्पर) सदासे ही स्वाभाविक वैर है, उनका द्वन्द्व एकवत् हो। (अहिनकुलम्)

एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाऽश्वारोहम्। द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५।४।१०६। चवर्गान्ताद्दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे। वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम्। त्वक्स्रजम्। शमीदृषदम्। वाक्त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्? प्रावृट्शरदौ।॥ इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम्॥

अथ समासान्तप्रकरणम्

ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५।४।७४। 'अ-अनक्षे' इतिच्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययोऽन्तावयवः स्यादक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलापं सरः। राजधुरा। अक्षे तु—अक्षधूः। दृढधूरक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः। अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६। अचक्षुः पर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः। गवामक्षीव गवाक्षः। उपसर्गादध्वनः ५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो

भ्रातुरभ्यर्हितत्वात् 'अभ्यर्हितं चे'ति पूर्वनिपाते 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' इति मातृशब्दस्य आनङादेशे अनुबन्धलोपे नलोपे च कृते 'मातापितृ' इति भूते तस्माद् औ 'ऋतोङि-' इति गुणे रपरत्वे तत्सिद्धिः।

इति 'इन्दुमती'टीकायां द्वन्द्वप्रकरणम्।

अर्धर्चः (ई० २७) ऋचोऽर्धमिति विग्रहे 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे 'अर्ध'-शब्दस्योपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते सुब्लुकि 'ऋक्पूरब्धू-' इति अप्रत्यये गुणे रपरत्वे 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुंस्त्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

गवाक्षः (ई० ४४)—गवामक्षीव गवाक्षः। षष्ठीसमासे सुब्लुकि 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इत्यचि भत्वादिलोपे अवङि सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

द्वन्द्वाच्चुद—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्वसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, समाहारमें।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें द्वन्द्वप्रकरण समाप्त हुआ।

ऋक्पूरब्धूः—ऋगाद्यन्त समासका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय हो। परन्तु अक्षके धूरीवाचक जो धूः शब्द, तदन्त समासमें 'अ' प्रत्यय नहीं हो। **अक्ष्णोऽदर्श**—चक्षुपर्यायसे भिन्न अक्षिशब्दान्त समाससे समासान्त अच् प्रत्यय हो। **उपसर्गादध्वनः**—उपसर्गसे पर

रथः । न पूजनात् ५।४।६९। पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । ॥ इति समासान्ताः ॥ * इति समासप्रकरणम् *

अथ तद्धिताः

तत्रादौ साधारणप्रत्ययप्रकरणम्

समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ । इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिश' इति यावत् । **अश्वपत्यादिभ्यश्च ४ । १ । ८४ ।** एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि, आश्वपतम् । गाणपतम् । **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५।** दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषुः ण्यः स्यात् । अणोऽप-

---

सुराजा (ई० ४२) सु = शोभनो राजेति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे सुब्लुकि 'न पूजनात्' इति टचो निषेधे स्वादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां समासान्तप्रकरणम् ।

आश्वपतम् (ई० २९)—अश्वपतेरपत्यम्, अश्वपतिना निर्वृत्तम्, अश्वपतेरिदमिति वा विग्रहे 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इत्यणि अनुबन्धलोपे प्रातिपदिकत्वात्(१)सुपो लुकि 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ 'यचि भम्' इति भत्वात् 'यस्येति च' इतीकारलोपे तद्धितान्तत्वात् सौ सोरमि पूर्वरूपे तत्सिद्धिः (एवं गणपतेरपत्यादि गाणपतम्)

अध्वन् शब्दान्तसे अच् प्रत्यय हो। **न पूजनात्**—पूजनार्थक शब्दसे पर जो (राजादि) शब्द, तदन्तसे समासान्त प्रत्यय नहीं हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें समासान्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

समर्थानां—'प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र पर्यन्त 'समर्थानां, प्रथमात्, वा', इन तीनों पदोंका अधिकार है । **अश्वपत्यादि**—अश्वपत्यादिसे 'अण्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय (अपत्य, देवता, भव, जात आदि) अर्थोंमें, विकल्पसे । **दित्यदित्या**—दित्यादि और पत्युत्तरपदसे

---

(१) सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिरिति पक्षे तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सुब्लुग्भवति । प्रातिपदिकात् तद्धितोत्पत्तिरिति पक्षे तु न सुब्लुक आवश्यकतेति सर्वत्र बोध्यम् ।

वादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा—हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४।
हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ।
देवाद्यञञौ । दैव्यम् । दैवम् । *बहिषष्टिलोपो यञ्च । बाह्यः । *ईकक् च ।
किति च ७ । २ । ११८ । किति तद्धिते चाऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । बाहीकः
गोरजादिप्रसङ्गे यत् । गोरपत्यादि गव्यम् । उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६। औत्सः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययप्रकरणम् ॥ १ ॥

दैत्यः (ई० २४)—दितेरपत्यमिति विग्रहे दितिशब्दात् 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये आदिवृद्धौ इलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

आदित्यः (ई० २९)—अदितेरपत्यमिति विग्रहे अदितिशब्दात् 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये आदिवृद्धौ इलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । यद्वा आदित्यस्यापत्यमिति विग्रहे आदित्यशब्दात् ण्यप्रत्यये आदिवृद्धौ 'यस्येति च'त्यलोपे 'हलो यमां यमि लोपः' इति यलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

दैव्यम् (ई० ४४)—देवस्यापत्यादीति विग्रहः ।

बाहीकः (ई० ३५)—बहिर्भवः इति विग्रहः ।

औत्सः (ई० ३६)—उत्सस्यापत्यादीति विग्रहः ।

इति 'इन्दुमती' टीकायां साधारणप्रत्ययप्रकरणम् ।

'ण्य' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे । **हलो यमां**—हल्से पर यम्का लोप हो, यम्के परे, विकल्पसे । **देवाद्यञ्**—देव शब्दसे 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हों, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे । **बहिषष्टि**—बहिष् शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय और बहिष्की टि का लोप भी हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें विकल्पसे । **ईकक् च**—बहिष् शब्दसे ईकक् प्रत्यय भी हो । **किति च**—अचोंके मध्यमें आदि अच्को वृद्धि हो, कित् तद्धितके परे । **गोरजादि**—गो शब्दसे अजादि प्रत्ययके प्रसङ्गमें 'यत्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें ।

उत्सादिभ्यो—उत्सादिसे 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारण प्रत्यय समाप्त हुआ ।

अथ अपत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४ । १ । ८७ । 'धान्यानां भवने' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः । **तस्याऽपत्यम् ४।१। ९२ ।** षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः । **ओर्गुणः ६। ४। १४६।** उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । उपगोरपत्यम्-औपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः । **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२।** अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् । **एको गोत्रे ४।१।९३।** गोत्रे एक एवाऽपत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यमौपगवः । **गर्गादिभ्यो यञ् ४ । १ । १०५ ।** गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः । **यञञोश्च**

स्त्रैणः—स्त्रीषु आसक्तः, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रिया अपत्यम् , इत्याद्यर्थे 'स्त्रीपुंसाभ्याम्-' इति नञ्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ णत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । एवं पुंसोऽपत्यमित्यादिविग्रहे स्नञ्प्रत्यये आदिवृद्धौ संयोगान्तलोपे विभक्तिकार्ये 'पौंस्नः' (ई० २१) ।

औपगवः (ई० २८, ३२, ५३)—उपगोरपत्यमिति विग्रहे उपगुशब्दात् 'तस्यापत्यम्' इत्यणि अनुबन्धलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ 'औपगु अ' इति स्थिते 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिं बाधित्वा 'ओर्गुणः' इति गुणे अवादेशे विभक्तिकार्ये 'औपगवः' इति । उपगोर्गोत्रापत्यमिति विग्रहे तु उपगुशब्दादणि निष्पन्नाद् 'औपगव' शब्दात् 'अत इञ्' इति इञि प्राप्ते 'एको गोत्रे' इति सूत्रनियमात् उपगुशब्दादणेव, नतु अणि कृते अणन्तात्तस्मात् पुनरिञपीति बोध्यम् ।

गार्ग्यः (ई० ४७, ५०, ५१, ५५)—गर्गस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहे गर्गशब्दात् 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञि आदिवृद्धौ भत्वात् 'यस्येति च' इत्यल्लोपे विभक्ति

स्त्रीपुंसा—'धान्यानां भवने क्षेत्रे' इससे पूर्व अर्थोंमें स्त्री शब्दसे नञ् प्रत्यय और पुमस् शब्दसे स्नञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे । **तस्यापत्यम्**—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ सुबन्तसे अपत्य अर्थमें उक्त (अण्–ण्य–नञ्–स्नञ् आदि) प्रत्यय तथा वक्ष्यमाण (इञादि) प्रत्यय हों, विकल्पसे । **ओर्गुणः**—उवर्णान्त भसंज्ञकको गुण हो, तद्धितके परे ।

अपत्यं पौत्र—अपत्यत्वेन विवक्षित जो पौत्र, प्रपौत्रादि, वे गोत्रसंज्ञक हों ।

एको गोत्रे—गोत्रमें एक ही प्रत्यय हो । अर्थात् गोत्रमें—पुत्रका पुत्र, उसका पुत्र इत्यादि परम्परासे अनेक अपत्य प्रत्यय नहीं होते हैं । **गर्गादिभ्यो**—षष्ठ्यन्त गर्गादि समर्थसे यञ् प्रत्यय हो, गोत्रापत्य अर्थमें । **यञञोश्च**—यञन्त और अञन्तका अवयव जो

२।४।६४। गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः। जीवति तु वंश्ये युवा ४। १। १६३। वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यात्। गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४। १। ९४। यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्। स्त्रियां तु न युवसंज्ञा। यञिञोश्च ४। १। १०१। गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात्फक् स्यात्। आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७। १। २। प्रत्ययादेः फस्य-आयन्, ढस्य-एय्, खस्य-ईन्, छस्य-ईय्, घस्य-इय्-एते स्युः। गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः दाक्षायणः। अत इञ् ४।१।९५। अपत्येऽर्थे। दाक्षिः। बाह्वादिभ्यश्च ४। १। ९६। बाहविः। औडुलोमिः। लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्। अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४। १। १०४। एभ्योऽञ् गोत्रे, ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। बिदस्य गोत्रं बैदः। बैदौ। बिदाः। पुत्रस्यापत्यं पौत्रः। पौत्रौ। पौत्राः। एवं दौहित्रादयः। शिवादिभ्योऽण्

कार्ये गार्ग्यः' इति। बहुत्वे तु गर्गस्य गोत्रापत्यानि इति विग्रहे यञि आदिवृद्धौ 'यञञोश्च' इति यञो लुकि 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति परिभाषया यञनिमित्तवृद्ध्यभावे विभक्तिकार्ये 'गर्गाः' (ई० ३०) इति भवति।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, गार्ग्यस्य अपत्यं गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। अत्र 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति युवसंज्ञायां 'यञिञोश्च' इति यञन्तात् फकि 'आयनेयीनीयियः-' इति फस्य आयन्नादेशे भत्वात् 'यस्येति च' इत्यलोपे णत्वे विभक्तिकार्ये 'गार्ग्यायणः' इति।

'यञ्' और 'अञ्' उसका लुक् हो, गोत्र प्रत्ययकृत बहुत रहनेपर। परन्तु स्त्रीलिङ्गमें लुक् नहीं हो। जीवति तु—वंशमें पिता आदिके जीवित रहने पर पौत्र आदिका अपत्य जो चतुर्थ (प्रपौत्र) आदि, उसकी युवसंज्ञा ही हो—गोत्रसंज्ञा नहीं हो। गोत्राद्यून्य—युवा अपत्य विवक्षित होनेपर गोत्रप्रत्ययान्तसे ही प्रत्यय हो। और स्त्रीलिङ्गमें युवसंज्ञा नहीं हो। यञिञोश्च—गोत्रमें जो यञ् और इञ्, तदन्तसे फक् प्रत्यय हो। आयनेयी—प्रत्ययके आदिभूत 'फ' आदिको यथाक्रमसे आयन् आदि आदेश हो। अत इञ—अदन्त प्रातिपदिक से इञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। बाह्वादिभ्यश्च—बाह्वादिसे इञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। लोम्नोऽपत्ये—लोमन् शब्दसे बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थमें अकार प्रत्यय हो।

अनृष्यानन्तर्ये—बिदादि गणपठित ऋषियोंसे गोत्र अर्थमें और ऋषिभिन्नोंसे अपत्य अर्थमें अञ् प्रत्यय हो। शिवादिभ्यो—शिवादिसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

४।१।११४। अपत्ये । शैवः । गाङ्गः । ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ४ । १ । ११४ । ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः । मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ४। १। ११५। संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्योदादेशः स्यादण्प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः । स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०। स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः । कन्यायाः कनीन च ४ । १ । ११६ । चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च । राजश्वशुराद्यत् ४ । १ । १३७ । राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् । ये चाऽभावकर्मणोः ६।४।१६८। यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यान्नतु भावकर्मणोः । राजन्यः । जातावेवेति किम् ?। अन् ६। ४। १६७। अन् प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः । श्वशुर्यः । क्षत्राद्घः ४। १। १३८। क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ।

द्वैमातुरः (ई० ४०, ४२)—द्वयोर्मात्रोरपत्यमिति विग्रहे 'तद्धितार्थे'ति समासे सुब्लुकि 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति द्विमातृशब्दादणि ऋकारस्य उदादेशे च रपरत्वे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

षाण्मातुरः (ई० २९, ३४,) षण्णां मातॄणामपत्यमिति विग्रहे 'तद्धितार्थे'ति समासे सुब्लुकि षस्य जश्त्वेन डकारे तस्य 'यरोऽनुनासिके–' इति णत्वे षण्मातृशब्दात् 'मातुरुत्संख्ये'ति अणि उत्वे रपरत्वे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

वैनतेयः (ई० ४९,५१,५७) विनता नाम गरुडमाता, तस्याः अपत्यमिति विग्रहे 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि 'आयनेयी' इति ढस्य एयादेशे भत्वात् 'यस्येति च' इत्याकारलोपे 'किति च' इत्यादिवृद्धौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

राजन्यः (ई० २५, २३, ४६, ५१)—क्षत्रियात् क्षत्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो राजन्यः । अत्र 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यनेन राजञ्छब्दात् जातौ यत्प्रत्यये 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपाऽभावे विभक्तिकार्ये 'राजन्यः' इति ।

ऋष्यन्धक—ऋष्यादिसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । मातुरुत्—संख्यादिपूर्वक मातृ शब्दको उत् आदेश हो, और अण् प्रत्यय भी हो । स्त्रीभ्यो ढक्—स्त्रीप्रत्ययान्तसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । कन्यायाः—कन्या शब्दको कनीन आदेश हो और चकारात् अण् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थमें । राजश्वशु—राजन् शब्द और श्वशुर शब्दसे यत् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । राज्ञो जाता—जातिवाच्य होने पर ही राजन् शब्दसे यत् प्रत्यय हो । ये चाभाव—यकारादि तद्धितके परे 'अन्' प्रकृतिवत् हो, किन्तु भाव और कर्मार्थक प्रत्ययके परे नहीं हो । अन् —अण् प्रत्ययके परे अन् प्रकृतिवत् हो । क्षत्राद्घः—क्षत्र शब्दसे

रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४। १। १४६। ठस्येकः ७। ३। ५०। अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः। जनपदशब्दात्क्षत्त्रियादञ् ४। १। १६८। जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः। ※ क्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्। पञ्चालानां राजा पाञ्चालः। ※ पूरोरण् वक्तव्यः। पौरवः ※ पाण्डोर्ड्यण्। पाण्ड्यः। कुरुनादिभ्यो ण्यः ४। १। १७२। कौरव्यः। नैषध्यः। ते तद्राजाः ४।१।१७४। अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः। तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् २। ४। ६२। बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक्, तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः। पञ्चालाः—इत्यादि। कम्बोजाल्लुक् ४। १। १७५। अस्मात्तद्राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ। ※कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्। चोलः। शकः। केरलः। यवनः॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम्॥

जातिमात्राऽभावे तु राज्ञोऽपत्यमिति विग्रहे 'तस्याऽपत्यम्' इत्यणि 'अन्' इति प्रकृतिभावे विभक्तिकार्ये 'राजनः' इति।

इति 'इन्दुमती'टीकायामपत्याधिकारः।

'घ' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें—समुदायसे जाति यदि गम्यमान रहे। **रेवत्यादिभ्यः**—रेवत्यादिसे 'ठक्' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। **ठस्येकः**—अङ्गसे पर 'ठ' को 'इक्' आदेश हो। **जनपद**—जनपद (देश) वाचक 'जनपद' शब्दके समान जो क्षत्रियवाचक शब्द, उससे अञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। ('पञ्चाल' देशका तथा राजाका भी नाम है)

क्षत्रियसमान—क्षत्रिय समान वाचक जो जनपद शब्द, उससे राजामें अपत्यवत् प्रत्यय हो। **पुरोरण्**—पुरु शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

पाण्डोर्ड्यण्—पाण्डुसे ड्यण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें। **कुरुनादिभ्यो**-जनपद और क्षत्रियवाची कुरु शब्द तथा नकारादि शब्दोंसे ण्य प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें।

ते तद्राजा—'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यादि सूत्रोंसे विहित अञादि प्रत्ययकी तद्राज संज्ञा हो। **तद्राजस्य**—बहुत्व अर्थमें तद्राज संज्ञक प्रत्ययका स्त्रीलिङ्गसे भिन्नमें लुक् हो, यदि तद्राज प्रत्ययार्थ कृत बहुत्व रहे। **कम्बोजा**—कम्बोजसे पर तद्राज संज्ञक प्रत्ययका लुक् हो। **कम्बोजादिभ्यः**—पूर्वोक्त सूत्रमें कम्बोजादिसे पर तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका लुक् हो—ऐसा कहना चाहिये।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अपत्याधिकार समाप्त हुआ।

अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

तेन रक्तं रागात् ४।२।१। अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३। अण् स्यात् । *तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम् । पुष्येण युक्तं पौषम्=अहः । लुबविशेषे ४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्, षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्याऽवान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अथ पुष्यः । दृष्टं साम ४।२।७। तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम । वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ४। २। ९। वामदेवेन दृष्टं साम-वामदेव्यम् । परिवृतो रथः ४। २। १०। अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः । तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ४।२।१४। शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः । संस्कृतं भक्षाः ४। २। १६ । सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे । यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः ।

शारावः (ई० ३१, ३४)—शरावे उद्धृतः इति विग्रहे शरावशब्दात् 'तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः' इत्यणि आदिवृद्धौ भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

तेन रक्तं = तेनेति तृतीयासमर्थाद् रागविशेषवाचिनः शब्दाद् रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे (यथाविहितम्) अण्प्रत्ययो भवति । नक्षत्रेण—तृतीयासमर्थाद् नक्षत्रविशेषवाचिनः शब्दाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थेऽण्प्रत्ययो भवति, योऽसौ युक्तः, कालश्चेत् स भवति । दृष्टं—तृतीयासमर्थाद् दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थेऽण्प्रत्ययो भवति, यद् दृष्टं साम चेत्तद् भवति । वामदेवा—वामदेवशब्दात् तृतीयासमर्थाद् दृष्टं सामेत्येतस्मिन्नर्थे ड्यत् ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । परिवृतो— तृतीयासमर्थाद् परिवृत इत्येतस्मि-

---

तेन रक्तं—राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्तसे अण् प्रत्यय हो, 'रक्त' अर्थमें ।

नक्षत्रेण युक्तः—नक्षत्रविशेषयुक्त चन्द्रवाचक तृतीयान्त पुष्यादि शब्दोंसे युक्त अर्थमें यथाविहित अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हो, जो युक्त हो वह यदि काल रहे तो।

तिष्यपुष्य—तिष्य और पुष्यके यकारका लोप हो, नक्षत्रसंबन्धी अण्के परे।

लुबविशेषे—'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इससे विहित प्रत्ययका लुप् हो, यदि षष्टिदण्डात्मक (२४ घंटा) कालका कोई अवान्तर (काल) विशेष गम्यमान नहीं होता रहे ।

दृष्टं साम— तृतीयान्तसे दृष्ट अर्थमें अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हो, जो दृष्ट है वह यदि साम रहे तो। **वामदेवा**—वामदेव शब्दसे ड्यत् और ड्य प्रत्यय हो, दृष्ट साम अर्थमें। **परिवृतो**—तृतीयान्तसे परिवृत अर्थमें प्राग्दीव्यतीय अणादि प्रत्यय हो, जो परिवृत है वह यदि रथ रहे तो। **तत्रोद्धृत**—पात्रवाची सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, उद्धृत अर्थमें। **संस्कृतं भक्षा**—सप्तम्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, संस्कृत अर्थमें, जो संस्कृत हो, वह

आष्ट्रेषु संस्कृता आष्ट्रा यवाः । साऽस्य देवता ४ । २ । २४ । इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । शुक्राद्घन् ४।२।२६। शुक्रियम् । सोमाट्ट्यण् ४।२।३०। सौम्यम् । वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ४।२।३१। वायव्यम् । ऋतव्यम् । रीङ्ऋतः ७।४।२७। अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः । यस्येति च । पित्र्यम् । उषस्यम् । पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४। २। ३६। एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातुर्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः । तस्य समूहः ४। २। ३७। काकानां समूहः काकम् । भिक्षादिभ्योऽण् ४ । २ । ३८ । भिक्षाणां समूहो भैक्षम् ।

पाशुपतम् (ई० २३, ४७)—पशुपतिर्देवताऽस्येति विग्रहे पशुपतिशब्दात् 'सास्य देवता' इत्यणि वृद्धौ भत्वादिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

पित्र्यम् (ई० ३८, ५७)—पितरो देवतास्येति विग्रहे 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' इति यति 'रीङ् ऋतः' इति ऋतो रीङि भत्वादीकारलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

अर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, योऽसौ परिवृतो रथश्चेत् स भवति । साऽस्य—सेति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, यत् प्रथमासमर्थं देवता चेत् सा भवति । (यागसम्प्रदानं देवता देयस्य पुरोडाशादेः स्वामिनी, तस्मिन्नभिधेये प्रत्ययः) शुक्राद्—शुक्रशब्दात् सास्य देवतेत्यस्मिन्नर्थे घन् प्रत्ययो भवति । सोमाट्ट्यण्—सोमशब्दात् ट्यण्प्रत्ययो भवति, सास्य देवतेत्येतस्मिन् विषये । वाय्वृतु—वाय्वादिभ्यः शब्देभ्यो यत् प्रत्ययो भवति, सास्यदेवतेत्येतस्मिन् विषये । पितृव्य—पितृमातृभ्यां भ्रातर्यभिधेये व्यत् डुलच् इत्येतौ प्रत्ययौ निपात्येते—पितृव्यः । मातुलः । ताभ्यामेव पितर्यभिधेये डामहच् प्रत्ययो निपात्यते पितामहः । मातामहः । (ताभ्यामेव मातर्यभिधेये ङिच्च निपात्यते—पितुर्माता, पितामही । मातुर्माता, मातामही ।) तस्य—तस्येति षष्ठीसमर्थात् समूह इत्यर्थेऽण्प्रत्ययो भवति । भिक्षादिभ्यः—भिक्षेत्येवमादिभ्यः शब्देभ्योऽण्प्रत्ययो भवति, तस्य समूह इत्येतस्मिन् विषये ।

यदि 'भक्ष' रहे तो । सास्य देवता—षष्ठ्यर्थमें देवतावाचक प्रथमान्तसे अणादि प्रत्यय हो । शुक्रा-'अस्य'अर्थमें देवतावाचक शुक्र शब्दसे घन् प्रत्यय हो। सोमा-'अस्य'अर्थमें देवतावाचक सोमशब्दसे ट्यण् प्रत्यय हो । वाय्वृतु-'अस्य'अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त वायु आदि शब्दसे यत् प्रत्यय हो । रीङृतः—ऋदन्त अंगको रीङ् आदेश हो कृद्भिन्न यकार और असार्वधातुक यकारके परे तथा च्वि प्रत्ययके परे । पितृव्य—पितृव्य, मातुल, मातामह और पितामह शब्द निपातन हो । तस्य समूहः—समूह अर्थमें यथाविहित प्राग्दीव्यतीय अणादि प्रत्यय हो । भिक्षादिभ्यो—भिक्षादिसे समूह अर्थमें अण् प्रत्यय हो ।

गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते । **इनण्यनपत्ये** ६।४।१६४ । अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहो यौवनम् । यौवतम् । **ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्** ४।२।४३ । 'तलन्तं स्त्रियाम्' । ग्रामता । जनता । बन्धुता । * गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् । गजता । सहायता । *अह्नः खः क्रतौ । अहीनः । **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** ४।२।४७। **इसुसुक्तान्तात्कः** ७।३।५१। इस्उस्उक्तान्तात्परस्य ठस्य कः। साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् । **तदधीते तद्वेद** ४ । २ । ५९ । **न य्वाभ्यां**

यौवतम् (ई० ३३)—युवतीनां समूहः इत्यर्थे 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्ययनिष्पन्नाद् युवतिशब्दात् 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यणि आदिवृद्धौ 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावात्तिप्रत्ययनिवृत्तौ 'अन' इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावे विभक्तिकार्ये 'यौवनम्' इति । युधातोः शतृप्रत्यये उवङि, 'उगितश्चे'ति ङीपि 'युवती' इति तस्मात् अनुदात्तादेरञ्' इत्यञि आदिवृद्धौ 'भस्याढे' इति पुंवद्भावेन ङीपो निवृत्तौ विभक्तिकार्ये 'यौवतम्' इति भवति ।

जनता (ई० ४२)—जनानां समूह इति विग्रहे जनशब्दात् 'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्' इति तल्प्रत्यये 'तलन्तं स्त्रियाम्' इति स्त्रीत्वाट्टापि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् । (एवं बन्धूनां समूहः 'बन्धुता' (ई० २६) इत्यपि बोध्यम्)

हास्तिकम् (ई० ४५, ५८)—हस्तिनां समूहः इति विग्रहे 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्'

ग्रामजन—**ग्रामादिभ्यस्तल्प्रत्ययो भवति, तस्य समूहेऽर्थे । ग्रामाणां समूहः, ग्रामता ।** अचित्त—**अचित्तार्थेभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठक्प्रत्ययो भवति, समूहेऽर्थे । सक्तूनां समूहः, साक्तुकम् ।** तदधीते—**तदिति द्वितीयासमर्थादधीते वेद इत्येतयोरर्थयोरण्प्रत्ययो भवति ।**

इनण्यनपत्ये—अनपत्यार्थक अण् प्रत्ययके परे 'इन्' प्रकृतिवत् रहे ।

ग्रामजन—ग्राम, जन और बन्धु शब्दसे समूह अर्थमें तल् प्रत्यय हो ।

तलन्त—तलन्तशब्द स्त्रीलिंगमें हो । **गजसहायः**—गज और सहाय शब्दसे भी समूह अर्थमें तल प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । **अह्नःखः**—क्रतु अर्थमें अहन् शब्दसे ख प्रत्यय हो । **अचित्त**—अचित्त (अप्राणी) वाचक, शब्द हस्तिन् शब्द और धेनु शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, समूहार्थमें । **इसुसु**—इसन्त, उसन्त, उगन्त और तान्तसे पर 'ठ' को 'क' आदेश हो । **तदधीते**—द्वितीयान्तसे 'अधीते' और 'वेद' अर्थमें अणादि प्रत्यय हो । **न य्वाभ्यां**—पदान्त यकार, वकारसे पर 'अच्' की वृद्धि नहीं हो, किन्तु

पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७।३।३। पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैजावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः । क्रमादिभ्यो वुन् ४ । २ । ६१ । क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ।

॥ इति रक्ताद्यर्थकप्रकरणम् ॥

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७। उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्बरो देशः । तेन निर्वृत्तम् ४ । २ । ६८ । कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ।

इति ठकि ठस्येक इति ठस्य इकादेशे 'किति च' इत्यादिवृद्धौ टिलोपे विभक्तिकार्ये तत् सिद्धम् । हस्तिनीनां समूहः इत्यर्थे तु 'भस्याढे' इति पुंवद्भावेन सिद्धं बोध्यम् ।

वैयाकरणः (ई० २८, ३२, ४१, ४९)—व्याकरणमधीते वेद वेत्यर्थे 'तदधीते तद्वेद' इत्यनेन व्याकरणशब्दादणि भत्वादल्लोपे 'व्याकरण् अ' इति स्थिते 'न य्वाभ्याम्' इति यकारात्पूर्वमैजागमे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां रक्ताद्यर्थप्रकरणम् ।

औदुम्बरो देशः (ई० ५०)—अत्र उदुम्बरशब्दात् 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इत्यणि आदिवृद्धौ भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

क्रमादि—क्रम । इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो वुन्प्रत्ययो भवति, तदधीते तद्वेदेत्यस्मिन् विषये ।

तदस्मिन्नस्ति—अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे तदिति प्रथमोच्चारितात् प्रथमासमर्थाद् (यथाविहितम्) अण्प्रत्ययो भवति, प्रत्ययान्तेन प्रकृतिनामके देशे गम्ये चेत् ।

—नेति तृतीयासमर्थान्निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे अणप्रत्ययो भवति, देशे नामधेये

तस्य निवासः ४।२।६९। शिबीनां निवासो देशः शैबः। **अदूरभवश्च ४।२।७०।** विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम्। **जनपदे लुप् ४।२।८१।** जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्। **लुपि युक्तवद्‍व्यक्तिवचने १।२।५१।** लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः। **वरणादिभ्यश्च ४।२।८२।** अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः। **कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ४।२।८७। झयः ८।२।१०।** झयन्तान्मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्। **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९।** मवर्णाऽवर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्। **नडशादाड्ड्वलच् ४।२।८८।** नड्वलः। शाद्वलः। **शिखाया वलच् ४।२।८९।** शिखावलः। ॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ॥

नड्वलः (ई० ४८)—नडाः सन्ति यस्मिन् इति विग्रहे 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलचि डित्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्। एवं शादा (घासाः) सन्ति यस्मिन् स शाद्वलः। शिखाऽस्त्यस्मिन् इति शिखावलः (मयूरः)।

गम्यमाने। तस्य—षष्ठीसमर्थान्निवास इत्येतस्मिन्नर्थे अण्प्रत्ययो भवति, देशनामधेये गम्यमाने। अदूर—षष्ठीसमर्थाददूरभव इत्येतस्मिन्नर्थे अण्प्रत्ययो भवति। जनपदे—तदस्मिन्नस्तीत्यारभ्य 'अदूरभवश्चे'ति सूत्रपर्यन्तं यश्चातुरर्थिकः प्रत्ययः तस्य लुक् स्यात् जनपदेऽभिधेये। ग्रामसमुदायो जनपदः। वरणादि—वरण इत्येवमादिभ्य उत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुब्भवति। कुमुद—कुमुद-नड-वेतस-इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो ड्मतुप् प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिकः।

तस्य निवासः—षष्ठ्यन्त से 'निवास' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, यदि प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे। **अदूर**—षष्ठ्यन्तसे 'अदूरभव' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, यदि वह प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे। **जनपदे**—जनपद वाच्य रहे तो चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् (लोप) हो। **लुपि युक्त**—लुप् होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिंग और वचन हो। **वरणादिभ्यः**-वरणादिसे पर चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् हो। **कुमुद**—कुमुदादिसे ड्मतुप् प्रत्यय हो चारों अर्थोंमें। **झयः**—झयन्तसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो। **मादुपधाया**—यवादि वर्जित मवर्णान्त, अवर्णान्त और मवर्णोपध, अवर्णोपधसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो। **नडशादा**—नड और शादसे ड्वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें। **शिखाया**—शिखा शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें।

इति 'इन्दुमती'टीकायां चातुरर्थिकप्रकरणम्।

अथ शैषिकप्रकरणम्

शेषे ४। २। ९२। अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राऽणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दृषदि पिष्टा दार्षदा सक्तवः। चतुर्भिरुह्यं चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः। राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ ४।२।९३। आभ्यां क्रमाद्घखौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः। अवारपारीणः। ॐअवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद्घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते। ग्रामाद्यखञौ ४।२।९४। ग्राम्यः। ग्रामीणः। नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७। नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्।

राष्ट्रियः (ई० ३३,५०,५५)-'राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ' इति घप्रत्यये घस्य इयादेशे भत्वाद् 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

पारावारीणः (ई० २९)—'राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ' इति सूत्रस्थ 'अवारपाराद्विगृहीतादपि, विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकस्याऽयमर्थः—विगृहीतात्=पृथग्भूतात्, अवारशब्दात् पारशब्दाच्च, च=पुनः, विपरीतात्=पारावारशब्दादपि खप्रत्ययो वक्तव्यः। ततश्च अवारे जातः 'अवारीणः', पारे जातः 'पारीणः', पारावारे जातः 'पारावारीणः' इति रूपत्रयं सिद्धं भवति। अत्र खस्य ईनादेशः भत्वादलोपः नस्य णत्वमिति विशेषः। 'अवारपारीणः' इति तु चतुर्थं रूपं बोध्यम्।

ग्रामा—ग्रामशब्दाद्य खञ् इत्येतौ भवतः। ग्रामे भवः, ग्राम्यः।

नद्या—नदी इत्येवमादिभ्यो ढक्। नद्यां भवः, नादेयम्।

शेषे—अपत्यादि चतुरर्थ्यन्त अर्थोंसे भिन्न जो शेष (जात, भव, आगत, गृह्यते, पि आदि) अर्थ, उन अर्थोंमें तत्तत् प्रकृतियोंसे पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय और वक्ष्यमाण घादि प्रत्यय हो। राष्ट्रावार—राष्ट्र शब्दसे 'घ' और अवारपार शब्दसे 'ख' प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें। अवारपारा—'विगृहीत और विपरीत' अर्थात् अवार शब्दसे, पार शब्दसे और पारावार शब्दसे भी पूर्वोक्त 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये।

ग्रामयखञौ—ग्राम शब्दसे 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें।

नद्यादिभ्यो—नद्यादिसे ढक् प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें।

तस्य निवासः ४।२।६९। शिबीनां निवासो देशः शैबः। **अदूरभवश्च** ४।२।७०। विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम्। **जनपदे लुप्** ४।२।८१। जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्। **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** १।२।५१। लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। कुरवः। अङ्गाः। वङ्गाः। कलिङ्गाः। **वरणादिभ्यश्च** ४।२।८२। अजनपदार्थ आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः। **कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्** ४।२।८७। **झयः** ८।२।१०। झयन्तान्मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्। **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** ८।२।९। मवर्णाऽवर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्। **नडशादाड्ड्वलच्** ४।२।८८। नड्वलः। शाद्वलः। **शिखाया वलच्** ४।२।८९। शिखावलः। ॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ॥

नड्वलः (ई० ४८)—नडाः सन्ति यस्मिन् इति विग्रहे 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलचि डित्वाट्टिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्। एवं शादा (घासाः) सन्ति यस्मिन् स शाद्वलः। शिखाऽस्त्यस्मिन् इति शिखावलः (मयूरः)।

गम्यमाने। तस्य—षष्ठीसमर्थान्निवास इत्येतस्मिन्नर्थे अण्प्रत्ययो भवति, देशनामधेये गम्यमाने। अदूर—षष्ठीसमर्थाददूरभव इत्येतस्मिन्नर्थे अण्प्रत्ययो भवति। जनपदे—तदस्मिन्नस्तीत्यारभ्य 'अदूरभवश्चे'ति सूत्रपर्यन्तं यश्चातुरर्थिकः प्रत्ययः तस्य लुक् स्यात् जनपदेऽभिधेये। ग्रामसमुदायो जनपदः। वरणादि—वरण इत्येवमादिभ्य उत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुब्भवति। कुमुद—कुमुद-नड-वेतस-इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो ड्मतुप् प्रत्ययो भवति, चातुरर्थिकः।

तस्य निवासः—षष्ठयन्त से 'निवास' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, यदि प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे। **अदूर**—षष्ठयन्तसे 'अदूरभव' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, यदि वह प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे। **जनपदे**—जनपद वाच्य रहे तो चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् (लोप) हो। **लुपि युक्त**—लुप् होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिंग और वचन हो। **वरणादिभ्यः**-वरणादिसे पर चातुरर्थिक प्रत्ययका लुप् हो। **कुमुद**—कुमुदादिसे ड्मतुप् प्रत्यय हो चारों अर्थोंमें। **झयः**—झयन्तसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो। **मादुपधाया**—यवादि वर्जित मवर्णान्त, अवर्णान्त और मवर्णोपध, अवर्णोपधसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो। **नडशादा**—नड और शादसे ड्वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें। **शिखाया**—शिखा शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें।

इति 'इन्दुमती'टीकायां चातुरर्थिकप्रकरणम्।

अथ शैषिकप्रकरणम्

शेषे ४। २। ९२। अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राऽणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्। श्रावणः शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दृषदि पिष्टा दार्षदा सक्तवः। चतुर्भिरुह्यं चातुरं शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः। राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ ४। २। ९३। आभ्यां क्रमाद्घखौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः राष्ट्रियः। अवारपारीणः। ॐअवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृतिविशेषाद्घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते। ग्रामाद्यखञौ ४। २। ९४। ग्राम्यः। ग्रामीणः। नद्यादिभ्यो ढक् ४। २। ९७। नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्।

राष्ट्रियः (ई० २२,५०,५५)-'राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ' इति घप्रत्यये घस्य इयादेशे भत्वाद् 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

पारावारीणः (ई० २९)—'राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ' इति सूत्रस्य 'अवारपाराद्विगृहीतादपि, विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकस्याऽयमर्थः—विगृहीतात्=पृथग्भूतात्, अवारशब्दात् पारशब्दाच्च, च=पुनः, विपरीतात्=पारावारशब्दादपि खप्रत्ययो वक्तव्यः। ततश्च अवारे जातः 'अवारीणः', पारे जातः 'पारीणः', पारावारे जातः 'पारावारीणः' इति रूपत्रयं सिद्धं भवति। अत्र खस्य ईनादेशः भत्वादलोपः नस्य णत्वमिति विशेषः। 'अवारपारीणः' इति तु चतुर्थं रूपं बोध्यम्।

ग्रामा—ग्रामशब्दाद्य खञ् इत्येतौ भवतः। ग्रामे भवः, ग्राम्यः।
नद्या—नदी इत्येवमादिभ्यो ढक्। नद्यां भवः, नादेयम्।

शेषे—अपत्यादि चतुरर्थ्यन्त अर्थों से भिन्न जो शेष (जात, भव, आगत, गृह्यते, दि आदि) अर्थ, उन अर्थोंमें तत्तत् प्रकृतियोंसे पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय और वक्ष्यमाण घादि प्रत्यय हो। राष्ट्रावार—राष्ट्र शब्दसे 'घ' और अवारपार शब्दसे 'ख' प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थों में। अवारपारा—'विगृहीत और विपरीत' अर्थात् अवार शब्दसे, पार शब्दसे और पारावार शब्दसे भी पूर्वोक्त 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये।

ग्रामयखञौ—ग्राम शब्दसे 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें।

नद्यादिभ्यो—नद्यादिसे ढक् प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें।

दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८। दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१। दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्। अव्ययात्त्यप् ४। २। १०४। *अमेहक्वतसित्रेभ्य एव। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः। *त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्। नित्यः। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३। यस्य समुदायस्याऽचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात्। त्यदादीनि च १। १। ७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः। वृद्धाच्छः ४।२।११४। शालीयः। मालीयः। तदीयः। *वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या। देवदत्तीयः। दैवदत्तः। गहादिभ्यश्च ४। २। १३८। गहीयः। युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४। ३। १। चाच्छः। पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः। अस्मदीयः। तस्मिन्नणि च युष्माकाऽस्माकौ ४।३।२। युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञ्यणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः।

शालीयः (ई० २३,२७,४०)—शालायां भवः इति विग्रहे 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इति शालाशब्दस्य वृद्धसंज्ञायाम् 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्यये छस्य ईयादेशे भत्वादाकारस्य लोपे विभक्तिकार्ये 'शालीयः' इति।

युष्मदीयः (ई० २१,५३) युवयोर्युष्माकं वाऽयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति युष्मच्छब्दात् छप्रत्यये छस्य ईयादेशे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

दक्षिणा—दक्षिणा पश्चात् पुरस् इत्येतेभ्यस्त्यक्प्रत्ययो भवति। दक्षिणस्यां भवः, निवसति, जातो वा दाक्षिणात्यः।

द्युप्राग—दिव् प्राच् अपाच् उदच् प्रत्यच् इत्येतेभ्यो यत्प्रत्ययो भवति। दिवि भवं, दिव्यम्। वृद्धा—वृद्धात्प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति। शालायां भवः

दक्षिणापश्चात्—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् शब्दोंसे त्यक् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें। द्युप्रा—दिव्, प्राञ्च, अपाञ्च, उदञ्च और प्रत्यञ्च शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें। अव्यया—अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, जाताद्यर्थों में। अमेह—अमा, इह, क्व, तसि, त्र—इन अव्ययोंसे ही त्यप् प्रत्यय हो। त्यब्नेर्ध्रुव—'नि' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, ध्रुव अर्थमें। वृद्धिर्यस्य—जिस समुदायके अचोंके मध्यमें आदि अच् वृद्धिस्वरूप हो, वह समुदाय वृद्धिसंज्ञक होता है। त्यदादीनि—त्यदादिकी 'वृद्ध' संज्ञा हो। वृद्धाच्छः—'वृद्ध' से छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें। वा नाम—नामधेयको वृद्धसंज्ञा हो विकल्पसे।

गहादिभ्यः—यथासंभव देशवाची गहादिसे छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें।

युष्मदस्मदो—युष्मद्-अस्मद् शब्दोंसे खञ् और 'छ' प्रत्यय हो, विकल्पसे। (विकल्प पक्षमें अण् होगा) तस्मिन्नणि—खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्ययके परे युष्मद्-

आस्माकः । **तवकममकावेकवचने ४।३।३।** एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकम-मकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः । छे तु— **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८।** मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः । **मध्यान्मः ४।३।८।** मध्यमः । **कालाट्ठञ् ४।३।११।** कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् । **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ।** सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । **प्रावृष एण्यः ४।३।१७।** प्रावृषेण्यः । **सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३।** सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्त-स्तयोस्तुट् च । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्ण-प्रग-अनयोरेदन्तत्वं निपात्यते । प्राह्णेतनम् । प्रगेतनम् । दोषातनम् । **तत्र जातः ४।३।२५।** सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जात औत्सः । राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः । अवारपारे जातः—अवारपारीणः—इत्यादि । **प्रावृषष्ठप् ४।३।२६।**

त्वदीयः (ई० ४७)—तव अयमिति विग्रहे युष्मच्छब्दात् 'युष्मदस्मदोः' इति चकाराच्छप्रत्यये छस्य ईयादेशे 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'त्व अद् ईय' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

शालीयः । गहीयः—**गहे (देशविशेषे) भवः** । त्वदीयः, मदीयः—**तवाऽयम् । ममाऽयम् । उत्तरपदे—तव पुत्रः, त्वत्पुत्रः ।** मध्यमः—**मध्ये भवः ।** कालिकम्—**काले भवम् ।** सायंप्रातिकः—**सायं प्रातर्भवति ।** पौनःपुनिकः—**पुनः पुनर्भवति ।** प्रावृषेण्यः—**प्रावृषि (वर्षासु) भवः ।** सायन्तनम्—**'षो अन्तकर्मणि' इति धातोर्घञि सायंशब्दो दिवसावसाने रूढः । तस्मात् ट्युट्युलौ, तयोरनादेशे, तुट्, प्रकृतेर्मान्तत्वं निपात्यते ।** प्राह्णेतनम्—**प्राह्णः सोढोऽस्य ।** प्रगेतनम्—**प्रगच्छतीति प्रगः, तस्मिन्**

अस्मद् शब्दको 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश हो । **तवक**—एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'तवक' 'ममक' आदेश हो खञ् और अण् प्रत्ययके परे । **प्रत्ययोत्तर**—प्रत्ययके परे और उत्तरपदके परे एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो । **मध्यान्म**—मध्य शब्दसे 'म' प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें । **कालाट्ठञ्**—कालवाचकसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें । **अव्ययानां**—भसंज्ञक अव्ययकी 'टि' का लोप ।

प्रावृष—कालवृत्ति प्रावृट् शब्दसे एण्य प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें । **सायंचिरं**—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और कालवाची अव्ययोंसे ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हो तथा तुट्का आगम भी हो । **तत्र जातः**—सप्तम्यन्त समर्थसे जात अर्थमें अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हो । **प्रावृषः**—प्रावृष् शब्दसे ठप् प्रत्यय हो, जात अर्थमें ।

एण्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रायभवः ४। ३। ३९। तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण-बाहुल्येन-भवति स्रौघ्नः । संभूते ४ । ३ । ४१ । स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः । कोशाड्ढञ् ४।३।४२। कौशेयं वस्त्रम् । तत्र भवः ४ । ३ । ५३ । स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः । दिगादिभ्यो यत् ४। ३। ५४ । दिश्यम् । वर्ग्यम् । शरीरावयवाच्च ४। ३। ५५। दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । *अध्यात्मादेष्ठञिष्यते । अध्यात्मे भवम्-आध्यात्मिकम् । अनुशतिकादीनां च ७। ३। २०। एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् । जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४ । ३ । ६२ । जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् । वर्गान्ताच्च ४।३।६३। कवर्गीयम् । तत आगतः ४। ३। ७४। स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः । ठगायस्थानेभ्यः ४।३।७५। शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः । विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४। ३। ७७। औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

आधिदैविकम् (ई० ४९) देवेष्वित्यधिदेवम् , अधिदेवे भवमाधिदैविकम् । अधिदेवशब्दात् 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' इति वार्तिकेन ठञि ठस्येकादेशे 'अनुशतिकादीनां च' इत्युभयपदवृद्धौ भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

जातः । दोषातनम्—'दोषा' इत्याकारान्तमव्ययं रात्रौ । कौशेयम्—कोशे सम्भवति । कृमिविशेषकोशस्य विकारः (रेशमी वस्त्र) । दिश्यम्—दिशि भवम् । दन्त्यम्—दन्ते भवम् । आधिदैविकम्—देवेष्वित्यधिदेवम्, तत्र भवम् । ऐहलौकिकम्—इहलोके भवम् । औपाध्यायकः—उपाध्यायादागतः ।

प्रायभवः—प्रायभव अर्थमें सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों ।

सम्भूते—संभूत अर्थमें सप्तम्यन्तसे अणादि और घादि प्रत्यय हों ।

कोशा—सप्तम्यन्त कोश शब्दसे संभूत (संभव) अर्थमें ढञ् प्रत्यय हो ।

तत्र भवः—सप्तम्यन्तसे भावार्थमें अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों ।

दिगादि—दिगादि सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, भवार्थमें । शरीरा—शरीरावयववाची सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, भवार्थमें । अनुशति—अनुशतिकादिके उभय पदको वृद्धि हो, ञित ,णित और कितके परे । जिह्वा—सप्तम्यन्त जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें । वर्गान्ता—सप्तम्यन्त वर्गान्त शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें ।

तत आगतः—पञ्चम्यन्तसे आगत अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों । ठगाय—आयस्थान (चुंगी-चौकी) वाची पञ्चम्यन्तसे ठक् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

विद्यायोनि—विद्या और योनिसंबन्धवाची सप्तम्यन्तसे वुञ् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ४।३।८१। समादागतं समरूप्यम्। विषमरूप्यम् पक्षे-गहादित्वाच्छः। समीयम्। विषमीयम्। देवदत्तरूप्यम्। दैवदत्तम्। मयट् च ४।३।८२। सममयम्। देवदत्तमयम्। प्रभवति ४।३।८३। हिमवतः प्रभवति हैमवती गङ्गा। तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५। स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा। अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४।३।८६। स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम्। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७। शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः। सोऽस्य निवासः ४।३।८९। स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः।

पैतामहकः (ई० २६)—पितामहादागतः इति विग्रहे पितामहशब्दात् 'विद्या-

---

प्रभवति—प्रभवतीत्यर्थे पञ्चम्यन्ताद्यथाविहितमणादयो वादयश्च प्रत्ययाः स्युः। (प्रभवः प्रथमप्रकाशः)।

तद्गच्छति—गच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्ताद् अणादयो वादयश्च प्रत्ययाः स्युः, स चेद्गन्ता पन्था दूतो वा।

अभिनिष्क्रामति—अभिनिष्क्रामतीत्यर्थे द्वितीयान्ताद् अणादयो वादयश्च स्युः, यत्तदभिनिष्क्रामति द्वारं चेद्भवति। अधिकृत्य—'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इत्यर्थे द्वितीयान्ताद् अणादयोः वादयश्च प्रत्ययाः स्युः, सोऽस्य—'स' इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे अणादयः प्रत्ययाः स्युः, यः प्रथमान्तार्थः स निवासश्चेत् (यत्र सम्प्रत्युष्यते स निवासः)।

हेतुमनु—हेतु और मनुष्यवाचकसे रूप्य प्रत्यय हो, आगत अर्थमें, विकल्पसे।

मयट्—हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें।

प्रभवति—'प्रभवति' अर्थमें पञ्चम्यन्तसे यथाविहित अणादि प्रत्यय और वादि प्रत्यय हों।

तद्गच्छति—द्वितीयान्तसे गच्छति अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और वादि प्रत्यय हों, जो जाता है, वह यदि मार्ग या दूत हो तो।

अभिनिष्का—द्वितीयान्तसे अभिनिष्क्रामति अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हो, जो अभिनिष्क्रामति (उस ओर निकलता है), वह यदि द्वार हो तो।

अधिकृत्य—द्वितीयान्तसे 'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हों।

सोऽस्य—प्रथमान्तसे 'अस्य निवासः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हों।

तेन प्रोक्तम्—तृतीयान्तसे प्रोक्त अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हों।

तेन प्रोक्तम् ४।३।१०१। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। तस्येदम् ४।३।१२०। उपगोरिदम्-औपगवम्। ॥ इति शैषिकाः ॥

अथ विकारार्थकप्रकरणम्

तस्य विकारः ४।३।१३४। *अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः। अश्मनो विकारः आश्मः। भास्मनः। मार्त्तिकः। अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ४।३।१३५। चाद्विकारे। मयूरस्याऽवयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम्। मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४।३।१४३। प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्यात् विकारावयवयोः। अश्ममयम्। आश्मनम्। अभक्ष्ये-

---

योनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्' इति वुञि वुञोऽकादेशे आदिवृद्धौ भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः। इति 'इन्दुमती'टीकायां शैषिकप्रकरणम्।

आश्मनम् (ई० ४०)—कल्माषांघ्रिर्नाम कश्चिद् राजा, तत्पत्न्यां वशिष्ठेनोत्पादितः 'अश्मकः' इति शास्त्रे प्रसिद्धः। तस्मात् अश्मन् शब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययः। तदभावे अश्मेत्यपि नाम। तस्य विकारो अवयवो वेत्यर्थे 'अश्मन्'

तेन—प्रोक्ताऽर्थे तृतीयान्ताद् अणादयो घादयश्च प्रत्ययाः स्युः। (प्रथमं प्रकाशितं प्रोक्तम्)।

तस्येदम्—इदमित्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयो घादयश्च प्रत्ययाः स्युः।

तस्य—विकार इत्यर्थे षष्ठ्यन्तादणादयः साधारणाः, वक्ष्यमाणाश्च वैशेषिकाः यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः। अवयवे-षष्ठ्यन्तेभ्यः प्राण्योषधिवृक्षवाचकशब्देभ्यः अवयवे विकारे च अणादयः उक्ताः वक्ष्यमाणाश्च प्रत्ययाः यथाविहितं स्युः (अन्येभ्यस्तु विकारमात्रे इत्यर्थः)। मौर्वम्—मूर्वा=ओषधिविशेषः तस्या अवयवो विकारो

तस्येदम्—षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ।

तस्य विकार—षष्ठ्यन्तसे विकार अर्थमें अणादि प्रत्यय हो। अश्मनो—अश्मन् शब्दकी 'टि' का लोप हो, विकारार्थक प्रत्ययके परे। अवयवे—प्राणी, ओषधि और वृक्षवाचीसे अवयव और विकार अर्थमें तथा इनसे अतिरिक्त अर्थवाचीसे केवल विकार अर्थमें अणादि प्रत्यय हो। (यह अधिकारसूत्र है)। मयट्—भक्ष्य और आच्छादन वाच्यसे

त्यादि किम् ? मौद्गः सूपः। कार्पासम्, आच्छादनम्। नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४। आम्रमयम्। शरमयम्। गोश्च पुरीषे ४।३।१४५। गोः पुरीषं गोमयम्। गोपयसोर्यत् ४।३।१६०। गव्यम्। पयस्यम्।

इति विकारार्थकाः (इति प्राग्दीव्यतीयाः)

—oo:o:oo—

अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्ठक् ४।४।१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२। अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितो वा आक्षिकः।

शब्दात् 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' इति मयटि नलोपे विभक्तिकार्ये 'अश्ममयम्' इति। मयडभावे 'तस्य विकारः' इत्यणि 'अन्' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपाऽभावे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'आश्मनम्' इति। नच विकारार्थकत्वे 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन टिलोपः कुतो नेति वाच्यम्, पाषाणवाचकत्वेन प्रसिद्धस्याश्मन्शब्दस्यैव तत्र ग्रहणात्। (पाषाणवाचकाद् अश्मन्शब्दात्तु विकारार्थे अणि टिलोपे आदिवृद्धौ विभक्तिकार्ये 'आश्मः' इति भवति)।

गोमयम्—(ई० ३२)—गोः पुरीषम्—गोमयम्। गोशब्दात् 'गोश्च पुरीषे' इति मयटि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

वा। आम्रमयम्—आम्रस्य विकारोऽवयवो वा। गोपय—गोशब्दात् पयःशब्दाच्च यत्प्रत्ययो भवति विकारेऽवयवे चार्थे।

तेन दीव्यति—तृतीयान्तात् 'दीव्यति खनति, जयति, जितम्' इत्येतेष्वर्थेषु

भिन्न प्रकृतिमान् (सर्वप्रकृतिक) षष्ठ्यन्तसे भाषा (लोक) में मयट् प्रत्यय हो विकार और अवयव अर्थमें, विकल्पसे। नित्यं—वृद्ध और शरादिसे नित्य ही मयट् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें।

गोश्च—गोशब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो पुरीष अर्थमें।

गोपय—गो और पयस् प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें विकारार्थकप्रकरण समाप्त हुआ।

—oo:o:oo—

प्राग्वहते—'तद्वहति रथयुग' इस सूत्र तक ठक्का अधिकार है। तेन दीव्यति—तृती-

संस्कृतम् ४।४।३। दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । मारीचिकम् । तरति ४।४।५। तेनेत्येव । उडुपेन तरति औडुपिकः । चरति ४। ४। ८। तृतीयान्ताद्गच्छति भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति हास्तिकः । दध्ना चरति दाधिकः । संसृष्टे ४। ४। २२। दध्ना संसृष्टं दाधिकम् । उञ्छति ४।४।३२। बदराण्युञ्छति बादरिकः । रक्षति ४। ४। ३३। समाजं रक्षति सामाजिकः । शब्ददर्दुरं करोति ४। ४। ३४। शब्दं करोति शाब्दिकः । दर्दुरं करोति दार्दुरिकः । धर्मं चरति ४ । ४ । ४१ । धार्मिकः । ॐअधर्माच्चेति वक्तव्यम् । शिल्पम् ४। ४। ५५। मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः । प्रहरणम् ४।४।५७। तदस्येत्येव । असि प्रहरणमस्य आसिकः ।

मारीचिकम् (ई० २०)—मरीचेन संस्कृतमित्यर्थे 'संस्कृतम्' इति ठकि ठस्य इकादेशे 'किति च' इत्यादिवृद्धौ अत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् ।

धार्मिकः (ई० ५०, ५८)—धर्मं चरति 'धार्मिकः' । धर्मशब्दात् 'धर्मं चरति' इति ठकि ठस्येकादेशे 'किति चे'त्यादिवृद्धौ अत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् ।

ठक् स्यात् । संस्कृतम्—तृतीयान्तात् ठक् स्यात् संस्कृतमित्यर्थे । तरति—तरतीत्यर्थे तृतीयान्तात् ठक् स्यात् । संसृष्टे— सृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तात् ठक् स्यात् ।

उञ्छति—उञ्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् स्यात् । (भूम्यां निपतितस्य धान्यादेः कणशः आदानमुञ्छः)

रक्षति—रक्षतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठक् स्यात् ।

शब्द—करोतीत्यर्थे द्वितीयान्तात् शब्दशब्दात् दर्दुरशब्दाच्च ठक् स्यात् ।

धर्मम्—चरतीत्यर्थे धर्मशब्दात् ठक्प्रत्ययो भवति ।

शिल्पम्—तदस्य शिल्पमित्यर्थे प्रथमान्तात् ठक् स्यात् । (क्रियासु कौशलं शिल्पम् ।) प्रहरणम्—प्रहरणवाचिनः प्रथमान्तात्तदस्येत्यर्थे ठक् स्यात् ।

यान्तसे दीव्यतीत्यादि अर्थोंमें ठक् प्रत्यय हो । **संस्कृतम्**—तृतीयान्तसे संस्कृत अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **तरति**—तृतीयान्तसे तरति अर्थ में ठक् प्रत्यय हो । **चरति**—तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **संसृष्टे**—तृतीयान्तसे संसृष्ट अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **उञ्छति**—द्वितीयान्तसे उञ्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **रक्षति**—द्वितीयान्तसे रक्षति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **शब्द**—शब्द और दर्दुर प्रकृतिक द्वितीयान्तसे करोति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

धर्मं चरति—धर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । **अधर्मा**—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे भी चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

शिल्पम्—'अस्य शिल्पम्' इस अर्थ में प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । **प्रहरणं**—'अस्य

धानुष्कः । शीलम् ४।४।६१। अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः । निकटे वसति ४।४।७३। नैकटिको भिक्षुकः । ॥ इति ठगधिकारः ॥

—०००—

अथ प्राग्घितीयप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् ४। ४। ७५। तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते । तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४।४।७६। रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः। धुरो यड्ढकौ ४।४।७७। हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—न भकुर्छुराम् ८।२।७९। रेफवान्तस्य भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया

धानुष्कः (ई० २०)—धनुः प्रहरणमस्येत्यर्थे 'प्रहरणम्' इति ठकि 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति ठस्य कादेशे कित्वादादिवृद्धौ विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

नैकटिकः (ई० ४०)—निकटे वसतीति विग्रहे 'निकटे वसति' इति सूत्रेण ठकि ठस्य इकादेशे 'किति चे'ति वृद्धौ भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । यस्य शाश्वतो निकटवासस्तत्रायं विधिः । आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात् क्रोशे वस्तव्यमिति शास्त्रम् ।

युग्यः (ई० २०)—युगं वहतीति विग्रहे 'तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्' इति युगशब्दात् यत्प्रत्यये भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् ।

शीलम्—अस्येत्यर्थे शीलवाचिनः प्रथमान्तात् ठक् स्यात् । निकटे—वसतीत्यर्थे सप्तम्यन्तात् निकटशब्दात् ठक् स्यात् ।

तद्वहति—रथादि वहतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यो रथ-युग-प्रासङ्गशब्देभ्यो यत्प्रत्ययः स्यात् । धुरो—धुर्शब्दाद् द्वितीयान्ताद् वहतीत्यर्थे यत्, ढक् च स्यात् । धुरं

प्रहरणम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । शीलम्—प्रथमान्तसे 'अस्य शीलम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । निकटे-निकट प्रकृतिक सप्तम्यन्तसे वसति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ठगधिकारप्रकरण समाप्त हुआ ।

—०००—

प्राग्घितात्—'तस्मै हितम्' इस सूत्र तक 'यत्' का अधिकार है ।

तद्वहति—रथादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे वहति अर्थमें यत् प्रत्यय हो । धुरो यड्ढकौ-धुर प्रकृतिक द्वितीयान्तसे वहति अर्थमें यत् प्रत्यय और ढक् प्रत्यय हो । न भकुर्छुं—भसं-

इको दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौरेयः । नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्य-स्तार्यतुल्यप्राप्यवध्याऽऽनाम्यसमसमितसंमितेषु ४।४।९१। नावा तार्यं नाव्यं, जलम् । वयसा तुल्यो वयस्यः । धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । विषेण वध्यो विष्यः । मूलेन आनाम्यं मूल्यम् । मूलेन समो मूल्यः । सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं तुल्यम् । तत्र साधुः ४।४।९८। अग्रे साधुः- अग्र्यः । सामसु साधुः सामन्यः । ये चाभावकर्मणोरिति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः । सभाया यः ४।४।१०५। सभ्यः । * इति यतोऽवधिः । इति प्राग्घितीयाः*

—००:०:००—

अथ छयतोरधिकारप्रकरणम्

प्राक् क्रीताच्छः ५। १। १। तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते । उगवा-

---

धौरेयः (ई० २६) धुरं वहतीति विग्रहे धुर्शब्दात् 'धुरो यड्ढकौ' इति ढकि 'किति च'त्यादिवृद्धौ ढस्य एयादेशे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् ।

नाव्यम् (ई० ५०)—नावा तार्यमिति विग्रहे 'नौवयोधर्म-' इत्यादिसूत्रेण यत्प्रत्यये 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यावादेशे विभक्तिकार्ये तत् सिद्धम् ।

शरण्यः (ई० ४८) शरणे साधुरिति विग्रहे शरणशब्दात् 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्यये भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

वहतीति धुर्यः (अश्वादिस्कन्दवाह्यप्रदेशो युगावयवो 'धूः') नौवयोधर्मः—नौ, वयस् , धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला एभ्योऽष्टभ्यः (तृतीयान्तेभ्यः) क्रमात् तार्ये, तुल्ये, प्राप्ये, वध्ये, आनाम्ये, समे, समिते, सम्मिते चार्थे यत् स्यात् । (इह तार्यादियोगे यथासंभवं करणे कर्तरि हेतौ तुल्यार्थयोगे च तृतीया संभवात् 'तृतीयान्तेभ्यः' इत्यर्थादवगम्यते ।) तत्र—साधुरित्यर्थे सप्तम्यन्तात् यत् स्यात् ।

सभाया—साधुरित्यर्थे सप्तम्यन्तात् सभाशब्दात् यः स्यात् । (नतु यत्) ।

इकको तथा कुर् , छुर् के उपधाभूत इक्को दीर्घ नहीं हो । नौवयो—नावादिप्रकृतिक तृतीयान्तसे तार्यादि अर्थोंमें यत् प्रत्यय हो । तत्र साधु—सप्तम्यन्तसे साधु अर्थमें यत् प्रत्यय हो । सभायाः—सभाप्रकृतिक सप्तम्यन्तसे साधु अर्थमें 'य' प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में प्राग्घितीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

—००:०:००—

प्राक्क्रीतात्—'तेन क्रीतम्' इस सूत्र तक 'छ' का अधिकार है । उगवा—उवर्णान्तसे

दिभ्यो यत् ५ । १ । २ । प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद्गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्यापवादः । शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु । गव्यम् । *नाभि नभं च । नभ्योऽक्षः । नभ्यमञ्जनम् । तस्मै हितम् ५ । १ । ५ । वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् । शरीरावयवाद्यत् ५।१।६। दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् । आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ५।१।६। आत्माध्वानौ खे ६। ४। १६६। एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम् आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।

इति छयतोः पूर्णोऽवधिः (इति प्राक्क्रीतीयाः)

अथ ठञधिकारप्रकरणम्

प्राग्वतेष्ठञ् ५। १। १८। तेन तुल्यमिति वतिं वक्ष्यति ततः प्राक् ठञधिक्रि-

---

नभ्यम्—नाभये हितमिति विग्रहे नाभिशब्दात् 'उगवादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्यये नाभेर्नभादेशे भत्वात् 'यस्येति च' इतीकारलोपे विभक्तिकार्ये नभ्यमञ्जनमिति ।

मातृभोगीणः (ई० ४०)—मातुर्भोगः = शरीरं तस्मै हितमिति विग्रहे मातृभोगशब्दात् 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः' इति खप्रत्यये खस्य ईनादेशे भत्वादलोपे 'कुमति च' इति णत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

तस्मै—हितमित्यर्थे चतुर्थ्यन्ताद् यथाविहितं छादिप्रत्ययाः स्युः ।

शरीरा—शरीरावयवविशेषवाचकाच्चतुर्थ्यन्ताद्धितमित्यर्थे यत् स्यात् । दन्तेभ्यो हितं 'दन्त्यम्' नासिकायै हितं 'नस्यम्' । आत्मन्—आत्मन् , विश्वजन, भोगोत्तरपद-एभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यो हितमित्यर्थे खः स्यात् । एतौ खे प्रकृत्या स्तः—तेन 'आत्मनीनम्' इत्यादौ टिलोपो न ।

और गवादिसे यत् प्रत्यय हो हितादि अर्थोंमें । नाभि—नाभि शब्दसे यत् प्रत्यय हो और नाभिको नभ आदेश हो । तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यथाविहित पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण प्रत्यय हों । शरीरावयव—शरीरावयववाची चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यत् प्रत्यय हो । आत्मन्—आत्मादि प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें ख प्रत्यय हो ।

आत्माध्वानौ—'ख' प्रत्ययके परे आत्मन् और अध्वन् प्रकृतिवत् रहें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें छयतोरधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

प्राग्वते—'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र तक 'ठञ्' का अधिकार है ।

यते । तेन क्रीतम् ५ । १ । ३७ । सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् । सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ५। १। ४१। तस्येश्वरः ५। १। ४२। सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः । ॐ अनुशतिकादीनां च । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः । पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ५।१।५९। एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते । तदर्हति ५। १। ६३। लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थे द्वितीयान्तादठञादयः स्युः । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः । दण्डादिभ्यो यत् ५।१। ६६। एभ्यो यत्स्यात् । दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः । तेन निर्वृत्तम् ५ । १ । ७९ । अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् । ॥ इति ठञोऽवधिः (इति प्राग्वतीयाः) ॥

अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५ । १ । ११५ । ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते ।

सार्वभौमः (ई० ४९)—सर्वभूमिशब्दात् 'तस्येश्वरः' इत्यर्थे 'सर्वभूमि' इत्यणि 'अनुशतिकादीनां च' इत्युभयपदवृद्धौ भत्वादिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

तेन क्रीतम्—तृतीयान्तात् क्रीतार्थे ठञादयः स्युः । निपात्यन्ते—तदर्थपरिमाणमित्यर्थे इति शेषः । पङ्क्तिः—पञ्चाक्षरा पञ्चपदा पङ्क्तिः । पञ्चन्शब्दस्य टिलोपः, तिप्रत्ययः, 'चोः कुः' इति कुत्वम् । विंशतिः (२०)—द्वौ दशतौ परिमाणमस्य संघस्येति 'विंशतिः' । शतिच्प्रत्ययः, प्रकृतेर्विन्भावः, अनुस्वारश्च । (अत्र संघग्रहणमनुवर्तते । तथा च गवां विंशतिरिति भवति । संघसंघिनोस्तादात्म्यविवक्षायां तु 'विंशतिर्गावः' इति भवति । स्वभावादेकवचनं स्त्रीत्वं च ।) एवं त्रिंशदादावपि । ('विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः' इति, 'तासु चाऽऽनवतेः (९०) स्त्रियः' इति चामरः) । तेन निर्वृत्तम्—तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्यर्थे ठञ् स्यात् ।

तेन तुल्यं—तृतीयासमर्थात् तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्ययो भवति, यत्तुल्यं तत् क्रिया

तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसे क्रीत अर्थमें यथाविहित ठक्, ठञ् आदि आर्हीय प्रत्यय हों। **सर्वभूमि—तस्येश्वरः**-सर्वभूमि और पृथिवीप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् और अञ् प्रत्यय हों, ईश्वर अर्थमें । **अनुशति**—अनुशतिकादि-गणपठित शब्दोंके उभयपदकी वृद्धि हो । **पंक्तिविं**—पंक्ति, विंशति आदि दश रूढि शब्द निपातन हों । **तदर्हति**—द्वितीयान्तसे अर्हति अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो । **दण्डादिभ्यः**-दण्डादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे यत् प्रत्यय हो, अर्हति अर्थमें । **तेन निर्वृत्तम्**—कालवाची तृतीयान्तसे निर्वृत्त अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें ठञधिकारप्रकरण समाप्त हुआ ।

तेन तुल्यं—तृतीयान्तसे तुल्य अर्थमें वति प्रत्यय हो, जो तुल्य हो, वह यदि क्रिया

क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः । तत्र तस्येव ५ । १ । ११६ । मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः । तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गोर्भावो गोत्वम् । गोता । त्वान्तं क्लीबम् । आ च त्वात् ५ । १ । १२० । 'ब्रह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पौंस्नम् । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२। वावचनमणादिसमावेशार्थम् । र ऋतो हलादेर्लघोः ६ । ४ । १६१ । हलादेर्लघोऋकारस्य रः स्यादिष्ठेमेयस्सु परतः । *पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव रत्वम् । टेः ६ । ४ । १५५ । भस्य टेर्लोपः स्यादिष्ठेमेयस्सु । पृथोर्भावः प्रथिमा । इगन्ताच्च लघुपूर्वात्

स्त्रैणम्—'तस्य भावस्त्वतलौ' इति प्राप्तौ तं प्रबाध्य 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति नञि अनुबन्धलोपे आदिवृद्धौ णत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

प्रथिमा (ई० २७)—पृथोर्भावः 'प्रथिमा' । पृथुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा' इति विकल्पेन इमनिच्प्रत्यये चकारस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन 'पृथु इमन्' इति स्थिते 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रकारादेशे उकारस्य गुणं बाधित्वा 'टेः' इति टिलोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे सुलोपे नलोपे 'प्रथिमा' इति, इमनिजभावे 'इगन्ताच्च लघु-

---

चेत् सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च इवार्थे वतिः स्यात् । तस्य—षष्ठ्यन्तात् भाव इत्यर्थे त्वतलौ स्तः । प्रकृतिजन्यबोधे—त्वतल्प्रत्ययौ यत उत्पद्येते तस्मात् प्रकृतिभूतशब्दात् व्यक्तिबोधे जायमाने यत् जात्यादिकं विशेषणतया भासते तद्व्यक्तिविशेषणं भावशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । पृथ्वादिभ्यः—पृथ्वादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे इम-

---

रहे तो । तत्र तस्येव—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्तसे इवार्थमें वति प्रत्यय हो ।

तस्य भावः—षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें त्व और तल् प्रत्यय हों । त्वान्तं क्लीबं—'त्व' प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिंग होते हैं । आ च—'ब्रह्मणस्त्वः' इस सूत्र तक 'त्व' और 'तल्' का अधिकार है । पृथ्वादिभ्यः—पृथ्वादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें 'इमनिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । र ऋतो—हलादि लघु ऋकारको 'र' आदेश हो, इष्ठन् , इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे । पृथुमृ—पृथ्वादि शब्दोंके ही ऋकारको रभाव हो । टेः—भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, इष्ठनादि प्रत्ययके परे । इगन्ताच्च—लघुपूर्वक इगन्त षष्ठ्यन्तसे भाव-

५।१।१३१। इगन्ताल्लघुपूर्वात् प्रातिपदिकाद्भावेऽण् प्रत्ययः । पार्थवम् । म्रदिमा । मार्दवम् । वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ५ । १ । १२३ । चादिमनिच् । शौक्ल्यम् । शुक्लिमा । दार्ढ्यम् । द्रढिमा । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४। चाद्भावे । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् । मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् । सख्युर्यः ५ । १ । १२६ । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । कपिज्ञात्योर्ढक् ५। १। १२७। कापेयम् । ज्ञातेयम् । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८। सैनापत्यम् । पौरोहित्यम् ।

॥ इति भावकर्माद्यर्थकप्रकरणम् ॥

—○○:○○—

अथ भवनाद्यर्थकप्रकरणम्

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ५। २। १। भवत्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् । व्रीहिशाल्योर्ढक् ५ । २ । २ । व्रैहेयम् । शालेयम् ।

पूर्वात्' इत्यणि आदिवृद्धौ रपरत्वे 'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशे विभक्तिकार्ये 'पार्थवम्' इति । (त्वप्रत्यये 'पृथुत्वम्' इति । तल्प्रत्यये 'पृथुता' इति ।)

ज्ञातेयम् (ई० २६)—ज्ञातेर्भावः कर्म वेति विग्रहे ज्ञातिशब्दात् 'कपिज्ञात्योर्ढक्' इति ढकि अनुबन्धलोपे ढस्य एयादेशे भत्वादिलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

निच् वा स्यात् । गुणवचन—गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च ष्यञ् स्यात् । कपिज्ञा—कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां भावे कर्मणि च ढक् स्यात् । (कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्)

धान्यानां—धान्यवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो भवने क्षेत्रेऽर्थे खञ् स्यात् । व्रीहि—व्रीहि-

---

कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय हो । वर्णदृढा—वर्णवाची और दृढादि षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय और इमनिच् प्रत्यय भी हो । गुणवचन—गुणोपसर्जन द्रव्यवाची और ब्राह्मणादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे कर्म और भाव अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय हो । सख्युर्यः—सखि शब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्म अर्थमें 'य' प्रत्यय हो । कपिज्ञात्यो—कपि और ज्ञातिरूप षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकसे भाव और कर्म अर्थमें ढक् प्रत्यय हो । पत्यन्त—षष्ठ्यन्त पत्यन्त और पुरोहितादि शब्दोंसे यक् प्रत्यय हो, भाव और कर्ममें । (सेनापतेर्भावः सैनापत्यम्)

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्माद्यर्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

—○○:○○—

धान्यानां—धान्यवाची षष्ठ्यन्तसे 'भवनं क्षेत्रम्' इस अर्थमें खञ् प्रत्यय हो ।
व्रीहिशाल्योः—व्रीहि-शालिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे उक्त (भवनं क्षेत्रम्) अर्थमें ढक्

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ५।२।२३। ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशो विकारार्थे खञ् निपात्यते । दुह्यते इति दोहः-क्षीरम् । ह्योगोदोहस्य विकारः-हैयङ्गवीनं नवनीतम् । तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५। २। ३६। तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् । प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५ । २ । ३७ । तदस्येत्यनुवर्त्तते । ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुदघ्नम् । ऊरुमात्रम् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५। २। ३६। यत्परिमाणमस्य-यावान् । तावान् । एतावान् । किमिदम्भ्यां वो घः ५।२।४०। आभ्यां वतुप् स्याद्वकारस्य

पण्डितः—सदसद्विवेकिनी बुद्धिः = पण्डा, पण्डा = बुद्धिः, सञ्जाताऽस्येति पण्डितः । पण्डाशब्दात् इतचि भत्वादालोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

शब्दात् शालिशब्दाच्च षष्ठ्यन्ताद् भवने क्षेत्रेऽर्थे ढक् स्यात् । तदस्य-प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः अस्य संजातमित्यर्थे इतच् स्यात् । प्रमाणे—प्रथमान्तादस्य प्रमाणमित्यर्थे द्वयसच् , दघ्नञ् , मात्रच इति त्रयःप्रत्ययाः स्युः । यत्तदेतेभ्यः—प्रथमान्तेभ्यो

प्रत्यय हो । हैयङ्गवीनं—नवनीत अर्थमें 'हैयङ्गवीनम्' यह निपातन हो ।

नोट :—हैयङ्गवीनम् में 'ह्योगोदोह' को 'हियङ्गु' आदेश और 'खञ्' प्रत्ययका निपातन होता है ।

तदस्य—तारकादि प्रकृतिक प्रथमान्तपदसे 'अस्य संजातम्' अर्थमें इतच् प्रत्यय हो । प्रमाणे—प्रमाण अर्थमें वर्तमान प्रथमान्त पदसे षष्ठ्यर्थसे निर्दिष्ट प्रमेय अर्थमें द्वयसच्, दघ्नञ् और मात्रच् प्रत्यय हो ।

नोट :—मात्रच् प्रत्यय प्रमाण अर्थमें अर्थात् परिच्छेदक मात्रसे हो और 'द्वयसच्' तथा 'दघ्नञ्' प्रत्यय ऊर्ध्वमान या उन्मान अर्थमें ही हों ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणन्तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥

(१) 'ऊर्ध्वमान' या 'उन्मान' ये दो नाम ऊँचाईसे जैसे तुकती पर सुवर्ण आदि नापनेका है ।

(२) जो सभी तरहसे याने पात्रादिमें भर-भरकर अथवा सेर, पसेरी आदिसे तौलकर नापा जाय, उसे परिमाण कहते हैं । (३) आयाम = लम्बाई–चौड़ाई आदिका या लकड़ी आदिसे नदी, तालाब आदिमें जलादिका थाह लेकर नाप 'प्रमाण' कहलाता है । जैसे–एक हाथ, दो हाथ, एक लग्गी, दो लग्गी आदि । (४) इन सबसे संख्या (गिनती) भिन्न है ।

यत्तदेतेभ्यः—परिमाणोपाधिक यत् , तत् और एतत् शब्दोंसे अस्य अर्थमें वतुप् प्रत्यय हो । किमिदम्भ्यां—परिमाणोपाधिक किम् शब्द और इदम् शब्दसे वतुप् प्रत्यय हो और

घश्च । इदंकिमोरीश्की ६।३।९०। दृग्दृशवतुषु इदम ईश् किमः की स्यात् । कियान् । इयान् । ईदृक्, ईदृशः । कीदृक्, कीदृशः । संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम् । द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा ५।२।४३। द्वयम् । द्वितयम् । त्रयम् । त्रितयम् । उभादुदात्तो नित्यम् ५।२। ४४। उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात्स चोदात्तः । उभयम् । तस्य पूरणे डट् ५।२। ४८। एकादशानां पूरण एकादशः । नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९। डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । नान्तात्किम् ? ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२। विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे । विंशः । असंख्यादेः किम् ? एकादशः । षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५।२।५१। एषां थुगागमः स्याड्डटि । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्याऽसङ्ख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकाड्डट् । कतिपयथः ।

इयान्—इदं परिमाणमस्येति विग्रहे 'किमिदम्भ्यां वो घः' इति वतुपि वस्य घत्वे च विहिते 'इदंकिमोरीश्की' इति इदम ईशादेशे अनुबन्धलोपे 'ई घत्' इति दशायां घस्य इयादेशे अस्वात् 'यस्येति च' इतीकारलोपे 'इयत्' इति । तस्मात् सौ उगित्वानुमि उपधादीर्घे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'इयान्' इति ।

विंशः (ई० २६)—विंशतेः पूरणः इति विग्रहे विंशतिशब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इति डटि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'ति विंशतेर्डिति' इति तिलोपे 'विंश अ' इति स्थिते 'असिद्धवदत्राऽभात्' इति तिलोपस्याऽसिद्धत्वाद् 'यस्येति च'ति लोपस्याऽप्राप्त्या 'अतो गुणे' इति पररूपे विभक्तिकार्ये 'विंशः' इति ।

यत्तदेतेभ्योऽस्य परिमाणमित्यर्थे वतुप् स्यात्।द्वित्रि—द्वित्र्यादिसंख्याका अवयवा अस्यावयविनः इति विग्रहे अवयवान्तर्भूतसंख्यावाचिनः प्रथमान्ताद् अस्यावयविन इत्यर्थे तयप् स्यात् । तस्य-षष्ठीसमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् पूरण इत्य-

---

वतुप्के वकारको घकार हो । इदं किमो—इदम् शब्दको 'इश्' आदेश और किम् शब्दको 'की' आदेश हो, दृक्, दृश् और वतु (प्) प्रत्ययके परे । संख्याया—अवयवमें वर्तमान जो संख्या, तद्वाचक प्रथमान्त समर्थसे षष्ठ्यर्थमें तयप् प्रत्यय हो । द्वित्रिभ्यां—द्वि और त्रिसे पर तयप्को अयच् आदेश हो, विकल्पसे । उभादुदात्तो—उभ शब्दसे पर तयप्को नित्य ही अयच् आदेश हो और वह अयच् आद्युदात्त हो । तस्य पूरणे—संख्येयार्थक संख्यावाची षष्ठ्यन्तसे पूरण (अवयव) अर्थमें 'डट्' प्रत्यय हो । नान्तादसं—असंख्यादि जो नान्त संख्यावाची, उससे पर 'डट्'को मट्का आगम हो । तिविंशते—भसंज्ञक विंशति शब्दके तिका लोप हो, डित्के परे । षट् कति—षट् आदिको थुक्का आगम हो, डट्के परे ।

चतुर्थः। द्वेस्तीयः ५।२।५४। डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणो द्वितीयः। त्रेः सम्प्रसारणं च ५।२।५५। तृतीयः। श्रोत्रियं श्छन्दोऽधीते ५।२।८४। श्रोत्रियः। वेत्यनुवृत्तेः–छान्दसः। पूर्वादिनिः ५।२।८६। पूर्वं कृतमनेन पूर्वी। सपूर्वाच्च ५।२।८७। कृतपूर्वी। इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८। इष्टमनेन इष्टी। अधीती।

॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

तृतीयः (ई० २८,५२) त्रयाणां पूरणः इति विग्रहे त्रिशब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इति सूत्रं प्रबाध्य 'त्रेः सम्प्रसारणं च' इति तीयप्रत्यये सम्प्रसारणे च विहिते विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

श्रोत्रियः (ई० ३४)—छन्दोऽधीते इति विग्रहे 'श्रोत्रियं श्छन्दोऽधीते' इति निपातनात् 'छन्दः'शब्दात् घन्प्रत्यये छन्दःशब्दस्य श्रोत्रादेशे च विहिते घस्य इयादेशे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

कृतपूर्वी—कृतं पूर्वमनेनेति विग्रहे 'सुप्सुपे'ति समासनिष्पन्नात् कृतपूर्वशब्दात् 'सपूर्वाच्च' इतीनिप्रत्यये भत्वादलोपे सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'कृतपूर्वी' इति।

स्मिन्नर्थे डट् स्यात्। श्रोत्रियं—द्वितीयान्तात् छन्दःशब्दात् अधीते इत्यर्थे घन्, प्रकृतेः श्रोत्रादेशश्च निपात्यते। सपूर्वाच्च—सपूर्वात् प्रातिपदिकात् पूर्वशब्दान्तादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः स्यात्।

द्वेस्तीयः—'द्वि' शब्दप्रकृतिक षष्ठयन्तसे तीय प्रत्यय हो, पूरण अर्थमें।

त्रेः सम्प्र—'त्रि' शब्दप्रकृतिक षष्ठयन्तमें तीय प्रत्यय हो और 'त्रि' को सम्प्रसारण भी हो, पूरण अर्थमें।

श्रोत्रियं—'छन्दोऽधीते' इस अर्थमें 'श्रोत्रियन्' यह निपातन हो, ('श्रोत्रियन्' का नकार स्वरार्थ है)

पूर्वादिनिः—'अनेन कृतम्' इस अर्थमें पूर्व शब्दसे इनि प्रत्यय हो।

सपूर्वाच्च—सपूर्वक पूर्वान्त प्रातिपदिकसे 'अनेन कृतम्' इस अर्थमें इनि प्रत्यय हो।

इष्टा—इष्टादिसे 'अनेन' अर्थमें इनि प्रत्यय हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भवनाद्यर्थकप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४। गावोऽस्याऽस्मिन् वा सन्ति गोमान्। तसौ मत्वर्थे १।४।१९। तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। वसोः सम्प्रसारणम्। विदुष्मान्। ॐ गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः। शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः। प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ५।२।९६। चूडालः। चूडावान्। प्राणिस्थात्किम्? शिखावान् दीपः। प्राण्यङ्गादेव। नेह—मेधावान्। लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००। लोमादिभ्यः शः। लोमशः। लोमवान्। रोमशः। रोमवान्। पामादिभ्यो नः। पामनः। अङ्गात्कल्याणे। अङ्गना। (ग) लक्ष्म्या अच्च। लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्। पिच्छिलः। पिच्छवान्। उरसिलः। उरस्वान्। दन्त उन्नत

गोमान् (ई० २९)—गोशब्दात् मतुपि अनुबन्धलोपे प्रातिपदिकात् सौ उगित्वान्नुमि 'अत्वसन्तस्ये'ति दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे तत्सिद्धिः।

तदस्यास्त्यस्मिन्—प्रथमासमर्थात् अस्येति षष्ठ्यर्थे अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुप् स्यात्। प्राणिस्थात्—आदन्तात् प्राणिस्थवाचिनः शब्दात् मत्वर्थे लच् वा स्यात्। लोमादि—लोमादिभ्यः पामादिभ्यः पिच्छादिभ्यश्च त्रिभ्यो गणेभ्यो यथासंख्यं श, न, इलच्, इत्येते प्रत्ययाः स्युः। दन्त उन्नत—दन्तशब्दात् उन्नतोपाधिकात् मत्वर्थे उरच्

तदस्या—अस्त्यर्थोपाधिक प्रथमान्तसे अस्य और अस्मिन् अर्थोंमें मतुप् प्रत्यय हो।

नोट:—'मतुप्' के प्रकरणमें निम्न श्लोकवार्तिक स्मरण रखना चाहिये:—

'भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥'

उदाहरण—भूमा (बहुत्वम्)—गोमान्। निन्दा—ककुदावर्तिनी कन्या। प्रशंसा—रूपवान्। नित्ययोग—क्षीरिणो वृक्षाः। अतिशायन (अतिशय)—उदरिणी कन्या। संसर्ग—दण्डी, छत्री। अस्ति विवक्षामें—अस्तिमान्। तसौ—तकारान्त और सकारान्तकी भसंज्ञा हो, मत्वर्थीय प्रत्ययके परे। गुणवचने—गुणवाचकसे पर मतुप्का लुक् हो। प्राणिस्था—प्राणिस्थ आदन्तसे मत्वर्थमें लच् प्रत्यय हो, विकल्पसे। लोमादि—मत्वर्थमें लोमादिसे 'श' प्रत्यय, पामादिसे 'न' प्रत्यय और पिच्छादिसे 'इलच्' प्रत्यय तथा मतुप् भी हो। अंगात्—अंग शब्दसे 'न' प्रत्यय हो, कल्याण अर्थमें। लक्ष्म्या—लक्ष्मी शब्दसे 'न' प्रत्यय हो और लक्ष्मीको अकारान्त आदेश भी हो। दन्त उन्नत—उन्नतोपाधिक दन्त

उरच् ५।२।१०६। उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य दन्तुरः। केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९। केशवः। केशी। केशिकः। केशवान्। अन्येभ्योऽपि दृश्यते। मणिवः। अर्णसो लोपश्च। अर्णवः। अत इनिठनौ ५।२।११५। दण्डी। दण्डिकः। व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६। व्रीही। व्रीहिकः। अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१। यशस्वी। यशस्वान्। मायावी। मेधावी। स्रग्वी। वाचो ग्मिनिः ५।२।१२४। वाग्मी। अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।१२७। अर्शांस्यस्य विद्यन्ते—अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्। अहंशुभमोर्युस् ५।२।१४०। अहंयुः अहङ्कारवान्। शुभंयुस्तु शुभान्वितः। ॥ इति मत्वर्थीयाः॥

दण्डी (ई० ४२)—दण्डोऽस्यास्तीति विग्रहे दण्डशब्दात् 'अत इनिठनौ' इति इनिप्रत्यये भत्वात् 'यस्येति चे'त्यकारलोपे सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'दण्डी' इति।

मेधावी (ई० २५, २९, ३५)—मेधा अस्यास्तीति विग्रहे मेधाशब्दात् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिप्रत्यये प्रातिपदिकत्वात् सौ 'सौ च' इति दीर्घे सुलोपे नलोपे तत्सिद्धिः।

स्रग्वी (ई० ३०)—स्रगस्यास्तीति विग्रहे स्रज्शब्दात् 'अस्माये'ति विनिप्रत्यये प्रातिपदिकात् सौ जस्य कुत्वे 'सौ च' इति दीर्घे सुलोपे नलोपे तत्सिद्धिः।

शुभंयुः—(ई० ३९)—'शुभम्' इति मान्तमव्ययं शुभे वर्तते। तस्मात् शुभ-

---

स्यात्। केशाद्वो—केशशब्दात् वः प्रत्ययः स्यात् मत्वर्थेऽन्यतरस्याम्। व्रीह्यादि—व्रीह्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः इनिठनौ स्तः मत्वर्थे।

अस्माया—असन्तात् प्रातिपदिकात् माया-मेधा-स्रज्-इत्येतेभ्यश्च विनिः स्यात् मत्वर्थे।

शब्दसे मत्वर्थमें उरच् प्रत्यय हो। केशाद्वो—केश शब्दसे 'व' प्रत्यय हो, विकल्पसे। पक्षमें इनि, ठन् और मतुप् प्रत्यय भी हों। अन्येभ्योऽपि—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो। अर्णसो—अर्णस् शब्दसे 'व'प्रत्यय और अर्णस्के अन्त्य सकारका लोप हो।

अत इनि—अदन्त प्रातिपदिकसे इनि और ठन् प्रत्यय हों और पक्षमें मतुप् भी हो।

व्रीह्या—व्रीह्यादिसे इनि, ठन् और मतुप् भी हो।

अस्माया—असन्त प्रातिपदिकसे तथा माया और मेधा, स्रज् शब्दोंसे विनि प्रत्यय हो (और मतुप् भी हो)। वाचो—वाच् शब्दसे ग्मिनि प्रत्यय हों। अर्श आ—अर्शस् आदि प्रातिपदिकसे अच् प्रत्यय हो। अहंशुभ—अहम् और शुभम् से युस् प्रत्यय हो।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें मत्वर्थीयप्रकरण समाप्त हुआ।

अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१। 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः। किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२। किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते। पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७। पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल्वा स्यात्। कु तिहोः ७।२।१०४। किमः कुः स्यात्तादौ च हादौ विभक्तौ परतः। कुतः। कस्मात्। इदम इश् ५।३।३। प्राग्दिशीये परे। इतः। अन् ५।३।५। एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। अतः। अमुतः।

मस्यास्तीति विग्रहे 'अहंशुभमोर्युस्' इति युसि 'सिति च' इति पदत्वात् मस्यानुस्वारे प्रातिपदिकात् सौ सोर्लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'शुभंयुः' इति।

कुतः (ई० ३२)—कस्मादिति कुतः। पञ्चम्यन्तात् किम्शब्दात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिल्प्रत्यये तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुब्लुकि 'कुतिहोः' इति किमः 'कु' इत्यादेशे कृते तसिलन्तस्याऽव्ययत्वेन तद्धितान्तत्वादागतस्य सुपो लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'कुतः' इति सिद्धम्। पक्षे कस्मादिति।

अतः (ई० ३२)—पञ्चम्यन्तादेतच्छब्दात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलि सुब्लुकि 'अन्' इति एतदोऽनादेशे पदत्वान्नलोपे प्रातिपदिकात् सौ अव्ययत्वात् सुब्लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'अतः' इति। पक्षे एतस्मादिति।

प्राग्दिशो—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्व जो वक्ष्यमाण प्रत्यय हैं, वे विभक्ति संज्ञक हों।

किंसर्व—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्व 'किम्-सर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' यह अधिकार है।

पञ्चम्यास्तसिल्—पञ्चम्यन्त किम् आदिसे तसिल् प्रत्यय हो, विकल्पसे।

कु तिहोः—किम्को कु आदेश हो, तादि और हादि विभक्तिके परे।

इदम—इदम्को इश् आदेश हो, प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे। अन्—एतद्को अन् आदेश

यतः । ततः । बहुतः । द्व्यादेस्तु-द्वाभ्याम् । पर्यभिभ्यां च ५ । ३ । ९। आभ्यां तसिल् स्यात् । परितः सर्वत इत्यर्थः । अभितः । उभयत इत्यर्थः । सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०। कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र । इदमो हः ५।३।११। त्रलोऽपवादः । इह । किमोऽत् ५।३।१२। वाग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् । क्वाति ७। २। १०५। किमः क्वादेशः स्यादति । क्व । कुत्र । इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५। ३। १४। पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् । सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ । सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् । सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६। दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले-सदा । सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे । इदमो र्हिल् ५। ३। १६। 'सप्तम्यन्तात् काले' इत्येव । एतेतौ रथोः ५ । ३ । ४ । इदम्शब्दस्य एत इत इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे । अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५ । ३ । २१ । कर्हि । कदा । यर्हि । यदा ।

कदा—कस्मिन् काले कदा । सप्तम्यन्तात् किम्शब्दात् 'सर्वैकान्य-' इति दाप्रत्यये सुब्लुकि 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति विभक्तिसंज्ञायां 'किमः कः' इति कादेशे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

हो, प्राग्दिशीय (विभक्तिसंज्ञक) प्रत्ययके परे । **पर्यभिभ्यां**—सर्व और उभयके अर्थमें वर्तमान् परि और अभिसे तसिल् प्रत्यय हो । **सप्तम्यास्त्रल्**—सप्तम्यन्त किमादिसे त्रल् प्रत्यय हो, विकल्पसे । **इदमो**—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे 'ह' प्रत्यय हो, विकल्पसे । **किमोऽत्**—सप्तम्यन्त किम् शब्दसे अत प्रत्यय हो, विकल्पसे । **क्वाति**—किम्को 'क्व' आदेश हो, अत प्रत्ययके परे । **इतराभ्यो**—पञ्चमी, सप्तमी विभक्तिसे इतर जो प्रथमादि विभक्ति, तदन्तसे भी त्र, तसिल् आदि प्रत्यय होते हैं । **सर्वैकान्य**—काल अर्थमें वर्तमान सप्तम्यन्त-सर्व, एक, अन्य आदिसे 'दा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । **सर्वस्य**—सर्वको 'स' आदेश हो, विकल्पसे, दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे । **इदमो**—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे र्हिल प्रत्यय हो, काल अर्थमें विकल्पसे । **एतेतौ**—इदम्को एत और इत आदेश हो, रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे । **अनद्यतने**—अनद्यतन कालवाची सप्तम्यन्त किम् सर्वनाम आदिसे र्हिल प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

तर्हि । तदा । एतदः ५।३।५। 'एत' 'इत' एतौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन्काले एतर्हि । प्रकारवचने थाल् ५ । ३ । २३ । प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे । तेन प्रकारेण—तथा । यथा । इदमस्थमुः ५ । ३।२४। थालोऽपवादः । *एतदोऽपि वाच्यः । अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् । किमश्च ५।३।२५। केन प्रकारेण कथम् ।

॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥

अथ प्रागिवीयप्रकरणम्

अतिशायने तमबिष्ठनौ ५ । ३ । ५५ । अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः । लघिष्ठः । तिङश्च ५। ३। ५६। तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् । तरप्तमपौ घः १।१।२२। एतौ घसंज्ञौ स्तः । किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५। ४। ११। किम एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् ।

तर्हि (ई० २२)—सप्तम्यन्तात् 'तत्'शब्दात् 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' इति र्हिलप्रत्यये अत्वे पररूपे प्रातिपदिकात् सौ अव्ययत्वात् सुब्लुकि 'तर्हि' इति । पक्षे दाप्रत्यये सति 'तदा' इति भवति ।

एतदः—एतद् शब्दको एत-इत आदेश हों, रेफादि और थकारादि प्रत्ययके परे ।

प्रकार—प्रकारवृत्ति किमादि शब्दोंसे थाल् प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इदमस्थमुः—प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । **एतदोऽपि**—प्रकार वृत्ति इदम् शब्दसे भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । **किमश्च**—प्रकारवृत्ति किम् शब्दसे भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्दिशीयप्रकरण समाप्त हुआ ।

अतिशायने—अतिशय अर्थमें विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें तमप् प्रत्यय और इष्ठन् प्रत्यय हों । **तिङश्च**—अतिशय अर्थ द्योत्यमें तिङन्तसे तमप् प्रत्यय हो ।

तरप्तमपौ—तरप् और तमप् प्रत्ययकी घसंज्ञा हो । **किमेत्तिङ्**—किम् शब्द और एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्ययसे पर जो घ, तदन्तसे 'आमु'प्रत्यय हो द्रव्यप्रकर्षसे भिन्नमें ।

पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु-उच्चैस्तमस्तरुः। **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७।** द्वयोरेकस्याऽतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः। लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः। पटीयांसः। **प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०।** अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः। **प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३।** इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः। श्रेयान्। **ज्य च ५।३।६१।** प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्यादियष्ठेसोः। ज्येष्ठः।

किन्तमाम्—अयमेषामतिशयेन किमिति विग्रहे किम्शब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति तमपि 'तरप्तमपौ घः' इति तस्य घसंज्ञायां 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इति आमुप्रत्यये भत्वात् 'यस्येति च' इति मकारोत्तराकारस्य लोपे अव्ययसंज्ञायां विभक्तेर्लुकि तत्सिद्धिः।

लघीयान्—अयमनयोरतिशयेन लघुरिति विग्रहे 'द्विवचनविभज्योपपदे' इति ईयसुनि भसंज्ञायां 'टेः' इति घकारोत्तरवर्त्युकारस्य लोपे 'लघीयस्'शब्दात् सौ 'उगिदचाम्' इति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे तत्सिद्धिः।

पटीयान् (ई० ४६)—उदीच्यः प्राच्येभ्यः पटुतरः इति पटीयान्। अत्र पटुशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे' इतीयसुनि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'टेः' इति टिलोपे सौ उगित्वान्नुमि दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे तत्सिद्धिः।

श्रेष्ठः—अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः इति विग्रहे प्रशस्यशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति इष्ठनि प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशे 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावे 'टेः' इति टिलोपाभावे गुणे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

श्रेयान् (ई० २६, ५६)—अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः इति विग्रहे प्रशस्यशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे' इतीयसुनि अनुबन्धलोपे 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशे 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावेन टिलोपाभावे गुणे प्रातिपदिकात् सौ उगित्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सुलोपे तत्सिद्धिः।

ज्येष्ठः (ई० २६)—अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः इति ज्येष्ठः। इष्ठनि कृते 'ज्य च' इति ज्यादेशे प्रकृतिभावाट्टिलोपाऽभावे गुणे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

द्विवचन—द्व्यर्थप्रातिपदिक और विभक्तव्य (जिसका विभाग किया जाय, वह) उपपद रहनेपर दो में से एकका अतिशय द्योत्य हो तो, सुबन्त और तिङन्तसे तरप् प्रत्यय और ईयसुन् प्रत्यय हो। **प्रशस्य**—प्रशस्यको 'श्र' आदेश हो इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे। **प्रकृत्यैकाच्**—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे भसंज्ञक एकाच् प्रकृतिवत् हो। **ज्य च**—प्रशस्यको 'ज्य' आदेश हो, इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे।

ज्यादादीयसः ६।४।१६०। आदेः परस्य । ज्यायान् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** ६ । ४ । १५८ । बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद्बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् । **इष्ठस्य यिट् च** ६।४।१५९। बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्यात् यिडागमश्च । भूयिष्ठः । **विन्मतोर्लुक्** ५ । ३ । ६५ । विनो मतुपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान्-त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** ५ । ३ । ६७ । ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् । **विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु** ५।३।६८। ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद्बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः । ईषदूनः पटु-र्बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् । **प्रागिवात्कः** ५ । ३ । ७० । इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राकाधिकारः । **अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः** ५।३।७१।

ज्यायान् (ई० ४१,४८,५०,५८)—द्वयोर्मध्येऽतिशयेन प्रशस्यः इति विग्रहे प्रशस्यशब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' इतीयसुनि अनुबन्धलोपे 'ज्य च' इति ज्यादेशे 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपाभावे 'ज्यादादीयसः' इत्यनेन 'आदेः परस्ये'ति सहकारात् प्रत्ययस्यादेरीकारस्याऽऽकारादेशे सवर्णदीर्घे 'ज्यायस्'-शब्दात् सौ उगित्वान्नुमि उपधादीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे तत्सिद्धिः ।

भूयिष्ठः (ई० ३७,४५ ५७)—'अतिशयेन बहु' इति विग्रहे 'अतिशायने तमबि-ष्ठनौ' इतीष्ठनि 'इष्ठस्य यिट् च' इति इष्ठनः इकारलोपे यिटि च कृते ढकारस्येत्संज्ञायां

ज्यादा—ज्यशब्दात् परस्य ईयसः 'आत्' आदेशः स्यात् । ईषदसमाप्तौ—ईषद-समाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् सुबन्तात् तिङन्ताच्च एते प्रत्ययाः स्युः ।

अव्ययसर्व—अव्ययानां सर्वनाम्नां तिङन्तानां च टेः प्राक् अकच् स्यात् ।

ज्यादा—'ज्य' से पर ईयस् को आकार आदेश हो । **बहो**—बहुसे पर इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश हो । **इष्ठस्य**--बहुसे पर इष्ठन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश तथा इष्ठन्को 'यिट्' का आगम भी हो । **विन्मतो**--विन् और मतुप् का लोप हो इष्ठन् तथा ईयसुन् प्रत्ययके परे । **ईषदसमाप्तौ**--ईषत् असमाप्ति (थोड़ी-सी कमी) अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे कल्पप् और देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय हों । **विभाषा**--ईषत् असमाप्ति अर्थमें वर्तमान सुबन्तसे बहुच् प्रत्यय विकल्पसे हो और वह प्रकृतिसे पूर्व ही हो । **प्रागिवात्कः**—'इवे प्रतिकृतौ' इस सूत्रसे पूर्व तक 'क' प्रत्ययका अधिकार है । **अव्यय**--अव्यय, सर्वनामा और

काऽपवादः । तिङश्चेत्यनुवर्तते । अज्ञाते ५।३।७३। कस्यायमश्वः-अश्वकः । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वकैः । ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, युष्मकाभिः । युवकयोः । ओकारेत्यादि किम् ? त्वयका । कुत्सिते ५। ३। ७४। कुत्सितोऽश्वः-अश्वकः । किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५। ३। ९२। अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः । वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३। जातिपरिप्रश्ने इति प्रत्याख्यातमाकरे । बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात् । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणमकजर्थम् । यकः । सकः ।

॥ इति प्रागिवीयाः ॥

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६। कन्स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिः-अश्वकः । सर्व-

---

लोपे 'बहोर्लोपो भू च' इति बहोः स्थाने 'भू' इत्यादेशे विभक्तिकार्ये 'भूयिष्ठः' इति ।

('ओकार-सकार-भकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्' अन्येषां तु सर्वनाम्नां सुबन्तस्य टेरेव प्रागकच् ।) इति वार्तिकं युष्मदस्मच्छब्दमात्रविषयम्, भाष्ये तथैवोदाहरणात् । अज्ञाते-अज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । कुत्सिते—कुत्सितो निन्दितः, तस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । किंयत्तदोः—किम् , यत् , तत् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच् प्रत्ययः स्यात् ।

इवे प्रति—इवार्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् स्यात् प्रतिकृतिभूते उपमेये ।

तिङन्तकी 'टि' से पूर्व ही अकच् प्रत्यय हो, प्रागिवीयादि अर्थोंमें । अज्ञाते—अज्ञात अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिङन्तसे क, अकच् आदि प्रत्यय हों स्वार्थमें । कुत्सिते—कुत्सित अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हो । किंयत्तदः—दो में से एकका निर्धारण (निश्चय) करना हो तो-किम् , यत् और तत् शब्दोंसे डतरच् प्रत्यय हो । वा बहूनां-बहुतोंमें एकका निर्धारण करना हो तो-किम् , यत् और तत् शब्दोंसे डतमच् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्रागिवीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

इवे प्रति—इवार्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें कन् प्रत्यय हो-जो उपमेय रहे, वह यदि प्रतिकृति (मूर्ति, तस्वीर आदि) रहे । **सर्वप्राति**-प्रातिपदिक मात्रसे स्वार्थमें

प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् । अश्वकः । **तत्प्रकृतवचने मयट् ५ । ४ । २१।** प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये–प्रकृतम्–अन्नम्–अन्नमयम् । अपूप-मयम् । द्वितीये तु–अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व । **प्रज्ञादिभ्यश्च ५ । ४ । ३८ ।** अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः । **बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । ४२ ।** बहूनि ददाति बहुशः । अल्पशः । ***आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ।** आदौ–आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण स्वरतः । वर्णतः । **कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ५ । ४ । ५० ।** ***अभूततद्भाव इति वक्तव्यम् ।** विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे । **अस्य च्वौ ७। ४। ३२।** अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ । वेर्लोपे च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् । अकृष्णः कृष्णः संपद्यते तं करोति कृष्णीकरोति । ब्रह्मीभवति । गङ्गीस्यात् । ***अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ।** दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः । **विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५। ४। ५२।** च्विवि-

---

अपूपमयं पर्व (ई० २६)—पर्वणि प्रचुरा अपूपाः कार्याः इत्याद्यच्यमानाऽपूपाधिकरणं पर्वेत्यर्थः । अत्र अधिकरणेऽर्थे 'तत्प्रकृतिवचने मयट्' इति मयटि विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । भावे तु 'प्रचुरोऽपूपः' अपूपमयम् इति विग्रहो बोध्यः ।

(मृदा विनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः) तत्प्रकृत—**प्राचुर्यविशेषणकं यद्वस्तु यस्मिन्नुच्यते तदधिकरणे भावे च वाच्ये तादृशवस्तुवृत्तेः शब्दात् मयट् स्यादिति फलितार्थः।** बह्वल्पार्थात्—**बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दात् स्वार्थे शस्प्रत्ययो वा स्यात्।** अभूततद्भावे—**येन रूपेण प्रागभूतं यद् वस्तु तस्य तद्रूपप्राप्तौ इत्यर्थः ।**

कन् प्रत्यय हो । **तत्प्रकृत**–'प्राचुर्येण प्रस्तुत' अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे 'मयट्' प्रत्यय हो । **प्रज्ञादिभ्यः**–प्रज्ञादिसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय हो । **बह्वल्पा**–बह्वर्थक और अल्पार्थक जो कारकाभिधायक शब्द, उससे शस् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

आद्यादिभ्यः—आद्यादिसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पसे । **कृभ्वस्ति**–विकाररूपको प्राप्त करनेवाली प्रकृतिके अर्थमें वर्तमान विकारवाचक शब्दसे स्वार्थमें 'च्वि' प्रत्यय हो, कृ, भू और अस् धातुके योगमें, विकल्पसे । **अभूत्**–अभूततद्भाव अर्थमें (अतद्रूपके तद्रूप होनेपर) ही च्वि प्रत्यय हो–ऐसा कहना चाहिये । **अस्य च्वौ**–अवर्णको ईत्व हो, च्वि प्रत्ययके परे । **अव्ययस्य**–च्वि प्रत्ययके परे अव्ययको ईत्व नहीं हो । **विभाषा**—साकल्य

षये सातिर्वा स्यात्साकल्ये । सात्पदाद्योः ८ । ३ । १११ । सस्य षत्वं न स्यात् । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः संपद्यते-अग्निसाद्भवति । दधि सिञ्चति । च्वौ च ७ । ४ । २६ । च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नीभवति । **अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५।४।५७** द्व्यजेव अवरं = न्यूनं, न तु ततो न्यूनम् । अनेकाजिति यावत् । तादृशमर्धं यस्य तस्माड्डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे । ❀डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम् । इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् । **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** । डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयोः पकारः । पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति । द्व्यजवरार्धात्किम् ? श्रत्करोति । अवरेति किम् ? खरटखरटाकरोति । अनतौ किम् ? पटिति करोति । ॥ इति स्वार्थिकाः ॥ * इति तद्धिताः *

बहुशः (ई० ४)—बहूनि (बहुभ्यो वा) ददातीति विग्रहे बहुशब्दात् 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' इति स्वार्थे शसि प्रत्यये 'बहुशस्' इति, तस्मात् सौ अव्ययत्वात् सुब्लुकि सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'बहुशः' इति ।

पटपटा करोति—(ई० २६, २८)—'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इति वार्तिकेन डाचः प्रागेव 'पटत्'शब्दस्य द्वित्वे 'पटत् पटत्' इति दशायाम् 'अव्यक्तानुकरणाद्—' इति डाचि अनुबन्धलोपे 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति परस्य 'पटत्'-शब्दस्याम्रेडितसंज्ञायां 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन भत्वाट्टिलोपे पररूपे अव्ययत्वात् सुब्लुकि उक्तं रूपं सिद्धम् ।

इति 'इन्दुमती'टीकायां तद्धितप्रकरणं समाप्तम् ।

अर्थ गम्यमान हो तो—च्विके विषयमें साति प्रत्यय विकल्पसे हो । **सात्प**—पदके आदि सकारको तथा साति प्रत्ययके सकारको षत्व नहीं हो । **च्वौ च**—च्वि प्रत्ययके परे पूर्वको दीर्घ हो । **अव्यक्तानु**—अव्यक्त (ध्वनि) का अनुकरण अनेकाच्से डाच् प्रत्यय हो, कृ-भू-अस् धातुके योगमें । **डाचि**—डाच् प्रत्ययकी विवक्षामें ही (डाच्से पूर्व) द्वित्व हो, तत्पश्चात् डाच् प्रत्यय हो । **नित्यमा**—डाच्परक आम्रेडितके परे पूर्व और पर वर्णस्थानमें नित्य ही पररूप हो—ऐसा कहना चाहिये ।

इस प्रकार 'इन्दुमती'टीकामें तद्धितप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

स्त्रियाम् ४ । १ । ३ । अधिकारोऽयं समर्थानामिति यावत् । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप्स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । मेधा । गङ्गा । सर्वा-इत्यादि । उगितश्च ४। १। ६। उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । भवन्ती । पचन्ती । टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४। १। १५ । अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप्स्यात् । कुरुचरी । नदट्-नदी । देवट्-देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । प्रास्थिकी । लावणिकी । इत्वरी । नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् । स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तिकी । याष्टिकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी । यञश्च ४।१।१६।

भवन्ती—भूधातोर्लटः शतरि शपि ऊकारस्य गुणेऽवादेशे 'भवत्'शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीपि 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि विभक्तिकार्ये 'भवन्ती' इति । (अनुबन्धलोपस्तु यथास्थले सर्वत्र कर्तव्यः) ।

देवी (ई० ४४)—'टिड्ढाणञ्' इति सूत्रे टित्वन्तु प्रातिपदिकस्य क्वचित् प्रत्ययकृतं, क्वचित् प्रकृतिकृतं भवति । तत्राद्यस्योदाहरणं 'कुरुचरीति'—कुरुषु चरतीत्यधिकरणे उपपदे 'चरेष्टः' इति कर्तरि टप्रत्यये उपपदसमासे सुन्लुकि 'कुरुचर' इति, तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां टित्वात् ङीपि भत्वाद् 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये 'कुरुचरी'ति । द्वितीयस्योदाहरणं 'नदट् नदी, देवट् देवी, इति । पचादिषु नदट्-देवट् इत्यनयोः टितः पाठात् स्वत एव टित्वमिति ताभ्यां ङीपि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'नदी' 'देवी' इत्युभयं सिद्धं भवति । तृतीयोदाहरणन्तु घेटष्टित्वात् 'स्तनन्धयी' इति कृदन्ते मृग्यम् ।

स्त्रियाम्—'समर्थानां प्रथमाद्वा' इस सूत्र पर्यन्त 'स्त्रियाम्' इस सूत्र का अधिकार है ।

अजाद्यतः—अजादि और अकारान्त वाच्य स्त्रीत्व द्योत्य होनेपर टाप्प्रत्यय हो ।

उगितश्च—उगिदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो स्त्रीलिंगमें ।

टिड्ढाणञ्—अनुपसर्जन जो टित् (ढ-अण्-अञ्-आदि) तदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो, स्त्रीत्वद्योत्य रहने पर । **नञ्स्नञ्**—अनुपसर्जन जो नञादि, तदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो, स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर । **यञश्च**—यञन्त प्रातिपदिकसे

यञन्तात् स्त्रियां ङीप्स्यात् । अकारलोपे कृते । हलस्तद्धितस्य ६ । ४ । १५० । हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईति परे । गार्गी । प्राचां ष्फ तद्धितः ४ । १ । १७। यञन्तात् ष्फो वा स्यात्स च तद्धितः । षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीष्स्यात् । गार्ग्यायणी । नर्तकी । गौरी । अनडुही । अनड्वाही । आकृतिगणोऽयम् । वयसि प्रथमे ४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । कुमारी । द्विगोः ४। १। २१। अदन्ताद्द्विगोर्ङीप्स्यात् । त्रिलोकी । अजादित्वात्त्रिफला । त्र्यनीका सेना । वर्णादनुदात्तात्तोपधा-

गार्गी (ई० २६,५८) गर्गस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहे 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति गर्गशब्दात् यञि आदिवृद्धौ भत्वादलोपे 'गार्ग्य' इति । तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'यञश्च' इति ङीपि भत्वादलोपे 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपे विभक्त्यादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

गार्ग्यायणी—यञन्तात् गार्ग्यशब्दात् 'प्राचां ष्फ तद्धितः' इति ष्फप्रत्यये 'आयनेयी'ति फस्यायनादेशे भत्वादलोपे णत्वे 'गार्ग्यायण' इति । तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्त्यादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

वयसि प्रथमे—प्राणिनां कालकृताऽवस्थाविशेषो वयः । तच्च त्रिविधमित्येके- 'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने । पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥' इति दर्शनात् । अत्र प्राञ्चः-'कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधिः । कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम् ॥' इति । अपरे तु-'आद्ये वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति ॥' इति दर्शनाद् वयांसि चत्वारीत्याहुः ।

कुमारी (ई० २९,३०,४१,४७,४९)—बाल्यवाचकात् कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वयसि प्रथमे' इति ङीपि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यलोपे प्रातिपदिकत्वात् सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे तत्सिद्धिः ।

त्रिलोकी—त्रयाणां लोकानां समाहारः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे

ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें । हलस्त-हल्से पर उपधाभूत तद्धित संबन्धी यकारका लोप हो, ईकारके परे । प्राचां ष्फ—यञन्त प्रातिपदिकसे 'ष्फ' प्रत्यय हो, स्त्रीत्व द्योत्यमें विकल्पसे, और वह 'ष्फ' तद्धित संज्ञक हो । षिद्गौरा—षिदन्त और गौरादि गणपठित प्रातिपदिकसे ङीष् हो, स्त्रीत्व द्योत्यमें । वयसि—प्रथम वयोवाची अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें । द्विगोः-अदन्त द्विगुसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें । वर्णादनु-वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तोपध, तदन्त जो अनुपसर्जन प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो और त को न आदेश भी हो, विकल्पसे ।

त्तो नः ४।१।३९। वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात्प्रातिपदिकाद्वा ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च । एनी । एता । रोहिणी । रोहिता । वोतो गुणवचनात् ४।१।४४। उदन्ताद्‌गुणवाचिनो वा ङीष्स्यात् । मृद्वी । मृदुः । बह्वादिभ्यश्च ४। १। ४५। एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वी । बहुः । कृदिकारादक्तिनः । रात्रिः । रात्री । सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके । शकटी । शकटिः । पुंयोगादाख्यायाम् ४ । १ । ४८ । या पुमाख्या पुंयोगात्स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् । गोपस्य स्त्री गोपी । *पालकान्तान्न । प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७। ३। ४४।

'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम् 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वात् 'द्विगोः' इति ङीपि भत्वादलोपे विभक्त्यादिकार्ये तत्सिद्धिः ।

एनी (ई० ३२,५०,५६)-एतशब्दः श्वेतपर्यायः तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः', इति ङीपि तकारस्य नकारे च कृते भत्वाद् 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये 'एनी' इति । पक्षे अदन्तत्वाट्टापि 'एता' इत्येव ।

मृद्वी (ई० ४८)—मृदुशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीपि यणि विभक्तिकार्ये 'मृद्वी' इति । पक्षे 'मृदुः' इति । अत्र सूत्रे गुणशब्देन 'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते । आधेयश्चाऽक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः ॥' इति गृह्यते । सत्त्वं द्रव्यं समवायिकारणम्, तत्रैव निविशते समवैति यः स गुण इत्यस्य भाष्याशयः । द्रव्यमात्रसमवेत इति यावत् ।

रात्री—राधातोः 'राशादिभ्यां त्रिप्' इत्युणादिसूत्रेण त्रिपि, 'कृतो य इकारस्तदन्तात् प्रातिपदिकात् ङीष् वा स्यात्' इत्यर्थक 'कृदिकारादक्तिनः' इति बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रेण ङीषि सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'रात्री' इति । पक्षे 'रात्रिः' इत्यपि भवति ।

गोपी (ई० ३६,४२)—'गोपस्य स्त्री' इति विग्रहे 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यकारलोपे प्रातिपदिकात् सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'गोपी' इति जातम् ।

वोतो—उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो, विकल्पसे । **बह्वादि**—बह्वादिसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो, विकल्पसे । **कृदिकारा**—क्तिन्न-भिन्न कृत्संज्ञक इकारान्त प्रातिपदिकसे ङीष् हो विकल्पसे । **सर्वतो**—एकके (किन्हीं आचार्यों) के मतसे क्तिन्नर्थ-भिन्न कृत-अकृत सभी इकारान्त प्रातिपदिकोंसे ङीष् हो ऐसा समझना चाहिये ।

पुंयोगा—जो पुंवाचक शब्द, पुंयोगसे स्त्रीलिङ्गमें प्रवृत्त हो, उससे ङीष् हो ।

पालका—पालकान्तसे ङीष् नहीं हो। **प्रत्ययस्थात्**—प्रत्ययस्थ ककारसे पूर्व अकारको

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याऽकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत्। गोपालिका। अश्वपालिका। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात्किम्? शक्नोतीति शका। असुपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। ❀सूर्याऽदेवतायां चाब्वाच्यः। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायां किम्? ❀सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्यां च। यलोपः। सूरी, कुन्ती, मानुषीयम्। इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४९। एषामानुगागमः स्यात् ङीष् च। इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी। ❀हिमारण्ययोर्महत्त्वे। महद्धिमं हिमानी। महदरण्यम्-अरण्यानी। ❀यवाद्दोषे। दुष्टो यवो यवानी। ❀यवनाल्लिप्याम्। यवनानां

सर्विका—('ङ्यन्तादाबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्याद् ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूत्' इति नियमस्य जागरूकत्वात्) सर्वशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां टापि सवर्णदीर्घे 'सर्वा' इति, ततः एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् 'अव्ययसर्वनाम्नाम्-' इति टेः प्रागकचि ककारादकारस्योच्चारणार्थत्वेन दर्शनाऽभावे चकारस्य इत्संज्ञालोपयोः 'सर्वका' इति जाते 'प्रत्ययस्थात्-' इति ककारात् पूर्वस्य अत इत्वे विभक्तिकार्ये 'सर्विका' इति।

सूर्यशब्दस्य स्त्रियां (ई० २६, ४५)—सूर्यस्य स्त्री देवता इति विग्रहे सूर्यशब्दात् 'सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः' इति चापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'सूर्या' इति। सूर्यस्य स्त्री मानुषीति विग्रहे तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषि भत्वादलोपे 'सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च' इति यलोपे विभक्तिकार्ये 'सूरी' इति।

इन्द्राणी (ई० ३७, ४९, ५२)—इन्द्रस्य स्त्रीति विग्रहे पुंयोगलक्षणे ङीषि सिद्धेऽपि 'इन्द्रवरुण-' इत्यादिसूत्रेण ङीष्सन्नियोगेन आनुगागमे च जाते उकारस्योच्चारणार्थत्वेन दर्शनाऽभावे ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते सवर्णदीर्घे णत्वे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

इत्व हो, आप्के परे—यदि वह 'आप्' सुप्से पर न हो। **सूर्या**—देवता अर्थमें सूर्य शब्दसे पुंयोगमें चाप् प्रत्यय हो। **सूर्याऽग**—सूर्य और अगस्त्य शब्दके यकारका लोप हो, छ या ङी प्रत्ययके परे। **इन्द्रवरुण**—इन्द्र आदि शब्दोंको आनुक्का आगम हो और साथ ही ङीष् भी हो। **हिमारण्यो**—हिम और अरण्य शब्दोंसे महत्त्व अर्थमें ही आनुक् और ङीष् हो। **यवाद्दोषे**—यव शब्दसे दोष अर्थमें ही आनुक् हो।

यवना—यवन शब्दसे लिपि अर्थमें ही आनुक् और ङीष् हो।

लिपिर्यवनानी। ॐमातुलोपाध्याययोरानुग्वा॥ मातुलानी। मातुली। उपाध्यायानी। उपाध्यायी। ॐआचार्यादणत्वं च। आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। ॐअर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी। अर्या। क्षत्रियाणी। क्षत्रिया। क्रीतात्करणपूर्वात् ४।१।५०। क्रीतान्तादकारान्तात्करणादेः स्त्रियां ङीप् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न। धनक्रीता। स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४। असंयोगो-

---

मातुलानी (ई० २१)—मातुलस्य स्त्रीति विग्रहे मातुलशब्दात् 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषि 'मातुलोपाध्याययोरानुग्वा' इत्यानुकि अनुबन्धलोपे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्। पक्षे 'मातुली' इति।

अर्याणी (ई० ४५)-अर्यशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे' इति ङीषि आनुकि च कृते भत्वादलोपे णत्वे विभक्तिकार्ये 'अर्याणी' इति। पक्षे टापि 'अर्या' इति। स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः। पुंयोगे अर्यस्य स्त्री 'अर्यी' इति।

क्षत्रियाणी (ई० २१,२४,४५)—क्षत्रियात् क्षत्रियायां (स्वभार्यायाम्) उत्पन्ना स्त्रीति विग्रहे क्षत्रियशब्दात् 'अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे' इति ङीषि तत्सन्नियोगेन आनुकि भत्वादलोपे णत्वे विभक्तिकार्ये 'क्षत्रियाणी' इति। पक्षे अदन्तत्वाट्टापि 'क्षत्रिया' इति। पुंयोगे तु क्षत्रियस्य स्त्री 'क्षत्रियी' इति भवति।

वस्त्रक्रीती (ई०५१,५२)-वस्त्रेण क्रीता या इति विग्रहे 'वस्त्र भिस् क्रीत' इति स्थिते 'गतिकारके'ति सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासे सुब्लुकि 'वस्त्रक्रीत' इत्यदन्तप्रातिपदिकात् 'क्रीतात्करणपूर्वात् इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्

क्वचिन्न, 'धनक्रीता' (ई०२१)—(धनेन क्रीता या सेति विग्रहः) 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति बहुलग्रहणेन 'गतिकारके'ति परिभाषायाः क्वचिदप्रवृत्त्यवगमादिह सुबन्तेन समासः। तत्र च सुपः प्रागेवान्तरङ्गत्वाट्टापि ततः सुपि टाबन्तप्रकृतिकसुबन्तेन (कृता सु इत्यनेन) समासे सुब्लुकि धनक्रीताशब्दस्य अदन्तत्वाऽभावान्न ङीषित्यर्थः।

मातुलो—मातुल और उपाध्याय शब्दसे आनुक् हो, विकल्पसे।

आचार्या—आचार्य शब्दसे पर आनुक्के नकारको णत्व न हो।

अर्यक्षत्रि—अर्य और क्षत्रिय शब्दसे स्वार्थमें विकल्पसे आनुक् और ङीष् हो।

क्रीतात्—करणपूर्वक अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो। स्वाङ्गाच्चोप—असंयोगोपध, उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची, तदन्त अदन्त प्रातिपदिकसे ङीष् हो, विकल्पसे।

नोट:—'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्०' इस सूत्रमें स्वस्य = अवयवीभूतस्य, अङ्गं स्वाङ्गम्, ऐसा

पधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्तादन्तान्ङीष्वा स्यात् । केशानतिक्रान्ता अतिकेशी । अतिकेशा । चन्द्रमुखी । चन्द्रमुखा । असंयोगोपधात्किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात्किम् ? सुशिखा । न क्रोडादिबह्वचः ४ । १ । ५६ । क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गाच्च ङीष् । कल्याणक्रोडा । आकृतिगणोऽयम् । सुजघना । नखमुखात्संज्ञायाम्

अतिकेशी (ई० २२, ३८)—केशानतिक्रान्तेति विग्रहे समासनिष्पन्नादतिकेशशब्दात् 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः । अत्रोपसर्जनन्तु 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्यनेन बोध्यम् ।

चन्द्रमुखी (ई० २२, २६, ४८, ५०)—चन्द्र इव मुखं यस्याः इति विग्रहे समासनिष्पन्नात् 'चन्द्रमुख'शब्दात् 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम् । पक्षे 'चन्द्रमुखा' इति ।

कल्याणक्रोडा (ई० २२) कल्याणी क्रोडा यस्या इति विग्रहे समासे 'स्त्रियाः

स्वाङ्गका ग्रहण होगा तो 'सुमुखा शाला' यहाँ भी ङीष् हो जायगा—मुखस्य शालाङ्गत्वात् । किंच 'सुकेशी रथ्या' में ङीष् नहीं होगा—केशाङ्गानां रथ्याङ्गत्वाभावात् । तस्मात् अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-वारणके लिये उक्त सूत्रमें त्रिविध स्वाङ्गों का ग्रहण किया गया है । वह निम्न है—

(१) अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्—(न विद्यते द्रवो यस्य तद् 'अद्रवम्') जो द्रववाचक नहीं हो । अतः सु = शोभनः, स्वेदः=घर्मजः—उदकप्रस्रवो यस्याः सा 'सुस्वेदा' यहाँ ङीष् नहीं हुआ । मूर्तिमत्—(स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्वत्) जो मूर्तिमान् हो । अतएव 'सुज्ञाना' में ङीष् नहीं हुआ । प्राणिस्थम्—(प्राणिनि = प्राणवति जन्तौ, विद्यमानम्) जो प्राणीमें स्थित हो । अतः 'सुमुखा शाला' में ङीष् नहीं हुआ ।

अविकारजम्—(रोगादिविकाराऽजन्यम्) जो विकारसे उत्पन्न नहीं हुआ हो । इसलिये सु = अधिकः, शोफः = श्वयथुः यस्याः सा 'सुशोफा' में ङीष् नहीं हुआ ।

(२) अतस्थं तत्र दृष्टं च—(अतस्थं=सम्प्रति अप्राणिस्थम् अपि च = किन्तु, तत्र = प्राणिनि, दृष्टं= दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः) जो सम्प्रति प्राणीमें स्थित न भी हो किन्तु कभी भी प्राणीमें देखा गया हो । अतः 'सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (गली)' यहाँ ङीष् सिद्ध हुआ । क्योंकि गलीमें बिखरा हुआ केश सम्प्रति प्राणिस्थ नहीं भी है किन्तु कभी तो वह केश प्राणिस्थ (प्राणीके मस्तकादिपर) देखा गया था ।

(३) तेन चेत्तत्तथायुतम्—(येनाऽङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथायुतं, तेन तत्सदृशेन अङ्गेन, तद्=अप्राणिरूपं वस्तु, तथा प्राणिवत् , युतं = युक्तं, चेत् = स्यात् , तदपि (प्राणिनि दृष्टं स्वाङ्गमित्यर्थः) प्राणीकी तरह ही अप्राणीमें स्थित हो । अत एव 'सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा' (सुन्दर स्तनों वाली मूर्ति) यहाँ ङीष् सिद्ध हुआ । न क्रोडादि—स्वांगवाचक जो क्रोडादि और बह्वच् , तदन्त प्रातिपदिकसे ङीष् नहीं हो । नखमुखात्—नख-मुखान्त

४।१।५८। न ङीप्। पूर्वपदात्संज्ञायामगः ८।४।३। पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां, न तु गकारव्यवधाने। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्? ताम्रमुखी कन्या। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३। जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात्किम्? बलाका। अयोपधात्किम्? क्षत्रिया। *योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः। हयी। गवयी।

पुंवत्–' इति पुंवत्वे निष्पन्नात् कल्याणक्रोडशब्दात् 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्–' इति ङीषि प्राप्ते, 'नक्रोडादिबह्वचः' इति निषेधे अदन्तत्वाट्टापि सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः।

तटी (ई० ५२)—'तटं त्रिषु' इत्यमरः। जलसमीपप्रदेशः आकृतिविशेष-विशिष्टस्तटः। तस्माज्जातिवाचित्वादनियतस्त्रीलिङ्गत्वादयोपधात्तटशब्दात् 'जाते-रस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीषि भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धम्।

प्रातिपदिकसे संज्ञामें ङीप् नहीं हो। पूर्वपदात्—पूर्वपदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर नकारको णकार हो, संज्ञामें, पर गकारके व्यवधानमें नहीं हो। जातेरस्त्री—नित्य स्त्रीलिंगसे भिन्न अयोपध जातिवाचीसे ङीष् हो, स्त्रीलिंगमें।

नोट—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस सूत्रमें निम्न त्रिविध जातिका ग्रहण होता है—

(१) **'आकृतिग्रहणा जातिः'**—आकृति (स्वरूप) देखनेसे ही जो जानी जा सके अर्थात् अनुगतसंस्थान (अवयवसन्निवेशविशेष) से ही जो अभिव्यंग्य हो सके, वह जाति कहलाती है। यथा–'तटी' 'घटी' आदि।

(२) **'लिङ्गानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या'** (असर्वलिंगत्वे सति एकस्यां व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा–जातिरिति) जिससे सब लिंग नहीं होते हों और एक व्यक्तिमें कहनेपर अन्य व्यक्तियोंमें बिना कहे ही जातिका ज्ञान हो सके—वह भी जाति कहलाती है। 'वृषलत्व' जातिके सिद्ध करनेमें प्रथम लक्षण साधक नहीं हो सका क्योंकि हस्तावयवसन्निवेश जैसा वृषल (शूद्र) में है, वैसा ही ब्राह्मणादियोंमें भी देखा जाता है। अतः 'लिङ्गानां च' इस द्वितीय लक्षण की आवश्यकता हुई। उदाहरण देखें 'वृषली'। यहाँ एक ही व्यक्तिमें 'वृषलत्व' का ज्ञान कराने पर उसके पुत्र, भाई आदिमें ज्ञान कराये बिना ही वृषलत्व जाति सुग्रह हो जाती है।

(३) **'गोत्रञ्च चरणैः सह'** (अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः) अपत्य प्रत्ययान्त शब्द, और शाखाध्येतृवाची जो शब्द, वह भी जातिकार्यको प्राप्त हो। उदाहरण है 'औपगवी' और 'कठी'। यहाँ अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्य-त्वका अभाव है और उभयत्र सर्वलिङ्गता भी है। अतः 'गोत्रं च' इस तृतीय लक्षणकी भी आवश्यकता हुई।

योपध—योपध (जातिलक्षण ङीष्) के प्रतिषेधमें हयादिका प्रतिषेध नहीं हो।

मुक्यी । हलस्तद्धितस्येति यलोपः । मनुषी । ॐमत्स्यस्य ङ्याम् । यलोपः । मत्सी । इतो मनुष्यजातेः ४। १। ६५। ङीष् । दाक्षी । ऊङुतः ४। १। ६६। उदन्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्याद् । कुरूः । अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी । पङ्गोश्च ४। १। ६८। पङ्गूः । ॐश्वशुरस्योकाराकारलोपश्च । श्वश्रूः । ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४। १। ६९। उपमानवाचि पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् । करभोरूः । संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०। अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । शफोरूः । लक्षणोरूः । वामोरूः । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३। शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात् । शार्ङ्गरवी । बैदी । ब्राह्मणी । ॐनृनरयोर्वृद्धिश्च । नारी । यूनस्तिः ४।१।७७।

मनुषी (ई०२२,२९)—मनुष्यशब्दस्य योपधत्वेऽपि 'योपधप्रतिषेधे हयगवयमनुष्य–'इति वार्तिकबलात् 'जातेरस्त्री'ति ङीषि भत्वादलोपे 'हलस्तद्धितस्ये'ति यलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

मत्सी (ई०२४, ३३, ४६)—मत्स्यशब्दस्य योपधत्वेऽपि 'योपधप्रतिषेधे हयगवयमनुष्यमत्स्य' इति वार्तिकबलात् 'जातेरस्त्री'ति ङीषि भत्वात् 'यस्येति च' इत्यलोपे 'मत्स्यस्य ङ्याम्' इति यलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

श्वश्रूः (ई० ४५, ४६, ४९)—श्वशुरस्य स्त्रीति विग्रहे पुंयोगलक्षणे ङीषि प्राप्ते तदपवाद 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इति वार्तिकेन ऊङि तत्सन्नियोगेन रेफादकारस्य शकारादुकारस्य च लोपे विभक्तिकार्ये 'श्वश्रूः' इति ।

शार्ङ्गरवी (ई० ५२) शृङ्गरुशब्दादपत्येऽणि आदिवृद्धौ 'ओर्गुणः' इति गुणेऽ-

---

मत्स्यस्य—मत्स्य शब्दावयव यकारका लोप हो, ङीके परे ।

इतो मनुष्यजातेः—इकारान्त मनुष्यजातिवाचीसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो ।

ऊङुतः—उकारान्त अयोपध मनुष्यजातिवाचीसे स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो । **पङ्गोश्च**—पङ्गु शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो । **श्वशुरस्य**—श्वशुर शब्दके उकार और अकारका लोप तथा चकारात् ऊङ् प्रत्यय भी हो, स्त्रीलिङ्गमें । ('पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्रसे प्राप्त ङीषका अपवादक यह वार्तिक है) **ऊरूत्तर**–उपमानवाची पूर्वपदक जो ऊरूत्तरपदक प्रातिपदिक, उससे ऊङ् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । **संहितशफ**—संहित, शफ, लक्षण और वाम आदिमें हैं जिसके, ऐसा जो ऊरूत्तर पदपरक प्रातिपदिक उससे ऊङ् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

शार्ङ्गरवा—शार्ङ्गरवादिसे और 'अञ्' का जो अकार, तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिकसे ङीन् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । **नृनरयोः**—नृ और नर शब्दसे ङीन् प्रत्यय तथा नृ और

युवन्शब्दात्स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात् । युवतिः । ॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

शाखान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका ।
कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी ॥

॥ इति श्रीवरदराजाचार्यकृता लघुसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता ॥

आदेशे 'शार्ङ्गरव' इति तस्मात् जातित्वान्ङीषि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीनि भत्वादल्लोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

युवतिः (ई० २५, २९, ३०, ३२, ४७, ४८, ५०)—युवन्शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्यये 'स्वादिष्वि'ति पदत्वान्नलोपे विभक्तिकार्ये 'युवतिः' इति । 'युवती' इति दीर्घेकारान्तोऽपि स्त्रियां वर्तते । तत्तु युधातोर्लटः शतरि शपो लुकि उवङि उगित्वात् ङीपि 'युवती' इति । (यौति=पत्या सह आत्मानं मिश्रीकरोतीत्यर्थः ।)

इति 'इन्दुमती'टीकायां स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

नरको वृद्धि भी हो, क्लीब ओत्यमें । यूनस्तिः—अनुपसर्जन युवन् शब्दसे स्त्रीलिंगमें 'ति' प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो ।

शाखान्तरे—शाखान्तरमें प्रविष्ट होनेवाले बालकोंका उपकार करनेवाली (पा०व्याकरणका सरलतासे ज्ञान करानेवाली) वरदराजाचार्य विरचित यह लघुसिद्धान्तकौमुदी समाप्त हुई ।

चञ्चच्चन्द्रमरीचिचारुवदनी बिम्बोष्ठकान्तामणि-
भक्तिज्ञानप्रसादिताऽऽशुगिरिजा संराजमानाऽवनीम् ।
तुच्छां स्वच्छमना निधाय हृदये पत्युः समक्षं मुदा
तीर्थद्वारप्रयागदेवसरितस्तीरे वपुर्या जहौ ।
सेयं स्वर्गसुधागलन्मधुरतां मन्दं पिबन्तीत्यहो !
स्वीयोत्पत्तिसुकीर्तिपूतमिथिला सीतासमा धीमती ।
नाम्ना 'चेन्दुमती' प्रसन्नवदना दिव्यप्रभावा चिरं
लोकानामनुरञ्जिनी विलसतु स्वर्गे सुधावर्षिणी ॥

इति 'दरभंगा'मण्डलान्तर्गत 'तरौनी'ग्रामवासि शास्त्रार्थदिवाकरपण्डितराजश्रीजयदत्तझाशर्मात्मजपण्डितश्रीमदनन्तलालझाशर्मसूनुना पण्डितश्रीरामचन्द्रझाव्याकरणाचार्येण कृता 'इन्दुमती' नामक संस्कृत-हिन्दी टीका समाप्ता ।

परिशिष्टम् (१)

अथ संक्षिप्तलिङ्गानुशासनम्

१. लिङ्गम् । **२. स्त्री ।** अधिकारसूत्रे एते । **३. ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृयातृननान्दरः ।** ऋकारान्ता एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः, स्वस्रादिपञ्चकस्यैव ङीब्निषेधेन 'कर्त्री, इत्यादेर्ङीपेकारान्तत्वात् । तिसृचतस्रोस्तु स्त्रियामादेशतया विधानेऽपि प्रकृत्योस्त्रिचतुरोर्ऋदन्तत्वाभावात् । **४. अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः ।** अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । अवनिः । चमूः । **५. मिन्यन्तः ।** मिप्रत्ययान्तो निप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । भूमिः ग्लानिः । **६. क्तिन्नन्तः ।** स्पष्टम् । कृतिः । इत्यादि । **७. ईकारान्तश्च ।** ईप्रत्ययान्तः स्त्री स्यात् । लक्ष्मीः । **८. ऊङाबन्तश्च ।** कुरूः । विद्या । **९. यन्तमेकाक्षरम् ।** श्रीः । भूः । **१०. विंशत्यादिरानवतेः ।** इयं विंशतिः । त्रिंशत् । चत्वारिंशत् । पञ्चाशत् । षष्टिः । सप्ततिः । अशीतिः । नवतिः । **११. तलन्तः ।** अयं स्त्रियां स्यात् । शुक्लस्य भावः शुक्लता । ब्राह्मणस्य कर्म ब्राह्मणता । ग्रामस्य समूहो ग्रामता । देव एव देवता । **१२. भाःस्रुक्स्रग्दिगुष्णिगुपानहः ।** एते स्त्रियां स्युः । इयं भाः इत्यादि । **१३. शुष्कुलि-राजि-कुट्यशनि-वर्ति-भ्रुकुटि-त्रुटि-वलि-पङ्क्तयः ।** एतेऽपि स्त्रियां स्युः । इयं शुष्कुलिः । **१४. अप् सुमनस्समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च ।** अबादीनां पञ्चानां स्त्रीत्वं स्याद् बहुत्वं च । आप इमाः । 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' । 'सुमना मालती जातिः' । देववाची तु पुंस्येव ।

इति स्त्र्यधिकारः ।

१५ पुमान् । अधिकारोऽयम् । **१६ घञबन्तः ।** घञ्–पाकः । त्यागः । अप्–करः । गरः । **१७ घाजन्तश्च ।** घ–विस्तरः । गोचरः । चयः । जयः । **१८. नङन्तः ।** नङ्प्रत्ययान्तः पुंसि स्यात् । यज्ञः । यत्नः । **१९. क्यन्तो घुः ।** किप्रत्ययान्तो घुः पुंसि स्यात् । आधिः । निधिः । उदधिः । **२०. देवासुरात्मस्वर्गगिरिसमुद्रनखकेशदन्तस्तनभुजकण्ठखड्गशरपङ्काभिधानानि ।** एतानि पुंसि स्युः । देवाः सुराः । असुरा दैत्याः । आत्मा क्षेत्रज्ञः स्वर्गो नाकः । गिरिः पर्वतः । समुद्रोऽब्धिः । नखः कररुहः । केशः कचः । दन्तो दशनः । स्तनः कुचः । भुजो दोः । कण्ठो गलः । खड्गः करवालः । शरो मार्गणः । पङ्कः कर्दमः । इत्यादि । **२१. क्रतुपुरुषकपोलगुल्फमेघाभिधानानि ।** क्रतुरध्वरः । पुरुषो नरः । कपोलो गण्डः । गुल्फः प्रपदः । मेघो नीरदः । **२२. उकारान्तः ।** अयं पुंसि स्यात् । प्रभुः । इक्षुः । **२३. रुत्वन्तः ।** मेरुः । सेतुः । **२४. कोपधः ।** कोपधोऽकारान्तः पुंसि स्यात् । स्तबकः । कल्कः **२५. टोपधः ।** टोपधोऽकारान्तः पुंसि स्यात् । घटः । पटः । **२६. णोपधः ।** णोपधोऽ-

कारान्तः पुंसि स्यात् । गुणः । गणः । पाषाणः । २७. थोपधः । रथः । २८. नोपधः । नोपधः । अदन्तः पुंसि । इनः । फेनः । २९. पपोधः । पकारोपधः अदन्तः पुंसि । यूपः । दीपः । सर्पः । ३०. भोपधः । स्तम्भः । कुम्भः । ३१. मोपधः । सोमः । भीमः । ३२. योपधः । समयः । हयः । ३३. रोपधः । क्षुरः । अङ्कुरः । ३४. षोपधः । वृषः । वृक्षः । ३५. सोपधः । वत्सः । वायसः । महानसः । ३६. रश्मिदिवसाभिधानानि । एतानि पुंसि स्युः । रश्मिर्मयूखः । दिवसो घस्रः ।

इति पुंलिङ्गाधिकारः ।

३७. नपुंसकम् । अधिकारोऽयम् । ३८. भावे ल्युडन्तः । हसनम् । ३९. निष्ठा च । भावे या निष्ठा तदन्तं क्लीबं स्यात् । हसितम् । गीतम् । ४०. त्वष्यञौ तद्धितौ । शुक्लत्वम्–शौक्ल्यम् । ष्यञः षित्त्वसामर्थ्यात्पक्षे स्त्रीत्वम् । चातुर्यम्–चातुरी । सामग्र्यम्–सामग्री । औचित्यम्–औचिती । ४१. यद्यड्ढग्यगञ्ण्वुञ्छाश्च भावकर्मणि । एतदन्तानि क्लीबानि । स्तेयम् । सख्यम् । कापेयम् । आधिपत्यम् । औष्ट्रम् । द्वैहायनम् । पितापुत्रकम् । अच्छावाकीयम् । ४२. द्वन्द्वैकत्वम् । पाणिपादम् । ४३ लोपधः । कुलम् । कूलम् । स्थलम् । ४४. शतादिः सङ्ख्या । शतम् । सहस्रम् । ४५. शतायुताः पुंसि च । अयं शतः—इदं शतम् । इत्यादि । ४६. ब्रह्मन्पुंसि च । अयं ब्रह्मा–इदं ब्रह्म । ४७. असन्तो द्व्यच्कः । यशः । मनः । तपः । ४८. त्रान्तः । पत्त्रम् । छत्त्रम् । ४९. फलजातिः । फलजातिवाचिशब्दो नपुंसकं स्यात् । आमलकम् । आम्रम् ।

इति नपुंसकाधिकारः ।

५० स्त्रीपुंसयोः । अधिकारोऽयम् । ५१. गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः । इयमयं वा गौः । ५२. अपत्यार्थतद्धिते । औपगवः—औपगवी ।

इति स्त्रीपुंसाधिकारः ।

५३. पुन्नपुंसकयोः । अधिकारोऽयम् । ५४. घृत-भूत-मुस्त-क्ष्वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः । अयं घृतः–इदं घृतम् । ५५. गृह-मेह-देह-पट्ट-पटहाष्टापदाम्बुद-ककुदाश्च ।

इति पुन्नपुंसकाधिकारः ।

५६. अवशिष्टलिङ्गम् । ५७. अव्ययं कतियुष्मदस्मदः । ५८. ष्णान्तासङ्ख्या । शिष्टा परवत् । एकः पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् । ५९ गुणवचनं च । शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं वस्त्रम् । ६०. कृत्याश्च । ६१. करणाधिकरणयोर्ल्युट् । ६२. सर्वादीनि सर्वनामानि । स्पष्टार्थेयं त्रिसूत्री । इति विशिष्टलिङ्गाधिकारः ।

इति संक्षिप्तलिंगानुशासनप्रकरणम् ।

अथ गणपाठः

(पृ० १९२) शरदादिः—शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनडुह् दिव् हिमवत् हिरुक् विद् सद् दिश् दृश् विश् चतुर् त्यद् तद् यद् कियत् (जराया जरश्च) (प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षणः) पथिन् । इति शरदादिः ।

(पृ० १९६) शौण्डादिः—शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीत अन्तर अधि पटु पण्डित कुशल चपल निपुण इति शौण्डादिः ॥

(पृ० १९८) ऊर्यादिः—ऊरी उररी कन्थी ताली आताली वेताली धूली धूसी शकला संसकला ध्वंसकला भ्रंसकला गुलगुधा सजूस् सजुष् फल फली विक्ली आक्ली अलोष्टी केवाली केवासी सेवासी पर्याली शेवाली वर्षाली अत्यूमशा वश्मसा मस्मसा श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा पापी प्रादुस् श्रत् आविस् एते ऊर्यादयः ।

(पृ० २०८) अश्वपत्यादिः—अश्वपति स्थानपति ज्ञानपति यज्ञपति बन्धुपति शतपति धनपति राष्ट्रपति कुलपति गृहपति पशुपति भाग्यपति धर्मपति धान्यपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति इत्यश्वपत्यादिः ।

(पृ० २०९) उत्सादिः—उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महा-प्राण तरुण तलुन वष्कयासे धेनु पृथिवी पंक्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्म पीलु कुण पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् सत्वत् कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णीह् ककुभ् सुवर्ण देव ग्रीष्मादच्छन्दसि । इत्युत्सादिः ।

(पृ० २१०) गर्गादिः—गर्ग, वत्स । वाजासे । संकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत् प्राचीनयोग । (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शङ्ख शट शक एक धूम अवट मनस् धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित शंसित बभ्रु वल्गु मण्डु गण्डु शङ्कु लिगु गुहलु मन्तु मङ्क्षु आलिगु जिगीषु मनु तन्तु इत्यादि ।

(पृ० २११) बिदादि—बिद ऊर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किंदर्भ विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन इत्यादि ।

(पृ० २११) शिवादिः—शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठक चण्ड जम्भ भूरि दण्ड कुठार ककुभ् (ककुभा) अनभिम्लान कोहित मुख सुख संधि मुनि ककुत्स्थ कहोड कोहड कहूय कहय रोध कपिञ्जल (कुपिञ्जल) वतण्ड तृणकर्ण क्षीरह्रद जलह्रद परिल (पथिक) पिष्ट हैहय (पार्षिक) गोपिका कपिलिका जटिलिका इत्यादि ।

(पृ० २१२) रेवत्यादिः—रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकपाली वृक-ग्राह कर्णग्राह चामरग्राह वृकवञ्चिन् वृकबन्धु । इति रेवत्यादिः ।

(पृ० २१५) भिक्षादिः—भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा भरत विषय श्रोत्र । इति भिक्षादिः।

(पृ० २१७) क्रमादिः—क्रम पद शिक्षा मीमांसा । सामन् इति क्रमादिः ।

(पृ० २१८) वरणादिः—वरणा शृङ्गी शाल्मलि शुण्डी शयाण्डी ताम्रपर्णी गोद आलिङ्गयायन जालपदी जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी गया मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती वलभी। इति वरणादिः ।

(पृ० २१८) यवादिः—यव दल्मि ऊर्मि भूमि कृमि कुञ्चा वशा द्राक्षा ध्राक्षा ध्राज (ध्रजि) ध्वजि निजि सिजि सञ्जि हरित् ककुत् मरुत् गरुत् इक्षु द्रु मधु । आकृतिगणोऽयं यवादिः ।

(पृ० २१९) नद्यादिः—नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी काशपरी काशफारी खादिरी पूर्वनगरी पाठा माया शल्व दार्वा सेतकी (वडवाया वृषे) इति नद्यादिः ।

(पृ० २२०) गहादिः—गह अन्तस्थ सम विषम (मध्यं मध्यंदिन चरणे) उत्तम मगध भूगर्भ पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख समानग्राम एकवृक्ष एकपलाश अवस्यन्दन कामप्रस्थ सौमित्रि व्याडि इत्यादि । आकृतिगणोऽयम् । इति गहादिः ।

(पृ० २२२) दिगादिः—दिश वर्ग पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्त मुख जघन मेघ यूथ (उदकात्संज्ञायाम्) न्याय वंश वेश काल आकाश इति दिगादिः ।

(पृ० २२२) अनुशतिकादिः—अनुशतिक अङ्गारवेणु असिहत्य वध्योग पुष्करसत् कुरुकत उदकशुद्ध इहलोक सर्वपुरुष प्रयोग परस्त्री राजपुरुषात्ष्यञि सूत्रनड आकृतिगणोऽयम् । इत्यनुशतिकादिः।

(पृ० २२८) उगवादिः—गो हविस् अक्षर विष बर्हिष् अष्टका स्वदा युग मेधा स्रुच् (नाभिनभं च) (शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्) (ऊधसोऽनङ् च) कूप खद दर खर असुर अध्वन् क्षर वेद बीज दास इति गवादिः ।

(पृ० २३०) दण्डादिः—दण्ड मुसल मधुपर्क कशा अर्घ मेघ मेधा सुवर्ण उदक वध युग गुहा भाग इभ भङ्ग इति दण्डादिः ।

(पृ० २३१) पृथ्वादिः—पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु गुरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल वत्स होड पाक मन्द, स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु । इति पृथ्वादिः ।

(पृ० २३२) दृढादिः—दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र स्थिर 'वैयातलावमतिमनःशारदानाम्' 'समो मतिमनसोः' जघन इत्यादिः ।

(पृ० २३२) तारकादिः—तारका पुष्प कर्णक मञ्जरी ऋजीष क्षण सूत्र मूत्र

निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्मल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तबक किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा मुद्रा बुभुक्षा इत्यादि।

(पृ० २३५) इष्टादिः—इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदित परिवादित निकथित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित परिरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत इत्यादि।

(पृ० २३६) लोमादिः—लोमन् रोमन् बभ्रू हरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु इति लोमादिः। पामादिः—पामन् वामन् वेमन् हेमन् श्लेष्मन् कद्रु बलि सामन् ऊष्मन् कृमि। इति पामादिः। पिच्छादिः—पिच्छा उरस् ध्रुवक् ध्रुवक (जटाकालाघटाक्षेपे) वर्ण उदक पङ्क प्रज्ञा इति पिच्छादिः।

(पृ० २३७) व्रीह्यादिः—व्रीहि माया शाला शिखा माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा बलाका यवखदनौ इति व्रीह्यादिः।

(पृ० २३७) अर्शादिः—अर्शस् उरस् तुन्द चतुर पलित जटा घटा घाटा अभ्र अघ कर्दम अम्ल लवण अर्श आदिराकृतिगणः।

(पृ० २४४) प्रज्ञादिः—प्रज्ञ वणिज् उशिज् उष्णिज् प्रत्यक्ष विद्वस् वेदन् षोडस् विद्या मनस् चिकीर्षत् चोर शत्रु योध चक्षुस् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च सत्वत् दशार्ह वयस् असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापण देवता बन्धु इत्यादिः।

(पृ० २४६) अजादिः—अजा एडका अश्वा चटका मूषिका बाला वत्सा होढा पाका मन्दा विलाता पूर्वापहाणा उत्तरापहाणा क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमेति पुंयोगेऽपि कोकिला जातौ, दंष्ट्रा एतेऽजादयः आकृतिगणोऽयम्।

(पृ० २४७) गौरादिः—गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य (पुट तूण) द्रुणु द्रोण हरिण कोकण (काकण) पटर उणक (आमल) आमलक कुवल बिम्ब बदर कर्करक (कर्कर) तर्कार शर्कार पुष्कर शिखण्ड सलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलिन्द गडुल पाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ इत्यादिः।

(पृ० २४८) बह्वादिः—बहु पद्धति अञ्चति अङ्कति अंहति शकटि शक्तिः शक्तिः शारि वारि राति राधि इत्यादिः, आकृतिगणोऽयम्।

(पृ० २५१) क्रोडादिः—क्रोड नखखुर गोखा उखा शिखा वाल शफ शुक्र आकृतिगणोऽयम्, तेन भागगल घोण नाल भुज गुद कर इति क्रोडादिः।

(पृ० २५३) शार्ङ्गरवादिः—शार्ङ्गरव कापटव गौग्गुलव ब्राह्मण वैद गौतम कामण्डलेय ब्राह्मणकृतेय आनिचेय आनिधेय आशोकेय वात्स्यायन मौञ्जायन कैकस कैकस काव्यकाव्य शैव्य एहि आस्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल वतण्ड भोगवत् गौरमत् एता संज्ञायाम् नृनरयोर्वृद्धिश्च। पुत्र इति शार्ङ्गरवादिः। इति गणपाठः समाप्तः।

—०:०—

परिशिष्ट (२)

व्याकरणादिलक्षणम्

(१) व्याकरणम्

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति—शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्, तच्च सूत्रम्। जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। (व्याकरणका संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तावनामें देखिये)

(२) सूत्रलक्षणम्

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

सूत्रोंके भेद—सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

१. संज्ञासूत्रं यथा—वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः, इत्यादि।
२. परिभाषासूत्रम् (कुव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकं सूत्रम्) यथा—आदेः परस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, इत्यादि।
३. विधिसूत्रं यथा—इको यणचि, एचोऽयवायावः, इत्यादि।
४. नियमसूत्रं यथा—कृत्तद्धितसमासाश्च, रात्सस्य, इत्यादि।
५. अतिदेशसूत्रं यथा—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तृज्वत्क्रोष्टुः, इत्यादि।
६. अधिकारसूत्रं यथा—ङ्याप्प्रातिपदिकात, आर्धधातुके, इत्यादि।

(सूत्रोंके प्रणेता महर्षि पाणिनि का इतिवृत्त प्रस्तावना में देखिये)

(३) वार्तिकलक्षणम्

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

(वार्तिककार महामुनि कात्यायनका इतिवृत्त प्रस्तावनामें देखिये)

(४) भाष्यलक्षणम्

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

(महाभाष्य-प्रणेता भगवान् पतञ्जलिका 'इतिवृत्त' प्रस्तावनामें पढ़िये)

(५) व्याख्यानलक्षणम्।

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

(अष्टाध्यायीके व्याख्याकारों की समीक्षा प्रस्तावनामें पढ़िये)

—o—

विद्यार्थि-शिक्षासूत्रम्

छात्राणामुपकाराय हितमुपदिशाम्यहम् ।
येन जीवनमेतेषामुन्नतिप्रवणं भवेत् ॥ १ ॥

छात्रों के उपकारार्थ मैं कुछ हित बात बतलाता हूँ । जिससे उनका जीवन उन्नतिशील हो ॥ १ ॥

इन्द्रियाणि वशीकृत्य समाधाय मनस्तथा ।
प्रत्यहं प्रातरुत्थाय प्रभुं वन्देदतन्द्रितः ॥ २ ॥

सबसे पहिले इन्द्रियोंको अपने वशमें कर और मनको एकाग्र बनाकर प्रति-दिन सबेरे उठकर आलस्य छोड़कर ईश्वर की वन्दना करें ॥ २ ॥

शौचस्नानादिकं कृत्वा सन्ध्याहवनमाचरेत् ।
पूर्वं पठितपाठानामावृत्तिं नित्यशश्चरेत् ॥ ३ ॥

शौच, दन्तधावन, स्नान आदि शारीरिक पवित्रता सम्पादन कर सन्ध्या (परमात्मचिन्तन) और हवन करें । तदुपरान्त पढ़े हुए पाठों का आवर्तन करें ॥

ततो गुरुमुखाद्ग्रन्थमाद्योपान्तं पठेन्मुदा ।
गुरुशुश्रूषणं कृत्वा सततं पाठमभ्यसेत् ॥ ४ ॥

तदनन्तर गुरुमुखसे अपने २ पाठों को पढ़ें । बादमें गुरुकी यथोचित सेवा कर निरन्तर पाठ का अभ्यास करें ॥ ४ ॥

परीक्षोत्तीर्णतार्थोऽपि योग्यता परमौचिती ।
अर्जनीया सदा शिष्यैर्वर्ध्या व्युत्पत्तिरन्ततः ॥ ५ ॥

परीक्षामें सफलता-प्राप्त्यर्थ उचित योग्यता प्राप्त करते हुये आन्तरिक व्युत्पत्ति बढ़ाने की भी चेष्टा करें ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिमन्तरा नैव प्रतिपत्स्यात् कथंचन ।
अतो व्युत्पत्सुभिर्भाव्यं छात्रैर्जिज्ञासुभिस्तथा ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिके विना कुछ भी पदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये विद्यार्थियों को व्युत्पत्ति की जिज्ञासा अवश्य रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

समयस्य महामूल्यमज्ञात्वा य उपेक्षते ।
जीवनं तस्य व्यत्येति व्यर्थमेव न संशयः ॥ ७ ॥

जो विद्यार्थी समय की कीमत को नहीं जानकर (पढ़ने में) लापरवाही करता है उसका जीवन निःसन्देह व्यर्थ (कंटकाकीर्ण) हो जाता है ॥ ७ ॥

परीक्षां दातुकामो वै लेखशक्तिं विवर्धयेत् ।
अल्पेनापि सुलेखेन परीक्षोत्तीर्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

परीक्षा देनेवालोंको चाहिये कि लिखने की शक्तिको अच्छी तरह बढ़ावें, क्योंकि थोड़े भी सुन्दर लेखोंसे निश्चितरूपेण परीक्षामें सफलता मिलती है ॥ ८ ॥

लेखशक्तिविहीनेन बहुश्रमयुताऽपि वा ।
परीक्षामुत्तरीतुं हा ! पार्यते न कथंचन ॥ ९ ॥

उत्तम लेख करनेमें कमजोर छात्र अधिकसे अधिक मेहनत करने पर भी परीक्षा में सफलता प्राप्त नहीं करते ॥ ९ ॥

परीक्षाभवनं गत्वा मनश्चाञ्चल्यमुत्सृजेत् ।
निर्भीकतां समासाद्य शान्तचित्तो भवेज्जनः ॥ १० ॥

परीक्षाभवनसें जाकर मनकी चञ्चलता को दूर कर हृदयसे भयको बिलकुल हटाकर प्रसन्नचित्त हो जाना चाहिये ॥ १० ॥

प्रश्नपत्रं गृहीत्वादौ प्रश्नान् सर्वान् निभाल्य च ।
उत्तरं विदितं सम्यगादौ लेख्यं सविस्तरम् ॥ ११ ॥

पहले प्रश्नपत्र लेकर सब प्रश्नोंको अच्छी तरह हृदयङ्गम करके सबसे पहिले जिस प्रश्न का उत्तर खूब उत्तम रूपसे आता हो उसीको लिखें ॥ ११ ॥

कालानुपातमाश्रित्य सारगर्भेण सत्वरम् ।
संक्षेपेणैव लेखेन प्रश्नानामुत्तरं लिखेत् ॥ १२ ॥

परीक्षा-समयके औसत को ध्यानमें रखकर संक्षेपमें ही सारगर्भित लेखसे अनिवार्य प्रश्नोंका उत्तर लिखना चाहिये ॥ १२ ॥

समयस्य समाप्तेः प्राक् स्वासनं परिहाय च ।
केन्द्रान्न बहिर्गच्छेदनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥ १३ ॥

समयके समाप्त होनेसे पहिले आसनको परित्याग कर परीक्षा-भवनसे बाहर नहीं निकलें, नहीं तो बड़ी हानि होगी ॥ १३ ॥

सिंहावलोकनन्यायात् शोधयेल्लिखितोत्तरम् ।
गच्छतः स्खलनन्यायात् जाता त्रुटिर्विनश्यति ॥ १४ ॥

अन्तमें लिखित उत्तरोंको आद्योपान्त एक निगाह डालकर संशोधित कर लें, जिससे भ्रमवश लेखकी सारी भूलचूक दूर हो जायगी ॥ १४ ॥

गूढाशुद्धिप्रदर्शनम्

[1]पतिना रक्षिता[2] सर्वा[3] दाराभवति[4] शोभना[5] ।
सर्वां[6] विधिं [7]गृहानां सा[8] करोति[9] मतिना[10] मुदा ॥ १ ॥
[11]ते गृहः[12] कुत्र [13]मित्रास्ति [14]द्रक्षिष्यामि [15]सखेरहं[16] ।
विहित्वा[17] सर्वकार्याणि[18] विप्रं[19] दद्यां बहुं[20] धनम् ॥ २ ॥
प्रभुक्त्वा[21] त्वं गृहेणाद्य[22] आगतो[23] सखिना[24] सह ।

१–पत्या, पतिशब्दस्य समासे एव घिसंज्ञत्वात् नाभावो न भवति । २–रक्षिताः, दारशब्दस्य 'दाराः पुंसि च भूम्नि एव' इति कोशात् पुंल्लिङ्गत्वेन बहुवचनान्तत्वेन तद्विशेषणानामपि पुंल्लिङ्गबहुवचनान्तत्वं युक्तम् , 'या विशेष्येषु दृश्यन्ते लिङ्गसंख्याविभक्तयः । प्रायस्ता एव कर्तव्याः समानाश्रयविशेषणे' इति नियमात् । ३–सर्वे, पुंल्लिङ्गदारविशेषणसर्वशब्दस्यापि पुंल्लिङ्गत्वमेव । ४–भवन्ति, कर्तृवाच्ये क्रियायाः कर्तुरनुसारेणैव वचनव्यवस्थायाः सत्त्वात् । ५–शोभनाः, पूर्वोक्तनियमेन दारविशेषणशोभनस्यापि पुंल्लिङ्गबहुवचनान्तत्वेन भवितव्यम् । ६–सर्वम् , 'क्यन्तो घुः' इति लिङ्गानुशासनक्रमेण किप्रत्ययान्तविधिशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वेन तद्विशेषणसर्वशब्दस्यापि पूर्वोक्तनियमानुसारेण पुंल्लिङ्गत्वं समुचितम् । ७–गृहाणाम् , अत्र 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति सूत्रेण ऋकारघटकरेफनिमित्तकं णत्वं युक्तम् । ८–ते, तच्छब्दस्य प्रक्रान्तपरामर्शकत्वेन दारार्थबोधकतया पुंल्लिङ्गबहुवचनान्तत्वं समीचीनम् । ९–कुर्वन्ति, कर्तृवाच्ये क्रियायाः कर्त्रनुसारेणैव वचनव्यवस्थायाः सत्त्वेनात्र बहुवचनान्तत्वमुचितम् । १०–मत्या, मतिशब्दस्य 'क्तिन्नन्तं स्त्रिया'मिति नियमेन स्त्रीलिङ्गत्वेन स्त्रियां नाभावनिषेधात् टाप्रत्ययस्य नादेशो न भवति । ११–तव, पादादौ स्थितत्वात् ते आदेशो न । १२ गृहम् , 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव' इति कोशात् एकत्वे नपुंसकत्वमुचितम् । १३–मित्र ! अस्ति, सम्बोधनान्तत्वेन प्लुतत्वेन प्रकृतिभावात् सन्धिर्न । १४–द्रक्ष्यामि, दृश्धातोरनिट्त्वेन इडागमो न । १५–सख्युः, सखिशब्दस्य घिसंज्ञानिषेधेन गुणादिकं न । १६–अहम् , हल्परत्वाभावादनुस्वारो न । १७–विधाय, 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्यबिति' ल्यपि सति तकारादित्वाभावेन हि आदेशो न । १८–कार्याणि, रेफोत्तरत्वेन णत्वं युक्तम् । १९–विप्राय, दाधातुयोगे सम्प्रदानत्वेन चतुर्थी युक्ता । २०–बहु, धनशब्दस्य नपुंसकत्वेन तद्विशेषणबहुशब्दस्यापि नपुंसकत्वम् । २१–प्रभुज्य, 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' । २२–गृहात् , अपाये पञ्चमी भवति । २३–आगतः, 'वा शरि' इति शरि परे विसर्गो वा भवति । २४–सख्या, सखिशब्दस्य घित्वाभावेन नादेशो न ।

[१]आतर्त्वदीयमित्रोऽत्र[२] नागतः[३] केन हेतुना ॥ ३ ॥
तव[४] साकं गमिष्येऽहं[५] नोचेत् प्रेमस्य[६] बन्धने[७] ।
मरिष्ये[८] नात्र संदेहस्त्यजिष्यामि[९] असुं[१०] निजम्[११] ॥ ४ ॥
वर्त्मेनानेन[१२] गच्छन्तः कर्म[१३] कुर्वन्ति ये नरः[१४] ।
नमस्कृत्वा[१५] प्रभुं यान्ति मरित्वा[१६] ते न संशयः ॥ ५ ॥
गुरुणा[१७] श्रुतिमधीते नाधीती शब्दानुशासनम्[१८] ।
न्यायशास्त्रमधीयन्तो[१९] नो बिभ्यन्ति[२०] केनचित्[२१] ॥ ६ ॥
ये नो ददन्ति[२२] नो भुङ्क्ते[२३] पुनर्रमन्ति[२४] योषितैः[२५] ।
जहित्वा[२६] सर्वं ते जान्ति[२७] जगतेऽस्मिन्[२८] विनिन्दितः ॥ ७ ॥
सन्धिस्त्वया न कर्तव्या[२९] महती[३०] रिपुणा सह ।
प्राप्ते[३१] विपत्तौ धीरत्वं नो जहन्ति[३२] महज्जनाः[३३] ॥ ८ ॥
फले इमेऽतिमधुरे[३४] बाला जक्षन्ति[३५] हर्षिताः[३६] ।
क्रीडन्ते[३७] च[३८] अहोरात्रं[३९] रोदन्ति[४०] न कदाचनः[४१] ॥ ९ ॥
नीचाऽपि[४२] ये नमस्यन्ति विष्णवे[४३] कुप्यन्ति नो नवा ।
प्राप्त्वा[४४] महत्वमाप्तास्ते वञ्चयन्ति[४५] न सज्जनान् ॥ १० ॥

१-आतस्त्वदीयम् , 'विसर्जनीयस्य सः' इति खरि विसर्गस्य सत्वम् ।

२-मित्रम् , सखिपर्यायमित्रशब्दस्य नपुंसकत्वम् ।

३-नागतम् , मित्रविशेषणत्वेन नपुंसकत्वम् । ४-त्वया, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया । ५-गमिष्यामि, गम्धातोः परस्मैपदित्वम् । ६-प्रेम्णः, प्रेमन्शब्दस्य नान्तत्वेनादन्तत्वाभावात् स्यादेशो न । ७-बन्धनात् , हेतौ पञ्चमी । ८-मरिष्यामि, 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' इति लुङि लिङि शिति चात्मनेपदित्वेनात्र परस्मैपदित्वम् । ९-त्यक्ष्यामि, त्यज्धातोरनिट्त्वेनेडागमो न । १०-असून् , असुशब्दस्य 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इति कोशात् बहुवचनत्वम् । ११-निजान् , असुविशेषणत्वेनायापि बहुवचनान्तत्वम् । १२-वर्त्मना १३-कर्म । १४-नराः । १५-नमस्कृत्य । १६-मृत्वा । १७-गुरोः । १८-शब्दानुशासने । १९-अधीयानाः । २०-बिभ्यति । २१-कस्माच्चित् । २२-ददति । २३-भुञ्जते । २४-पुनारमन्ते । २५-योषिद्भिः । २६-हात्वा । २७-यान्ति । २८-जगति । २९-कर्तव्यः । ३०-महान् । ३१-प्राप्तायाम् । ३२-जहति । ३३-महाजनाः । ३४-इमे अतिमधुरे । ३५-जक्षति । ३६-हृष्टाः । ३७-क्रीडन्ति । ३८-चाहोरात्रः । ३९-अहोरात्रः । ४०-रुदन्ति । ४१-कदाचन । ४२-नीचा अपि । ४३-विष्णुम् । ४४-प्राप्य । ४५-वञ्चयन्ते ।

परिशिष्ट (२)

शब्दरूपावलिः

'राम'शब्दस्य रूपाणि—

रामः, रामौ, रामाः। रामम्, रामौ, रामान्। रामेण, रामाभ्याम्, रामैः। रामाय, रामाभ्याम्, रामेभ्यः। रामात्–रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः। रामस्य, रामयोः, रामाणाम्। रामे, रामयोः, रामेषु। सम्बोधने—हे राम, हे रामौ, हे रामाः।

'निर्जर' शब्दस्य रूपाणि (ई० ४०, ५०)—

निर्जरः, निर्जरसौ (निर्जरौ), निर्जरसः (निर्जराः)। निर्जरसम् (निर्जरम्) निर्जरसौ (निर्जरौ), निर्जरसः (निर्जरान्)। निर्जरसा (निर्जरेण), निर्जराभ्याम्, निर्जरैः। निर्जरसे (निर्जराय), निर्जराभ्याम्, निर्जरेभ्यः। निर्जरसः (निर्जरात्–द्), निर्जराभ्याम्, निर्जरेभ्यः। निर्जरसः (निर्जरस्य), निर्जरसोः (निर्जरयोः), निर्जरसाम् (निर्जराणाम्)। निर्जरसि। (निर्जरे), निर्जरसोः (निर्जरयोः), निर्जरेषु। हे निर्जर, हे निर्जरसौ (निर्जरौ), हे निर्जरसः (निर्जराः)।

'सखि'शब्दस्य रूपाणि (ई० ३८, ४१, ४३, ४७)—

सखा, सखायौ, सखायः। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या, सखिभ्याम्, सखिभिः। सख्ये, सखिभ्याम्, सखिभ्यः। सख्युः, सखिभ्याम्, सखिभ्यः। सख्युः, सख्योः, सखीनाम्। सख्यौ, सख्योः, सखिषु। हे सखे, हे सखायौ, हे सखायः।

'क्रोष्टु'शब्दस्य रूपाणि—

'क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ, क्रोष्टून्। क्रोष्ट्रा–क्रोष्टुना, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः। क्रोष्ट्रे–क्रोष्टवे, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभ्यः। क्रोष्टुः–क्रोष्टोः, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभ्यः। क्रोष्टुः–क्रोष्टोः, क्रोष्ट्रोः–क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि–क्रोष्टौ क्रोष्ट्रोः–क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टुषु। हे क्रोष्टो, हे क्रोष्टारौ, हे क्रोष्टारः।

'अतिचमू'शब्दस्य रूपाणि (ई० ४०)—

अतिचमूः, अतिचम्वौ, अतिचम्वः। अतिचमूम्, अतिचम्वौ, अतिचमून्। अतिचम्वा, अतिचमूभ्याम्, अतिचमूभिः। अतिचम्वै, अतिचमूभ्याम्, अतिचमूभ्यः। अतिचम्वाः, अतिचमूभ्याम्, अतिचमूभ्यः। अतिचम्वाः, अतिचम्वोः, अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम्, अतिचम्वोः, अतिचमूषु। हे अतिचमु, हे अतिचम्वौ, हे अतिचम्वः।

'पितृ'शब्दस्य रूपाणि (ई० ४७)—

पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्, पितरौ, पितॄन्। पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः। पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः। पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्। पितरि, पित्रोः, पितृषु। हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः।

'मति'शब्दस्य रूपाणि (ई० ४२)—

मतिः, मती, मतयः। मतिम्, मती, मतीः। मत्या, मतिभ्याम्, मतिभिः। मत्यै-मतये, मतिभ्याम्, मतिभ्यः। मत्याः-मतेः, मतिभ्याम्, मतिभ्यः। मत्याः-मतेः, मत्योः, मतीनाम्। मत्याम्-मतौ, मत्योः, मतिषु। हे मते, हे मती, हे मतयः।

त्रिषु लिङ्गेषु द्वि-शब्दस्य रूपाणि (ई० ३९)-(द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः)

पुंसि—द्वौ, द्वौ, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः। स्त्रियाम्—द्वे, द्वे, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः। क्लीबे—द्वे, द्वे, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः (त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति)।

त्रिषु लिङ्गेषु त्रिशब्दस्य रूपाणि (ई०३९)-(त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः)

पुंसि—त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम्, त्रिषु। हे त्रयः। स्त्रियाम्—तिस्रः, तिस्रः, तिसृभिः, तिसृभ्यः, तिसृभ्यः, तिसृणाम्, तिसृषु। हे तिस्रः। क्लीबे—त्रीणि, त्रीणि, त्रिभिः त्रिभ्यः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम्, त्रिषु। हे त्रीणि।

'इदम्' शब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु रूपाणि (ई० २७, ४५)—

पुंल्लिङ्गे—अयम्, इमौ, इमे। इमम् (एनम्), इमौ (एनौ), इमान् (एनान्)। अनेन (एनेन), आभ्याम्, एभिः। अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। अस्य, अनयोः (एनयोः), एषाम्। अस्मिन्, अनयोः एनयोः, एषु।

स्त्रीलिङ्गे—इयम्, इमे, इमाः। इमाम् (एनाम्), इमे (एने), इमाः (एनाः)। अनया (एनया), आभ्याम्, आभिः। अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः। अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः। अस्याः, अनयोः(एनयोः), आसाम्। अस्याम्, अनयोः (एनयोः), आसु।

नपुंसके—इदम्, इमे, इमानि। इदम् (एनत्-द्), (एने), इमानि (एनानि)। अनेन (एनेन), आभ्याम्, एभिः। अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः। अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। अस्य, अनयोः (एनयोः), एषाम्। अस्मिन्, अनयोः (एनयोः), एषु। त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति।

'राजन्'शब्दस्य रूपाणि (ई० ४१)—

राजा, राजानौ, राजानः। राजानम्, राजानौ, राज्ञः। राज्ञा, राजभ्याम्, राजभिः। राज्ञे, राजभ्याम्, राजभ्यः। राज्ञः, राजभ्याम्, राजभ्यः। राज्ञः, राज्ञोः, राज्ञाम्। राज्ञि-राजनि, राज्ञोः, राजसु। हे राजन्, हे राजानौ, हे राजानः।

'मघवन्'शब्दस्य रूपाणि (ई० ४०, ४६)—

तृन्वद्भावपक्षे—मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः। मघवता, मघवद्भ्यां, मघवद्भिः। मघवते, मघवद्भ्यां मघवद्भ्यः। मघवतः, मघवद्भ्यां, मघवद्भ्यः। मघवतः, मघवतोः, मघवताम्। मघवति, मघवतोः, मघवत्सु। हे मघवन्, हे मघवन्तौ, हे मघवन्तः।

तृज्वद्भावाऽभावपक्षे—मघवा, मघवानौ, मघवानः । मघवानम्, मघवानौ, मघोनः । मघोना, मघवभ्यां, मघवभिः । मघोने, मघवभ्यां, मघवभ्यः । मघोनः, मघवभ्यां, मघवभ्यः । मघोनः, मघोनोः, मघोनाम् । मघोनि, मघोनोः, मघवसु । हे मघवन्, हे मघवानौ, हे मघवानः ।

'युष्मद्' शब्दस्य रूपाणि (ई० ३७, ४७)

त्वम्, युवाम्, यूयम् । त्वाम्, युवाम्, युष्मान् । त्वया, युवाभ्याम्, युष्माभिः । तुभ्यम्, युवाभ्याम्, युष्मभ्यम् । त्वत्, युवाभ्याम्, युष्मत् । तव, युवयोः, युष्माकम्, त्वयि, युवयोः, युष्मासु ।

'अस्मद्'शब्दस्य रूपाणि (ई० ३९)—

अहम्, आवाम्, वयम् । माम्, आवाम्, अस्मान् । मया, अवाभ्याम्, अस्माभिः । मह्यम्, आवाभ्याम्, अस्मभ्यम् । मत्, आवाभ्याम्, अस्मत् । मम, आवयोः, अस्माकम् । मयि, आवयोः, अस्मासु । (युष्मदस्मद्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः) ।

'अदस्'शब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु रूपाणि (ई० ४८)

पुँल्लिङ्गे—असौ, अमू, अमी । अमुम्, अमू, अमून् । अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः । अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम् । अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु ।

स्त्रीलिङ्गे—असौ, अमू, अमूः । अमूम्, अमू, अमूः । अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः । अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः, अमुयोः, अमूषाम् । अमुष्याम्, अमुयोः, अमूषु ।

नपुंसके—अदः, अमू, अमूनि । पुनरपि तथैव, शेषं पुंवत् ।

'चतुर्'शब्दस्य त्रिषु लिंगेषु रूपाणि (ई० २७, ४७)—

पुँल्लिङ्गे—चत्वारः, चतुरः, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्, चतुर्षु, हे चत्वारः । स्त्रीलिङ्गे—चतस्रः, चतस्रः, चतसृभिः, चतसृभ्यः, चतसृभ्यः, चतसृणाम्, चतसृषु, हे चतस्रः । नपुंसके—चत्वारि, चत्वारि, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्, चतुर्षु, हे चत्वारि । (चतुर्-शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।)

गवाक्छब्दस्य रूपाणि—

गवाक्छब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः । असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतम्मतम् ॥
स्वम्सुप्सु नवषड्भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

प्रथमायां (१६)-गवाक्-गवाग्-गोअक्-गोअग्-गोऽक्-गोऽग्, गवाङ्-गोअङ्-गोऽङ् (९) गोची-गवाञ्ची-गोअञ्ची-गोऽञ्ची (४) गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि (३) । द्वितीयायां (१६) पूर्ववत् । तृतीयायां (१६) गोचा-गवाञ्चा-गोअञ्चा गोऽञ्चा (४) ।

गवाभ्याम्–गोअभ्याम्–गोऽभ्याम्, गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् (६)। गवाभिः–गोअभिः–गोऽभिः गवाङ्भिः–गोअङ्भिः–गोऽङ्भिः (६)। चतुर्थ्यां (१६)—गोचे–गवाञ्चे–गोअञ्चे–गोञ्चे (४)। गवाभ्याम्–गोअभ्याम्–गोऽभ्याम्, गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् (६)। गवाभ्यः–गोअभ्यः–गोऽभ्यः, गवाङ्भ्यः गोअङ्भ्यः, गोऽङ्भ्यः (६)। पञ्चम्यां (१६)—गोचः–गवाञ्चः–गोअञ्चः–गोऽञ्चः (४) गवाभ्याम्—गोअभ्याम्–गोऽभ्याम्, गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् (६)। गवाभ्यः–गोअभ्यः,–गोऽभ्यः, गवाङ्भ्यः–गोअङ्भ्यः–गोऽङ्भ्यः (६)। षष्ठ्यां (१२)—गोचः–गवाञ्चः–गोअञ्चः–गोऽञ्चः (४)। गोचोः–गवाञ्चोः–गोअञ्चोः–गोऽञ्चोः (४)। गोचाम्–गवाञ्चाम्–गोअञ्चाम्–गोऽञ्चाम् (४)। सप्तम्यां (१७)—गोचि–गवाञ्चि–गोअञ्चि–गोऽञ्चि (४)। गोचोः–गवाञ्चोः गोअञ्चोः–गोऽञ्चोः (४)। गवाक्षु–गोअक्षु–गोऽक्षु, गवाङ्क्षु–गोअङ्क्षु–गोऽङ्क्षु, गवाङ्षु–गोअङ्षु–गोऽङ्षु (९)। (सर्वं मिलित्वा १०९ रूपाणि भवन्ति।)

धातुरूपावलिः

भू सत्तायाम्—

लट्—भवति, भवतः, भवन्ति। भवसि, भवथः, भवथ। भवामि, भवावः, भवामः। लिट्—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम। लुट्–भविता, भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः। लृट्–भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः। भविष्यामः। लोट्–भवतु–भवतात्, भवताम्, भवन्तु। भव–भवतात्, भवतम्, भवत। भवानि, भवाव, भवाम। लङ्—अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम्, अभवाव, अभवाम। लिङ्—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः, । भवेः, भवेतम्, भवेत। भवेयम्, भवेव, भवेम। आ० लिङ्—भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म। लुङ्—अभूत, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम। लृङ्—अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम।

एध वृद्धौ—

लट्—एधते, एधेते, एधन्ते। एधसे, एधेथे, एधध्वे। एधे, एधावहे, एधामहे। लिट्—एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे,

एधाञ्चकृढ्वे, एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे । लुट्—एधिता, एधितारौ, एधितारः । एधितासे, एधितासाथे, एधिताध्वे । एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे । लृट्—एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते । एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे । एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे । लोट्—एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम् । एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् । एधै, एधावहै, एधामहै । लङ्—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त, ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम् । ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि । लिङ्—एधेत, एधेयाताम्, एधेरन् । एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम् । एधेय, एधेवहि, एधेमहि । आ. लिङ्—एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम् । एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि । लुङ्—ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत । ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिध्वम् ऐधिढ्वम् । ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि । लृङ्—ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि ।

विद् ज्ञाने—

लट्—वेद, विदतुः, विदुः । वेत्थ, विदथुः, विद । वेद, विद्व, विद्म । अथवा—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति । वेत्सि, वित्थः, वित्थ । वेद्मि, विद्वः, विद्मः । लिट्—विवेद, विविदतुः, विविदुः । विवेदिथ, विविदथुः, विविद । विवेद, विविदिव, विविदिम । अथवा—विदांचकार, विदांचक्रतुः, विदांचक्रुः । विदांचकर्थ, विदांचक्रथुः, विदांचक्र । विदांचकार विदांचकर, विदांचकृव, विदांचकृम । एवं विदाम्बभूवेत्यादि विदामासेत्यादि च लुट्—वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः । वेदितासि, वेदितास्थः, वेदितास्थ । वेदितास्मि, वेदितास्वः, वेदितास्मः । लृट्—वेदिष्यति, वेदिष्यतः, वेदिष्यन्ति । वेदिष्यसि, वेदिष्यथः, वेदिष्यथ । वेदिष्यामि, वेदिष्यावः, वेदिष्यामः । लोट्—विदाङ्करोतु-विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुर्वन्तु । विदाङ्कुरु-विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत । विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम । अथवा—वेत्तु-वित्तात्, वित्ताम्, विदन्तु । विद्धि-वित्तात्, वित्तम्, वित्त । वेदानि, वेदाव, वेदाम । लङ्—अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः । अवेः-अवेत्, अवित्तम्, अवित्त । अवेदम्, अविद्व, अविद्म । लिङ्—विद्यात्, विद्याताम्, विद्युः । विद्याः, विद्यातम्, विद्यात । विद्याम्, विद्याव, विद्याम । आ. लिङ्—विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासुः । विद्याः, विद्यास्तम्, विद्यास्त । विद्यासम्, विद्यास्व, विद्यास्म । लुङ्—अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः । अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट । अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदिष्म । लृङ्—अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् । अवेदिष्यः, अवेदिष्यतम्, अवेदिष्यत । अवेदिष्यम्, अवेदिष्याव, अवेदिष्याम ।

ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—

लट्—आह, आहतुः, आहुः । आत्थ, आहथुः, ब्रूथ । ब्रवीमि, ब्रूमः, ब्रूमः ।

अथवा—ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति । ब्रवीषि, ब्रूथः, ब्रूथ । ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः । लिट्—उवाच, ऊचतुः, ऊचुः । उवचिथ-उवक्थ, ऊचथुः, ऊच । उवाच—उवच, ऊचिव, ऊचिम । लुट्—वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः । वक्तासि, वक्तास्थः, वक्तास्थ । वक्तास्मि, वक्तास्वः, वक्तास्मः । लृट्—वक्ष्यति, वक्ष्यतः, वक्ष्यन्ति । वक्ष्यसि, वक्ष्यथः, वक्ष्यथ । वक्ष्यामि, वक्ष्यावः, वक्ष्यामः । लोट्—ब्रवीतु-ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु । ब्रूहि-ब्रूतात्, ब्रूतम्, ब्रूत । ब्रवाणि, ब्रवाव, ब्रवाम । लङ्—अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन् । अब्रवीः, अब्रूतम्, अब्रूत । अब्रवम्, अब्रूव, अब्रूम । लिङ्—ब्रूयात्, ब्रूयाताम्, ब्रूयुः । ब्रूयाः, ब्रूयातम्, ब्रूयात । ब्रूयाम्, ब्रूयाव, ब्रूयाम । आ लिङ्—उच्यात्, उच्यास्ताम्, उच्यासुः । उच्याः, उच्यास्तम्, उच्यास्त । उच्यासम्, उच्यास्व, उच्यास्म । लुङ्—अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन् । अवोचः, अवोचतम्, अवोचत । अवोचम्, अवोचाव, अवोचाम । लृङ्—अवक्ष्यत्, अवक्ष्यताम्, अवक्ष्यन् । अवक्ष्यः, अवक्ष्यतम्, अवक्ष्यत । अवक्ष्यम्, अवक्ष्याव, अवक्ष्याम । अथात्मनेपदरूपाणि लट्—ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते । ब्रूषे, ब्रुवाथे, ब्रूध्वे । ब्रुवे, ब्रूवहे, ब्रूमहे । लिट्—ऊचे, ऊचाते, ऊचिरे । ऊचिषे, ऊचाथे, ऊचिध्वे । ऊचे, ऊचिवहे, ऊचिमहे । लुट्—वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः । वक्तासे, वक्तासाथे, वक्ताध्वे । वक्ताहे, वक्तास्वहे, वक्तास्महे । लृट्—वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते । वक्ष्यसे, वक्ष्येथे, वक्ष्यध्वे । वक्ष्ये, वक्ष्यावहे, वक्ष्यामहे । लोट्—ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम् । ब्रूष्व, ब्रुवाथाम्, ब्रूध्वम् । ब्रवै, ब्रवावहै, ब्रवामहै । लङ्—अब्रूत, अब्रुवाताम्, अब्रुवत । अब्रूथाः, अब्रुवाथाम्, अब्रूध्वम् । अब्रुवि, अब्रूवहि, अब्रूमहि । लिङ्—ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीरन् । ब्रुवीथाः, ब्रुवीयाथाम्, ब्रुवीध्वम् । ब्रुवीय, ब्रुवीवहि, ब्रुवीमहि । आ. लिङ्—वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन् । वक्षीष्ठाः, वक्षीयास्थाम्, वक्षीध्वम् । वक्षीय, वक्षीवहि, वक्षीमहि । लुङ्—अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त । अवोचथाः, अवोचेथाम्, अवोचध्वम् । अवोचे, अवोचावहि, अवोचामहि । लृङ्—अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त । अवक्ष्यथाः, अवक्ष्येथाम्, अवक्ष्यध्वम् । अवक्ष्ये, अवक्ष्यावहि, अवक्ष्यामहि ।

अस् भुवि सत्तायाम्—

अस्ति, स्तः, सन्ति । असि, स्थः, स्थ । अस्मि, स्वः, स्मः । लिट् लुट् लृटां बभूव-भविता-भविष्यति इत्यादीनि भूवद्रूपाणि । लोट्—अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु । एधि—स्तात्, स्तम्, स्त । असानि, असाव, असाम । लङ्—आसीत्, आस्ताम्, आसन् । आसीः, आस्तम्, आस्त । आसम्, आस्व, आस्म । लिङ्—स्यात्, स्याताम्, स्युः । स्याः, स्यातम्, स्यात । स्याम्, स्याव, स्याम । आशीर्लिङ्-लुङ्-लृङां भूयात्-अभूत्-अभविष्यत् इत्यादीनि भूवद्रूपाणि ।

शक्लृ शक्यार्थे—

लट्—शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति । शक्नोषि, शक्नुथः शक्नुथ । शक्नोमि

शक्नुवः, शक्नुमः । लिट्—शशाक, शेकतुः, शेकुः । शेकिथ-शशक्थ, शेकथुः, शेक । शशाक-शशक, शेकिव, शेकिम । लुट्—शक्ता, शक्तारौ, शक्तारः । शक्तासि, शक्तास्थः, शक्तास्थ । शक्तास्मि, शक्तास्वः, शक्तास्मः । लृट्—शक्ष्यति, शक्ष्यतः, शक्ष्यन्ति । शक्ष्यसि, शक्ष्यथः, शक्ष्यथ । शक्ष्यामि, शक्ष्यावः, शक्ष्यामः । लोट्—शक्नोतु-शक्नुतात्, शक्नुताम्, शक्नुवन्तु । शक्नुहि-शक्नुतात्, शक्नुतम्, शक्नुत । शक्नवानि, शक्नवाव, शक्नवाम । लङ्—अशक्नोत्, अशक्नुताम्, अशक्नुवन् । अशक्नोः, अशक्नुतम्, अशक्नुत । अशक्नवम्, अशक्नुव, अशक्नुम । लिङ्—शक्नुयात्, शक्नुयाताम्, शक्नुयुः । शक्नुयाः, शक्नुयातम्, शक्नुयात । शक्नुयाम्, शक्नुयाव, शक्नुयाम । आ. लिङ्-शक्यात्, शक्यास्ताम्, शक्यासुः । शक्याः, शक्यास्तम्, शक्यास्त । शक्यासम्, शक्यास्व, शक्यास्म । लुङ्-अशकत्, अशकताम्, अशकन् । अशकः, अशकतम्, अशकत । अशकम्, अशकाव, अशकाम । लृङ्-अशक्ष्यत्, अशक्ष्यताम्, अशक्ष्यन् । अशक्ष्यः, अशक्ष्यतम्, अशक्ष्यत । अशक्ष्यम्, अशक्ष्याव, अशक्ष्याम ।

कृञ् करणे—

लट्—करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति । करोषि, कुरुथः, कुरुथ । करोमि, कुर्वः, कुर्मः । लिट्—चकार, चक्रतुः, चक्रुः । चकर्थ, चक्रथुः, चक्र । चकार-चकर, चकृव, चकृम । लुट्—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः । कर्तासि, कर्तास्थः, कर्तास्थ । कर्तास्मि, कर्तास्वः, कर्तास्मः । लृट्—करिष्यति, करिष्यतः, करिष्यन्ति । करिष्यसि, करिष्यथः, करिष्यथ । करिष्यामि, करिष्यावः, करिष्यामः । लोट्—करोतु-कुरुतात्, कुरुताम्, कुर्वन्तु । कुरु-कुरुतात्, कुरुतम्, कुरुत । करवाणि, करवाव, करवाम । लङ्—अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन् । अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत । अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म । लिङ्—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः । कुर्याः, कुर्यातम्, कुर्यात । कुर्याम्, कुर्याव, कुर्याम । आ० लिङ्—क्रियात्, क्रियास्ताम्, क्रियासुः । क्रियाः, क्रियास्तम्, क्रियास्त । क्रियासम्, क्रियास्व, क्रियास्म । लुङ्—अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः । अकार्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट । अकार्षम्, अकार्ष्व, अकार्ष्म । लृङ्—अकरिष्यत्, अकरिष्यताम्, अकरिष्यन् । अकरिष्यः, अकरिष्यतम्, अकरिष्यत । अकरिष्यम् । अकरिष्याव, अकरिष्याम । अथात्मनेपदरूपाणि लट्—कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते । कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे । कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे । लिट्—चक्रे, चक्राते, चक्रिरे । चकृषे, चक्राथे, चकृढ्वे । चक्रे, चकृवहे, चकृमहे । लुट्—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः । कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे । कर्ताहे, कर्तास्वहे कर्तास्महे । लृट्—करिष्यते, करिष्येते, करिष्यन्ते । करिष्यसे, करिष्येथे, करिष्यध्वे । करिष्ये, करिष्यावहे, करिष्यामहे । लोट्—कुरुताम्, कुर्वाताम्, कुर्वताम् । कुरुष्व, कुर्वाथाम्, कुरुध्वम् । करवै, करवावहै, करवामहै । लङ्—अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत । अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम् । अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि । लिङ्—कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन् । कुर्वीथाः, कुर्वीयाथाम्, कुर्वीध्वम् ।

कुर्वीय, कुर्वीवहि, कुर्वीमहि । आ० लिङ—कृषीष्ट, कृषीयास्ताम् , कृषीरन् । कृषीष्ठाः, कृषीयास्थाम् , कृषीढ्वम् । कृषीय, कृषीवहि, कृषीमहि । लुङ्—अकृत, अकृषाताम्, अकृषत । अकृथाः, अकृषाथाम् , अकृढ्वम् । अकृषि, अकृष्वहि, अकृष्महि । लृङ्—अकरिष्यत, अकरिष्येताम् , अकरिष्यन्त । अकरिष्यथाः, अकरिष्येथाम् , अकरिष्यध्वम् । अकरिष्ये, अकरिष्यावहि, अकरिष्यामहि ।

ण्यन्तभूधातुः—

लट्—भावयति, भावयतः, भावयन्ति । भावयसि, भावयथः, भावयथ । भावयामि, भावयावः, भावयामः । लिट्—भावयाञ्चकारेत्यादि भावयाम्बभूवेत्यादि भावयामासेत्यादि च । लुट्—भावयिता, भावयितारौ, भावयितारः । भावयितासि, भावयितास्थः, भावयितास्थ । भावयितास्मि, भावयितास्वः, भावयितास्मः । लृट्—भावयिष्यति, भावयिष्यतः, भावयिष्यन्ति, भावयिष्यसि, भावयिष्यथः, भावयिष्यथ । भावयिष्यामि, भावयिष्यावः, भावयिष्यामः । लोट्—भावयतु-भावयतात् भावयताम् , भावयन्तु । भावय-भावयतात्, भावयतम्, भावयत । भावयानि, भावयाव, भावयाम । लङ्—अभावयत्, अभावयताम्, अभावयन् । अभावयः, अभावयतम्, अभावयत । अभावयम्, अभावयाव, अभावयाम । लिङ्—भावयेत् , भावयेताम्, भावयेयुः । भावयेः, भावयेतम्, भावयेत । भावयेयम्, भावयेव, भावयेम । आ. लिङ्—भाव्यात्, भाव्यास्ताम्, भाव्यासुः । भाव्याः, भाव्यास्तम्, भाव्यास्त । भाव्यासम्, भाव्यास्व, भाव्यास्म । लुङ्—अबीभवत् , अबीभवताम् , अबीभवन् । अबीभवः, अबीभवतम्, अबीभवत । अबीभवम्, अबीभवाव, अबीभवाम । लृङ्—अभावयिष्यत् , अभावयिष्यताम्, अभावयिष्यन् । अभावयिष्यः, अभावयिष्यतम्, अभावयिष्यत । अभावयिष्यम्, अभावयिष्याव, अभावयिष्याम ।

सन्नन्तभूधातुः

लट्—बुभूषति, बुभूषतः, बुभूषन्ति । बुभूषसि, बुभूषथः, बुभूषथ । बुभूषामि, बुभूषावः, बुभूषामः । लिट्—बुभूषाञ्चकारेत्यादि बुभूषाम्बभूवेत्यादि बुभूषामासेत्यादि च । लुट्—बुभूषिता, बुभूषितारौ, बुभूषितारः । बुभूषितासि, बुभूषितास्थः, बुभूषितास्थ । बुभूषितास्मि, बुभूषितास्वः, बुभूषितास्मः । लृट्-बुभूषिष्यति, बुभूषिष्यतः, बुभूषिष्यन्ति । बुभूषिष्यसि, बुभूषिष्यथः, बुभूषिष्यथ । बुभूषिष्यामि, बुभूषिष्यावः, बुभूषिष्यामः । लोट्-बुभूषतु-बुभूषतात् , बुभूषताम्, बुभूषन्तु । बुभूष-बुभूषतात् , बुभूषतम्, बुभूषत । बुभूषाणि, बुभूषाव बुभूषाम । लङ्—अबुभूषत्, अबुभूषताम्, अबुभूषन् । अबुभूषः, अबुभूषतम्, अबुभूषत । अबुभूषम्, अबुभूषाव, अबुभूषाम । लिङ्—बुभूषेत् , बुभूषेताम् , बुभूषेयुः । बुभूषेः, बुभूषेतम्, बुभूषेत । बुभूषेयम् बुभूषेव, बुभूषेम । आ. लिङ्—बुभूष्यात् , बुभूष्यास्ताम्, बुभूष्यासुः । बुभूष्याः, बुभूष्यास्तम्, बुभूष्यास्त । बुभूष्यासम्, बुभूष्यास्व, बुभूष्यास्म । लुङ्—अबुभूषीत् ,

अबुभूषिष्टाम्, अबुभूषिषुः। अबुभूषीः, अबुभूषिष्टम्, अबुभूषिष्ट। अबुभूषिषम्, अबुभूषिष्व, अबुभूषिष्म। लृङ्—अबुभूषिष्यत्, अबुभूषिष्यताम्, अबुभूषिष्यन्। अबुभूषिष्यः, अबुभूषिष्यतम् अबुभूषिष्यत अबुभूषिष्यम्, अबुभूषिष्याव, अबुभूषिष्याम।

भवतेर्यङि—

लट्—बोभूयते, बोभूयेते, बोभूयन्ते। बोभूयसे, बोभूयेथे, बोभूयध्वे। बोभूये, बोभूयावहे, बोभूयामहे।

लिट्—बोभूयाञ्चक्रे इत्यादि बोभूयाम्बभूवेत्यादि बोभूयामासेत्यादि च पूर्ववत्।

लुट्—बोभूयिता, बोभूयितारौ, बोभूयितारः। बोभूयितासे, बोभूयितासाथे, बोभूयिताध्वे। बोभूयिताहे, बोभूयितास्वहे, बोभूयितास्महे।

लृट्—बोभूयिष्यते, बोभूयिष्येते बोभूयिष्यन्ते। बोभूयिष्यसे, बोभूयिष्येथे, बोभूयिष्यध्वे। बोभूयिष्ये, बोभूयिष्यावहे, बोभूयिष्यामहे।

लोट्—बोभूयताम्, बोभूयेताम्, बोभूयन्ताम्। बोभूयस्व, बोभूयेथाम्, बोभूयध्वम्। बोभूयै, बोभूयावहै, बोभूयामहै।

लङ्—अबोभूयत अबोभूयेताम् अबोभूयन्त। अबोभूयथाः अबोभूयेथाम् अबोभूयध्वम्। अबोभूये अबोभूयावहि अबोभूयामहि।

लिङ्—बोभूयेत, बोभूयेयाताम्, बोभूयेरन्। बोभूयेथाः, बोभूयेयाथाम्, बोभूयेध्वम्। बोभूयेय, बोभूयेवहि, बोभूयेमहि।

आ० लिङ्—बोभूयिषीष्ट, बोभूयिषीयास्ताम्, बोभूयिषीरन्। बोभूयिषीष्ठाः, बोभूयिषीयास्थाम्, बोभूयिषीध्वं ढ्वम्। बोभूयिषीय, बोभूयिषीवहि। बोभूयिषीमहि।

लुङ्—अबोभूयिष्ट अबोभूयिषाताम् अबोभूयिषत। अबोभूयिष्ठाः, अबोभूयिषाथाम् अबोभूयिध्वम्। अबोभूयिषि, अबोभूयिष्वहि, अबोभूयिष्महि।

लृङ्—अबोभूयिष्यत, अबोभूयिष्येताम्, अबोभूयिष्यन्त। अबोभूयिष्यथाः, अबोभूयिष्येथाम्, अबोभूयिष्यध्वम्। अबोभूयिष्ये, अबोभूयिष्यावहि, अबोभूयिष्यामहि।

भवतेर्यङ्लुकि—

लट्—बोभवीति-बोभोति, बोभूतः, बोभुवति। बोभवीषि-बोभोषि, बोभूथः, बोभूथ। बोभवीमि-बोभोमि, बोभूवः, बोभूमः। लिट्—बोभवाञ्चकारेत्यादि बोभवाम्बभूवेत्यादि बोभवामासेत्यादि च। लुट्—बोभविता, बोभवितारौ, बोभवितारः। बोभवितासि, बोभवितास्थः, बोभवितास्थ। बोभवितास्मि, बोभवितास्वः, बोभवितास्मः। लृट्—बोभविष्यति, बोभविष्यतः, बोभविष्यन्ति। बोभविष्यसि, बोभविष्यथः, बोभविष्यथ। बोभविष्यामि, बोभविष्यावः, बोभविष्यामः। लोट्—बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु। बोभूहि-बोभूतात्, बोभूतम्, बोभूत। बोभवानि,

बोभवाव, बोभवाम । लङ्—अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः । अबोभवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत । अबोभवम्, अबोभूव, अबोभूम । लिङ्—बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयुः । बोभूयाः, बोभूयातम्, बोभूयात । बोभूयाम्, बोभूयाव, बोभूयाम । आ. लिङ्—बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः । बोभूयाः, बोभूयास्तम्, बोभूयास्त । बोभूयासम्, बोभूयास्व, बोभूयास्म । लुङ्—अबोभूवीत्, अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः । अबोभूवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत । अबोभूवम्, अबोभूव, अबोभूम । लृङ्—अबोभविष्यत्, अबोभविष्यताम्, अबोभविष्यन् । अबोभविष्यः, अबोभविष्यतम्, अबोभविष्यत । अबोभविष्यम्, अबोभविष्याव, अबोभविष्याम ।

शक्त्यर्थक'शक्लृ'धातोः कर्मणि रूपाणि

लट्—शक्यते, शक्येते, शक्यन्ते । शक्यसे, शक्येथे, शक्यध्वे । शक्ये, शक्यावहे, शक्यामहे । लिट्—शेके, शेकाते, शेकिरे । शेकिषे, शेकाथे, शेकिध्वे । शेके, शेकिवहे, शेकिमहे । लुट्—शक्ता, शक्तारौ, शक्तारः । शक्तासे, शक्तासाथे, शक्ताध्वे । शक्ताहे, शक्तास्वहे, शक्तास्महे । लृट्—शक्ष्यते, शक्ष्येते, शक्ष्यन्ते । शक्ष्यसे, शक्ष्येथे, शक्ष्यध्वे । शक्ष्ये, शक्ष्यावहे, शक्ष्यामहे । लोट्—शक्यताम्, शक्येताम्, शक्यन्ताम् । शक्यस्व, शक्येथाम्, शक्यध्वम् । शक्यै, शक्यावहै, शक्यामहै । लङ्—अशक्यत, अशक्येताम्, अशक्यन्त । अशक्यथाः अशक्येथाम्, अशक्यध्वम् । अशक्ये, अशक्यावहि, अशक्यामहि । लिङ्—शक्येत, शक्येयाताम्, शक्येरन् । शक्येथाः, शक्येयाथाम्, शक्येध्वम् । शक्येय, शक्येवहि, शक्येमहि । आ. लिङ्—शक्षीष्ट, शक्षीयास्ताम्, शक्षीरन् । शक्षीष्ठाः, शक्षीयास्थाम्, शक्षीध्वम् । शक्षीय, शक्षीवहि, शक्षीमहि । लुङ्—अशाकि, अशक्षाताम्, अशक्षत । अशक्थाः, अशक्षाथाम्, अशग्ध्वम् । अशक्षि, अशक्ष्वहि, अशक्ष्महि । लृङ्—अशक्ष्यत, अशक्ष्येताम्, अशक्ष्यन्त । अशक्ष्यथाः, अशक्ष्येथाम्, अशक्ष्यध्वम् । अशक्ष्ये, अशक्ष्यावहि अशक्ष्यामहि ।

परिशिष्ट (४)

अनुवादोपयोगिधात्वर्थाः

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

अञ्चु-गतिपूजनयोः—

१ अञ्चति—जाता या पूजता है ।
२ प्राञ्चति—उन्नत होता है ।
३ पराञ्चति—लौटता है ।
४ न्यञ्चति—नीचे जाता है ।
५ प्रत्यञ्चति—अवनति प्राप्त करता है ।
६ उदञ्चति—ऊपर जाता है ।
७ सहाञ्चति—साथ जाता है ।
८ अवाञ्चति—अधोमुख होता है ।
९ पर्युदञ्चति—उधार लेता है ।
१० समञ्चति-अच्छी तरह जाता या पूजता है ।
११ तिरोञ्चति—टेढ़ा जाता है ।

अय गतौ—

१ अयते—जाता है ।
२ प्लायते—भागता है ।
३ पलायते— ,,
४ उदयते—उदय होता है ।
५ व्ययते—खर्च करता है ।
६ निरयते—निकलता है ।
७ दुरयते—दुःखी होता है ।
८ निलयते—विलीन होता है ।
९ दुलयते—काँपता है ।

अर्थ उपयाच्ञायाम्—

१ अर्थयते—माँगता है ।
२ समर्थयते—अनुमोदन करता है ।
३ अभ्यर्थयते—निवेदन करता है ।
४ प्रार्थयते—प्रार्थना करता है ।
५ व्यर्थयते—विफल करता है ।
६ अन्वर्थयते—अर्थानुकूल करता है ।

असु क्षेपणे—

१ अस्यति—फेंकता है ।
२ उपास्यति—दूर करता है ।
३ अध्यस्यति—आरोप करता है ।
४ विन्यस्यति—स्थापित करता है ।
५ न्यस्यति—सौंपता है ।
६ अभ्यस्यति—कंठस्थ करता है ।
७ निरस्यति—हटाता है ।
८ व्युदस्यति—निकालता है ।
९ परास्यति—परास्त करता है ।
१० व्यत्यस्यति—उलटपलट करता है ।
११ विपर्यस्यति—विपर्यास करता है ।
१२ समस्यति—संक्षिप्त करता है ।

आप्लृ व्याप्तौ—

१ आप्नोति—प्राप्त करता है ।
२ व्याप्नोति—{ व्याप्त करता है । फैलता है ।
३ समाप्नोति—{ समाप्त करता है । समाप्त होता है ।
४ अवाप्नोति—प्राप्त करता है ।
५ पर्याप्नोति—{ पर्याप्त करता है । पर्याप्त होता है ।

आसु उपवेशने—

१ आस्ते—बैठता है ।
२ उदास्ते—उदासीन होता है ।
३ उपास्ते—ध्यान करता है ।
४ अध्यास्ते—रहता है ।
५ अन्वास्ते—पीछे बैठता है ।

इण् गतौ—

१ एति—जाता है ।
२ प्रत्येति—विश्वास करता है ।

३ अत्येति—नष्ट होता है।
४ अन्वेति—पीछे मिलता है।
५ विपर्येति—उलटा समझता है।
६ उपैति—पास जाता या आता है।
७ अभ्येति—सामने आता है।
८ व्यत्येति—उलट-पलट करता है। या बीतता है।
९ व्येति—खर्च करता है।
१० अवैति—जानता है।
११ अपैति—दूर होता है।
१२ समवैति—सम्बद्ध होता है।
१३ समन्वेति—समन्वय करता है।
१४ अभिप्रैति—इष्ट करता है।
१५ उदेति—उदित होता है।

ईह चेष्टायाम्—

१ ईहते—चेष्टा करता है।
२ समीहते—चाहता है।
३ निरीहते—निःस्पृह होता है।

ईक्ष् दर्शने—

१ ईक्षते—देखता है।
२ अपेक्षते—इच्छा करता है।
३ उपेक्षते—लापरवाही करता है।
४ वीक्षते—देखता है।
५ प्रतीक्षते—प्रतीक्षा करता है।
६ परीक्षते—परीक्षा करता है।
७ निरीक्षते—निगरानी करता है।
८ समीक्षते—विमर्श करता है।
९ उत्प्रेक्षते—सम्भावना करता है।
१० अन्वीक्षते—चिन्तन या मनन करता है।

ऊह वितर्के—

१ ऊहते—विचार करता है।
२ अपोहते—छोड़ता है।
३ उपोहते—सूक्ष्म विचार करता है।
४ समूहते—शोधित करता है।
५ प्रत्यूहते—विघ्न डालता है।
६ व्यूहते—संगठित करता है।
७ दुरूहते—कठिनाई से जानता है।

(डु) कृञ् करणे—

१ करोति—करता है।
२ अनुकरोति—नकल करता है।
३ अपकरोति—हानि करता है।
४ उत्करोति—उच्चारण करता है।
५ विकुर्वते—विकार प्राप्त करता है।
६ उपकुरुते—सेवन करता है।
७ अधिकुरुते—क्षमा या पराभव करता है।
८ तिरस्करोति—तिरस्कार करता है।
९ निराकरोति—हटाता है।
१० परिष्करोति—परिष्कृत करता है।
११ आविष्करोति—प्रकट करता है।
१२ संस्करोति—संस्कार करता है।
१३ उत्कुरुते—चुगली करता है।
१४ उदाकुरुते—झपटता है।
१५ प्रकुरुते—जबर्दस्ती करता है।
१६ उपस्कुरुते—दूसरे का गुण ग्रहण करता है।
१७ अलङ्करोति—भूषण पहनता है।
१८ उपकरोति—भलाई करता है।
१९ प्रतिकरोति—प्रतिकार करता है।
२० अपाकरोति—खण्डन करता है।
२१ प्रत्युपकरोति—प्रत्युपकार करता है।

क्रमु पादविक्षेपे—

१ क्रामति—चलता है।
२ क्रमते—उत्साह करता है।
३ उपक्रमते—आरम्भ करता है।
४ प्रक्रमते— ,, ,, ,,
५ विक्रमते—आगे बढ़ता है।
६ पराक्रमते—अप्रतिहत होता है।

७ आक्रमते—उदय लेता है।
८ अतिक्रामति—उल्लंघन करता है।
९ परिक्रामति—प्रदक्षिण करता है।
१० निष्क्रामति—निकलता है।
११ अपक्रामति—हटता है।
१२ संक्रामति—संक्रान्त होता है।
१३ अनुक्रामति—अनुक्रम करता है।
१४ आक्रामति—ऊपर जाता है।

गम्लृ गतौ—

१ गच्छति—जाता है।
२ आगच्छति—आता है।
३ संगच्छते—संगत होता है।
४ निर्गच्छति—निकलता है।
५ अनुगच्छति—पीछे जाता है।
६ अवगच्छति—जानता है।
७ अधिगच्छति—प्राप्त करता है।
८ अभ्यागच्छति—सामने आता है।
९ प्रतिगच्छति—लौटता है।
१० उद्गच्छति—स्वीकार करता है।
११ उद्गच्छति—ऊपर जाता है।
१२ अपगच्छति—दूर हटता है।

ग्रह् उपादाने—

१ गृह्णाति—लेता है।
२ आगृह्णाति—आग्रह करता है।
३ अनुगृह्णाति—कृपा करता है।
४ दुरागृह्णाति—हठ करता है।
५ प्रतिगृह्णाति—दान लेता है।
६ विगृह्णाति—लड़ाई करता है।
७ निगृह्णाति—बन्दी करता है।
८ संगृह्णाति—इकठ्ठा करता है।
९ परिगृह्णाति—आसक्ति करता है।

चर् गतिभक्षणयोः—

१ चरति—घूमता या खाता है।
२ उच्चरते—उल्लंघन करता है।
३ उच्चरति—ऊपर जाता है।
४ विचरति—विचरण करता है।
५ आचरति—आचरण करता है।
६ परिचरति—सेवा करता है।
७ उपचरति—उपचार करता है।
८ अनुचरति—अनुसरण करता है।
९ संचरते—भ्रमण करता है।
१० दुराचरति—बुरा आचरण करता है।
११ अतिचरति—अधिक गमन करता है।
१२ व्यभिचरति—व्यभिचार करता है।
१३ अपचरति—विपरीत करता है।

चिञ् चयने—

१ चिनोति—चुनता है।
२ परिचिनोति—पहचानता है।
३ निचिनोति—इकट्ठा करता है।
४ उपचिनोति—बढ़ाता है।
५ अपचिनोति—घटाता है।
६ संचिनोति—जमा करता है।
७ निश्चिनोति—निश्चय करता है।
८ समुच्चिनोति—अधिक करता है।
९ अन्वाचिनोति—आनुषङ्गि करता है।
१० अवचिनोति—इकट्ठा करता है।

ज्ञा अवबोधने—

१ जानाति—जानता है।
२ जानीते—प्रवृत्त होता है।
३ अपजानीते—छिपाता है।
४ प्रतिजानीते—प्रतिज्ञा करता है।
५ अनुजानाति—अनुमति देता है।
६ अभ्यनुजानाति—स्वीकार करता है।
७ प्रत्यभिजानाति—प्रत्यक्ष का स्मरण करता है।
८ अभिजानाति—पहचानता है।

९ उपजानाति—आरम्भ करता है।
१० संजानीते—देखता है।
११ अवजानाति—अपमान करता है।
१२ विजानाति—निन्दा करता है।

णीञ् प्रापणे—

१ नयति—ले जाता है।
२ विनयति—विनय करता है।
३ विनयते—गिनता या खर्च करता है।
४ अनुनयति—मनाता है।
५ परिणयति—विवाह करता है।
६ निर्णयति—निर्णय करता है।
७ अभिनयति—अभिनय करता है।
८ उपनयति—पासमें लाता है।
९ अपनयति—हटाता है।
१० आनयति—लाता है।
११ प्रणयति—प्रेम करता है।
१२ उन्नयते—ऊपर ले जाता है।

तॄ प्लवनतरणयोः—

१ तरति—तैरता है।
२ अवतरति—उतरता है।
३ वितरति—देता है।
४ उत्तरति—जवाब देता है।
५ संतरति—ऊपर तैरता है।

दिश् अतिसर्जने—

१ दिशति—देता है।
२ आदिशति—आज्ञा देता है।
३ निर्दिशति—बतलाता है।
४ उद्दिशति—उद्देश करता है।
५ उपदिशति—उपदेश करता है।
६ निदिशति—अनुमति देता है।
७ संदिशति—संदेश कहता है।
८ व्यपदिशति—मुख्य व्यवहार करता है।
९ अतिदिशति—काल्पनिक व्यवहार करता है।
१० अपदिशति—बहाना करता है।
११ प्रतिनिर्दिशति—विधेयको बतलाता है।

(डु) धाञ् धारणपोषणयोः—

१ दधाति—धारण करता है।
२ विदधाति—करता है।
३ अनुसंदधाति—अनुसंधान (खोज) करता है।
४ अन्तर्धत्ते—छिपता है।
५ तिरोधत्ते— ,, ,,
६ अभिधत्ते—बोलता है।
७ अवधत्ते—ध्यान देता है।
८ पिधत्ते—ढाँकता है।
९ अपिधत्ते— ,, ,,
१० संधत्ते—मेल करता है।
११ परिधत्ते—पहनता है।
१२ आधत्ते—स्थापित करता है।
१३ निधत्ते—रखता है।
१४ प्रणिधत्ते—ध्यान करता है।
१५ प्रतिनिधत्ते—प्रतिनिधि करता है।

पत्लृ पतने—

१ पतति—गिरता है।
२ प्रणिपतति—प्रणाम करता है।
३ निपतति—गिरता है।
४ उत्पतति—उड़ता है।
५ प्रपतति—गिरता है।

पद गतौ—

१ पद्यते—जाता है।
२ उत्पद्यते—युक्त होता है।
३ विपद्यते—मरता है।
४ संपद्यते—सुखी होता है।
५ उपपद्यते—युक्त होता है।
६ आपद्यते—दोष लगता है।

७ प्रपद्यते—शरणमें जाता है ।
८ निष्पद्यते—निष्पन्न होता है ।
९ प्रतिपद्यते—आज्ञा माँगता है ।
१० व्युत्पद्यते—व्युत्पन्न होता है ।

बन्ध बन्धने—

१ बध्नाति—बाँधता है ।
२ प्रबध्नाति—प्रबन्ध करता है ।
३ निबध्नाति—रचता है ।
४ प्रतिबध्नाति—रोक लगाता है ।
५ सम्बध्नाति—जोड़ता है ।
६ उद्बध्नाति—फाँसी लगाता है ।
७ निर्बध्नाति—प्रेम करता है ।

भू सत्तायाम्—

१ भवति—होता है ।
२ अनुभवति—अनुभव करता है ।
३ अभिभवति—दबाता है ।
४ पराभवति—पराभव करता है ।
५ परिभवति—तिरस्कार करता है ।
६ उद्भवति—उत्पन्न होता है ।
७ आविर्भवति—प्रकट होता है ।
८ प्रादुर्भवति— ,, ,, ,,
९ सम्भवति—हो सकता है ।
१० तिरोभवति—छिपता है ।
११ अन्तर्भवति— ,, ,,
१२ प्रभवति—समर्थ होता है ।

मनु अवबोधने—

१ मन्यते—मानता है ।
२ अवमन्यते—तिरस्कार करता है ।
३ अनुमन्यते—सलाह करता है ।
४ संमन्यते—सम्मान करता है ।
५ विमन्यते—उपेक्षा करता है ।
६ अभिमन्यते—घमण्ड करता है ।

युजिर् योगे—

१ युनक्ति—जोड़ता है ।
२ अभियुनक्ति—अभियोग करता है ।
३ उद्युनक्ति—उद्योग करता है ।
४ संयुनक्ति—संयुक्त करता है ।
५ प्रतियुनक्ति—स्पर्द्धा करता है ।
६ अनुयुनक्ति—पूछता है ।
७ पर्यनुयुनक्ति—प्रत्युत्तर देता है ।
८ उपयुनक्ति—उपयोग करता है ।
९ वियुनक्ति—वियुक्त करता है ।
१० नियुनक्ति—नियुक्त करता है ।

रुह बीजजन्मनि—

१ रोहति—जमता है ।
२ प्ररोहति—उत्पन्न होता है ।
३ अधिरोहति—चढ़ता है ।
४ अवरोहति—उतरता है ।
५ आरोहति—चढ़ता है ।
६ संरोहति—मिलता है ।

लप लपने—

१ लपति—बोलता है ।
२ विलपति—विलाप करता है ।
३ प्रलपति—बकवाद करता है ।
४ आलपति—बोलता है ।
५ संलपति—वार्तालाप करता है ।
६ अलपति—छिपता है ।

वद् व्यक्तायां वाचि—

१ वदति—बोलता है ।
२ अपवदते—छोड़ता है ।
३ अपवदति—दूषित करता है ।
४ अनुवदति—अनुवाद करता है ।
५ उपवदते—प्रार्थना करता है ।
६ विवदते—झगड़ता है ।
७ संप्रवदन्ते—मिलकर बोलता है ।
८ अनुवदते—तुल्य बोलता है ।
९ विप्रवदन्ते—विरुद्ध बोलता है ।

१० प्रतिवदति—जवाब देता है।

११ संवदति—बात करता है।

वृतु वर्तने—

१ वर्तते—है।

२ प्रवर्तते—प्रवृत्त होता है।

३ निवर्तते—लौटता है।

४ परिवर्तते—घूमता है।

५ अनुवर्तते—पीछे चलता है।

६ निवर्तते—शान्त होता है।

७ दुर्वर्तते—बुरा आचरण करता है।

८ विवर्तते—बदलता है।

९ आवर्तते—दुहराता है।

षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—

१ सीदति—ठहरता या दुखी होता है।

२ प्रसीदति—प्रसन्न होता है।

३ विषीदति—खिन्न होता है।

४ निषीदति—बैठता है।

५ अवसीदति—थकता है।

६ पर्यवसीदति—समाप्त होता है।

७ उपसीदति—पास में बैठता है।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ—

१ तिष्ठति—ठहरता है।

२ प्रतिष्ठते—प्रस्थान करता है।

३ उपतिष्ठते—उपस्थान करता है।

४ उत्तिष्ठति—उठता है।

५ अनुतिष्ठति—करता है।

६ संतिष्ठते—अच्छी तरह ठहरता है।

७ अवतिष्ठते—स्थिर होता है।

सृ गतौ—

१ सरति—जाता है।

२ अनुसरति—अनुसरण करता है।

३ प्रसरति—फैलता है।

४ अभिसरति—निकलता है।

५ निःसरति—„ „

६ अपसरति—हटता है।

७ परिसरति—घूमता है।

८ संसरति—सम्बद्ध होता है।

९ उत्सरति—अलग होता है।

१० उपसरति—पास जाता है।

हृञ् हरणे—

१ हरति—ले जाता है।

२ अपहरति—चुराता है।

३ अनुहरति—नकल करता है।

४ परिहरति—छोड़ता है।

५ आहरति—लाता है।

६ व्याहरति—बोलता है।

७ व्यवहरति—व्यवहार करता है।

८ अभ्यवहरति—खाता है।

९ प्रहरति—मारता है।

१० संहरति—नाश करता है।

११ उपसंहरति—उपसंहार करता है।

१२ विहरति—विहार करता है।

१३ समाहरति—इकट्ठा करता है।

१४ उद्धरति—निकालता है।

१५ उपहरति—उपहार देता है।

१६ उपाहरति—लाता है।

१७ उदाहरति—उदाहरण देता है।

१८ प्रत्युदाहरति—दूसरा उदाहरण देता है

क्षिप प्रेरणे—

१ क्षिपति—फेंकता है।

२ निक्षिपति—नीचे फेंकता है। सौंपता है।

३ प्रक्षिपति—प्रक्षेप करता है।

४ आक्षिपति—दोष लगाता है।

५ अधिक्षिपति—„ „

६ संक्षिपति—छोटा करता है।

७ उत्क्षिपति—ऊपर फेंकता है।

८ अधःक्षिपति—नीचे फेंकता है।

९ विक्षिपति—विक्षिप्त होता है।

परिशिष्ट (५)

भाषार्थ-प्रयोगसूची

अच्सन्धिः ।

सुध्युपास्यः—विद्वानों के उपासनीय
मध्वरिः—'मधु' दैत्य के शत्रु (भगवान् विष्णु)
धात्रंशः—ब्रह्मा का अंश
लाकृतिः—'ऌ' यह स्वरूप । अथवा 'ऌ' के समान टेढ़ी आकृति वाला
हरये—हरि के लिये
विष्णवे—विष्णु के लिये
नायकः—नेता, प्रधान
पावकः—पवित्रकर्ता या अग्नि
गव्यम्—गौ का विकार दुग्ध, दधि, घृत, गोमूत्र, गोबर आदि
नाव्यम्—नौका से तरने योग्य (जल)
गव्यूतिः—दो कोस
उपेन्द्रः—इन्द्र के छोटे भाई (वामन भगवान्)
गङ्गोदकम्—गङ्गा का उदक (जल)
कृष्णर्द्धिः—कृष्ण की समृद्धि
हर इह—हे हरि ! यहाँ
तवल्कारः—तेरा ऌकार
विष्ण इह—हे विष्णु ! यहाँ
कृष्णैकत्वम्—कृष्ण की एकता
गङ्गौघः—गङ्गा का प्रवाह
देवैश्वर्यम्—देवताओं का ऐश्वर्य
कृष्णौत्कण्ठ्यम्—कृष्ण में उत्कण्ठा
उपैति—पास आता है
उपैधते—समीप बढ़ता है
प्रष्ठौहः—सिखाने के लिये जिस के गले में काष्ठ बाँध देते हैं ऐसे बछड़े को 'प्रष्ठवाट्' कहते हैं, (तस्य प्रष्ठौहः) प्रष्ठवाट् का
उपेतः—समीप आया हुआ, या प्राप्त हुआ
मा भवान् प्रेदिधत्—आप अधिक न बढ़ाइए
अक्षौहिणी—सेनाविशेष
प्रौहः—अधिक तर्क या उत्तम तर्क करने वाला
प्रौढः—दक्ष, अधेड । प्रौढिः—प्रौढता
प्रैषः—प्रेरणा । प्रैष्यः—नौकर
सुखार्तः—सुख से प्राप्त हुआ, सुखी
परमर्तः—परम प्राप्त, मुक्त
प्रार्णम्—अधिक ऋण (कर्जा)
वत्सतरार्णम्—बछड़े का ऋण
कम्बलार्णम्—कम्बल का ऋण
वसनार्णम्—वस्त्र का ऋण
ऋणार्णम्—एक ऋण को उतारने के लिये लिया गया दूसरा ऋण
दशार्णः—दश किले जिस देश में हों ऐसा देश (उज्जैन)
प्रार्च्छति—अधिक चलता है
प्रेजते—अधिक काँपता है। उपोषति—जलाता है।
शकन्धुः—शक देश का कूप (कुआं)
कर्कन्धुः—बदरी फल (बेर)
मनीषा—बुद्धि । मार्तण्डः—सूर्य
शिवायोंनमः—शिव को नमस्कार है
शिवेहि—हे शिव ! आओ
दैत्यारिः—दैत्यों का शत्रु (विष्णु भगवान्)
श्रीशः—लक्ष्मीपति (भगवान् विष्णु)
विष्णूदयः—विष्णु का अभ्युदय
होतृकारः—होता का ऋकार
हरेऽव—हे हरि ! रक्षा करो

गो अग्रम्—गौ का अग्रभाग
चित्रग्वग्रम्—विचित्र गौएं हैं जिसके उस पुरुष का अग्रभाग । **गोः**—गौ का
गवाग्रम्—गौ का अग्रभाग
गवि—गौ में । **गवेन्द्रः**—गोस्वामी
आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति—हे कृष्ण ! आओ यहाँ गौ चरती है
हरी एतौ—ये दोनों हरि हैं
विष्णू इमौ—ये दोनों विष्णु हैं
गङ्गे अमू—ये दोनों गङ्गायें हैं
अमी ईशाः—ये अधिपति हैं
रामकृष्णावमू आसाते—ये बलराम और कृष्ण बैठे हैं
अमुकेऽत्र—ये यहाँ हैं ?
इ इन्द्रः—ओह ! यह इन्द्र है !
उ उमेशः—क्या यह महादेव है ?
आ एवं नु मन्यसे—क्या तू ऐसा मानता है ?
आ एवं किल तत्—हाँ वह बात ऐसी ही है
ओष्णम्—कुछ गर्म
अहो ईशाः—अहो ये अधिपति हैं
विष्णो इति—हे विष्णु ! ऐसा
किम्वुक्तम्—क्या कहा ?
चक्रि अत्र—विष्णु यहाँ है
गौर्यौ—दो गौरी ये हैं
वाप्यश्वः—वापी पर घोड़ा
ब्रह्मर्षिः—ब्रह्म ऋषि, वसिष्ठ
आर्च्छत्—चला गया

इत्यच्सन्धिः ।

अथ हल्सन्धिः ।

रामश्शेते—राम सोता है
रामश्चिनोति—राम चुनता है
सच्चित्—सत और ज्ञानस्वरूप
शार्ङ्गिञ्जय—हे शार्ङ्ग-धनुधारी भगवन् ! आप की जय हो
विश्नः—विचलना या गतिविशेष
प्रश्नः—पूछना
रामष्षष्ठः—राम छठा है
रामष्टीकते—राम जाता है
पेष्टा—पीसने वाला । **तट्टीका**—वह टीका
चक्रिण्ढौकसे—हे चक्रधारी ! तुम जाते हो
षट् सन्तः—छै सत्पुरुष
षट् ते—वे छै । **ईट्टे**—स्तुति करता है
सर्पिष्टमम्—अत्युत्कृष्ट घृत
षण्णाम्—छै का
षण्णवतिः—छियानवे (९६)
षण्णगर्यः—छै नगरियाँ
सन् षष्ठः—छठा श्रेष्ठ है । **वागीशः**—बृहस्पति
एतन्मुरारिः—यह मुरारि है
तन्मात्रम्-केवल वही । **चिन्मयम्**-ज्ञानस्वरूप
तल्लयः—उसमें लय—लीन होना
विद्वाँल्लिखति—पण्डित लिखता है
उत्थानम्—उठना, उन्नति
उत्तम्भनम्—उठाना, उभारना
वाग्घरिः—बोलने में शेर
तच्छिवः—वह शिव है
तच्छ्लोकेन—उस श्लोक से या उसकी कीर्ति से
हरिं वन्दे—हरि को मैं नमस्कार करता हूँ
यशांसि—बहुत से यश
आक्रंस्यते—आक्रमण करेगा
मन्यते—मानता है
शान्तः—शान्त । **अङ्कितः**—चिह्नित
अञ्चितः—पूजित या गत । **कुण्ठितः**—रुका हुआ
दान्तः—जितेन्द्रिय । **गुम्फितः**—गुथा हुआ
त्वङ्करोषि—तुम करते हो

सँव्वत्सरः—वर्ष (संवत)
सम्राट्—चक्रवर्ती राजा
किं ह्मलयति—क्या चलाता है ?
किं ह्यः—कल क्या था ?
किं ह्वलयति—क्या चलाता है ?
किं ह्लादयति—क्या प्रसन्न करता है ?
किं ह्नुते—क्या छिपाता है ?
षट्सन्तः—छै सज्जन
प्राङ् षष्ठः—छठा पूजित है
सुगण् षष्ठः—छठा अच्छा गणितज्ञ है
सन्त्सः—वह सत्पुरुष है
सञ्छम्भुः—शम्भु सत्स्वरूप है
प्रत्यङ्ङात्मा—अन्तरात्मा (जीवात्मा)
सुगण्णीशः—अच्छे गणितज्ञों का ईश
सन्नच्युतः—अच्युत सत्स्वरूप है
संस्कर्ता—संस्कार करने वाला
पुंस्कोकिलः—नरकोकिल
चक्रिंस्त्रायस्व—हे चक्रधारिन् ! रक्षा करो
प्रशान्तनोति—शान्तपुरुष विस्तार करता है
हन्ति—मारता है
नॄँःपाहि—मनुष्यों की रक्षा करो
काँस्कान्—किन किन को
शिवच्छाया—शिव की छाया
लक्ष्मीच्छाया—लक्ष्मी की छाया या शोभा

इति हल्सन्धिः।

अथ विसर्गसन्धिः।

विष्णुस्त्राता—विष्णु रक्षक है
हरिश्शेते—हरि सोता है
शिवोऽर्च्यः—शिव पूजनीय है
शिवो वन्द्यः—शिव वन्दनीय है
देवा इह—देवता यहाँ
भो देवाः !—हे देवताओ !
भगो नमस्ते—हे भगवन् ! तुमको नमस्कार है
अघो याहि—अये ! जाओ
अहरहः—प्रतिदिन। अहर्गणः—दिनसमूह
पुना रमते—फिर खेलता है
हरी रम्यः—हरि रमणीय है
शम्भू राजते—शम्भु विराजता है
अजर्घाः—तुमने बार बार लोभ किया
तृढः—हिंसित। वृढः—उद्यत, तैयार हुआ
मनोरथः—इच्छा
एष विष्णुः—यह विष्णु है
स शम्भुः—वह शम्भु है
एषको रुद्रः—यह रुद्र है
असः शिवः—वह शिव नहीं है
एषोऽत्र—यह यहाँ है
सैषामविड्ढि प्रभृतिम्—इसे देने में आप समर्थ हैं तो आप हमें इस प्रभृति प्रकृष्टधारणाको प्राप्त करावें
सैष दाशरथी रामः—वह यह दशरथ का पुत्र राम है

इति विसर्गसन्धिः।

अथाजन्तपुँल्लिङ्गः।

रामः—राम। कृष्णः—कृष्ण
सर्वः—सब। विश्वः—सब
उभौ—दोनों।
उभयः—दो अवयववाला
अन्यः—दूसरा, अन्यतरः—दो में एक
इतरः—इतर, त्वत्—अन्य
त्वः—भिन्न, नेमः—आधा
समः—सब, सिमः—सब
पूर्वः—पहला। परः—दूसरा
अवरः—छोटा, दक्षिणः—दक्षिण
उत्तरः—उत्तर, अपरः—दूसरा, अधरः—नीचा

स्वः—आत्मा और आत्मीय
अन्तरः—बाहर या पहिननेका कपड़ा
प्रथमः—पहला
चरमः—अन्तिम। कतिपयः—कई एक
द्वितीयः—दो अवयव वाला। अल्पः—थोड़ा
अर्धः—आधा। निर्जरः—देवता
विश्वपाः—विश्वका पालन करनेवाला (विष्णु)
शङ्खध्माः—शङ्ख बजानेवाला
हाहाः—देव, गन्धर्व
हरिः—पापहर्ता (भगवान्)
कविः—कविता करनेवाला। सखा—मित्र
पतिः—पति या मालिक
भूपतिः—राजा
कति—कितने? त्रयः—तीन
प्रियत्रिः—जिसको तीन प्यारे हैं वह
द्वौ—दो। पपीः—सूर्य। वातप्रमीः—मृग
बहुश्रेयसी—बहुत कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंवाला पुरुष
अतिलक्ष्मीः—लक्ष्मीको अतिक्रमण करने वाला, लक्ष्मी से श्रेष्ठ
प्रधीः—प्रकृष्ट ध्यानवाला
ग्रामणीः—मुखिया। नीः—ले जाने वाला
सुश्रीः—सुन्दर श्रीवाला
यवक्रीः—जौ खरीदने वाला
शुद्धधीः—पवित्र बुद्धिवाला। सुधी-पण्डित
सुखीः—सुख चाहने वाला
सुतीः—पुत्र चाहनेवाला।
शम्भुः—शिव। भानुः—सूर्य
क्रोष्टा—गीदड़। हूहूः—गन्धर्व
अतिचमूः—सेनाको अतिक्रमण करने वाला
खलपूः—खलिहान को मार्जन करने वाला
सुलूः—अच्छा काटने वाला
स्वभूः—स्वयम्भू ब्रह्मा। वर्षाभूः—मेढक

दृन्भूः—सर्प, कपि, वज्र और सूर्य
करभूः—हाथसे पैदा हुआ (नख)
धाता—ब्रह्मा। नप्ता—दौहित्र
पिता-पिता। जामाता-दामाद। ना-मनुष्य
गौः—गौ। राः-धन। ग्लौः—चन्द्रमा

इत्यजन्तपुँल्लिङ्गः।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गः।

रमा—लक्ष्मी
दुर्गा—दुर्गा। अम्बिकाः—दुर्गा
सर्वा—सब (स्त्री), विश्वा—सब (स्त्री)
उत्तरपूर्वा—ईशान कोण
द्वितीया—दूसरी। तृतीया—तीसरी
अम्बा—माता या दुर्गा। अल्ला-माता
अक्का—माता। जरा-वृद्धावस्था (बुढ़ापा)
गोपाः—गोपी। मतिः-बुद्धि
बुद्धिः—बुद्धि। तिस्रः—तीन (स्त्रियां)
चतस्रः—चार (स्त्रियाँ)
द्वे—दो (स्त्रियाँ) गौरी-पार्वती या गोरी स्त्री
नदी—नदी। लक्ष्मीः—लक्ष्मी
तरीः—नौका। स्त्री—स्त्री। श्रीः—लक्ष्मी
धेनुः—नई बियाई गौ। भ्रूः—भ्रुकुटि
स्वयंभूः—माया प्रकृति।
स्वसा—बहिन। ननान्दा—ननद
दुहिता—पुत्री
याता—देवरानी, जेठानी। माता—माता
द्यौः—आकाश। राः—धन। नौः—नौका

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गः।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गः।

ज्ञानम्—ज्ञान
धनम्-धन। वनम्-वन। फलम्—फल

कतरत्—दो में कौन ?
कतमत्—बहुतों या तीनोंमें कौन ?
इतरत्—इतर या दूसरा। अन्यत्—दूसरा
अन्यतरत्—दो में एक
अन्यतमम्—इन सब में एक
एकतरम्—दोनों में एक
श्रीपम्—धनरक्षक
द्वे—दो, त्रीणि—तीन
वारि—जल
दधि—दही। अस्थि—हड्डी
सक्थि—ऊरु, मांसल जाँघ
अक्षि—आँख। सुधि—बुद्धिमान्
मधु—शहद, मदिरा
सुलु—अच्छा काटनेवाला (शस्त्र)
धातृ—धारण या पोषण करनेवाला (कुल)
ज्ञातृ—ज्ञानी कुल
प्रद्यु—सुन्दर आकाशयुक्त (दिन)
प्ररि—धार्मिक (कुल)
सुनु—सुन्दर नौका वाला (कुल)

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गः।

अथ हलन्तपुंल्लिङ्गः।

लिट्—चाटनेवाला। धुक्—दूहनेवाला
ध्रुक्—द्रोह करनेवाला
मुक्—मुग्ध या मोहित करनेवाला
स्नुक्—वमनकारी। स्निक्—स्नेह करनेवाला
विश्ववाट्—विश्वम्भर। अनड्वान्—बैल
विद्वान्—शास्त्रज्ञ (पण्डित)
स्रस्तम्—गिरा हुआ। ध्वस्तम्—नष्ट हुआ
तुराषाट्—इन्द्र
सुद्यौ—सुन्दर आकाशवाला (दिवस)
चत्वारः—चार
प्रशान्—शान्त। कः—कौन ?

अयम्—यह (सन्निकृष्ट)
राजा—राजा
ब्रह्मनिष्ठः—ब्रह्म में निष्ठा वाला
यज्वा—यज्ञ करनेवाला। ब्रह्मा—ब्रह्मा
वृत्रहा—इन्द्र
शार्ङ्गी—शार्ङ्ग-धनुर्धारी (विष्णु)
यशस्वी—यश वाला
अर्यमा—सूर्य या देवविशेष
पूषा—सूर्य। मघवान्—इन्द्र
श्वा—कुत्ता। युवा—जवान, युवक
अर्वा—घोड़ा। पन्थाः—मार्ग, रास्ता
मन्थाः—दही मथने का दण्ड
ऋभुक्षाः—इन्द्र
पञ्च—पाँच। अष्टौ—आठ
ऋत्विक्—ऋत्विज करने वाला
युङ्—योगी। सुयुक्—सुयोगी
खञ्—लंगड़ा। राट्—राजा
विभ्राट्—बड़ा, अत्यन्त शोभा युक्त
देवेट्—देवपूजक। विश्वसृट्—ब्रह्मा
परिव्राट्—संन्यासी
विश्वराट्—विश्वेश्वर भगवान्, सूर्य
भृट्—भूजने वाला। स्यः—वह। सः—वह
यः—जो, एषः—यह (अत्यन्त निकट स्थित)
त्वम्—तू। अहम्—मैं
सुपात्—सुन्दर पैर वाला
अग्निमत्—अग्निमन्थन करने वाला
प्राङ्—अच्छा चलने वाला या पूज्य
प्रत्यङ्—पीछे। उदङ्—उत्तर
सम्यङ्—ठीक चलने वाला
सध्र्यङ्—साथी, मित्र
तिर्यङ्—टेढा चलने वाला पशु, पक्षी
क्रुङ्—क्रौञ्च पक्षी। पयोमुक्—मेघ
महान्—बड़ा। धीमान्—बुद्धिमान्

भवान्—आप। भवन्—होता हुआ
ददत्—देता हुआ
जक्षत्—खाता व हँसता हुआ
जाग्रत्—जागता हुआ
शासत्—शासन करता हुआ
चकासत्—दीप्त होता हुआ
गुप्—रक्षक। तादृक्—वैसा
विट्—बनियाँ। नक्—नष्ट होने वाला
घृतस्पृक्—घृतस्पर्श करने वाला
दधृक्—तिरस्कर्ता
रत्नमुट्—रत्न का चोर। षट्—छै
पिपठीः—पढ़ने की इच्छा वाला
चिकीः—करने की इच्छा वाला
विद्वान्—पण्डित। पुमान्—पुरुष
उशना—शुक्राचार्य। अनेहा—समय
वेधाः—ब्रह्मा। असौ—वह (पुरुष)

इति हलन्तपुँल्लिङ्गः।

—०—

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गः।

उपानत्—जूता। उष्णिक्—पगड़ी या छन्द
द्यौः—आकाश। गीः—वाणी
पूः—पुरी, नगरी। चतस्रः—चार स्त्रियाँ
का—कौन स्त्री। इयम्—यह स्त्री
स्या—वह स्त्री। सा—वह स्त्री
एषा—यह स्त्री (अत्यन्त निकट में)
वाक्—वाणी। आपः—जल
दिक्—दिशा। दृक्—आँख
त्विट्—कान्ति। सजूः—मित्र
आशीः—आशीर्वाद। असौ—वह स्त्री

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गः।

—०—

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गः।

स्वनडुत्—अच्छे बैलों वाला (कुल)
वाः—जल। चत्वारि—चार
किम्—क्या? इदम्—यह
एनत्—यह। अहः—दिन
दण्डि—दण्ड वाला (कुल)
सुपथि—सुमार्ग वाला (वन)
ऊर्क्—तेज और बल। तत्—वह
यत्—जो। एतत्—यह
गवाक्—गोपूजक, गौके पीछे जानेवाला
शकृत्—मल (टट्टी)
ददत्—देता हुआ
तुदत्—दुःख देता हुआ
पचत्—पाक करता (कुल)
दीव्यत्—खेलता हुआ। धनुः—धनुष
चक्षुः—आँख। हविः—हवि, घी
पयः—दूध या जल
सुपुम्—सुपुरुषों वाला (कुल)। अदः—यह

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गः।

(अव्ययार्थ ७५ पृष्ठ में देखें)

—०—

अथ भ्वादयः।

भू—होना, अत—निरन्तर गमन
षिध—जाना, चिती—चेतना
शुच्—शोक करना, गद—स्पष्ट बोलना
णद—नाद करना, टुनदि—समृद्धि
अर्च—पूजना, व्रज—जाना
कटे—बरसना और ढकना
गुपू—पालन करना, क्षि—नाश होना
तप—संताप करना। क्रमु—चलना
पा—पीना, ग्लै—ग्लानि
ह्वृ—कुटिलता, श्रु—सुनना

गस्लृ—जाना (गमन), एध—वृद्धि, बढ़ना
कमु—इच्छा करना, अय—चलना
द्युत—दीप्त होना, श्विता—सफेद करना,
ञिमिदा-ञिष्विदा—चिकना होना
ञिष्विदा—पसीना आना और छोड़ना
रुच—चमकना व अच्छा लगना,
घुट—लौटना, शुभ—शोभित होना
क्षुभ—क्षुब्ध होना, णभ-तुभ—हिंसा करना
स्रंसु-भ्रंसु-ध्वंसु—गिरना या नष्ट होना
ध्वंसु—चलना, स्रम्भु—विश्वास करना
वृतु—वर्तना, ददू—देना
त्रपूष—लज्जित होना
श्रिञ्—सेवा करना
भृञ—पालन करना, भरना
हृञ्—हरना, चोराना
धृञ्—धारण करना । णीञ्—ले जाना
डुपचष्—पकाना, भज—भजन करना
यज—पूजा करना, योग करना, दान देना
वह—वहन करना

इति भ्वादयः ॥ १ ॥

अथ अदादयः ।

अद—खाना, हन—मारना, चलना
यु—मिलना या अलग होना
या—पहुँचना, जाना
वा—बहना, चुगली करना । भा—चमकना
ष्णा—स्नान करना, पवित्र होना
श्रा—पकाना । सिझाना । द्रा—निन्दित गमन
प्सा—खाना, रा—देना
ला—लेना दाप्—काटना, पा—रक्षा करना
ख्या—कहना, विद—जानना
अस—होना, इण्—जाना
शीङ्—सोना, इङ्—पढ़ना
दुह—दुहना, दिह—बढ़ना । लिह—चाटना
ब्रूञ्—बोलना, ऊर्णुञ्—ढकना

इत्यदादयः ॥ २ ॥

अथ जुहोत्यादयः ।

हु—होम करना, खाना या लेना
ञिभी—डरना, ह्री—लज्जित होना
पॄ—पालन करना, पूरा करना
ओहाक्—छोड़ना
माङ्—नापना, शब्द करना
ओहाङ्—जाना
डुभृञ्—धारण करना, पालना, पोसना
डुदाञ्—देना, डुधाञ्—धारण करना, पालन-पोषण करना
णिजिर्—साफ करना, पोषण करना

इति जुहोत्यादयः ॥ ३ ॥

अथ दिवादयः ।

दिवु—खेलना, जय की इच्छा, लेनदेन का व्यवहार करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, मदमत्त होना, सोना, इच्छा करना, जाना
षिवु—सीना । नृती—नाचना
त्रसी—घबराना, उद्विग्न होना
शो—छीलना, तेज करना
छो—काटना, छाँटना
षो—नाश करना दो—काटना
व्यध्—मारना (बींधना)
पुष—पुष्ट करना
शुष—सूखना । णश—नष्ट होना
षूङ्—उत्पन्न करना

डूङ्—दुखी होना । दीङ्—क्षीण होना
डीङ्—आकाश में उड़ना
पीङ्—पीना । माङ्—नापना
जनी—जन्मना प्रादुर्भाव
दीपी—चमकना । पद्—चलना
विद—होना । बुध—जानना
युध—लड़ना
सृज—छोड़ना, त्यागना
मृष—सहन करना । णह—बांधना

इति दिवादयः ॥ ४ ॥

—o—

अथ स्वादयः ।

षुञ्—स्नान कराना, सोमलता को कूटना, मद्य बनाना
चिञ्—इकट्ठा करना (चुनना)
स्तृञ्—ढकना । धूञ्—कांपना

इति स्वादयः ॥ ५ ॥

—o—

अथ तुदादयः ।

तुद—कष्ट देना
णुद—प्रेरणा करना । भ्रस्ज—भूनना
कृष—जोतना
मिल—मिलना । मुच्लृ—छोड़ना
लुप्लृ—काटना । लोप करना
विद्लृ—प्राप्त करना
षिच—सींचना । लिप—लीपना
कृती—काटना । खिद—खिन्न होना
पिश—पीसना । ओव्रश्चू—काटना
व्यच—ठगना । उछि—बीनना, चुनना
ऋच्छ—जाना । इन्द्रियों का शिथिल होना । जमना
उज्झ—त्यागना । लुभ—लुभाना
तृप-तृम्फ—तृप्त होना
मृड-पृड—सुखी होना
शुन—जाना । इषु—इच्छा करना
कुट—कुटिलता करना
पुट—मिलना, जोड़ना
स्फुट—खिलना, विकसित होना
स्फुर-स्फुल—फड़कना । णू—स्तुति करना
टुमस्जो—नहाना, मज्जन
रुजो—तोड़ना, रोगी होना
भुजो—टेढा होना । विश—प्रवेश करना
मृश—स्पर्श करना
षद्लृ—बिखरना, जाना, दुखी होना
शद्लृ—छीलना । कॄ—बिखेरना
गॄ—निगलना
प्रच्छ—पूछना । मृङ्—मरना
पृङ्—उद्योग करना
जुषी—प्रीति तथा सेवा करना
ओविजी—डरना, कांपना, उद्विग्न होना

इति तुदादयः ॥ ६ ॥

—o—

अथ रुधादयः ।

रुधिर—रोकना
भिदिर्—भेदन करना । छिदिर्—तोड़ना
युजिर्—जोड़ना, रिचिर्—रिक्त होना
विचिर्—पृथक् होना । क्षुदिर्—पीसना
उच्छृदिर्—चमकना, खेलना
उतृदिर्—मारना, अनादर करना
कृती—काटना । तृह-हिंसि—हिंसा करना
उन्दी—भिगोना
अञ्जू—प्रकट करना, चिकना करना, सुन्दर होना, जाना

तञ्चू—संकुचित होना
ओविजी—भय करना, कांपना
शिष्लृ—विशेषित करना
पिष्लृ—पीसना । भञ्जो—तोड़ना
भुज—पालना, खाना
(ञि)इन्धी—चमकना, दीप्त होना
विद—विचार करना

इति रुधादयः ॥ ७ ॥

अथ तनादयः ।

तनु—विस्तार करना, फैलाना
षणु—दान देना
क्षणु-क्षिणु—मारना
तृणु—खाना । डुकृञ्—करना
वनु—माँगना । मनु—जानना

इति तनादयः ॥ ८ ॥

अथ क्र्यादयः ।

डुक्रीञ्—अदल बदल करना, खरीदना, बेचना
प्रीञ्—तृप्त करना, इच्छा करना
श्रीञ्—पकाना । मीञ्—मारना
षिञ्—बाँधना । स्कुञ्—उछलना, उठाना
स्तम्भु—स्तुम्भु—स्कम्भु-स्कुम्भु—रोकना
युञ्—बाँधना । क्नूञ्—शब्द करना
दूञ्—मारना । दॄञ्—विदीर्ण करना
पूञ्—पवित्र करना
लूञ्—काटना । स्तॄञ्—ढकना
कॄञ्—मारना । वॄञ्—स्वीकार करना
धूञ्—कँपाना । ग्रह—लेना
कुष—निकालना, खुरचना
अश—खाना । मुष—चुराना
ज्ञा—जानना
वृङ्—भजन करना, स्वीकार करना

इति क्र्यादयः ॥ ९ ॥

अथ चुरादयः ।

चुर—चोरी करना, कथ—कहना
गण—गिनना

इति चुरादयः ॥ १० ॥

अथ ण्यन्तः ।

भावयति—होने के लिये प्रेरणा करता है
स्थापयति—ठहराता है
वटयति—चेष्टा कराता है
ज्ञपयति—बताता है

इति ण्यन्तः ।

अथ सन्नन्तः ।

पिपठिषति—पढ़ने की इच्छा करता है
जिघत्सति—खाना चाहता है
चिकीर्षति—करना चाहता है
बुभूषति—होना चाहता है

इति सन्नन्तः ।

अथ यङन्तः ।

बोभूयते—बारंबार या अच्छी तरह होता है
वाव्रज्यते—टेढ़ा चलता है
वरीवृत्यते—बार बार या अच्छी तरह होता है
नरीनृत्यते—बार बार व अच्छी तरह नाचता है
जरीगृह्यते—बार बार वा अच्छी तरह ग्रहण करता है

इति यङन्तः ।

अथ यङ्लुगन्तः ।

बोभवीति—बारंबार वा अच्छी तरह होता है

इति यङ्लुगन्तः ।

अथ नामधातुः ।

पुत्रीयति—अपने लिए पुत्र चाहता है
राजीयति—अपने लिए राजा चाहता है
वाच्यति-गीर्यति—अपने लिए वाणी चाहता है
पूर्यति—अपने लिए नगरी चाहता है
दिव्यति—अपने लिए स्वर्ग चाहता है
समिध्यति—अपने लिये समिधा (लकड़ी) चाहता है
पुत्रीयतिच्छात्रम्—छात्रको पुत्र की तरह मानता है
पुत्रकाम्यति—अपने लिये पुत्र चाहता है
विष्णूयति द्विजम्—ब्राह्मण को विष्णु की तरह मानता है
स्वति—अपने समान वा धन की तरह मानता है
राजानति—राजा के समान मानता है
पथीनति—मार्ग की तरह मानता है
कष्टायते—पाप करना चाहता है
शब्दायते—शब्द करता है
घटयति—घड़ा बनाता है

इति नामधातुः ।

अथ कण्ड्वादयः ।

कण्डूयति—खुजलाता है

इति कण्ड्वादयः ।

अथात्मनेपदम् ।

व्यतिलुनीते—अन्य के काटने योग्य को स्वयं काटता है
व्यतिगच्छन्ति—दूसरों के योग्य गमन को दूसरे करते हैं
व्यतिघ्नन्ति—अन्य के योग्य हनन को अन्य करते हैं
निविशते—प्रविष्ट होता है
परिक्रीणीते—खरीदता है
विक्रीणीते—बेचता है
अवक्रीणीते—खरीदता है
विजयते—विजय पाता है, पराजयते—हारता है
सन्तिष्ठते—ठहरता है,
अवतिष्ठते—ठहरता है, बैठता है
प्रतिष्ठते—जाता है, बैठता है
वितिष्ठते—बैठता है
शतमपजानीते—सौ रुपयों को छिपाता है
सर्पिषो जानीते—घी से प्रवृत्त होता है
धर्ममुच्चरते—धर्मको उल्लङ्घन करता है
रथेन सञ्चरते—रथ से घूमता है
दास्या संयच्छते—दासी को देता है
वृदिधिषते—बढ़ना चाहता है
निविविक्षते—प्रविष्ट होना चाहता है
श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते—बाज चिड़िया पर झपटता है
उत्कुरुते—चुगुली करता है
हरिमुपकुरुते—हरि की सेवा करता है
परदारान् प्रकुरुते—पर स्त्री में सहसा प्रवृत्त होता है, बलात्कार करता है
एधो दकस्योपस्कुरुते—काष्ठ जल का गुण ग्रहण करता है
कथाः प्रकुरुते—कथा कहता है
शतं प्रकुरुते—सौ रुपया धर्मार्थ लगाता है
कटं करोति—चटाई बनाता है
ओदनं भुङ्क्ते—भात खाता है

महीं भुनक्ति—पृथ्वी की रक्षा करता है

इत्यात्मनेपदम्।

अथ परस्मैपदम्।

अनुकरोति—नकल करता है
पराकरोति—दूर करता है
अभिक्षिपति—फेंकता है
प्रवहति—बहता है
परिमृष्यति—सहन करता है
विरमति—हटता है
यज्ञदत्तमुपरमति—यज्ञदत्त को हटाता है

इति परस्मैपदम्।

अथ भावकर्म।

भूयते—हुआ जाता है
अनुभूयते—अनुभूत किया जाता है
भाव्यते—भावित किया जाता है
बुभूष्यते—होने के लिये इच्छा की जाती है
बोभूयते—बारबार हुआ जाता है
स्तूयते—स्तुति की जाती है
अर्यते—प्राप्त किया जाता है
स्मर्यते—स्मृत किया जाता है
स्रस्यते—गिरा जाता है
नन्द्यते—आनन्दित हुआ जाता है
इज्यते—यज्ञ किया जाता है
तायते—विस्तृत किया जाता है
अनुतप्यते—पश्चात्ताप किया जाता है
दीयते—दिया जाता है
धीयते—धारण किया जाता है
भज्यते—भजन किया जाता है
लभ्यते—प्राप्त किया जाता है

इति भावकर्म।

अथ कर्मकर्तृ।

पच्यते—पकता है, भिद्यते—टूटता है

इति कर्मकर्तृ।

अथ लकारार्थः।

स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः—हे कृष्ण! स्मरण करते हो कि हम लोग गोकुल में रहते थे।

अभिजानासि कृष्ण?-यद्वनेऽभुञ्ज्महि—हे कृष्ण! याद करते हो कि वनमें हम लोग खाया करते थे

यजति स्म युधिष्ठिरः—युधिष्ठिरने यज्ञ किया

कदाऽऽगतोऽसि—कब आये हो?

अयमागच्छामि अयमागमं वा—यह आ रहा हूँ

कदा गमिष्यसि—कब जाओगे?

एष गच्छामि गमिष्यामि वा—यह (अभी) जा रहा हूँ

कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्—यदि कृष्णको नमस्कार करेगा तो सुखी होगा

कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं-यास्यति—कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पायगा

हन्तीति पलायते—मारता है इसलिये भागता है

यजेत—यज्ञ करे। इह भुञ्जीत—यहाँ खावे

इहाऽऽसीत् भवान्—(इच्छा हो तो) आप यहाँ बैठिये

पुत्रमध्यापयेद्भवान्—आप मेरे पुत्र को पढ़ाइयेगा?

किं भो? वेदमधीयीय, उत तर्कम्—कहिये क्या मैं वेद पढ़ूँ या तर्क?

भो! भोजनं लभेय—भाई! भोजन प्राप्त करूंगा

इति लकारार्थः।

अथ कृत्यप्रक्रिया ।

एधितव्यम्—बढ़ना चाहिये
एधनीयम्—बढ़ना चाहिये
चेतव्यः—चयनीयः—सञ्चय करना चाहिये
पचेलिमाः—पकाने योग्य
भिदेलिमाः—भेदन करने योग्य
स्नानीयम्—साबुन (उबटन)
दानीयः—दान देने योग्य (ब्राह्मण)
चेयम्—चुनने योग्य । देयम्—देने योग्य
ग्लेयम्—ग्लानि के योग्य
शप्यम्—शाप देने योग्य
लभ्यम्—पाने लायक । इत्यः-जाने योग्य
स्तुत्यः—स्तुति करने योग्य
शिष्यः-शिक्षा देनेयोग्य (छात्र)
वृत्यः-वर्तने योग्य । आदृत्यः—आदरणार्ह
जुष्यः-सेवनीय । मृज्यः—साफ करने योग्य
कार्यम्—कर्त्तव्य । हार्यम्—हरणीय
धार्यम्-धारण के योग्य । मार्ग्यः-शोधनीय
भोज्यम्—भोजन करने योग्य
भोग्यम्—भोगने योग्य

इति कृत्यप्रक्रिया ।

अथ पूर्वकृदन्तम् ।

कारकः—करने वाला । कर्ता—कर्ता
नन्दनः—आनन्द करने वाला
ग्राही—ग्रहण करनेवाला । स्थायी—स्थिर
मन्त्री—मन्त्री, सलाह देने वाला
बुधः—पण्डित
कृशः—कृश । ज्ञः—जाननेवाला
प्रियः—प्यारा । किरः—बिखेरनेवाला
प्रज्ञः—पण्डित । सुग्लः—जल्दी घबड़ानेवाला
गृहम्—घर । कुम्भकारः—कुम्हार
गोदः—गौ देनेवाला
धनदः—धन देनेवाला
कम्बलदः—कम्बल देनेवाला
गोसन्दायः—गौ देनेवाला
मूलविभुजः—जड़को उखाड़नेवाला (रथ)
महीध्रः, कुध्रः—पर्वत
कुरुचरः—कुरु देश में घूमनेवाला
भिक्षाचरः—भिक्षुक । सेनाचरः—सैनिक
आदायचरः—लेकर घूमनेवाला
यशस्करी—यश देनेवाली (विद्या)
श्राद्धकरः—श्राद्ध करनेवाला
वचनकरः—आज्ञाकारी
जनमेजयः—जनमेजय (राजा)
प्रियंवदः—मीठा बोलनेवाला
वशंवदः—आज्ञाकारी
पण्डितम्मन्यः,-पण्डितमानी—अपने को पण्डित माननेवाला
सुशर्मा—अच्छा मारनेवाला
प्रातरित्वा—प्रातःकाल जानेवाला
विजावा—जन्मनेवाला
अवावा—दूर करनेवाली (ब्राह्मणी)
रोट्, रेट्—हिंसक
सुगण्—गणित का अच्छा ज्ञाता
उखास्रत्—बटुए से गिरा हुआ
पर्णध्वत्—पत्ते से गिरा हुआ
वाहभ्रट्—घोड़े पर से गिरा हुआ
उष्णभोजी—गर्म खाने वाला
दर्शनीयमानी-अपनेको सुन्दर माननेवाला
कालिम्मन्या—अपने को काली मानने वाली
सोमयाजी—सोम यज्ञ करनेवाला
अग्निष्टोमयाजी—अग्निष्टोम यज्ञ करनेवाला
पारदृश्वा—पारदर्शी, पारङ्गत

राजयुध्वा—राजा को युद्ध करानेवाला
राजकृत्वा—राजा बनाने वाला
सहयुध्वा—साथ युद्ध करने वाला
सहकृत्वा—साथ करने वाला
सरसिजम्, सरोजम्—कमल
प्रजा—सन्तान या प्रजा। **स्नातम्**-स्नान किया
स्तुतः-स्तुत किया गया। **कृतवान्** किया
शीर्णः-बिखरा गया। **भिन्नः**—भिन्न
छिन्नः—काटा गया
ह्राणः टेढा मेढा किया गया। **ग्लानः**-उदास
लूनः—काटा गया। **जीनः**-वृद्ध। **भुग्नः**-टेढ़ा
उच्छूनः—फूला हुआ
शुष्कः-सूखा हुआ। **पक्वः**—पकाया गया
क्षामः-कृश। **भावितः**—पैदा किया गया
भावितवान्—पैदा किया। **दृढः**—दृढ
हितम्—रखा हुआ। **दत्तः**—दिया
चक्राणः—करनेवाला। **जगन्वान्**-जानेवाला
पचन्तं-पचमानम्—पकाते हुए को
सन् द्विजः—श्रेष्ठ ब्राह्मण। **विद्वान्**—विद्वान्
करिष्यन्तं-करिष्यमाणम्—करनेवालेको
कर्ता—करनेवाला
जल्पाकः-अधिक बोलनेवाला
भिक्षाकः-भिक्षु। **कुट्टाकः**—कूटनेवाला
लुण्टाकः—लूटने वाला, (डाकू)
वराकः—बेचारा। **वराकी**—बेचारी
चिकीर्षुः—करने की इच्छा वाला
आशंसुः—आशाकरनेवाला। **भिक्षुः**-संन्यासी
विभ्राट्—अधिक शोभनेवाला
भाः-कान्ति। **धूः**-धुरी। **विद्युत्**—बिजली
ऊर्क्—बल वा तेज। **पूः**—पुरी
जूः—रोगी, ज्वरी
ग्रावस्तुत्—पत्थर की स्तुति करने वाला
प्राट्—प्रश्नकर्ता
आयतस्तूः—आयत की स्तुति करने वाला
कटप्रूः—चटाई बनानेवाला
श्रीः—लक्ष्मी। **दात्रम्**—हँसिया
नेत्रम्—नेता, रस्सी, नेत्र **शस्त्रम्**-आयुध
योत्रं-योक्त्रम्—जोता (जोत)
स्तोत्रम्—स्तुति का साधन
तोत्त्रम्—चाबुक। **सेत्रम्**—बाँधनेकी रस्सी
सेक्त्रम्—सेचन पात्र। **मेढ्रम्**—लिङ्ग
पत्त्रम्—वाहन, पत्ता
दंष्ट्रा—दाँत, **नध्री**—चर्मरज्जु
अरित्रम्—नौका चलाने का दण्ड
लवित्रम्—काटने का साधन
धवित्रम्—मृगचर्म निर्मित पंखा
सवित्रम्—प्रसवसाधन, यन्त्रविशेष
खनित्रम्—खननसाधन (खन्ता)
सहित्रम्—सहन करनेका साधन
चरित्रम्—चरित्र। **पवित्रम्**—पवित्र

इति पूर्वकृदन्तम्।

अथोणादयः।

कारुः—शिल्पी, कारीगर। **वायुः**—वायु
पायुः—गुदा। **जायुः**—औषध
मायुः—पित्त। **स्वादुः**—स्वादु। **आशु**-शीघ्र

इत्युणादयः।

अथोत्तरकृदन्तम्।

द्रष्टुम्—देखने के लिये
दर्शकः—देखने के लिये
भोक्तुम्—खाने के लिये। **पाकः**—पाक
रागः—रङ्ग। **रङ्गः**—रङ्गभूमि, स्टेज
निकायः—संघात। **कायः**—शरीर
गोमयनिकायः—गोबर की राशि

जयः—विजय । चयः—समूह
करः—करना, या हाथ । गरः—निगलना, जहर
यवः—मिलना, जौ । लवः—काटना
स्तवः—स्तुति । पवः—पवित्रता
प्रस्थः—सेर भर । विघ्नः—विघ्न
पक्त्रिमम्-पका हुआ । उप्त्रिमम्-बोया हुआ
वेपथुः—कम्पन । यज्ञः—यज्ञ
याच्ञा—मांगना । यत्नः—प्रयत्न
विश्नः—चलना या बोलना
प्रश्नः—प्रश्न । रक्ष्णः—रक्षा
स्वप्नः—स्वप्न । प्रधिः—रथ की नेमि
उपधिः—दम्भ, ढोंग कृतिः—क्रिया
स्तुतिः—स्तुति । कीर्णिः—बिखेरना
लूनिः—काटना । धूनिः—कांपना
पूनिः—पवित्र करना । सम्पत्—सम्पत्ति
विपत्—विपत्ति । आपत्—आपत्ति
सम्पत्तिः—सम्पत्ति । विपत्तिः—विपत्ति
जूः—ज्वरी, रोगी । तूः—शीघ्रकारी
स्रूः—चलने वाला । ऊः—रक्षक
मूः—बाँधने वाला । इच्छा—इच्छा
चिकीर्षा—करने की इच्छा
पुत्रकाम्या—अपने लिये पुत्र की इच्छा
ईहा—चेष्टा । कारणा—यातना, तीव्र पीडा
हारणा—हराना । हसितम्—हंसना
दन्तच्छदः—ओष्ठ । आकरः—खान
अवतारः—उतरना, उतार
अवस्तारः—कनात, पर्दा । रामः—श्रीराम
अपामार्गः-औंगा, चिडचिडा । दुष्करः-कठिन
ईषत्करः—सुकरः—सरल
ईषत्पानः—सरलता से पेय
दुष्पानः—दुःख से पेय
सुपानः—सुखसे पेय । अलं दत्त्वा-मत दो
पीत्वा खलु—मत पीओ

मा कार्षीत्—मत करो । अलङ्कारः—भूष०
मुक्त्वा—छोड़ कर । भुक्त्वा—खाकर
पीत्वा-पीकर । शयित्वा—सो कर
कृत्वा—करके
द्युतित्वा—द्योतित्वा—प्रकाशित होकर
लिखित्वा—लिखकर । वर्तित्वा—होकर
सेवित्वा—सेवा करके
एषित्वा—इच्छा करके । भुक्त्वा—खाकर
शमित्वा—शान्त्वा—शान्तहोकर
देवित्वा—द्यूत्वा—खेलकर
हित्वा—धारण करके । हित्वा—छोड़कर
प्रकृत्य—प्रारम्भ करके । हात्वा—जाकर
स्मारं स्मारम्—स्मरण कर करके
स्मृत्वा—स्मृत्वा—स्मरण कर करके
पायम्पायम्—पी पी कर
भोजम्भोजम्—खा खा कर
श्रावंश्रावम्—सुन सुन कर
अन्यथाकारम्—दूसरी तरह
एवङ्कारम्-इसप्रकार । कथङ्कारम्-किसप्रकार
इत्थङ्कारम्—इस प्रकार
शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते—शिरको टेढा करके भोजन करता है

इत्युत्तरकृदन्तम् ।

अथ कारकः ।

उच्चैः—ऊँचा । नीचैः—नीचा
कृष्णः—कृष्ण । श्रीः—लक्ष्मी । ज्ञानम्-ज्ञान
तटः, तटी, तटम्—तट, किनारा
द्रोणो व्रीहिः—द्रोण (१० सेर) धान्य
एकः—एक । द्वौ—दो
बहवः—बहुत से । हे राम—हे राम !
हरिं भजति—हरि को भजता है
हरिः सेव्यते—हरि की सेवा करता है

लक्ष्म्या सेवितः—लक्ष्मी से सेवित
गां दोग्धि पयः—गौ से दूध दुहता है
बलिं याचते वसुधाम्—बलि राजा से पृथ्वी मांगता है
तण्डुलानोदनं पचति—चावलों से भात बनाता है
गर्गान् शतं दण्डयति—गर्गों को सौ रुपया दण्ड (जुर्माना) करता है
व्रजमवरुणद्धि गाम्—व्रजमें गौ को रोकता है
माणवकं पन्थानं पृच्छति—लड़के से रास्ता पूछता है
वृक्षमवचिनोति फलानि—वृक्ष से फल इकट्ठा करता है
माणवकं-धर्मं ब्रूते-शास्ति वा-बालक को धर्मोपदेश देता है
शतं—जयति देवदत्तम्—देवदत्त से सौ (रुपया) जीतता है
सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—क्षीरसागर को मथकर अमृत निकालता है
देवदत्तं शतं मुष्णाति—देवदत्त से सौ चुराता है
ग्राममजां नयति हरति कर्षति वा-ग्राम में बकरी को ले जाता है
बलिं भिक्षते वसुधाम्—बलि से पृथ्वी मांगता है
माणवकं धर्मं भाषते-बालक को धर्मोपदेश करता है
रामेण बाणेन हतो वाली—रामने बाण से बाली को मारा
विप्राय गां ददाति—ब्राह्मण को गौ देता है
हरये नमः—हरि को नमस्कार
प्रजाभ्यः स्वस्ति—प्रजाओं को कल्याण हो
अग्नये स्वाहा—अग्नि के लिए (हवि)
पितृभ्यः स्वधा—पितरों के लिये (कव्य)
दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः—दैत्यों के प्रति।हरि पर्याप्त है
ग्रामादायाति—ग्रामसे आता है
धावतोऽश्वात्पतति—दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है
राज्ञः पुरुषः—राजा का सिपाही
सतां गतम्—सत्पुरुषों की चाल
सर्पिषो जानीते-घी के उपायसे प्रवृत्त होता है
मातुः स्मरति—माता को स्मरण करता है
एधो दकस्योपस्कुरुते-लकड़ी जल में अपने गुणों को स्थापित करती है
भजे शम्भोश्चरणयोः—शम्भु के चरणों को भजता हूँ
कटे आस्ते—चटाई पर बैठा है
स्थाल्यां पचति—बटुए में पकाता है
मोक्षे इच्छास्ति—मोक्षविषयक इच्छा है
सर्वस्मिन्नात्मास्ति—सब में आत्मा है
वनस्य दूरे अन्तिके वा—वन के दूर या समीप

इति कारकः ।

अथाव्ययीभावसमासः ।

भूतपूर्वः—पहिले हो चुका
वागर्थाविव—शब्द और अर्थ के समान
अधिहरि—हरि में, अधिगोपम्—गोप में
उपकृष्णम्—कृष्ण के पास
सुमद्रम्—मद्र देश की समृद्धि
दुर्यवनम्—यवनों (यूनानियों) की दुर्गति
निर्मक्षिकम्—मक्षिकाओं का अभाव
अतिहिमम्—हिम का नाश
अतिनिद्रम्—अब सोना उचित नहीं
इति हरि—हरि शब्द का प्रकाश

अनुविष्णु—विष्णु के पीछे
अनुरूपम्—स्वरूप के योग्य
प्रत्यर्थम्—अर्थ अर्थ के प्रति
यथाशक्ति—शक्त्यनुसार
सहरि—हरि का सादृश्य
अनुज्येष्ठम्—ज्येष्ठ के क्रम से
सचक्रम्—चक्रके साथ। ससखि-मित्रके सदृश
सक्षत्रम्—क्षत्रियों की बढती
सतृणमत्ति—तृण सहित खाता है
साग्नि—अग्निग्रन्थपर्यन्त पढ़ता है
पञ्चगङ्गम्—पाँच गङ्गाओं का समाहार
द्वियमुनम्—दो यमुनाओं का समाहार
उपशरदम्—शरद् ऋतु के समीप
प्रतिविपाशम्—विपाश (व्यासा) नदी पर
उपजरसम्—बुढ़ापे के समीप
उपराजम्—राजा के समीप
अध्यात्मम्—आत्मा में
उपचर्मम्—चर्म के समीप
उपसमिधम्—समिधा के समीप

इत्यव्ययीभावसमासः।

अथ तत्पुरुषः।

कृष्णश्रितः—कृष्ण के आश्रित
शङ्कुलाखण्डः—सरौता से किया हुआ टुकड़ा
धान्यार्थः—धान्य से मतलब
अक्ष्णा काणः—एक आंख से काना
हरित्रातः—हरि से रक्षित
नखभिन्नः—नखों से फाड़ा गया
यूपदारु—यज्ञस्तम्भ के लिए लकड़ी
रन्धनाय स्थाली—रांधने के लिए हाँडी
द्विजार्थः सूपः—ब्राह्मण के लिए दाल
द्विजार्था यवागूः—ब्राह्मण के लिए लप्सी
द्विजार्थं पयः—ब्राह्मण के लिए दूध

भूतबलिः—भूतों के लिए बलि
गोहितम्—गौ के लिए हित
गोसुखम्—गौवों के लिए सुखप्रद
गोरक्षितम्—गौवों के लिए रखा हुआ
चोरभयम्—चोर से भय
स्तोकान्मुक्तः—थोड़े से छूटा
अन्तिकादागतः—समीप से आया
अभ्याशादागतः— ,, ,,
दूरादागतः—दूर से आया
कृच्छ्रादागतः—कष्ट से आया
राजपुरुषः—राजा का पुरुष (पुलिस)
पूर्वकायः—शरीर का अग्रभाग
अपरकायः—शरीर का पिछला भाग
पूर्वश्छात्राणाम्—छात्रों में पहला
अर्धपिप्पली—पिप्पली का आधा भाग
अक्षशौण्डः—जूआ खेलने में लम्पट
पूर्वेषुकामशमी—पूर्व इषुकामशमी देश
सप्तर्षयः—सात ऋषि
उत्तरा वृक्षाः—उत्तर वृक्ष
पञ्च ब्राह्मणाः—पाँच ब्राह्मण
पौर्वशालः—पहली शाला (हवेली) में होने वाला
पञ्चगवधनः—पाँच गौ जिसका धन है वह पुरुष
पञ्चगवम्—पाँच गौ
नीलोत्पलम्—नील कमल
कृष्णसर्पः—सर्प की एक जाति
रामो जामदग्न्यः—जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी
घनश्यामः—मेघ के समान श्याम
शाकपार्थिवः—शाकप्रिय राजा
देवब्राह्मणः—देवपूजक ब्राह्मण, पूजारी
अब्राह्मणः—ब्राह्मणेतर। अनश्वः—गदहा

नैकधा—अनेक प्रकार से
कुपुरुषः—निन्दित मनुष्य
ऊरीकृत्य—स्वीकार करके
शुक्लीकृत्य—सफेद करके
पटपटाकृत्य—पट पट ऐसा शब्द करके
सुपुरुषः—सज्जन पुरुष
प्राचार्यः—प्रधान आचार्य
अतिमालः—माला को अतिक्रमण करने वाला
अवकोकिलः—कोकिलाओं से कूजित
पर्यध्ययनः—पढ़ने से उदास
निष्कौशाम्बिः—कौशाम्बीसे निकला हुआ
कुम्भकारः—कुम्हार। व्याघ्री—बाघिन
अश्वक्रीती—घोड़े से खरीदी हुई
कच्छपी—कछुवी
द्व्यङ्गुलम्—दो अंगुलि भर
निरङ्गुलम्—अंगुलियों से निकला हुआ
अहोरात्रः-दिन रात। सर्वरात्रः-सारी रात
संख्यातरात्रः—गिनी हुई रात्रियाँ
द्विरात्रम्—दो रातें। त्रिरात्रम्—तीन रातें
परमराजः-बड़ाराजा। महाराजः-महाराज
महाजातीयः—महान्। द्वादश—बारह
अष्टाविंशतिः—अठाईस
कुक्कुटमयूर्यौ—कुक्कुट (मुर्गा) और मयूरी
पञ्चकपालः—पाँच खप्परों में संस्कृत किया हुआ चरु
आप्तजीविकः—आपन्नजीविकः—जिसको जीविका लग गई है, वह
अलंकुमारिः—कुमारी के लायक
अर्धर्चम्—ऋचा का आधा भाग
मृदु पचति—मुलायम पकता है
प्रातः कमनीयम्—मनोहर प्रभात

इति तत्पुरुषः।

—o—

अथ बहुव्रीहिः।

कण्ठेकालः—नीलकण्ठ (शिव)
प्राप्तोदकः—जिसमें जल घुस गया है वह (ग्राम)
ऊढरथः—रथ को जिसने वहन किया है (ऐसा बैल)
उपहृतपशुः—पशु जिसको भेंट किया गया है (ऐसा रुद्र)
उद्धृतौदना—भात जिससे निकाल लिया गया है (ऐसी बटुली)
पीताम्बरः—पीला वस्त्र वाला (हरि)
वीरपुरुषकः—वीर पुरुष वाला (गाँव)
प्रपर्णः—गिरा हुआ पत्ता। अपुत्रः—पुत्ररहित
चित्रगुः—चित्र विचित्र गौओं वाला
रूपवद्भार्यः—रूपवती पत्नी वाला
वामोरूभार्यः—जिसकी भार्या सुन्दर रूपवाली है
कल्याणीपञ्चमाः—पाँचवीं कल्याण कारिणी है जिनमें
स्त्रीप्रमाणः—स्त्री को प्रमाण मानने वाला
कल्याणीप्रियः—कल्याणकारिणी स्त्री जिसकी प्यारी है
दीर्घसक्थः—लम्बे ऊरु वाला
जलजाक्षी—कमलनयनी
दीर्घसक्थि—लम्बा धुर वाला शकट
स्थूलाक्षा—मोटी आंखों (पेरुओं) वाली लाठी
द्विमूर्धः—दो सिर वाला
त्रिमूर्धः—तीन सिर वाला
अन्तर्लोमः—जिसके भीतर बाल हों
बहिर्लोमः—जिसके बाहर बाल हों ऐसा कम्बल
व्याघ्रपात्—व्याघ्र की तरह पैर वाला

हस्तिपादः—हाथी के तरह पैर वाला
कुसूलपादः—कोठी की तरह पैर वाला
द्विपात्—दो पैर वाला
सुपात्—सुन्दर पैर वाला
उत्काकुत्—जिसका तालु ऊपर को उठा हो
विकाकुत्—जिसका तालु विकृत हो
पूर्णकाकुदः—जिसका तालु पूर्ण हो
सुहृत्—मित्र। दुर्हृत्—शत्रु
व्यूढोरस्कः—गठीले वक्षःस्थल वाला
प्रियसर्पिष्कः—घृत का प्रिय
युक्तयोगः—योगी
महायशस्कः—महान् यशस्वी

इति बहुव्रीहिः।

अथ द्वन्द्वः।

ईश्वरं गुरुं च भजस्व—ईश्वर और गुरु को भजो
धवखदिरौ छिन्धि—धव और खदिर को काटो
संज्ञापरिभाषम्—संज्ञा और परिभाषा
राजदन्तः—प्रधान दाँत
अर्थधर्मौ—अर्थ और धर्म
हरिहरौ—विष्णु और शिव
ईशकृष्णौ—ब्रह्मा और कृष्ण
शिवकेशवौ—महादेव और कृष्ण
पितरौ—माता और पिता
पाणिपादम्—हाथ और पैर
मार्दङ्गिकवैणविकम्—मृदङ्ग बजाने वालों और वंशी बजाने वालों का समूह
रथिकाश्वारोहम्—रथिक और घुड़सवारों का समूह
वाक्त्वचम्—वाणी और त्वचा
त्वक्स्रजम्—त्वचा और माला
शमीदृषदम्—शमी और पत्थर
वाक्त्विषम्—वाणी और कान्ति
छत्रोपानहम्—छाता और जूता
प्रावृट्शरदौ—वर्षा और शरद्

इति द्वन्द्वः।

अथ समासान्तः।

अर्धर्चः—ऋचा का आधा
विष्णुपुरम्—विष्णु का पुर
विमलापम्—निर्मल जल वाला (सरोवर)
राजधुरा—राज्य का भार
अक्षधूः—अक्ष में लगी धुरी
दृढधूः—दृढ धुरी
सखिपथः—मित्र का मार्ग
रम्यपथः—रमणीय मार्ग वाला (देश)
गवाक्षः—झरोखा, खिड़की
प्राध्वः—रास्ते को प्राप्त हुआ (रथ)
सुराजा—शोभन राजा
अतिराजा—सुन्दर श्रेष्ठ राजा

इति समासान्तः

अथ तद्धितः।

आश्वपतम्—अश्वपति की सन्तानादि
गाणपतम्—गणपति का अपत्य आदि
दैत्यः—दिति के पुत्र
आदित्यः—अदिति के अपत्य, व सूर्य
आदित्यः—आदित्य के पुत्र
प्राजापत्यः—प्रजापति का पुत्र, आदि
दैव्यम्, दैवम्—देवता का अपत्य आदि
बाह्यः, बाहीकः—बाहर होनेवाला
गव्यम्—गौ का अपत्य आदि

औरसः—उरस् का अपत्यादि
स्त्रैणः—स्त्री का अपत्यादि
पौंस्नः—पुरुष का अपत्य आदि
औपगवः—उपगु का पुत्र
गार्ग्यः—गर्ग का गोत्रापत्य
वात्स्यः—वत्सका गोत्रापत्य
गर्गाः—गर्ग गोत्र वाले
वत्साः—वत्स गोत्र वाले
गार्ग्यायणः—गर्ग का युवापत्य
दाक्षायणः—दक्ष का युवापत्य

अथापत्याधिकारः ।

दाक्षिः-दक्षका अपत्य । बाहविः-बाहुकापुत्र
औडुलोमिः—उडुलोमा का अपत्य
बैदः—बिद का गोत्रापत्य
पौत्रः—पुत्र का अपत्य (पोता)
शैवः—शिव का पुत्र
गाङ्गः—गङ्गा का पुत्र (भीष्म)
वासिष्ठः—वसिष्ठ का पुत्र
वैश्वामित्रः—विश्वामित्र का पुत्र
श्वाफल्कः—श्वफल्क का पुत्र (अक्रूर)
वासुदेवः—वसुदेव का पुत्र (श्रीकृष्ण)
नाकुलः—नकुल का पुत्र
साहदेवः—सहदेव का पुत्र
द्वैमातुरः—दो माताओं के पुत्र (गणेश)
षाण्मातुरः—छै माताओं के पुत्र (कार्तिकेय)
सांमातुरः, भाद्रमातुरः—सती का पुत्र
वैनतेयः—विनता का पुत्र (गरुड)
कानीनः—कुमारी कन्याका पुत्र (कर्ण वा व्यास)
राजन्यः—क्षत्रिय
श्वशुर्यः—श्वशुर का पुत्र (साला)
राजनः—राजा का पुत्र
क्षत्रियः—क्षत्रिय जाति
क्षात्त्रिः—क्षत्रिय का जात्यन्य पुत्र
रैवतिकः—रेवती का पुत्र
पाञ्चालः—पञ्चाल देश के राजा का पुत्र
पौरवः—पुरु का पुत्र
पाण्ड्यः—पाण्ड्य देशीय राजा का पुत्र
कौरव्यः—कुरु का पुत्र
नैषध्यः—निषध राजा का पुत्र
इक्ष्वाकवः—इक्ष्वाकुगोत्रोत्पन्न
पञ्चालाः—पञ्चालदेश का राजा
कम्बोजः—कम्बोजदेश का राजा
चोलः—चोल देश का राजा
शकः—शक देशका राजा
केरलः—केरल (मलयामलम्) देश का राजा
यवनः—यवन (यूनान) देश का राजा

अथ रक्ताद्यर्थकाः ।

काषायम्—गेरुआ से रंगा हुआ वस्त्र
पौषम्—पुष्य नक्षत्र वाला दिन
अद्य पुष्यः—आज पुष्य है
वासिष्ठम्—वसिष्ठ से दृष्ट साम
वामदेव्यम्—वामदेव से दृष्ट साम
वास्त्रः—वस्त्र से ढँका हुआ (रथ)
शरावः—सकोरे में निकाला हुआ
भ्राष्ट्रः—भुना हुआ
ऐन्द्रम्—इन्द्र देवता सम्बन्धी
पाशुपतम्—पशुपति देवता ,,
बार्हस्पत्यम्—बृहस्पतिदेवता ,,
शुक्रियम्—शुक्रदेवता ,,
वायव्यम्—वायु देवता ,,
ऋतव्यम्—ऋतु देवता ,,
पित्र्यम्—पितृ देवता ,,
उषस्यम्—उषस् देवता ,,

पितृव्यः—चचा, काका
मातुलः—मामा
मातामहः—नाना
पितामहः—दादा
काकम्—कौओंका समूह
भैक्षम्—भिक्षाओं का समूह
गार्भिणम्—गर्भिणियों का समूह
यौवनम्—युवतियों का समूह
ग्रामता—ग्रामोंका समूह
जनता—जनों का समूह
बन्धुता—बन्धुओं का समूह
गजता—हाथियों का समूह
सहायता—सहायकों का समूह
अहीनः—कई दिनों में होने वाला
साक्तुकम्—सत्तुओं का समूह
हास्तिकम्—हस्तियों का समूह
धैनुकम्—गायों का समूह
वैयाकरणः—व्याकरण का पढने वाला
या व्याकरण का जानकार
क्रमकः—क्रमपाठी
पदकः—पदपाठी
शिक्षकः—शिक्षापाठी
मीमांसकः—मीमांसा पढने वाला

अथ चातुरर्थिकाः ।

औदुम्बरः—गूलरवाला देश
कौशाम्बी—कुशाम्ब की नगरी (प्रयाग)
शैबः—शिबियों का निवास
वैदिशम्—विदिशा नदी के समीप का नगर (भिलसा)
पञ्चालाः—पञ्चाल का देश (फर्रूखाबाद)
कुरवः—कुरुओं का निवास देश (कुरुक्षेत्र)
कलिङ्गाः—कलिङ्गों का निवास देश
वरणाः—वरण देश के निकट होने वाला
कुमुद्वान्—कुमुद जिस देश में हों
नड्वान्—डंठल जिस देश में हों
वेतस्वान्—बेंत जिस देश में अधिक हों
नड्वलः—नडप्राय देश
शाद्वलः—घास वाला देश
शिखावलः—शिखावाला (मयूर) देश (भारत)
चाक्षुषम्—चक्षुर्ग्राह्य (रूप)

अथ शैषिकाः ।

श्रावणः—श्रोत्रग्राह्य (शब्द)
औपनिषदः-उपनिषदोंमें कहा गया(आत्मा)
दार्षदाः—पत्थर पर पीसे हुए (सत्तू)
चातुरम्-४ बैलोंके ले जाने योग्य (गाड़ी)
चातुर्दशम्—चतुर्दशीको दिखानेवाला
राष्ट्रियः—राष्ट्र में होने वाला
अवारपारीणः, अवारीणः, पारीणः, पारावारीणः—आर पार जानेवाला, पारंगत
ग्राम्यः, ग्रामीणः—ग्राम में होने वाला
नादेयम्—नदी में होने वाला
माहेयम्—मही में होने वाला
वाराणसेयम्—काशी में होने वाला
दाक्षिणात्यः—दक्षिण में होने वाला
पाश्चात्यः—पश्चिमी, विदेशी-अंगरेजादि
पौरस्त्यः—पूर्व में होने वाला
दिव्यम्—स्वर्गमें बहुत ही सुन्दर
प्राच्यम्—पूर्व में होने वाला
अपाच्यम्—दक्षिण में होने वाला
उदीच्यम्—उत्तर में होने वाला
प्रतीच्यम्—पश्चिम में होने वाला
अमात्यः—मन्त्री, साथी
इहत्यः—यहाँ का। क्वत्यः—कहाँ का
ततस्त्यः-तत्रत्यः—वहाँ का। नित्यः—नित्य

शालीयः—घर में उत्पन्न
मालीयः—माला में उत्पन्न
तदीयः—उसका
देवदत्तीयः, दैवदत्तः—देवदत्त का
गहीयः—गह देश में पैदा हुआ
युष्मदीयः—आपका । अस्मदीयः—हमारा
यौष्माकीणः—आपका
आस्माकीनः—हमारा
यौष्माकः—आपका । आस्माकः—हमारा
तावकीनः—तावकः—तेरा
मामकीनः—मामकः—मेरा
त्वदीयः—तेरा । मदीयः—मेरा
त्वत्पुत्रः—तेरा पुत्र । मत्पुत्रः—मेरा पुत्र
मध्यमः—मध्य में होने वाला
कालिकम्—समय पर होने वाला
मासिकम्—मास में होने वाला (वेतन)
सांवत्सरिकम्—वर्ष में होनेवाला (श्राद्ध)
सायम्प्रातिकः—सायं प्रातः होने वाला
पौनःपुनिकः—बारंबार होने वाला
प्रावृषेण्यः—वर्षा ऋतु में होने वाला
सायन्तनम्—सायं होने वाला
चिरन्तनम्—पुराना
प्राह्णेतनम्—पूर्वाह्न में होने वाला
प्रगेतनम्—प्रातः कालिक
दोषातनम्—रात्रि में होने वाला
स्रौघ्नः—स्रुघ्न (आगरा) देश में होनेवाला
औरसः—झरने में हुआ
राष्ट्रियः—राज्य में हुआ
प्रावृषिकः—वर्षा काल में होने वाला
स्रौघ्नः—स्रुघ्न में प्रायः होने वाला
कौशेयम्—रेशमी वस्त्र
दिश्यम्—दिशा में होने वाला
वर्ग्यम्—वर्ग में होने वाला
दन्त्यम्—दांतों में होने वाला (वर्ण)
कण्ठ्यम्—कण्ठ में होने वाला (वर्ण)
आध्यात्मिकम्—आत्मा में होने वाला
आधिदैविकम्—देवों में होने वाला
आधिभौतिकम्—प्राणियों में होने वाला
ऐहलौकिकम्—इस लोक में होने वाला
पारलौकिकम्—परलोक में होने वाला
जिह्वामूलीयम्—जिह्वा के मूल में होनेवाला
अङ्गुलीयम्—अंगूठी
कवर्गीयम्—कवर्ग में होने वाला
स्रौघ्नः—स्रुघ्न देश से आया
शौल्कशालिकः—चुंगी घर से प्राप्त
औपाध्यायकः—उपाध्याय से प्राप्त
पैतामहकः—पितामह से प्राप्त
समरूप्यम्—सामीयम्—सम से प्राप्त
विषमीयम्—विषम से प्राप्त
देवदत्तरूप्यम्—देवदत्त से प्राप्त
सममयम्—सम से प्राप्त
देवदत्तमयम्—देवदत्त से प्राप्त
हैमवती—हिमालय से आगत (गंगा)
शारीरकीयः—शरीर व आत्मा संबन्धि-
वर्णन करने वाला ग्रन्थ
स्रौघ्नः—स्रुघ्न देशवासी
पाणिनीयम्—पाणिनि से प्रोक्त (व्याकरण)
औपगवम्—उपगुसम्बन्धी वस्तु

अथ विकारार्थकाः ।

आश्मः—पत्थर का विकार
भास्मनः—भस्म का विकार
मार्तिकः—मिट्टी का विकार
मायूरः—मोर का अंग या विकार
मौर्वम्—मूर्वा (ओषधि) की डण्डी या भस्म
पैप्पलम्—पिप्पली का विकार

अश्ममयम्—पत्थर का अवयव या विकार
मौद्गः—मूग का विकार
आम्रमयम्—आम के अवयव का विकार
कार्पासम्—कपास (रुई) का विकार
गोमयम्—गोबर
शरमयम्—शरविकार या अवयव
गव्यम्—गौ का विकार-दूध आदि

अथ ठगाधिकारः ।

पयस्यम्—दूधका विकार मक्खन आदि
आक्षिकः—पासों से खेलने वाला
दाधिकम्—दही से संस्कृत
मारीचिकम्—मरीचों से संस्कृत
औडुपिकः—जहाज से पार जाने वाला
हास्तिकः—हाथी का सवार
दाधिकः—दही से खाने वाला
दाधिकम्—दही से मिला हुआ
बादरिकः—बेर चुनने वाला
सामाजिकः—समाज का रक्षक
शाब्दिकः—शब्द करने वाला
दार्दुरिकः—कुम्हार
धार्मिकः—धर्मात्मा । अधार्मिकः—अधर्मी
मार्दङ्गिकः—मृदङ्ग बजाने वाला
आसिकः—तलवार रखने वाला
धानुष्कः—धनुर्धारी
आपूपिकः—पूड़ी खाने वाला
नैकटिकः—ग्रामके निकट रहनेवाला (भिक्षु)

अथ प्राग्घितीयाः ।

रथ्यः—रथ का वहन करने वाला घोड़ा
युग्यः—जुआ को उठाने वाला (बैल)
प्रासङ्ग्यः—काष्ठविशेष में जुता बैल
धुर्यः—धौरेयः—धुरी को उठाने वाला
नाव्यम्—नौका से तरने योग्य (जल)
वयस्यः—समान अवस्था वाला (मित्र)
धर्म्यम्—धर्म से प्राप्त करने योग्य
विष्यः—विष से मारने योग्य
मूल्यम्—मूल्य । मूल्यः—मूल के समान
सीत्यम्—जोता हुआ खेत
तुल्यम्—तौला हुआ । अग्र्यः—अग्रणी
सामन्यः—सामवेद में निपुण
कर्मण्यः—कर्म में प्रवीण—कर्मठ
शरण्यः—शरणागत रक्षक
सभ्यः—सभासद

अथ छयतोरधिकारः ।

शङ्कव्यम्—खूटा बनाने की लकड़ी
गव्यम्—गौ के लिये
नभ्यः—चक्रनाभिछिद्र का (दण्डा)
नभ्यम्—नाभिके छिद्र का (अञ्जन)
वत्सीयः—बछड़ों का हितैषी
दन्त्यम्—दाँतके हितकारी (मञ्जन)
कण्ठ्यम्—माला, हार । नस्यम्—सूंघनी
आत्मनीनम्—अपने अनुकूल
विश्वजनीनम्—सबके अनुकूल
मातृभोगीणः—माता के अनुकूल

अथ ठञधिकारः ।

साप्ततिकम्—सत्तर से खरीदा गया
प्रास्थिकम्—सेर (धान्य) से खरीदा हुआ
सार्वभौमः—चक्रवर्ती । पार्थिवः—राजा
श्वैतच्छत्रिकः—सफेद छत्रधारी
दण्ड्यः—दण्डनीय
अर्घ्यः—अर्घयोग्य, पूजनीय
वध्यः—वध के योग्य
आह्निकम्—एक दिन में तैयार हुआ

अथ भावकर्माद्यर्थाः।

ब्राह्मणवत्—ब्राह्मण के समान
पुत्रेण तुल्यः स्थूलः—पुत्र के समान मोटा
मथुरावत्—मथुरा के समान
चैत्रवत्—चैत्र की तरह। गौत्वम्—गौत्वजाति
स्त्रैणम्—स्त्रीत्वजाति। पौंस्नम्—पुरुषार्थ
प्रथिमा-पार्थवम्—मोटापन
मार्दवम्—मृदुता
शौक्ल्यम्-शुक्लिमा—शुक्लता
दार्ढ्यम्-द्रढिमा—दृढ़ता
जाड्यम्-जडता—मूर्खता मौढ्यम्-मूढ़ता
ब्राह्मण्यम्—ब्राह्मणता
सख्यम्—मित्रता
कापेयम्—कपिता—चाञ्चल्य
ज्ञातेयम्—ज्ञातिकर्म
सैनापत्यम्—सेनापति का काम
पौरोहित्यम्—पुरोहिताई

अथ भवनाद्यर्थकाः।

मौद्गीनम्—मूंगका खेत
व्रैहेयम्—धान का खेत
शालेयम्—साठी धान का खेत
हैयङ्गवीनम्—मक्खन
तारकितम्—ताराओं से शोभित (गगन)
पण्डितः—बुद्धिमान्
ऊरुद्वयसम्—ऊरुदघ्नम्—ऊरुमात्रम्—जांघ तक
तावान्—उतना, एतावान्—इतना
कियान्—कितना, इयान्—इतना
पञ्चतयम्—पाँचों का समूह
द्वयम्—द्वितयम्—दो
त्रयम्—त्रितयम्—तीन
उभयम्—दोनों

एकादशः—ग्यारहवाँ, पञ्चमः—पाँचवाँ
विंशः—बीसवाँ षष्ठः—छठा
कतिथः—कतिपयथः—कौनसा
चतुर्थः—चौथा द्वितीयः—दूसरा
तृतीयः—तीसरा। श्रोत्रियः—वेदपाठी
पूर्वी—पहिले करने वाला
कृतपूर्वी—जिसने पहिले किया हो
इष्टी—जिसने यज्ञ किया हो
अधीती—पढ़ा हुआ

अथ मत्वर्थीयाः।

गोमान्—गौ वाला। गरुत्मान्—गरुड
विदुष्मान्—विद्वानों से शोभित
शुक्लः—श्वेत (वस्त्र) कृष्णः—काला (वस्त्र)
चूडालः—केश या मुकुट वाला
शिखावान्—चोटी वाला दीपक, मयूर
मेधावान्—बुद्धिमान्
लोमशः, रोमशः—बालों वाला
पामनः—खुजली रोग वाला
अङ्गना—शोभन अङ्गों वाली (सुन्दरी)
लक्ष्मणः—लक्ष्मीवान्
पिच्छिलः—पिच्छवान्—चिकना
दन्तुरः—ऊँचे दाँतों वाला
केशवः—उत्तम केशों वाला
मणिवः—नागविशेष। अर्णवः—समुद्र
दण्डी, दण्डिकः—दण्डवाला
व्रीहिः, व्रीहिकः—धान्य वाला
यशस्वी—कीर्तिमान्
मायावी—माया वाला। मेधावी-बुद्धिमान्
स्रग्वी—माला पहिने हुए
वाग्मी—अच्छा बोलने वाला
अर्शसः—बवासीर का रोगी
अहंयुः—अहङ्कारी। शुभंयुः—शुभान्वित

अथ प्राग्दिशीयाः ।

कुतः—कहाँ से । इतः—यहाँ से
अतः—इसलिये । अमुतः—उससे
यतः—जिससे । ततः—उससे
बहुतः—बहुतों से
परितः—चारों ओर से
अभितः—दोनों तरफ से
कुत्र—कहाँ । यत्र—जहाँ । तत्र—वहाँ
बहुत्र—बहुत जगह । इह—यहाँ । क्व—कहाँ
ततोभवान्, तत्रभवान्—पूज्य
दीर्घायुः—दीर्घायु । देवानाम्प्रियः—मूर्ख
आयुष्मान्—चिरञ्जीवी
सदा, सर्वदा—सदा । अन्यदा—और समय
कदा—कब । यदा—जब । तदा—तब
एतर्हि—अब । कर्हि—कब । यर्हि—जब
तर्हि—तब
तथा—उसी तरह । यथा—जिस तरह
इत्थम्—इस प्रकार । कथम्—किस प्रकार

अथ प्रागिवीयाः ।

आढ्यतमः—अत्यन्त धनी
लघुतमः, लघिष्ठः—अत्यन्त छोटा
किन्तमाम्—अतिशय प्रश्न
प्राह्णतमाम्—अतिशय पूर्वाह्ण
पचतितमाम्—अतिशय पाक
उच्चैस्तमाम्—बहुत ऊँचापन
उच्चैस्तमः—अति ऊँचा (वृक्ष)
लघुतरः, लघीयान्—बहुत छोटा
पटुतराः, पटीयांसः—बहुत पटु
श्रेष्ठः, श्रेयान्—अत्यन्त प्रशंसनीय
ज्येष्ठः, ज्यायान्—बड़ा, श्रेष्ठ
भूमा, भूयान्, भूयिष्ठः—बहुत
त्वचिष्ठः—अधिक कड़ी त्वचा वाला
अश्वकः—कोई घोड़ा
स्रजीयान्, स्रजिष्ठः—बहुत मालाधारी
विद्वत्कल्पः, विद्वद्देशीयः, विद्वद्देश्यः—
विद्वान् के समान
पचतिकल्पम्—असमाप्त पाक
बहुपटुः—थोड़ा चतुर ,,
उच्चकैः—(अज्ञात) ऊँचा
नीचकैः— ,, नीचा
सर्वकैः— ,, सब ने
युष्मकाभिः—तुम सब ने
युवकयोः—तुम दोनों का
त्वयका—तूने
अश्वकः—निन्दित घोड़ा
कतरः—कौनसा
यतरः—जौनसा
ततरः—तौनसा
कतमः—कौनसा
यतमः—जौनसा
ततमः—तौनसा
यकः—जो । सकः—वह

अथ स्वार्थिकाः ।

अश्वकः—खिलौने का घोड़ा
अश्वकः—घोड़ा
अन्नमयम्—अन्न जिसमें अधिक हो
अपूपमयम्—अधिक पूआ वाला
अन्नमयः—अन्नप्रचुर (यज्ञ)
अपूपमयम्—अपूपबहुल
प्राज्ञः—बुद्धिमान्
प्राज्ञी—बुद्धिमती
दैवतः—देवता । बान्धवः—भाई बन्धु
बहुशः—बहुधा । अल्पशः—थोड़ा २

आदितः—आदि में
मध्यतः—मध्य में
अन्ततः—अन्त में
पृष्ठतः—पीछे से
पार्श्वतः—बगल से
स्वरतः—स्वर से
वर्णतः—वर्ण से, अक्षर से
कृष्णीकरोति—काला करता है
ब्रह्मीभवति—ब्रह्म होता है
गङ्गीस्यात्—गङ्गा होवे
दोषाभूतम्—रात की तरह (दिन)
दिवाभूता—दिन की तरह (प्रकाशमान् रात)
अग्निसाद्भवति—जलता है
दधि सिञ्चति—दही सींचता है
अग्निभवति—अग्नि हो रहा है
पटपटाकरोति—पट-पट करता है
ईषत्करोति—थोड़ा करता है
श्रत्करोति—श्रत ऐसा शब्द करता है
खरटखरटाकरोति—खरट २ करता है
पटिति करोति—पटत् ऐसी अव्यक्त ध्वनि करता है

इति तद्धिताः।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

अजा—बकरी
एडका—भेड़ी
अश्वा—घोड़ी
चटका—चिड़ी
मूषिका—चूही
बाला—लड़की (१६ वर्ष तक की)
वत्सा—बच्ची। होडा—बाला
मन्दा—बालिका
विलाता—बाला (नवयौवना)

भवती—आप
भवन्ती—होती हुई
पचन्ती—पकाती हुई
दीव्यन्ती—खेलती हुई
कुरुचरी—कुरु देश में घूमने वाली
नदी—नदी। देवी—देवी
सौपर्णेयी—सुपर्णी की कन्या
ऐन्द्री—पूर्वदिशा
औत्सी—उत्सगोत्र में उत्पन्ना
ऊरुद्वयसी-ऊरुदघ्नी-ऊरुमात्री—ऊरु प्रमाण (जल) वाली
पञ्चतयी—पाँच प्रमाण वाली
आक्षिकी—पासा से खेलने वाली
लावणिकी—लवण बेचने वाली
यादृशी—जैसी
इत्वरी—घूमने वाली (कुलटा)
स्त्रैणी—स्त्रीसम्बन्धी
पौंस्ना—पुरुष सम्बन्धी
शाक्तीकी—शक्तिशस्त्र वाली
याष्टीकी—यष्टिवाली
आढ्यङ्करणी—धनी बनानेवाली (ओषधि)
तरुणी, तलुनी—युवती
गार्गी—गर्ग गोत्रोत्पन्ना
गार्ग्यायणी—गर्ग गोत्रोत्पन्ना
नर्तकी—नटी। गौरी—पार्वती
अनडुही, अनड्वाही—गौ
कुमारी—कन्या
त्रिलोकी—तीनों लोक
त्रिफला—हरड़, बहेड़ा आमला
अजानीका—सेना
एता, एनी—चितकबरी
रोहिता, रोहिणी—लाल रङ्ग की
मृद्वी, मृदुः—कोमलाङ्गी

बहुः, पद्धी—बहुत
शकटी, शकटिः—गाडी
गोपी, गोपालिका—गोप की स्त्री
अश्वपालिका—घोड़े पालनेवाले की स्त्री
सर्विका—सब । कारिका—कारिका
सूर्या—सूर्य की स्त्री
इन्द्राणी—इन्द्र की स्त्री
वरुणानी—वरुण की स्त्री
भवानी—पार्वती
हिमानी—बर्फ का समूह
अरण्यानी—भारी जङ्गल
नौका—नौका ।
शका—समर्था
बहुपरिव्राजिका—अधिक संन्यासी जिसमें हों ऐसी नगरी (काशी)
सूरी—कुन्ती
यवानी—दुष्ट जौ
यवनानी—यूनानी लिपि
मातुलानी, मातुली—मामी
उपाध्यायानी, उपाध्यायी—गुरु की स्त्री
आचार्यानी—आचार्य की स्त्री
अर्याणी, आर्या—वैश्या स्त्री
क्षत्रियाणी क्षत्रिया—क्षत्री स्त्री
वस्त्रक्रीती—वस्त्रों से खरीदी हुई
धनक्रीता—धन से खरीदी हुई
अतिकेशी, अतिकेशा—बहुत केश वाली
चन्द्रमुखी—चन्द्रमा की तरह मुख वाली
सुगुल्फा—सुन्दर गुल्फ वाली
शिखा—चोटी
कल्याणक्रोडा-कल्याण उरःस्थलवाली घोड़ी
सुजघना—सुन्दर जघन वाली
शूर्पणखा—शूर्प के समान नख वाली (रावण की बहन)
गौरमुखा—गौरवर्ण मुख वाली
ताम्रमुखी—लाल मुख वाली (कन्या)
तटी, तट—किनारा
वृषली—शूद्री
कठी—कठगोत्रोत्पन्ना
बह्वृची—बहुत ऋचायें पढ़ने वाली
मुण्डा—मुण्डित स्त्री
बलाका—बकपङ्क्ति
क्षत्रिया—क्षत्रियाणी
हयी—घोड़ी
गवयी—गवय स्त्री (जङ्गली गाय)
मुकयी—खच्चरी
मत्सी—मछली
दाक्षी—दक्षगोत्रोत्पन्ना स्त्री
कुरूः—कुरु की अपत्य स्त्री
अध्वर्युः—ब्राह्मणी
पङ्गूः—पङ्गु स्त्री
श्वश्रूः—पति की माता (सास)
करभोरूः—गोल लम्बी ऊरु वाली
संहितोरूः—मिले हुए जंघा वाली
लक्षणोरूः—सुलक्षण जंघावाली
वामोरूः—सुन्दर जंघावाली
शार्ङ्गरवीः—शृङ्गरु की पुत्री
वैदा—विदगोत्रोत्पन्ना स्त्री
ब्राह्मणी—ब्राह्मण जाति की स्त्री
नारी—स्त्री
युवतिः—युवा स्त्री

इति भाषार्थप्रयोगसूची ।

अष्टाध्यायीसूत्रसूची

अष्टाध्यायीसूत्रसूची समाप्ता ।

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस

पो० बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

धातु-सूची

धातुसूची समाप्ता

'वाराणसी' प्रथमपरीक्षायाः

प्रश्नपत्राणि

१९४४

(प्रथमं पत्रम्)

१ अ थ स वर्णानां बाह्यप्रयत्नाः, अथवा, प्रत्याहारविधायकसूत्रस्य पदच्छेदो हिन्दीभाषायामर्थश्च सोदाहरणं लेख्याः । ६

२ धात्रंशः, कृष्णर्द्धिः, वाप्व्यश्वः, उत्थानम्, सँस्कर्ता, पृषको दन्तः, एषु यथेच्छं चतुर्णां प्रयोगाणां सूत्रनिर्देशपूर्वकं सिद्धिं दर्शयित्वा, हर इह, देवा इह, रामकृष्णावमू आसाते, इत्यत्र स्वरसन्धिः कथन्नेति लिखत । १५

३ निर्जरसौ, कलि, क्रोष्टूनाम्, चतसृणाम्, सर्वस्याम्, दध्नि, एषु केऽपि चत्वारः प्रयोगाः साधु साधनीयाः । १६

४ (क) चतुर्षु, आभ्याम्, यूनः, युष्माकम्, तादृक्, समीचः, असुना, अमुभ्याम्, धनूंषि, एषु, केऽपि चत्वारः प्रयोगाः साध्यन्ताम् ।

(ख) पति, पपी, शब्दयोर्डौ, नेमशब्दस्य जसि, तथा वारि, विद्वस्, शब्दयोः सम्बुद्धौ रूपाणि लेख्यानि । ५

५ अन्तरेण, निकषा, नक्तम्, विना, एषु कयोरपि द्वयोरव्ययोः प्रयोगो वाक्ये कर्तव्यः । ६

६ बभूविथ, चिचेथ, आनर्चथुः, भ्रूणः, अगौहाम्, आतीत्, एषु यथेच्छं त्रयाणां साधनं विधाय धान्तेषु के धातवोऽनिट् इति लेखनम् । १२

७ (क) एधाञ्चक्रपे, अत्रसत्, अवर्त्स्यत्, भ्रियात्, ऊहुः, हषीष्ट, अस्वाक्षीत्, एषु केषामपि चतुर्णां सिद्धिप्रकारो लेख्यः । १६

(ख) गुप्-यज्-, हु श्रु धातूनां लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि लेखनीयानि । ४

सन् १९५४

(द्वितीयं पत्रम्)

१ अधोलिखितानां सूत्राणां हिन्दीसंस्कृतभाषयोर्यथेच्छमेकतरस्यां सोदाहरणं ससमन्वयमर्था लेख्याः । १५

(१) असिद्धवदत्राभात्' (२) 'ओः पुयणज्यपरे' (३) 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'

२ डुधाञ् धातोर्लेटि, डुक्रीञ् धातोर्लुङि रूपाणि लिखत । १०

३ औणुंविष्ट । भृज्ज्यात् । अतृणेट् । अग्रहीत् । अचकथत् । एते सम्यक् साधनीयाः । १५

४ अतिष्ठिपत् । जिघत्सति । बोभवीति । पुत्रीयति । रथेन सञ्चरते । एषु विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं सूत्रोल्लेखनमुखेन विशेषकार्याणि प्रदर्शयत । १५

५ दानीयः । ग्लेयम् । दर्शकः । भोजम् भोजम् । विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं साधनीया इमे प्रयोगाः । १५

६ बलिं याचते वसुधाम् । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । सूत्रलेखनेन विभक्त्यर्थाः प्रदर्शनीयाः ।

७ भूतपूर्वः । पञ्चगवम् । चित्रगुः । गवाक्षः । विग्रहप्रदर्शनमुखेन समासविधायकानि प्रदर्श्य साधनीया इमे । १२

८ दैव्यम् । रैवतिकः । गोत्वम् । बहुशः । देवी । मृडानी । दाची । एते विगृह्य प्रकृतिप्रत्ययांश्च प्रदर्श्य साधनीयाः । १८

सन् १९४५

१ (क) उदात्त, स्वरित, संहितालक्षणानि लिखित्वा शिवेहि, गवाग्रम्, चिन्मयम्, देवा इह, तच्छ्लोकेन, काँस्कान्, एषु केचन त्रयः प्रयोगाः सूत्रप्रदर्शनपूर्वकं साधनीयाः । १२

(ख) ओष्णम् इत्यत्र कथं सन्धिः? एहि कृष्ण३ अत्र, इत्यत्र च कथं तदभावः? इति लिखत । ३

२ (क) हरौ, बहुश्रेयस्याम्, स्त्रीणाम्, वारीणाम्, विश्वौहः, तादृक्, अमूषाम्, धनूंषि, एषु कानपि षट् प्रयोगान् संसाध्य, अव्ययलक्षणं लिखत । १८

(ख) ग्रामणी, प्रधी शब्दयोर्डौ, धातृ, उशनस्, इदम् शब्दानां सम्बोधने रूपाणि लेख्यानि । ५

३ (क) भूयास्ताम्, अचीकमत, विदाङ्करोतु, अबिभरुः, भृज्ज्यात्, शिण्ड्ढ, कुर्वन्ति, अजीगणत्, एषु यथेष्टं षण्णां सिद्धिं दर्शयित्वा, प्वादीन् धातून् नामग्राहं लिखत । १८

(ख) गुपू, डीङ्, पुष्, प्रच्छ धातूनां लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि लिखत । ५

४ अतिष्ठिपत्, चिकीर्षति, बोभवाञ्चकार, समिधिता, सर्पिषो जानीते, आरिता, पच्यते फलम्, एष गच्छामि, एषु केषामपि चतुर्णां साधनं विधाय, दानीयो विप्रः, उच्छूनः, दुष्करः, अन्यथाकारम्, एषां कृत्प्रत्ययार्थप्रदर्शनमुखं सिद्धिर्दर्शनीया, कर्तृकर्मनिर्देशोऽपि कर्तव्य एव २०

५ (क) बलिं भिक्षते वसुधाम्, अधिहरि, पौर्वशालः, हास्तिकम्, भूयिष्ठः, श्वश्रूः, एते यथाकार्यं संक्षेपेण दर्शनीयाः । १५

(ख) अर्य, सूर्य, युवन्, क्षत्रिय, शब्दानां स्त्रियां प्रथमैकवचने रूपाणि तत्तत्प्रत्ययांश्च लिखत । ४

सन् १९४६

१ अ–श–वर्णयोर्बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नान् लिखित्वा, 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति सूत्रस्य हिन्द्यामर्थं प्रयोजनञ्च लिखत । १०
अथवा—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'अणुदित्सवर्णस्ये'ति च सूत्रं किं किं कार्यं कुरुतः ।

२ विष्णो–इति, वाक्–हरिः, भोस्–देवाः, हरिस्–राजते, सस्–शम्भुः, अत्र यथेष्टं त्रयाणां सिद्धिः कर्तव्या । १५

३ रामाय, विश्वपः, सखा, तिसृणाम्, प्रशाम्याम्, यूनः, प्रतीचः, अमुष्यै, सुपुमांसि, एषु स्वेच्छया चतुरः प्रयोगान् संसाध्य, पिधानम्, उदेतोः, इत्यत्र किं किं कार्यमिति लिखत । १८

४ त्रि, बहुश्रेयसी–शब्दयोः आमि, मति, दधि, पिपठिषू–शब्दानां ङिविभक्तौ, वह, तनु, शीङ्, धूञ्–धातूनाञ्च लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि लेख्यानि १०

५ भवेत्, एधाञ्चक्रे, अगौहाम्, अमङ्क्थ, रुन्धः, अतत, अचकथत्, एषु यथेष्टं चतुर्णां सिद्धिं प्रदर्श्य 'नेर्गदे'ति समस्तसूत्रं लिखत । १५

६ अत्रीभवत्, जिघत्सति, नरीनृत्यते, इदामति, रथेन संचरते, अभाजि, यजति स्म युधिष्ठिरः, एषु केषामपि चतुर्णां साधनं कृत्वा यशस्करी, सन्, द्विजः, चिकीर्षा, देवित्वा, एषां द्वयोरेव कृत्प्रत्ययार्थप्रदर्शनपूर्वं सिद्धिःकार्या १५

७ मातुः स्मरति, अध्यात्मम्, निष्कौशाम्बिः, राजन्यः, पटीयान्, मत्सी, एषु विशेषकार्याणि, विशेषसूत्रैर्दर्शनीयानि । १५

८ हरित, यवन, श्वशुर, आचार्य–शब्दानां द्वयोरेव कयोश्चित् स्त्रियां प्रथमैकवचने रूपाणि लिखत । २

सन् १९४७

१ सवर्णाऽनुनासिकसंज्ञाविधायके सूत्रे सार्थे लिखित्वा अ, ज, उ, व–एषां वर्णानामुच्चारणस्थानानि लिखत । १२
अथवा—प्रयत्नाः कति ? के च ते ? ह, प, य वर्णानाम् आभ्यन्तरप्रयत्नान् स्पष्टं लिखत ।

२ धात्रंशः, गव्यम्, हर इह, सुखार्तः, शिवायों नमः, आ एवं नु मन्यसे, सच्छम्भुः, सैषदाशरथी रामः–एषु पञ्च प्रयोगान् सूत्रोद्धरणपूर्वकं साधयत २५

३ रामाणाम् पूर्वस्मात्, सख्युः, क्रोष्टुः, मतौ, श्रियाम् । मातृः—एषु पञ्च प्रयोगान् सूत्रनिर्देशपूर्वकं साधयत । १५

४ विश्वौहः, एनयोः, अस्माकम्, विदुषः, अमुना, अद्भिः, तुदन्ती एषु पञ्चप्रयोगान् सूत्रोपन्यासपूर्वकं साधयत । १५

५ अभूत्, जग्मतुः, पृथाङ्कके, अभूत, जहि, अवोचत्—एषु रूपेषु यथेच्छं द्वे साधयत । ४

६ सखि, कलि, पितृ-शब्दानां सर्वविभक्तिषु रूपाणि लिखित्वा, विश्ववाह्-शब्दस्य पुंल्लिङ्गे, चतुर् शब्दस्य स्त्रीलिङ्गे सर्वाणि रूपाणि लिखत । १५

अथवा—स्त्री, वारि, युष्मद्, अहन्, धनुष्—शब्दानां रूपाणि लिखत ।

७ विध्-धातोर्लिटि, गुप्धातोर्लुङि सर्वाणि रूपाणि लिखत । १०

अथवा—

क्रमधातोर्लटि, श्रुधातोर्लुटि, हन्धातोर्लोटि, ऊर्णुञ् धातोर्लिटि रूपाणि लिखत ।

सन् १९४८

१ (क) त-ट वर्णयोः स्थानं बाह्यप्रयत्नमाभ्यन्तरप्रयत्नं च लिखत ६

(ख) आदिरन्त्येन सहेता, कृन्मेजन्तः, ईच गणः, यत्रोऽचि च, रुद्भ्यः, जय च, एषु त्रयाणां सूत्राणां अर्थांल्लिखत । ९

२ गव्यूतिः, प्राच्छति, चक्रयन्त्र, उत्थानम्, षट्सन्तः, नॄँ पाहि, शिवोऽर्च्यः एषु केषाञ्चित्पञ्चानां रूपाणां सिद्धिं कुरुत । १५

३ सर्वेषाम्, नृणाम्, सख्यै, दृध्ना, अनड्वान्, मघोनः, उपानत्, ददन्ति एषु कानिचित्पञ्च रूपाणि, साधयत । १५

४ अभूवन्, अगमत्, अचीकमत, अवधीत्, पमतुः, नर्तिष्यति, सुनोति, उपस्किरति, शिण्ढि, कुर्वन्ति एषु षड्रूपाणि साधयत । १५

५ अतिष्ठिपत्, चिकीर्षति, बोभूयते, कष्टायते, विजयते, अनुकरोति, अलाभि, चेयम्, मित्रः, जलपाकः, चयः, भोजं भोजम्, विप्राय गां ददाति एषां मध्ये पञ्चसु प्रयोगेषु विशेषसूत्रैर्विशेषकार्याणि प्रदर्शयत । १५

६ उपशरदम्, राजपुरुषः, अर्धर्चम्, द्विमूर्धः पितरौ, दाक्षिः, मद्बलः, आस्माकीनः, शरण्यः, स्रग्वी, चन्द्रमुखी, युवतीः एषु कांश्चित्षट् प्रयोगान् साधयत । १५

७ अदस्-शब्दस्य सर्वलिङ्गेषु रूपाणि प्रदर्श्य क्रीधातोरर्थं रूपाणि च लिखत १०

सन् १९४९

१ (क) ख, ह-वर्णयोः स्थानं बाह्यप्रयत्नमाभ्यन्तरप्रयत्नं च लिखत । ६

(ख) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्, अव्ययादाप्सुपः, मितां ह्रस्वः, यञो वा, न यदि, तरप्तमपौ घः, प्रज्ञादिभ्यश्च एषु त्रयाणां सूत्राणामर्थांल्लिखत । ९

२ गव्यम्, शिवेहि, विष्णो इति, तल्लयः, तच्छिवः, लक्ष्मीच्छाया, मनोरथः, एषु केषाञ्चित्पञ्चानां रूपाणां सिद्धिं कुरुत ।

३ रामाणाम्, सखा, पितरौ, स्त्रियम्, ज्ञानानि, विश्वौहः, अमुना, अमुष्यै, दीव्यन्ती—एषु कानिचित्पञ्च रूपाणि साधयत । १५

४ भवानि, अगोपीत्, एधिष्ट, अवोचत्, नेनिजानि, अदीपि, अधावीत्, असिचत्, हिनस्ति, अतत, व्यष्टभत, गणयति, एषु षड्रूपाणि साधयत ५१

५ बुभूषति, नरीनृत्यते, पुत्रीयति, निविशते, प्रवहति, सूयते, शिष्यः, पण्डितंमन्यः, लवित्रम्, पचः, हित्वा, कटे आस्ते एषां मध्ये षट्सु प्रयोगेषु विशेषसूत्रैर्विशेषकार्याणि प्रदर्शयत । १५

६ पञ्चगङ्गम्, पञ्चगवम्, परमराजः, अन्तर्लोमः, शिवकेशवौ, वैनतेयः, वैयाकरणः, आधिदैविकम्, सार्वभौमः, कुमारी, इन्द्राणी, श्वश्रुः, एषु कांश्चित् षट् प्रयोगान् साधयत । १५

७ मघवन्शब्दस्य रूपाणि प्रदर्श्य यज्—धातोर्थं लुङि च रूपाणि लिखत । १०

सन् १९५०

१ (क) च, थ—वर्णयोः स्थानं, बाह्यप्रयत्नमाभ्यन्तरप्रयत्नश्च लिखत । ६

(ख) वान्तो यि प्रत्यये, स्वरादिनिपातमव्ययम्, भुजोऽनवने, हेतुमति च, नेर्विशः, उय च, सप्तम्याश्चल्—एषु त्रयाणामेव सूत्राणां पदच्छेदम्, अर्थान्, उदाहरणानि च लिखत । ९

२ उपेन्द्रः, गवाग्रम्, चक्रि अत्र, एतन्मुरारिः, पुंस्कोकिलः, सञ्छम्भुः, शिवोऽर्च्यः, स शम्भुः—एषु केषाञ्चित् पञ्चानां रूपाणां सिद्धिं कुरुत । १५

३ रामान्, सर्वेषाम्, गाः, मत्याम्, दध्ना, चतुर्णाम्, त्वया, विदुषः, उपानत्, अहोभ्याम्—एषु कानिचित् पञ्च रूपाणि साधयत । १५

४ बभूव, अगादीत्, त्रेपे, अध्यगीष्ट, देहि, अपादि, असावीत्, क्रष्टा, कुर्यात्, ग्रहीता, कथयति, चिकीर्षति—एषु षड्रूपाणि साधयत । १५

५ बोभूयते, बोभवीति, कष्टायते, विरमति, अभाजि, पच्यते फलम्, अजनिष्म युधिष्ठिरः, कार्यम्, उष्णभोजी, भिक्षः, चयः, पायं पायम्, अग्नये स्वाहा—एषु मध्ये षट्सु प्रयोगेषु विशेषसूत्रैर्विशेषकार्याणि प्रदर्शयत । १५

६ उपशरदम्, पौर्वशालः, महाराजः, चित्रगुः, हरिहरौ, गार्ग्यः, औदुम्बरो देशः, राष्ट्रियः, धार्मिकः, नाव्यम्, एनी, चन्द्रमुखी, युवतिः—एषु कांश्चित् षट् प्रयोगान् साधयत । १५

७ निर्जरशब्दस्य चुरधातोः केषुचित् पञ्चलकारेषु च रूपाणि प्रदर्शयत । १०

सन् १९५१

१ (क) लृवर्णस्य कति भेदाः ! पकारस्य च किं स्थानम् ! कश्च बाह्यप्रयत्नः ! १५

(ख) आदिरन्त्येन सहेता, भूवादयो धातवः, औतोऽम्शसोः, आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः, विदेः शतुर्वसुः, राजश्वशुराद्यत्, एतेषु स्वेच्छया त्रयाणां पदविभागं प्रदर्श्य सोदाहरणमर्था लेख्याः । ९

२ दैवैश्वर्यम् , ब्रह्मर्षिः, उत्थानम् , सन्नच्युतः, शिवच्छाया, शिवोवन्द्यः, अघोयाहि, मनोरथः, अत्र केषाञ्चिच्चतुर्णां सिद्धिम् विधाय प्र+एजते, अथवा विद्वान्+लिखति, अथवा विष्णुः+त्राता, अत्र सन्धौ किं रूपमिति सप्रमाणं लिख । १५

३ रामाय, विश्वपः, पत्यौ, क्रोष्टुः, मत्याम् , अनड्वान् , अयम् , अद्भ्यः, एनयोः गोधा, एतेषु पञ्चव प्रयोगाः साधु साधनीयाः । १५

४ बभूविथ, आनर्च, अचैषीत् , ह्वयात् , बिभेति, धेहि, अप्राक्षीत् , अकृत, एतेषु पञ्चानां सम्यक् सिद्धिः कार्या । १५

५ बुभूषति, राजीयति, एधोदकस्योपस्कुरुते, भिद्यते काष्ठम् , स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः, अत्र चतुर्षु विशेषकार्यविधायकसूत्राण्येवोल्लेख्यानि । ८

६ चेयम् , लवणः, जनमेजयः, सोमयाजी, शुष्कः, वेपथुः, इत्थङ्कारं भुङ्क्ते, एतेषु पञ्च प्रयोगाः साधनीयाः । १५

७ बलिं याचते वसुधाम् , हरये नमः, अधिगोपम् , व्याघ्री, चित्रगुः, गार्ग्यः, वैनतेयः, नर्तकी, वस्त्रक्रीती, नारी, एतेषु षण्णां सिद्धिः कार्या । १८

सन् १९५२

१ (क) वृद्धि–सवर्ण–गुरुसंज्ञासूत्राणि सार्थमुल्लिख्य बाह्यप्रयत्नांल्लिख ? १०

(ख) अकारस्य कति भेदाः ? के च ते ? ५

२ सुध्युपास्यः, गव्यम् , हरेऽव, कृष्णर्द्धिः, तल्लोका, वाग्घरिः, शिवच्छाया, अघोयाहि, अत्र केषाञ्चित् चतुर्णां सिद्धिं विधाय मनस्+रथः इति साधय । १५

३ रामान् , सर्वेषाम्, हरौ, सख्युः, गाम्, मतये, तिस्रः, दध्ना, एभिः, अष्टौ, अत्र पञ्चानां साधुत्वं विधाय अस्मच्छब्दस्य अथवा युष्मच्छब्दस्य सप्तसु विभक्तिषु रूपाणि लिख ? २०

४ भविता, सिषेधिथ, जगाद, अगमत् , दुग्धः, अचैषीत् , कुर्वन्ति, गृहाण, अत्र स्वेच्छया चतुर्णां सिद्धिं विधाय द्युतधातोर्लुङि अथवा यज धातोर्लुटि रूपाणि लिख ? १८

५ अबीभवत् , वाव्रज्यते, राजीयति, रथेन सञ्चरते, यजतिस्म युधिष्ठिरः, अत्र प्रथममपरित्यज्य त्रयाणां साधुत्वं विधेयम् ? ९

६ 'स्यसिच्०–' इत्यादि सूत्रं सम्पूर्णमुल्लिख्य 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इतिवचनस्यार्थोऽविकलो लेख्यः ?

७ वशंवदः, भिन्नः, अपामार्गः, वृक्षमवचिनोति फलानि, प्रजाभ्यः स्वस्ति, अर्द्धपिप्पली, चित्रगुः, वात्स्यः, कुमुद्वान् , युग्यः, तृतीयः, गौरी, इन्द्राणी, तटी, शार्ङ्गरवी—एतेषु स्वेच्छया षण्णां सिद्धिः कार्या ?

सन् १९५३

१ सवर्णसंज्ञासूत्रं घिसंज्ञासूत्रञ्च सार्थमुल्लिख्य य, अ, श, वर्णेषु कयो-रपि द्वयोः स्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नञ्च लिख ? १०

२ गङ्गौघः, प्रार्च्छति, गवाग्रम्, एतन्मुरारिः, उत्थानम्, सच्च्युतः, शिवो-वन्द्यः, स हरिः, हरीरम्यः, एतेषु पञ्चानां साधुत्वं विधाय कवी+आगतौ इत्यत्र सन्धौ किं रूपमिति संप्रमाणं लिख। २०

३ (क) रामाणाम्, हरेः, विश्वपः, क्रोष्टरि, वृध्ना, मधुनि, विश्वौहः, युष्मा-कम्, उदीचा, एतेषु चतुर्णां साधुत्वं विधेयम्। १२

(ख) 'ङ्यस्यात्परस्य' 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' एषु पदच्छेदमुदाहरणञ्च प्रदर्श्य पितृशब्दस्य अथवा पथिन्शब्दस्य रूपाणि लिख। ८

४ भवितास्मः, आतीत्, इयात्, वत्स्यति, उवाह, अघसत्, अदास्त, मृष्टा, कुर्यात्, गृहाण, अजीगणत्, एतेषु पञ्चानां साधुत्वं विधाय गुपू अथवा कमु अथवा ऊर्णुञ् धातोर्लुङि रूपाणि लिख।

५ स्थापयति, जरीगृह्यते, राजानति, विजयते, भिद्यते काष्ठेन, कृष्णं नमेच्चे-त्सुखं यायात् अत्र चतुर्णां साधुत्वं विधेयम्। १२

६ दयनीयः, कुरुचरः, छिन्नः, जयः, 'सुपानः, माणवकं धर्मं भाषते, अधि-हरि, द्विरात्रम्, औपगवः, अस्मदीयः, आपूपिकः, वस्त्रक्रीती, एतेषु षण्णां साधुत्वं विधेयम्। १८

सन् १९५४

१ उपधासंज्ञासूत्रं टिसंज्ञासूत्रञ्च सार्थं सोदाहरणञ्च प्रदर्श्य अ, व, ह, श, वर्णेषु केषाञ्चित् त्रयाणां स्थानानि प्रयत्नांश्च लिखन्तु।

अथवा—कृष्णर्द्धिः, प्रौहः, विष्णो इति, वागीशः, तच्छिवः, संस्कर्त्ता, शम्भूराजते, सैष दाशरथी रामः, एषु पञ्चानां सिद्धिः प्रदर्शनीया।

२ रामाय, सर्वेषाम्, विश्वपः, बहुश्रेयस्याम्, वारीणाम्, वृत्रघ्नः, अत्र त्रयाणां सिद्धिं विधाय प्रधीशब्दस्य दधिशब्दस्य वा प्रथमाद्वितीयाविभ-क्त्योः रूपाणि निर्दिशन्तु। १५

३ बभूव, अकटीत् अवोचत्, पिपूर्तः, अपादि, गिलति, अतृणेट्, अबी-भवत् अमीषु पञ्चानां साधुत्वं विधाय एध्, गुप, अद्, धातुषु एकस्य लिटि लङि च रूपाणि प्रतिपादयन्तु। २५

४ जिघत्सति, इदामति, विजयते, विरमति, दायिता, यजतिस्म युधि-ष्ठिरः, अत्र केषाञ्चित्पञ्चानां साधुत्वं विधीयताम्। ३०

५ ह्रस्यः, जनमेजयः, ग्लानः, पक्वः, जलपाकः, यत्नः, उपधिः, चिकीर्षा, अन्यथाकारम्, अत्र पञ्चसु प्रयोगेषु विशेषसूत्राणि प्रदर्शनीयानि। २५

सन् १९५५

१ गव्यम् , शिवेहि, गवाक्षः, उत्थानम् , सच्चयुतः, शिवोऽर्च्यः, मनोरथः, अमीषु पञ्चानां साधुत्वं विधाय इ, य, स, ठ वर्णेषु त्रयाणां स्थानानि प्रयत्नांश्च निर्दिशन्तु । २०

२ रामाणाम् , विश्वपः, बहुश्रेयस्यै, तिसृणाम् , दध्नि, विश्वौहः, युष्माकम् , पचन्ती, निसृपः—एषु पञ्चानां सिद्धिः प्रदर्शनीया । २०

३ अभूत् , आनर्च, जग्मतुः, अचीकमत् , अवधीत् , जहीहि, अजनि, किरति, शिण्ढि, अचूचुरत् , अत्र पञ्चानां साधुत्वं प्रदर्श्य पिष् , गुप् , भ्रस्ज् धातुषु एकस्य लिटि लुङि च रूपाणि प्रदर्शयन्तु । २०

४ वत्स्यति, बुभूषति, वरीवृत्यते, पुत्रीयति, निविशते, अभाजि, कार्यम् , कुम्भकारः, शुष्कः, यज्ञः—एतेषु षट्सु विशेषसूत्राणि लेख्यानि । २०

५ हरिं भजति, हरये नमः, राजपुरुष, शिवकेशवौ, गार्ग्यः, शुक्रियम् , राष्ट्रियः, पौरोहित्यम् , दन्तुरः, विद्वत्कल्पः, अजा, भवानी । अत्र षट्सु विशेषसूत्राणि लिखन्तु । २०

सन् १९५६

१ ऋ, औ, भ, ल, वर्णानां स्थानानि प्रयत्नांश्च विलिख्य, अक्प्रत्याहारं सूत्रनिर्देशपूर्वकं साधयत । १५

२ प्रार्च्छति, इ इन्द्रः, चिन्मयम् , संस्कर्ता, देवाहह, शम्भूराजते, एषु चतुरः प्रयोगानर्थनिर्देशपुरःसरं संसाध्य, अतो रोरप्लुतादप्लुते इति सूत्रस्यार्थो लेख्यः । १०

३ सर्वेषाम् , सख्यौ, स्वसारः, राज्ञः, सुपदः, असौ, अद्भिः, धनूंषि अमीषु—पञ्चैव साधनीयाः । १५

४ भवेत् , गोपायाञ्चकार, शृणु, अद्युतत् , अयुः, एधि, नेनिजानि, लोभिता, स्तरिषीष्ट, एतेषु केवलं चतुरः प्रयोगान् तत्तद्विशेषसूत्रार्थोल्लेखपूर्वकं साधयत । २०

५ अतिष्ठिपत् , जिघत्सति, समिधिता, धर्ममुच्चरते, दायिता, यजतिस्म युधिष्ठिरः, स्तुत्यः, जगन्वान् , धूनिः, हित्वा—एषु पञ्च प्रयोगाः साध्यताम् । २०

६ सर्पिषो जानीते, पञ्चगवधनः, कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, त्वक्स्रजम् । रैवतिकः, अस्मदीयः, श्रेयान् , एनी, वृषली, एतेषां पञ्चानामेव साधु साधनं लिखत । २०

सन् १९५७

१ क, य, ऋ, वर्णानां स्थानानि प्रयत्नांश्च विलिख्य, अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति सूत्रस्य अर्थम् उदाहरणञ्च लिखत । २०

सुखार्तः, विष्णो इति, उत्थानम् , शिवच्छाया, शिवोवन्द्यः, इमान् सं-साध्य, ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् इति सूत्रस्य सोदाहरणम् अर्थं प्रदर्शयत । २१

३ रामान्, निर्जरसौ, बहुश्रेयस्याम्, स्त्रीः, श्रीपम् , मघोनः, युष्मत् , पिपठीः, इयम्, तुदन्ती, अमीषु पञ्च प्रयोगाः ससूत्रं साधनीयाः । २०

४ अभूवन् , अकटीत् , हरिष्यति, एधिषत, वर्तिष्यते, जहि, अदित, नेशिथ, असिचत, कुर्यात् , ग्रहीता, अजीगणत् , एषु चतुरः प्रयोगान् साधयत । २०

५ उर्वीभवत्, चिकीर्षति, राजानति, सर्पिषो जानीते, विरमति, तायते, इह भुञ्जीत, विशेषसूत्रनिर्देशसहितं चतुरः प्रयोगान् लिखत । २०

६ सुशर्मा, सहकृत्वा, ग्रामः, सुपानः, हरये नमः, उपराजम् , घनश्यामः, महाराजः, त्रिमूर्धः, गवाक्षः, एतेषु पञ्चप्रयोगान् तत्तद्विशेषसूत्रार्थोल्लेख-पुरस्सरं साधयत । २०

७ वैनतेयः, पित्र्यम् , तावकीनः, औपगवम् , दन्त्यम्, भूयिष्ठः, औत्सी, रुद्राणी, दाक्षी एषु पञ्चैव साध्याः । २०

सन् १९५८

१ तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् , परः सन्निकर्षः संहिता इति सूत्रद्वयस्य अर्थौ विलिख्य, आभ्यन्तरप्रयत्नस्य भेदान् लिखत । १०

२ प्रष्ठौहः, अमी ईशाः, सन्त्सः, इमान् सूत्रनिर्देशपूर्वकं संसाध्य, विप्रति-षेधे परं कार्यम्—इत्यस्य अर्थं प्रदर्शयत । १५

३ सर्वेषाम् , सख्युः, गाः, मत्यै, दध्ना, अनड्वान् , विश्वाराट् , अमी, अद्भिः, धनूंषि-एषु स्वेच्छया पञ्चानां साधुत्वं विधाय युष्मत् शब्दस्य द्वितीयायां रूपाणि लिखत । १५

४ भवतात् , अगादीत् , अपुः, अचीकमत, अभृत, इयाय, और्णावीत् , नेनिजानि, चिकाय, शीयते, आञ्जीत् , स्तभान, कथयति—एतेषु पञ्च प्रयोगान् साधयत । १५

५ जिघत्सति, वाव्रज्यते, पुत्रीयति-छात्रम् , विजयते, प्रवहति, अभाजि, यजति स्म युधिष्ठिरः—सप्तसु चतुरः एव प्रयोगान् लिखत । १५

६ शिष्यः, विज्ञावा, भिक्षुः, स्वप्नः, हित्वा, गर्गान् शतं दण्डयति, ग्रामा-दायाति, पञ्चगङ्गम् , अतिमानः, आपन्नजीविकः, चित्रगुः, सुहृत् , महायशस्कः, वाक्त्वचम् , विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं षडेव प्रयोगाः साध्याः १५

७ दाक्षिः, कौरव्यः, हास्तिकम् , स्त्रैणः, धार्मिकः, कृतपूर्वी, ज्यायान् , गार्गी, दाक्षी, वैदी—एषु पञ्च प्रयोगान् साधयत । १५

पञ्जाब (पंजब) विश्वविद्यालयप्राज्ञव्याकरणप्रश्नाः

सन् १९४४

१ वागीशः, प्रत्यङ्ङात्मा, पुनारमते, लक्ष्मीच्छाया, अवोनः, अस्याः, चतुरः, अस्माकम्, राज्ञः, अक्ष्णः—एतान् प्रयोगान् साधयत । २५

२ गो, मातृ, वारि, अस्मद्, अप्—एतेषां द्वितीयाबहुवचने रूपाणि लिखत । ५

३ ग्रहीता, प्रभवाणि, जहि, असिचत्, क्रीणीमः—एते प्रयोगाः साध्यन्ताम् । २०

४ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, ते प्राग्धातोः, संयोगान्तस्य लोपः, अनद्यतने लङ्—एतेषां सूत्राणामर्थं सोदाहरणं स्पष्टीकुरुत । १०

५ (क) कृष्णश्रितः, पीताम्बरो हरिः, पितरौ—एषु विग्रहं कृत्वा समासानां नामानि च लिखित्वा 'कुमारी' युवतिः इत्यत्र सूत्रोल्लेखपूर्वकं स्त्रीप्रत्ययौ निर्दिशत ।

(ख) विप्राय गां ददाति, रामेण बाणेन हतो वाली, मातुः स्मरति—इत्यत्र तत्तत्सूत्रनिर्देशपूर्वकं कारकविभक्तीः स्फुटीकृत्य निम्नलिखिते रूपे साधनीये:—पाशुपतम्, ग्रामीणः । २०

सन् १९४५

१ विश्वौहः, फलानि, गवेन्द्रः, वृत्रघ्नः, शार्ङ्गिञ्जय, विद्वांल्लिखति चक्रिंस्त्रायस्व, दधनि, श्रियाम्, वारिणी—एते प्रयोगाः साध्यन्ताम् । २५

२ विद्वस्, राजन्, मुनि, पितृ, धनिन्—एतेषां षष्ठीबहुवचने रूपाणि लिखत ५

३ अगमत्, अपुः, अद्धि, वेद, विध्यति—एतान् साधयत । २०

४ पा (पाने), रुध्, कृ (करणे), ग्रह, पा (रक्षणे), नश् विद (ज्ञाने), धा, हन्, हा (त्यागे)—एतेषां परस्मैपदे लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपाणि दत्त (न तु सिद्धिः कार्या) । १०

५ निम्नलिखितान्यशुद्धानि वाक्यानि कारकरीत्या तत्र तत्र कारणं प्रदर्श्य शुद्धानि कुरुत—

(क) माणवकात् पन्थानां पृच्छति ।

(ख) दैत्येषु हरिरलम्, (शक्त इत्यर्थः) ।

(ग) कृष्णेन खड्गात् कंसस्य शिरः छिन्नम् ।

(घ) प्रीतो राजा सैनिकं ग्राममर्पयति ।

६ निर्मक्षिकम्, पितरौ, घनश्यामः, वीरपुरुषको ग्रामः—इत्यत्र विग्रहं कृत्वा समासानां नाम निर्दिशत ।

७ त्रिलोकी, मृद्वी, गोपी, सूर्या—अत्र सूत्रोल्लेखपुरस्सरं स्त्रीप्रत्ययान् लिखत ।

८ यशस्वी पटीयान्—इति तद्धितरूपे साधनीये ।

सन् १९४६

१ निम्नलिखितानि रूपाणि साधयत—
सर्वेषाम्, राभ्याम्, सख्युः, भूपतये, यूनः, पञ्चानाम्, शिवो वन्द्यः, तच्छिवः, तट्टीका, हरिश्शेते। २५

२ इदम् (स्त्रीलिङ्गे), उपानत्, महत्, अस्मद्, वृत्रहन्—एतेषां प्रथमैकवचने रूपाणि लिखत (न तु सिद्धिः कार्या)। ५

३ ब्रूहि, पचते, गृहाण, क्राम्यति, पपौ—एते प्रयोगाः साध्यन्ताम्। २०

४ 'ते प्राग्धातोः', 'अनद्यतने लङ्'—इत्येतयोः सूत्रयोः सोदाहरणम् अर्थं स्फुटीकुरुत।

५ गम् ग्रह, पा, जि, ज्ञा—एतेषां लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि लिखत। ५

६ निम्नलिखितानि वाक्यानि कारकरीत्या कारणप्रदर्शनपूर्वकं शुद्धानि कुरुत—
(क) निर्धनं वस्त्रं देहि। (ख) वृक्षात् फलान्यविचिनोति।
(ग) श्रीहरिं नमः। (घ) रामः बाणाद् रावणं हतवान्।

७ स्त्रीप्रमाणः, ईशकृष्णौ, द्व्यङ्गुलम्, अतिनिद्रम्—इत्यत्र, विग्रहं कृत्वा समासानां नाम निर्दिशत। १०

८ तत्र तत्र सूत्रस्य प्रत्ययस्य च निर्देशं कृत्वा निम्नलिखितां पुल्लिङ्गरूपाणां स्त्रीलिङ्गरूपाणि दत्तः—सूर्य, युवन् आचार्य, श्वशुर। १०

९ निम्नलिखितेषु तद्धितप्रत्ययान् सूत्रोल्लेखपूर्वकं निर्दिशत—
वासिष्ठम्, काकम्, गार्ग्यः, पौत्रः। १०

सन् १९४८

१ थ, म, इ, क, ड के स्थान प्रयत्न लिखकर झय्, यर, इच् प्रत्याहार लिखो। ८

२ खरवसानयोर्विसर्जनीयः, हशि च, ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः, ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य—
इनमें से तीन के अर्थ उदाहरण दो। ६

३ शिवोऽर्च्यः, सत्रच्युतः, कृष्णर्द्धिः, वाग्घरिः हरेऽव।
इन में से तीन की सिद्धि करके—
हरीणाम्, सर्वस्मिन्, रमायाम्, ज्ञानानि, लिट्त्सु, इमे, पन्थानौ, प्राचः एषः, इनमें से तीन की सिद्धि दो केवल विशेष सूत्रों से। १६

४ श्रिञ्, एध्, गद् हन्, दुह्, जिभी, ओहाक्, शो, चिञ्, क्षुर्,
इनमें से किन्हीं पाँच के लुङ् व लिट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में रूप लिखो। १५

५ बभूविथ, एधिढ्वम्, अतथाः, क्रीणीवः, अरुणः, अभैरत्व, अतुत्त, अमृत, अपुषत्, इनमें से किन्हीं पाँच की सिद्धि दो विशेष सूत्रों से। १५

६ अधिहरि, राजपुरुषः, पीताम्बरो हरिः, हरिहरौ ।
इनके विग्रह तथा समासों के नाम दो । १०

७ कुमार, अज, कुरुचर, इन्द्र की स्त्री, गोप की स्त्री ।
इनके स्त्रीप्रत्यय के रूप दो । १०

८ आश्वपतम्, दाधिकम्, अग्रयः, स्त्रैणः, जनता ।
विग्रह तथा प्रकृति प्रत्यय लिखो । १०

९ 'अकथितं च' इस सूत्र का अर्थ लिखकर रम्यपथो देशः, कुतः, पटपटाकरोति, भूयिष्ठः, अधीती । इनकी सिद्धि करो । १०

सन् १९४६

१ अ, च्, य्, श्, इनके प्रयत्न लिखकर स्वरित, अनुनासिक, सवर्ण, संहिता और पद की परिभाषाएँ लिखो । ८

२ अदसो मात् । एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे हलि । औतोऽम् शसोः । वाम्शसोः । न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् । इनमें से केवल चार सूत्रों के अर्थ लिखकर उदाहरण दो । ८

३ निम्नलिखित प्रयोगों में से अन्यतम तीन प्रयोगों की सिद्धि केवल विशेष सूत्रों से करोः—पूर्वस्मिन् । सख्यौ । एभिः । अहोभ्याम् ।

४ निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या करो— ८

सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः ॥

५ इनमें से केवल पाँच धातुओं के लृट् और लृङ् में केवल मध्यम पुरुष में रूप लिखोः—

गद्, अर्च्, गुप्, शृ, डुदाञ्, डुक्रीञ् ।

६ 'ऋतो भारद्वाजस्य' इस सूत्रका अर्थ लिखकर निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या करोः— १०

अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥ १०

७ निम्नलिखित प्रयोगों में से केवल पाँच को विशेष सूत्रों से सिद्ध करो— १०
शृणु, वत्स्यंति, विदांकरोतु, आह, जायते, किरति ।

८ (क) इनको शुद्ध करोः—
पितरं नमः । रामो देवं अलम् । अश्वेन पतति । मोक्षाय इच्छास्ति । पुत्रं पुस्तकं ददाति ।

(ख) इनसे स्त्रीवाचक शब्द बनाओ—

अज, गौर, गोप, गोपालक, मनुष्य, अरण्य, यवन, मातुल, क्षत्रिय, हय। १०

९ सन्धि और समास में क्या भेद होता है? निम्नलिखित समस्त शब्दों में कौन-कौन से समास हैं? विग्रह भी लिखो— १०

सचक्रम्, पूर्वकायः, दूरादागतः, देवब्राह्मणः, अपुत्रः, पाणिपादम्।

१० निम्नलिखित शब्दों में कौन-कौन से प्रत्यय किस किस शब्द से कौन-कौन से अर्थ में आए हैं? १०

पाशुपतम्, राष्ट्रियः, सामाजिकः, सभ्यः, ब्रह्मभवती।

सन् १९५०

१ शिवेहि, षण्णाम्, उत्थानम्, षट् सन्तः, देवा इह, इनमें सन्धिच्छेद विशेष सूत्रों से सिद्ध करो। १०

२ पूर्वत्रासिद्धम्, यचि भम्। ख्यत्यात्परस्य। ऋन्नेभ्यो ङीप्। त्यदादीनामः, इन सूत्रों के अर्थ लिखकर उदाहरण दो। १०

३ मत्यै, क्रोष्टुः, अस्थ्ना, तव, विदुषा, इन प्रयोगों की सिद्धि विशेष सूत्रों से करो। १०

४ पा, एध्, व्यध्, भ्रस्ज्, रुध्, लूञ्, चुर्।

इन धातुओं के लिट् और लुङ् में केवल उत्तम पुरुष के रूप लिखो। १५

५ आतीत्, अधुक्षत्, एधि, कुरु, लुनीहि, बुभूषति, राजीयति इन प्रयोगों की विशेष सूत्रों से सिद्धि करो। १५

६ कारक का क्या अर्थ है? वे कितने हैं? उनमें से कर्म, करण, सम्प्रदान, अधिकरण के स्वरूप अपनी भाषा में लिखकर उदाहरण दो। १०

७ समास का क्या अर्थ है? वे कितने हैं? उनके नाम लिखकर अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्वन्द्व का लक्षण अपनी भाषा में लिखकर उदाहरण दो १०

८ वाहीकः, दाक्षिः, पाण्डयः, इहत्यः, तुण्यम् सूत्रनिर्देश करके किस अर्थ में क्या तद्धित प्रत्यय हुआ है लिखो। १०

९ त्रिलोकी, मृद्वी, सूर्या, युवतिः, हिमानी सूत्रनिर्देशपूर्वक इन प्रयोगों में स्त्री प्रत्यय लिखो। १०

'बिहार' प्रथमपरीक्षाप्रश्नपत्राणि

सन् १९४९

१ प्र+एजते, शिव+छाया, जगत्+लीला, कुर्वन्+इह, सिवस्+अर्च्यः, पुनर्+रमते, तव+ऋद्धिः एषु सन्धिमात्रं प्रदर्शयत।

२ रामाः, सख्युः, क्रोष्टूनाम्, दध्ना, यूनः, पुमान्, अमूनि एषु चतुर्णामेव प्रयोगाणां सूत्रैः साधनं कुरुत।

३ बभूव, जग्मतुः, देहि, अश्रावीत्, अतिष्ठिपत् एषु त्रीन् प्रयोगान् सूत्रैः साधयत।

४ जिघत्सति, वाग्मज्यते, पुत्रीयति, शब्दायते एषां विग्रहवाक्यानि प्रदर्श्य गम्, दा, ग्रह्, छिद् धातूनां लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपाणि प्रकटयत। १५

५ शिष्यः, गोदः, शुष्कः, भुक्त्वा एषु प्रकृतिप्रत्ययान् प्रदर्श्य षाण्मातुरः वैयाकरणः अनयोरेकमेव पदं सूत्रैः साधयत। १५

अथवा

कारक-समासयोर्भेदानुदाहरणानि च विलिख्य कृष्णस्य समीपम्, ईशश्च कृष्णश्च, बहुधनं यस्य इति विग्रहे सिद्धरूपाणि लिखत।

६ पठति, जागर्ति, देहि, कुरु, पचामि, आभिः क्रियाभिः सहान्यानि पदानि योजयित्वा पृथक् पृथग् वाक्यानि लेख्यानि। १५

सन् १९५०

१ शिव + एहि, गो + अग्रम्, विष्णो + इति, उद् + स्थानम्, षट् + नवतिः, देवास् + इह, मनस् + रथः, वाक् + हरिः, सम् + स्कर्त्ता, सन् + शम्भुः, एषु पञ्चानां सन्धिमात्रं प्रदर्शयत।

२ सखा, पन्थाः, यूनः, मघोनः, निर्जरसौ, विश्वपः, सर्वस्यै, प्रतीचः, युष्माकम्, एषु पञ्च प्रयोगान् सूत्रनिर्देशपूर्वकं साधयत। २०

३ पति, मति, क्रोष्टुशब्दानां चतुर्थीपञ्चमीसप्तम्येकवचने रूपाणि विलिख्य, श्रु, अस् वह् धातूनां लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपाणि लिखत। २०

४ अभूवन्, एधि, जहि गृहाण, अचीकमत, पिपठिषति, अध्यापयति, वाग्मज्यते एषु पञ्च प्रयोगान् विशेषसूत्रनिर्देशपूर्वकं साधयत। २०

५ समासस्य किं लक्षणम्, कतिविधश्च समासः, तेषां प्रत्येकमुदाहरणं लिखत। १२

६ कुरुचर-इन्द्र-ब्राह्मण-मनु-गोपालक-मातुल-युवन्-शब्देषु पञ्चानां स्त्रीप्रत्यये रूपाणि लिखत। १५

अथवा

दैत्यः, जनार्दनः, गार्ग्यः, वैयाकरणः, शैवः, तावकीनः, जनमेजयः, पक्वः, कुम्भकारः पचेलिमाः, एषु पञ्चानां प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशं कुरुत।

सन् १९५१

१ उद् + स्तम्भनम्, तत् + शिवः, सुगण् + ईशः, षट् + नाम्, अमू + आसाते, पुम् + कोकिलः, गो + अक्षः, चक्रिन् + त्रायस्व, शिवस् + वन्द्यः, सुख + ऋतः,-एषु षण्णामेव सूत्रनिर्देशपूर्वकं सन्धिकार्यं प्रदर्शयत। २४

॥ सूचना ॥

१—यह ८ वां अं० ब्रा० स० का आप के पास पहुंचता है। आशा है कि अगला अं०९ भी शीघ्र पहुंचेगा। अभी कई ग्राहकों ने ब्रा० स० भा० ३ का मूल्य भेज कर उपहार नहीं मगाया और न वे० पे० भेजने को हमें लिखा उपहार का समय निकला जाता है फिर हमारा दोष नहीं माना जायगा। समय निकल जाने पर ॥|) के भाषाटीका सहित मानव और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र =) में कदापि नहीं मिलेंगे और न १) में भाषाटीका सहित व्याकरण अष्टाध्यायी मिलेगी किन्तु ॥|) में दोनों गृह्य सूत्र और २) में अष्टाध्यायी पीछे मिलेगी। ग्राहकों को यह भी ध्यान रहे कि उपहार के पुस्तक या तो पहिले मूल्य आने पर वा० वे०पे० मगाने पर ही भेजे जाते हैं यही नियम है इस से विरुद्ध नहीं हो सकता उपहार मिलने का समय बहुत थोड़ा रह गया है ऐसा न हो कि आप लोग विचार ही करते रहें कि आज कल में भेजते हैं और समय निकल जावे अमूल्य पुस्तक आप को न मिलें इस लिये तीसरे वर्ष का मूल्य भेजकर शीघ्र २ उपहार मगाइये वा पत्र हम को लिख के शीघ्र वे० पे० मगाइये॥

२—सनातन धर्म का भजनपचासा कविशङ्कर प्रसाद दीक्षित का बनाया नया हमने छपाया है। इस में आर्यसमाजी मुरारी लाल के भजनों का खण्डन खड़ताली भजनों में किया गया है। मूल्य =) डाकव्यय)॥ है॥

३—" पञ्चमहायज्ञ विधि " यह पुस्तक अभी नया भाषा टीका सहित अति उत्तम छपा है। पुस्तक संहिता ब्राह्मण तथा गृह्यसूत्रादि के प्रमाणों से भूषित है। ब्राह्मणादि प्रत्येक द्विजों को विशेष कर यह पुस्तक लेना चाहिये। पञ्चमहायज्ञ का जानना जताना द्विजगृहस्थों का परमधर्म है। आर्यसमाजियों का पञ्चमहायज्ञ पुस्तक गृह्यसूत्रादि सब ग्रन्थों से विरुद्ध महागपोड़ा है यह बात भी इस हमारे छपाये पञ्चमहायज्ञ को देखने से ठीक २ मालूम हो जायगी। इस पुस्तक का मूल्य -)॥ डाकव्यय)॥ है और)॥ में ३ पु० डाक में जा सकते हैं ३ पुस्तक इकट्ठे |-) में मिलेंगे यदि कोई महाशय १०० पु० इकट्ठे लेवें तो हम -) प्रति पु० के हिसाब से देदेंगे। इस पञ्चमहायज्ञ की सनातन धर्म सभा को बड़ी आवश्यकता थी शीघ्र मगाइये॥

ह० भीमसेन शर्म्मा सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व-इटावा

ओ३म्

॥ ब्राह्मणसर्वस्व ॥

भाग ३] उत्तिष्ठतजाग्रतप्राप्यवरान्निबोधत [अङ्क ८

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्म ब्रह्म दधातु मे ॥

ब्रा०स० अं०७पृ०२९६ से आगे कर्मकाण्ड—अग्निहोत्रविषय ।

॥ १५ ॥ आहवनीय कुण्ड से दक्षिण पश्चिम की ओर यजमान के बैठने का आसन नियत है ॥ १६ इसी प्रकार गार्हपत्य कुण्ड से दक्षिण पश्चिम नाम यज्ञशाला के नैर्ऋत्य कोण में पत्नी के बैठने का आसन रखना चाहिये ॥ १७ ॥ यजमान अपने आसन पर बैठ कर (वृष्टिरसि०) मन्त्र पढ़ के एक आचमन करे और दोवार तूष्णीं आचमन करे । मन्त्रार्थ यह है कि हे जल तुम वृष्टि हो आकाश से आये हो प्यास के कष्ट रूप पाप का छेदन करने वाले होने से तुम्हारा नाम वृष्टि है । क्योंकि (ओव्रश्चूछेदने) धातु से वृष्टि शब्द बना है । इसी लिये मेरे पाप को नष्ट करो । हे जल तुम उष्णता गुस्सी आदि को ताड़न करने वाले हो इस से मेरे पाप का भी ताड़न करो । अभिप्राय यह है कि शान्तिगुण जल का ही मुख्य है और अशान्ति घबराहट सब पाप रूप है उन सब को जल शान्त करता है । मनुष्यों में जो-शान्ति गम्भीरतादि धर्मानुकूल गुण होते हैं वे जल के ही हैं । इसी लिये आयुर्वेद के शारीर स्थान में श्लेष्म प्रकृति मनुष्य में शान्तिगम्भीरतादि विशेष लिखे हैं ॥ १८ ॥ आचमन करने पश्चात् यजमान मौन हो जावे ॥ १९ ॥

दक्षिणतोऽग्निहोत्रीमुपसृजन्ति ॥ १ ॥ नचान्तरेण संचरेरन् ॥ २ ॥ न च शूद्रेण दोहयेत् ॥ ३ ॥ अग्नये देवेभ्यो

धुक्ष्वेति सायं जपति ॥ ४ ॥ सूर्याय देवेभ्यो धुक्ष्वेति प्रातः ॥ ५ ॥ अशनायापिपासे स्त्रिया वै स्त्रियं बाधन्ते स्त्रिया वां बाधेऽग्निहोत्र्या वत्सेन वीरेणेति सायं प्रातः ॥ ६ ॥ अन्वाहार्यपचनेन वीरेणेति स्त्रीवत्सायाम् ॥ ७ ॥ सुभूतकृतः सुभूतं नः कृणुतेत्युपवेषेणोदीचोऽङ्गारान् गार्हपत्यान्निरुह्याधिश्रयत्यशनायापिपासीयेनाग्निहोत्रस्थाल्या गार्हपत्येन वीरेणेति विकारः ॥ ८ ॥ अग्नेष्ट्वा चक्षुषावेक्षइति समिधमादीप्यावज्योत्य ॥ ९ ॥ समापओषधीनां रसेनेति स्रुवेणापः प्रत्यानीय ॥ १० ॥ प्रतितप्य तूष्णीं पुनरवज्योत्य ॥ ११ ॥ त्रिरुपसादमुदगुद्वास्य ॥ १२ ॥ अनुच्छिन्दन्निव ॥ १३ ॥ नमोदेवेभ्यइति दक्षिणतोऽङ्गारानुपस्पृश्य ॥१४॥ सुभृतायवइतिसुप्रत्यूढान्प्रत्युह्य ॥१५॥ स्रुवं च स्रुचं च प्रतितप्योन्नयत्यशनायापिपासीयेन स्रुचास्रुवेण वीरेणेति विकारः ॥१६॥चतुष्पञ्चकृत्वो वा ॥१७॥ स्रुवे स्रुवे च मन्त्रः ॥ १८ ॥ उन्नीते स्रुचं संमृशति ॥ १९ ॥ सजूर्देवेभ्यः सायंयावभ्यइति सायं जपति ॥ २० ॥ सजूर्देवेभ्यः प्रातर्यावभ्यइति प्रातः ॥ २१ ॥ उत्तरेण गार्हपत्यं स्रुचमुपसाद्य प्रादेशमात्रीं पालाशीं समिधमादाय स्रुचं च समयातिहृत्यगार्हपत्यमाहवनीयस्य पश्चादुदगग्रेषु कुशेषु स्रुचमुपसाद्य समिधमभ्यादधात्यशनायापिपासीयेन समिधाहवनीयेन वीरेणेति विकारः ॥ २२ ॥ द्व्यङ्गुलं समिधोऽतिहृत्याभिजुहोति ॥ २३ ॥ इति शांखायनीयकल्पे २ । ८ ॥

भावार्थः-दूध से अग्निहोत्र करना मुख्य है यह विचार पूर्व लिख चुके हैं। अग्निहोत्र करने वाला पुरुष छः गौ रक्खे जिस से दूध कभी बन्द न हो क्यों कि जिस का बच्चा मर जावे वा जो गर्भिणी हो ऐसी गौ का दूध अग्निहोत्रादि में न चढ़ावे और न कोई धार्मिक पुरुष खावे यह सनातन धर्म का मूल है। अग्निहोत्र जिस गौ के दूध से किया जावे उस का नाम श्रौत ग्रन्थों की परिभाषानुसार अग्निहोत्री है उस के दुहने आदि का विधान इस आठवीं कण्डिका में दिखाते हैं। यज्ञशाला से बाहर दक्षिण में अग्निहोत्री गौ को खड़ा करके यज्ञ के सेवक लोग बछड़ा को छोड़ें ॥ १ ॥ दुहने के समय अग्निकुण्डों और अग्निहोत्री गौ के बीच से कोई न निकले ॥ २ ॥ अग्निहोत्री गौको शूद्र से न दुहावे न बछड़ा छुड़ावे किन्तु इन कामों को किसी द्विज ब्राह्मणादि से करावे ॥ ३ ॥ दुहने से पहिले यजमान (अग्नये देवेभ्यो धुक्ष्व) इस मन्त्र को पढ के सायंकाल में दुहने की आज्ञा देवे और ॥ ४ ॥ (सूर्याय देवेभ्यो धुक्ष्व) ऐसा मन्त्र पढ़ के प्रातःकाल दुहने की आज्ञा देवे ॥ ५ ॥ और (अशनायाः०) इत्यादि मन्त्र को गौ दुहते समय यजमान सायं प्रातःकाल पढ़े। मन्त्र को ऊपर सूत्र पाठ में लिखे अनुसार (वीरेण) तक जानो। मन्त्रार्थ यह है कि भूंख प्यास दोनों स्त्री लिङ्ग हैं इन दोनों दुःख देने वाली स्त्रियों को संसारी लोग स्त्री से ही निवृत्त करते हैं अर्थात् घरों में स्त्री के बनाये भोजनों से जैसी भूंख प्यास की निवृत्ति और तृप्ति होती है वैसी अन्य प्रकार से नहीं होती कि जिन के स्त्री नहीं है। क्यों कि स्त्री सदा ही पुरुष को हृष्ट पुष्ट करना अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझती है। इसी नियम के अनुसार यजमान कहता है कि हे भूंख प्यास रूप स्त्रियो ! मैं तुम दोनों को अग्निहोत्री गौ रूप स्त्री के द्वारा और वीर बछड़ा द्वारा वैसे ही पीडित करता हूं कि जैसे तुम दोनों मुझे तंग किया करती हो ॥ ६ ॥ यदि गौ के नीचे बछिया (वत्सी) हो तो (वत्सेन) पद को निकाल कर उस के स्थान में (अन्वाहार्य पचनेन) इस पदका ऊह कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥ फिर (ऋभूतऋतः०) इत्यादि मन्त्र पढ़ के हस्ताकार उपवेष नामक यज्ञपात्र द्वारा गार्हपत्य कुण्ड से उत्तर की ओर अंगारों को खींच कर उनपर उबालने के लिये दूध को (अशनायाः पिपासे०) मन्त्र पढ़ के रक्खे। और (अग्निहोत्र्या वत्सेन वीरेण) इतने मन्त्रभाग के

स्थान में (अग्निहोत्रस्थाल्या गार्हपत्येन वीरेण) ऐसा ऊह कर लेवे ॥८॥ फिर उबले हुए दूध को एक समिधा जला कर (अन्नेशा०) मन्त्र पढ़ के अवज्योतन करे अर्थात् जलती समिधा दूध के ऊपर फिरावे ॥ ९ ॥ फिर (समाप ओषधीनां रसेन) मन्त्र पढ़ के एक स्रुवा भर जल उठते हुए दूध में छोड़ें ॥ १० ॥ दूध को फिर तपा कर द्वितीय समिधा जला के बिना मन्त्र फिर अवज्योतन करे ॥ ११ ॥ फिर दूध को तीन बार समीप रख २ के उबले हुए दूध को उत्तर दिशा में अग्नि से उतार कर रक्खे ॥ १२ ॥ ऐसा धीरे से उतारे कि जिस से दूध उछले नहीं न हिले ॥ १३ ॥ फिर (नमो देवेभ्यः) ऐसा मन्त्र पढ़ के दक्षिण में दूध के उबालने को जो अंगार निकाले थे उनका उपवेष द्वारा स्पर्श करे ॥ १४ ॥ फिर उन अंगारों को (शुभूतायत्नः) मन्त्र पढ़के गार्हपत्य कुण्ड में कर देवे ॥ १५ ॥ फिर स्रुवा और स्रुच् को अग्नि में तपा कर (अशनायापिपासे०) इस मन्त्रको पढ़ के स्रुवा द्वारा स्रुच् में दूध छोड़े । और (अग्निहोत्र्या वत्सेन) के स्थान में (स्रुचा स्रुवेण) ऐसा ऊह कर लेवे ॥ १६ ॥ चार बार चार स्रुवा भर २ स्रुच् में दूध गिरावे । यदि यजमान के पांच प्रवर हों तो पांच बार गिरावे ॥१७॥ प्रत्येक स्रुवा के गिराने में पृथक् २ मन्त्र पढ़े ॥ १८ ॥ फिर स्रुवा को दुग्धस्थाली में धर कर स्रुच् का स्पर्श कर लेवे ॥ १९ ॥ फिर (सजूर्देवेभ्यः सायं०) मन्त्र का सांयकाल में जप करे ॥ २० ॥ और (सजूर्देवेभ्यः प्रात०) का प्रातःकालके अग्निहोत्र में इस मौके पर जप करे॥ २१ ॥ फिर गार्हपत्यकुण्ड से उत्तर में दूध से भरी स्रुच् को धरके दहिने हाथ से ढांक को प्रादेशमात्र १ समिधा [स्रुच् को धरके समिधा उठाना इस लिये कहा कि वाम हाथ से काम निषिद्ध है] लेकर स्रुच् के ऊपर धरके समिधासहित स्रुच् को दहिने हाथ से उठाके गार्हपत्य के समीप ही ऊपर से लाकर आहवनीय कुण्ड से पश्चिममें उत्तर को जिन का अग्रभाग हो ऐसे कुशों पर स्रुच् को धरके दहिने हाथ से समिधा लेकर (अशनाया पिपासे०) मन्त्र से आहवनीय कुण्ड के प्रज्वलित अग्नि पर स्रुच् के ऊपर वाली समिधा को चढ़ावे और (अग्निहोत्र्या वत्सेन) के स्थान में (समिधाहवनीयेन) ऐसा ऊहकरे । और माध्यन्दिनीय शुक्लयजु के कातीय सत्र में इसी उक्त समिधा के चढ़ाने का काण्वी शुक्लयजुः शाखा का निम्न मन्त्र रक्खा है—

ओं-अग्निर्ज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीं स्वर्ग्यां स्वर्गायोपदधामि भास्वतीम् ॥

इसी समिधा के प्रज्वलित होने पर समिधा को दो अंगुल छोड़ के उसी समिधा पर दहिना घोंटू पृथिवी में [वषट्कारजिन में न हो उन सभी में दहिना घोंटू टेक] टेक कर दहिने हाथ से (अग्निर्ज्योति०) मन्त्र से सायंकाल एक पहिली आहुति देवे ॥

इस से पहिले द्वितीयादि आहुतियों का विचार पहिले लिख चुके हैं उसी के अनुसार तीनों कुण्ड की आहुति जानो । आगे सूत्र न लिख कर थोड़ा शेष विचार और लिख कर अग्निहोत्र का विषय समाप्त करेंगे । आहुतियों के पश्चात् तीनों अग्नियों का भिन्न उपस्थानादि करना चाहिये जिस का विशेष व्यौरा भाषाटीका सहित छपी अग्निहोत्र की पद्धति में मिलेगा अग्निहोत्र की पद्धति (सम्पादक ब्रा० स० इटावा से मिलेगी) यदि कोई अग्निहोत्र करने वाला पुरुष (जो पहिले से विधि पूर्वक अग्नि स्थापन कर चुका है वह) विदेश में जाना चाहे तो कल्पसूत्रकारों ने उस के लिये सुगम उपाय यह बतलाया है कि विदेश को जाने के समय अधरारणि उत्तरारणि दोनों अरणियों में (अयंतेयोनिर्ऋत्वियो०) मन्त्र से तीनों अग्नियों का समारोप कर लेवे एक २ वार मन्त्र से और दो २ वार तूष्णीं समारोप करे। अर्थात् उस २ अग्नि कुण्ड में अरणियों को तपाले तो अग्नि देवता अरणियों में आ जाते हैं । अग्निहोत्र का सब सामान साथ में हो। विदेश में सन्ध्या का समय आवे तब सायंकाल में सूर्यास्त होने से पहिले अग्नियों का मन्थन कर गार्हपत्य को नियत करके वहां से अन्यों का उद्धरण कर लेवे । इसी प्रकार प्रातःकाल सूर्योदय होने से पहिले उष काल में ही स्नानादि करके फिर अरणियों का मन्थन कर लिया करे और दोनों समय अग्निहोत्र की समाप्ति में फिर २ उन्हीं अरणियों में उसी मन्त्र से उसी प्रकार समारोप कर लिया करे तो इस प्रकार वर्षों तक विदेश में भ्रमण करता हुआ भी अग्निहोत्र कर सकता है । और भी सुगम द्वितीय रीति यह भी कल्पसूत्रकार बतलाते हैं कि गार्हपत्यादि कुण्डों में अपने दोनों हाथ तपा २ कर (एहिमे प्राणानारोह) इस मन्त्र से अपने नासिका छिद्रों को तपाये हाथों से स्पर्श

करे एक २ बार मन्त्र से दो २ बार तूष्णीं इन प्राणों में आरोप किये अग्नियों का (उपावरोह जातवेदः०) मन्त्र से अग्निहोत्र के समय अरणियों में अथवा लौकिक अग्नि में नित्य २ सायं प्रातःकाल प्रत्यवरोप कर लिया करे। यदि अरणियों में प्रत्यवरोप करे तो फिर मन्थन करके यथाविधि अग्निहोत्र करे। अरणि के अभाव में लौकिकाग्नि में प्रत्यवरोप करले।

प्रत्यवरोप करने की रीति यह है कि मन्त्र पाठ के अन्त में नासिका द्वारा अरणियों में वा लौकिकाग्नि में वायु छोड़े। यदि लौकिक अग्नि में प्रत्यवरोप करे तो होम की समाप्ति में उसी का समारोप अरणियों में वा प्राणों में कर लिया करे। इस प्रकार पति पत्नी दोनों के देशान्तर में जाने पर भी शास्त्रानुकूल अग्निहोत्र करने में कोई दोष नहीं आता है। तथा स्मार्त्त अग्निहोत्र का भी विदेश जाने में सुगम उपाय यही है कि घर से चलते समय विधिपूर्वक स्थापित किये आवसथ्याग्नि को प्राणों में वा अरणियों में उसी (अयन्तेयोनि०) मन्त्र से समारोप करके होम के समय प्राणों से अरणियों में प्रत्यवरोप करके वा अरणि में ही समारोप किया हो तो वैसे ही अरणि मन्थन कर अग्नि को प्रकट करके प्रतिदिन सायं प्रातःकाल नियत समय अग्निहोत्र किया करे। तथा यदि विधिपूर्वक अग्निस्थापन नहीं किया है तो प्रतिदिन (अन्वग्निरुष०) मन्त्र से किसी स्थान से अग्नि को लाकर (ओं पृष्ठोदिवि०) मन्त्र से कुण्ड में स्थापित करके पश्चात् पलाशादि की समिधा धर के (तांसवितुः०) (तत्सवितुर्वरेण्यं०) (विश्वानिदेवसवितः०) इन सविता देवता वाले तीन मन्त्रों को पढ़ के बांस की धोंकनी द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करके पद्धति के अनुसार स्मार्त्त होम की दो आहुति तण्डुलों की सायं प्रातः दोनों काल देवे। और इसी प्रकार मन्त्र पूर्वक स्थापित किये अग्नि में पारस्कर गृह्योक्त पंचमहायज्ञ किया करे तो यह भी अग्निहोत्र सुगम और शास्त्रोक्त विधि से माना जायगा। ऐसे विकराल कलिकाल में अग्निहोत्र जैसे महान् कर्म का अनुष्ठान असम्भव था और है परन्तु कृपालु महर्षियों ने ऐसे भी सुगम उपाय बता दिये हैं जिस से अग्निहोत्र के कठिन होने का बहाना करके हम लोग वंचित न रहें। अब हम अपने पाठकों का इधर ध्यान दिलाते हैं कि यदि आप लोगों का वेद पर कुछ विश्वास है यदि आप लोग वास्तव में वेद भगवान् को नारायण का स्वरूप

मानते हो यदि आप में कोई ब्राह्मणादि कुछ भी श्रद्धा रखते हैं तो अब शास्त्रानुकूल अग्निहोत्र की सुगम विधि भी निकल आई है । आशा है कि हमारे पाठकों में से कोई २ ब्राह्मणादि लोग अवश्यमेव प्रतिदिन नियत समय सायं प्रातःकाल नित्य नियम से अग्निहोत्रादि कर्म का आरम्भ चलावेंगे और उसी नित्य नियम को कुछ काल तक ठीक निवाह कर उस का प्रत्यक्ष फल देखेंगे । सुगम पद्धति छपा कर तयार कर देना हमारा (सम्पादक ब्रा० स० का) काम है सो हम से लेते जाइये । यदि कुछ भी लोगों ने विधिपूर्वक अग्निहोत्र पञ्चमहायज्ञादि करना आरम्भ कर दिया तो ब्राह्मणसर्वस्व में चलाया कर्मकाण्ड का व्याख्यान विशेष सार्थक समझा जायगा । सो कुछ श्रद्धालु लोग तो अवश्य ही अग्निहोत्रादि का आरम्भ करेंगे । क्योंकि अभी कलियुग का आरम्भ ही है । सन्ध्यांश नाम प्रातःकाल में भी बहुत बाकी है । द्वितीय हम अपने भाई आर्यसमाजियों से भी सविनय निवेदन करते हैं कि आप लोग अब हठ को छोड़िये । शास्त्रमर्य्यादा को छोड़ कर मन मानी कल्पना से अग्निहोत्र पञ्चमहायज्ञादि कर्म के गौरव को बिगाड़ना आप लोगों की मौरूसी रियासत नहीं है । इस लिये वेद और कल्प सूत्रादि में कही महर्षियों की बनाई मर्यादानुकूल हमारे लिखे पञ्चमहायज्ञादि के विधान को देखिये । यदि आप निष्पक्षपात की आंखों से हमारे लिखे अग्निहोत्रादि विषयक लेखों को देखोगे तो आप को ठीक ज्ञात हो जायगा कि वास्तव में अग्निहोत्र पञ्चमहायज्ञादि का विधान कौन सा ठीक है । द्वितीय पुरातन महर्षियों का आदर करने वाले भी आप लोग तभी हो सकोगे । हमारे पाठकों में से जिन लोगों ने आपापन्थी अग्निहोत्र की पद्धति देखी हो वा अब देखना चाहें वे लोग हमारे अग्निहोत्रादि लेख से तथा ≈) में मिलने वाली [जो सम्पादक ब्रा०स० इटावा से मिलेगी] वेदोक्त सनातन धर्मानुकूल बनी छपी पञ्चमहायज्ञविधि पद्धति से मिलाकर देखें तो आ० समाज की पञ्चमहायज्ञविधि सर्वथा ही वेद शास्त्र विरुद्ध जान पड़ेगी । अब हम इस अग्निहोत्र के विषय को समाप्त करते हुये अग्निहोत्र के नियम धारण से होने वाली मनुष्य की इष्ट सिद्धि दिखाते हैं——

श्रद्धांमेधांयशःप्रज्ञां विद्यांपुष्टिंश्रियंबलम् ।
तेजआरोग्यमायुष्यं देहिमेहव्यवाहन ! ॥ १ ॥

काण्डद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्मस्वरूपिणे ।
स्वर्गापवर्गदात्रे च यज्ञेशाय नमो नमः ॥ २ ॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
निर्धनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ ४ ॥
प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति स्मृतिः ॥ ५ ॥
कालवर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ६ ॥
सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—जिस देश ग्राम नगर वा घर में विधि पूर्वक अग्निहोत्र शास्त्रोक्त मर्यादानुसार नियम से किया जाता है वहां के मनुष्यों की श्रद्धा बुद्धि विद्या कीर्त्ति बल पराक्रम आयु तेज और नीरोगतादि सदा ही बढ़ती है । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड द्वारा जिस का प्रतिपादन वेद में किया गया है उस कर्म और ब्रह्मस्वरूप यज्ञ के स्वामी परमात्मा की प्राप्ति उपासना अग्निहोत्र करने वाले को सुगम हो जाती है । पुत्र पौत्रादि वंश परम्परा ठीक चलती वंशोच्छेद नहीं होता है । पहिले से दरिद्र ब्राह्मण भी नियम से और श्रद्धा से अग्निहोत्र तथा पञ्चमहायज्ञादि का आरम्भ कर दें तो अवश्यमेव उस का दरिद्रता सम्बन्धी कष्ट अनायास स्वयमेव मिट जायगा । धनादि प्राप्ति के लिये उस को कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी । परन्तु कर्म पर श्रद्धा विश्वास अटल होना चाहिये । वह पुरुष दीर्घायु भी अवश्य होगा । ४ । ४ । २ । ५ । २ इस क्रम से जो सत्रह अक्षरों द्वारा पुकारा (आह्वान) किया जाता है उस यज्ञस्वरूप परमात्मा को हम बार २ प्रणाम करते हैं । प्रमाद भूल होने से यज्ञादि में जो २ त्रुटि होती हैं उन सब का प्रायश्चित्त एक विष्णु प-

रमात्मा के श्रद्धा पूर्वक स्मरण से ही हो जाता है। जिस देश में वेदशास्त्र की आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणादि लोग प्रायः अग्निहोत्रादि करते हैं वहां ठीक समय २ पर मेघ वर्षता पृथिवी हरी भरी अन्न से पूर्ण होती उस देश में किसी प्रकार का कोप उपद्रव नहीं होता ब्राह्मण लोग निर्भय तथा सुखी रहते हैं। तथा सभी लोग नीरोग सुखी कल्याणोत्सव देखने वाले होते हैं कोई भी कठिन दुःख वा विपत्तियों को भोगने वाला नहीं होता। परन्तु यदि कोई अन्तःकरण से दुष्ट धूर्त सब के साथ छल करने वाला जिनकेसामने महा कोमलभाषी मित्र बना रहे पीछे उन्हीं का शत्रु कलङ्क पराया धन मारने वाला ऐसा पुरुष-दम्भी धर्मध्वजी अग्निहोत्री आदि धर्म का दम्भ बना कर उसी बहाने से संसार को ठगता है। तो ऐसे कर्मकाण्डी से संसार का तथा उन का वास्तव में कुछ लाभ नहीं। ऊपर लिखे अभीष्टों की सिद्धि ऐसे पुरुष को होना दुर्लभ है। पर शुद्धान्तःकरण होके श्रद्धा विश्वास के साथ अग्निहोत्रादि करने वाले को ऊपर लिखे अभीष्टों की सिद्धि होना कोई साधारण लाभ नहीं है इस कारण विशेष कर ब्राह्मण लोगों को अपने सब अभीष्ट पूर्ण सिद्ध करने के लिये श्रद्धा के साथ सन्ध्या तर्पण पञ्चमहायज्ञ अग्निहोत्र और भोजन विधि इतने कर्म नित्य नियम से अवश्य करने चाहिये ॥

अग्निहोत्र के पश्चात् धर्मनिष्ठ पुरुष को दान धर्म का अनुष्ठान भी कुछ न कुछ नित्य करना चाहिये। यद्यपि दान धर्म का व्याख्यान सनातनधर्म के साथ किया गया है तथापि वह अन्य प्रकार का व्याख्यान है। यहां नित्य कर्मों के प्रसंग में नित्य दान की आवश्यकता दिखायी जायगी। दान धर्म नित्य नैमित्तिक दोनों प्रकार का है उन में नित्य दान का विचार थोड़ा यहां लिखेंगे।

एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते दिने दानविवर्जिते।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम् ॥१॥ भारते–
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥२॥
यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥३॥ मनुः।

भा०– यदि दान धर्म किये विना एक भी दिन बीत जावे तो चोर डा-

कुत्रों से लूटे गये के तुल्य मनुष्य को रोना चाहिये कि हा! आज के दिन दान धर्म न कर पाने से मेरी बड़ी हानि हो गयी। मनु जी कहते हैं कि ऐष्टिक (अग्निहोत्रादि) पौर्त्तिक (देवपूजादि) और दान धर्म इन कामों को संतुष्ट प्रसन्न चित्त से नित्य २ किया करे। दान किसी सुपात्र ब्राह्मण को दिया करे निन्दा वा अरुचि न करता हुआ मांगने वाले भिक्षुकों को यथाशक्ति जो कुछ वस्तु नित्य देना चाहिये। ऐसा न हो कि याचक द्वार से विमुख फिर जावे। क्योंकि जिस के यहां भिक्षा अवश्य मिलती है उस के यहां भिक्षुक लोग आया ही करते हैं। ऐसा आने वालों का प्रवाह चलते २ कभी कोई ऐसा योगी तपस्वी सिद्ध वा देवता वा ऋषि उस के यहां भिक्षुक रूप धारण करके आ जाता है कि जो संसार की सब बड़ी २ विपत्तियों से पार करने के लिये नौका रूप हो जाता है उस के वरदान आशीर्वाद से गृहस्थ के असंख्य जन्मों के पाप कट जाते हैं। इस लिये भिक्षा देने से भी गृहस्थ को कदापि विमुख नहीं रहना चाहिये। और सिद्ध ऋषि देवतादि कभी २ भिक्षुकों के रूप में ही आया करते हैं यह बात इतिहासादि से भी सिद्ध है। जैसे संवर्त्त महर्षि महासिद्ध योगी महामलिन वेष से नगर ग्रामादि में भ्रमण कर जाते थे उन को कोई नहीं जानता था। इस लिये गृहस्थ दानशील बने। भिक्षा भी एक प्रकार का दान धर्मांश है उस में सुपात्र कुपात्र का विचार नहीं करना चाहिये। क्योंकि वहां सुपात्र कुपात्र की परीक्षा होना कठिन है। कुपात्र की शंका से सुपात्र को भी न देना सम्भव है। और सुपात्र को कुपात्र समझ लेना भी असम्भव नहीं। इस लिये भिक्षा में भले ही एक फल वा जलादि जो कुछ किंचित् मात्र भी दे वह आदर के साथ श्रद्धा से देवे। परन्तु भिक्षा से पृथक् कुछ दान नित्य २ स्वयं करना चाहिये उस में सुपात्र कुपात्र का विचार अवश्य करे। जैसा कि याज्ञवल्क्य जी ने कहा है कि—

यत्रविद्यातपःशीलं स्ववर्णाचारएवच ।
श्रुतंवृत्तमिमेचोभे तद्धिपात्रंप्रकीर्त्तितम् ॥ ४ ॥
सर्वथाप्रभवोविप्राः श्रुताध्ययनशालिनः ।
तेभ्यःक्रियापराःश्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥५॥

(शेष आगे)

आ० स० अं० ७ प०३०४ से आगे सनातन दानधर्म ।

अब रहा वेद का विचार कि ईश्वर संसार की उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूप कर्म करताहै तो वहां भी सकाम ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति आदि करता है और सकाम होते ही वह सगुण हो जाता है निष्काम ईश्वर कुछ नहीं कर सकता जैसे कि सगुण अग्नि ही दाह और प्रकाश कर सकता है किन्तु व्यापक निर्गुण अग्नि दाह प्रकाश कुछ नहीं कर सकता इसी कारण वह व्यापक अग्नि निर्गुण कहाता है । यदि निर्गुण अग्नि से दाह प्रकाश होजाते तो सभी पदार्थ भुंजे ही होते और सर्वत्र प्रकाश ही रहता कभी रात को भी कहीं भी अन्धकार न होता । इसी लिये वेद में (सोऽकामयत बहु स्याम्) सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले ईश्वर में कामना दिखाई गई है कि उस ने कामना करी कि मैं बहुत होजाऊं । भला सोचो तो सही कि ईश्वर जगत् को रचना न चाहता तब क्या सृष्टि रच सकता था ? कदापि नहीं तो सिद्ध हुआ कि ईश्वर की इच्छारूप कामना से उत्पत्ति आदि हुए होते और होंगे । (कामस्तदग्रे समवर्त्तत०) इस अथर्व के मन्त्रानुसार सर्गारम्भ में मन का कारण अहंकार ही काम रूप था अर्थात् अहंकार ही कामना का पहिला वा मुख्य स्वरूप है । यही सृष्टि का मूल कारण है । जिस का अहंकार टूट जाता है उस को कोई कामना होती ही नहीं वह अपने हृदय में ही वाहरी सुख साधनों की अपेक्षा छोड़ कर सदा सन्तुष्ट रहता है उस के लिये कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है । कामना ही सब कुछ करती हम कुछ नहीं करते वा चेतनात्मा कुछ नहीं करता इस वैदिक सिद्धान्त में जिस को कुछ सन्देह रहे वह महाशय कामना चाहना इच्छा को छोड़ कर किसी काम को कर देखें जब इच्छा के विना कुछ न कर सकें तो ठीक मान लेवें कि देन लेन आदि सब का कर्त्ता काम ही है हम नहीं । इस में वेद का सूक्ष्म तथा गूढ़ अभिप्राय क्या है जिस को आप लोग ऊपर के लेख से नहीं समझे होंगे इस से हम खुलासा दिखाते हैं—

„भोगापवर्गार्था सृष्टिः" यह संसार भोग और अपवर्ग नाम मोक्ष के लिये है । इसी लिये (भोगापवर्गार्थंदृश्यम्) योगसूत्र में लिखा है कि यह दीख पड़ने वाला चराचर जगत् जीवों के भोग और अपवर्ग के लिये है । सो वेद के अभिप्रायानुसार वेदोक्त रीति से संसार में काम करने वाला पुरुष ही भो

ग तथा मोक्ष दोनों प्रयोजनों को सिद्ध कर सकता है। जो ब्राह्मणादि वेदको छोड़ कर दान देने लेने में फंसे रहते हैं उन के कभी छुटकारा पाने की त्रिकाल में भी आशा नहीं है। वेद इस को बतलाता है कि यदि तुम संसारके भोग भी चाहते हो तो भले ही दान लेने देने आदि पूर्वक भोग भी करो परन्तु भूल प्रमाद में बिलकुल मत डूबो किन्तु कुछ होश में रहो। क्योंकि वास्तव में कर्तृत्व धर्म प्रकृति वा माया का है। इसी लिये (प्रकृतिःकुरुतेकर्म शुभाशुभफलात्मकम्) गीता में कहा है कि अच्छे बुरे फलों वाले सब कर्म प्रकृति ही करती है। और काम संकल्पादि सब प्रकृति के ही गुण हैं। परन्तु उन २ प्रकृति के विकारों के साथ उन के रूपों का अभिमानी हुआ पुरुष संग दोष से अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ उन सब कामों का कर्त्ता अपने को मान लेता है और उन २ विकारों के दोषों वा गुणों को अपने दोष गुण मानता हुआ शोक हर्ष मानता और सुखी दुःखी बनता है। इसी बात को व्यास जी ने योगभाष्य में स्पष्टतया लिखा है तद्यथा—

तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम्—व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ॥ साधनपादेसू० ५॥

भावार्थः—(व्यक्तमव्यक्तं०) इत्यादि इसमें पञ्चशिखाचार्य का प्रमाण व्यास जी ने दिया है कि—व्यक्त नाम चेतन स्त्री पुत्र पौत्रपश्वादि तथा नौकर सेना फौज आदि को अपना ही भाग समझता हुआ, तथा राज पाट धन दौलत को भी अपना ही अंश मानता हुआ अपने को राजा रईस सेठ साहूकार आदि शब्दों से बड़ा मानता है। क्योंकि राज्यादि सामान सहित का ही नाम राजादि रक्खा जाता है। तभी तो वह राजादि कहा वा माना भी जाता है अन्यथा यदि उस ऊपरी चेतनाचेतन सामान के विना केवल एक शरीरमात्र राजा हो सकता तब तो सभी राजादि हो जाते। परन्तु वह सब ऊपरी जड़ चेतन सामान राजादि के शरीर से सर्वथा ही पृथक् होता है। उस

के ठीक २ साङ्गोपाङ्ग हृष्ट पुष्ट होने पर अपने को पूरा ठीक २ राजादि मानता हुआ बड़ा हर्ष मानता है कि हम तो बन गये हमारी बराबर अब कौन है ? मैं ऐसा बड़ा राजा वा रईस वा सेठ आदि हूं तथा यदि उस जड़ चेतन सामान की कुछ अधिक हानि होगयी उसका कोई बड़ा प्रधान भाग नष्ट हो गया तो कहता मानता है कि हम तो जीवित ही मर गये हम तो बिगड़ गये ।! हम किसी भी काम के न रहे हमारा नाश होगया ! हा ! मरे ऐसा नाना प्रकार का विलाप करता है । पर वास्तव में शोचा जाय तो जड़ चेतन सामान से वह राजादि न तो कुछ बन ही गया तथा न उस के बिगड़ने से उस निजका कुछ बिगड़ ही गया है । उस के शरीर में वेही इन्द्रिय वेही काम वही बुद्धि और वैसी ही बोल चाल भी बनी है केवल अविद्या एक प्रकार का नाच नचा रही है । और भी आगे बढ़ के देखिये । एक पुरुष अच्छा रूपवान् पण्डित युवावस्था में आया हाथ पांव आदि सब सुडौल बने हुए हैं तीन २ घंटा तक मधुर मनोहर आवाज से सभा में बोल सकता है । अच्छा नीरोग हृष्ट पुष्ट है अपना रूप दर्पण में देख २ असीम आनन्द मानता है वा अपने फोटो आदि को अथवा वायें दहिने झांकता हुआ बड़ा हर्ष मानता है कि मेरी बराबर कौन है ? । दैवयोग से बीमार होकर महादुर्बल हो गया । एक आंख भी फूट गयी अथवा कोई हाथ पांव से लुंज वा लंगड़ा भी हो गया साबन से धो २ कर स्नान न कर पाने के कारण मलिन चेहरा भी हो गया विष्फोटक के दागों से मुखादि पर वैसी चिकनाहट भी नहीं रही अब फिर उक्त महाशय दर्पण में अपना रूप देख २ बड़े शोकसागर में गोता लगा रहे हैं हा ! हमारी यह क्या दशा हो गयी । हा ! हम काने वा अन्धे लूले वा लंगड़े हो गये अब क्या करें कहां जायं किसी काम के न रहे ? । इत्यादि विलाप करता है । पाठक शोचिये क्या हम नामक आत्मा रूपवान् वा कुरूप हो जाता है ! क्या आत्मा का नाम अन्धा आदि हो सकता है ? । तो सभी समझदार कहें मानेंगे कि ये सब आत्मा के धर्म नहीं हैं किन्तु ये सूक्ष्म शरीर के भी धर्म नहीं हैं ये सब केवल स्थूल शरीर के धर्म रूपवान् कुरूप वा मोटा पतला काना अन्धादि होते हैं उन सब स्थूल शरीर के धर्मों को ही अपने नाम आत्मा के धर्म मान बैठे हैं अथवा हम ने स्थूल पांचभौतिक शरीर को ही मानलिया है कि ये ही हम हैं । इसी कारण मरण से अत्यन्त ही डरताहै

हम मर जावेंगे। हमारा ही नाश हो जायगा। सो यह भी अविद्या का ही खेल है। आगे और बढ़के देखा जाय तो फिर मन को वा सूक्ष्म शरीर को आत्मा मानता है कि अमुक पुरुष तो बड़े गम्भीर धीर वीर शान्तिशील विचारशील हैं। मैं तो बड़ा पण्डित हूं महामहोपाध्याय का पुछल्ला मेरे पीछे लगा है। मैं सार्वभौम अद्वैत विद्वान् हूं। इत्यादि मन के गुण अपने में मानता हुआ वा मनोमय कोश को हम पदवाच्य आत्मा समझता हुआ अपने को बड़ा मानता है। यदि दैवयोग से पागल हो गया वा मानस विचारों की हानि हुई तो वे समझ ठहर गया तब बड़ा दुःख मानता है। अभिप्राय यह निकला कि अन्य के धर्म अन्य में आरोप करके यह जीव भूल में पड़ाहुआ संसार के प्रवाह में बह रहा है और सदा ही डूबता उछलता गोते खा रहा है। इस महा भयंकर संसार चक्र से निकाल कर वेद इस जीव को ठीक सच्चा रास्ता बतलाता है। जैसे कि दान लेने देने वाले दोनों ही देने लेने के अभिमान को त्याग दें कि हम न देते न लेते हैं किन्तु काम ही देता काम ही लेता है। जब तक कामना है तब तक लेन देन भी लगा है देने वाले को दाता होने का मान अहंकार न दबावेगा। इस लिये उस के दान का सात्त्विक उत्तम फल होगा और दान लेने वाला भी संसार के बन्धनों से बचता हुआ मोक्ष का भागी होगा। सारांश यह कि कर्मकाण्ड के मन्त्रों का भी मुख्य अभिप्राय तत्त्व ज्ञान उत्पन्न कराना है और उत्तम तत्त्वज्ञान ही मोक्ष नाम सब दुःखों से छूटने का हेतु है। ब्रा० भा० ३ अं० ३ से बराबर दान धर्म का व्याख्यान चला यद्यपि वेदादि के प्रमाण तथा अनेक युक्ति विचार इस विषय में और भी हो सकते हैं पर तो भी अब इस दानधर्म पर यहां और कुछ न लिखकर आगे प्रकरणानुसार अन्य विचार चलाया जायगा।

सनातन--अहिंसा धर्म ॥

अहिंसा समताशान्तिर्दमः शौचममत्सरः।
द्वाराण्येतानिमेविद्धि प्रियोह्यसिसदामम ॥

भावार्थः—अहिंसा, समता, शान्ति, दमनाम मन को वश में करना, शौच नाम बाह्याभ्यन्तर शुद्धि और मत्सरता का परित्याग ये सब धर्म के द्वार हैं। महाभारत में धर्मावतार महाराजा युधिष्ठिर जी से साक्षात् ध-

र्म ने यह वचन कहा है कि ये अहिंसादि मेरे द्वार हैं । इन अहिंसादि का आचार विचार करने वाला पुरुष धर्म के द्वार में प्रवेश करने वाला कहा माना जायगा । इस लिये हम यहां सनातन अहिंसा धर्म का कुछ व्याख्यान करेंगे आशा है कि पाठकों को इस विषय के सुनने देखने की भी इच्छा होगी ।

(प्रश्न) सनातन धर्म के लोग जब कि विन्ध्याचल के मन्दिर में वा काली कलकत्ते वाली देवी पर सैकड़ों सहस्रों भेड़ा बकरा भैंसादि पशु प्रति वर्ष काटते मारते हैं उन्हीं सनातनियों का पक्ष तुम सम्पादक ब्रा०स० करते हो तुम अहिंसा धर्म का प्रतिपादन कर ही क्या सकोगे ?। हां अहिंसा धर्म को हम आ० समाजी लोग ठीक मानते हैं हमारे मत में अवश्य अहिंसा धर्म का विचार ठीक २ घटता है ।

(उत्तर) हमने यह बात बहुत ही अनुभव करके अपने जीवन में निश्चित की है कि (गर्जे सो वर्षे क्या ?) खाली गर्जने वाले बादल प्रायः वर्षने वाले नहीं होते (गर्जन्ति केचिद्वृथा) कोई व्यर्थ ही गर्जते हैं वर्षते कुछ नहीं । इसी दृष्टान्त के अनुसार एक आर्यसमाजी और दूसरे जैनी लोग हिंसा के निषेध का बड़ा ही प्रबल दावा करते हैं हिंसा को बहुत ही बुरा कहते हैं । सो यह इन दोनों का जबानी ही जमा खर्च है । हिंसा अहिंसा का मर्म ही कदाचित् इन लोगों ने अभी तक नहीं जान पाया है । क्यों कि इन उक्त दोनों ही मतावलम्बियों में दयाधर्म बहुत ही कम देखा जाता है रूखापन निर्दयता इन के बाहर भीतर ठसाठस भरी जान पड़ती है। और अहिंसा धर्म का बड़ा चिह्न दयालु होना है। सो यह दया धर्म खोजने वालों को संसार भर के सब मत वालों से अधिक हिन्दुजाति में मिलेगा। जब कि स्वा० दयानन्दजीने सायं प्रातः अग्निहोत्र में भी मांस चढ़ाना लिखा वन्ध्या गौ का मारना लिखा हानि करने वाले प्राणियों को मारना लिखा तभी तो इन लोगों में एक मांसपार्टी खड़ी हो गयी जो मांस खाने में कुछ दोष ही नहीं मानती तब ये लोग किस मुख से अहिंसक बनने का दावा कर सकते हैं?। जैनधर्म में दया के काम विशेष न होने पर भी उन के किसी आचार्य ने मांस को किसी काम में लाना नहीं लिखा और न कोई भी जैनधर्मी मांस का खाना आदि अच्छा कहता है । इस कारण से इस अंश में जैनधर्मी लोग आर्य समाजियों से भी अच्छे अवश्य हैं । पर वेदविरोधी होने वेद को न मानने से हम

लोग उन को नास्तिक मानते हैं यह दूसरी बात है। आ०समाजी नाम मात्र वेदानुयायी हैं वास्तव में ये भी वेद विरोधी ही हैं। अब रहा सनातन धर्मी हिन्दू लोगों का विचार जो देवी देवतों के नाम से भैंसा बकरा आदि की हिंसा सो इस को सब हिन्दू नहीं करते किन्तु कुछ लोग करते हैं। और जो करते हैं वे सात्विक धर्मात्मा नहीं किन्तु रजोगुणी तमोगुणी उन का धर्म माना जायगा। इस प्रसंग में धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार हम प्रथम मानस वाचिक के साथ कायिक हिंसा की तुलना करना चाहते हैं और यह भी तुलना यहां करें गे कि जो लोग देवी देवता को बलिदान करके उन का प्रसाद मात्र कभी २ मांस खाते और जो किसी देवी देवता की पूजा किसी भी प्रकार नहीं करते किन्तु देवपूजा की निन्दा और भी अधिक २ करते हैं और मांस खाते हैं। इन में अच्छे कौन हैं ?। शास्त्रानुकूल अहिंसा धर्म का लक्षण योगशास्त्र में व्यास जी लिखते हैं कि-

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ॥

भा०-सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ द्रोह बुद्धि का त्याग होना अहिंसा कहाती है। सो अपने अनुकूल मेली के साथ तो कोई भी द्रोह करता ही नहीं किन्तु विरोधी शत्रु के साथ सभी का द्रोह होता है द्रोह नाम अन्य को दुःख देने की इच्छा का है यह मन का धर्म है। जिसके मन में द्रोह है वह मानस हिंसा का अपराधी हो चुका और जब उस द्रोह को कठोर शब्दों में वाणी द्वारा कहता है कि जो वाणी हथियार के तुल्य अन्य के हृदय में घाव करने वाली होती है वह वाचिक हिंसा है। मानस वाचिक हिंसा प्रथम हुये विना शरीर से हिंसा कोई कर भी नहीं सकता।

अनृतंचसमुत्कर्षे राजगामिचपैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानिब्रह्महत्यया ॥ १ ॥
उक्त्वाचैवानृतंसाक्ष्ये प्रतिरुध्यगुरुन्तथा ।
अपहृत्यचनिःक्षेपं कृत्वाचस्त्रीसुहृद्वधम् ॥२॥ मनुः-

भाषार्थः-स्वयं निकृष्ट हीन शूद्रादि जाति के अन्तर्गत हो कर भी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अपने को मिथ्या ही ब्राह्मण वा क्षत्रियादि बताना राजा से कोई ऐसी चुगली करना जिस से राजा उस को मरवा डाले वा उस का सर्व नाश

करदे कि जिस की चुगली की गई हो । गुरु को मिथ्या दोष लगाना । किसी ने विश्वास करके जिस को साक्षी मध्यस्थ किया हो उस में जानते हुये भी लोभादि के वश होकर मिथ्या कहना । गुरु को मिथ्या ही तंग करना, किसी ब्राह्मण की धरोहर मार लेना। किसी ब्राह्मणी को तथा मित्र को मार डालना ये सब काम ब्रह्महत्या के समान हैं।अज्ञान से हुए ब्रह्महत्यारूप महापातक का प्रायश्चित्त बारह वर्ष का है । और समझ पूर्वक की ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त भी नहीं है । और (संकरापात्रकृत्यासुमासंशोधनमैन्दवम्) मेढ़ा बकरा आदि को मारना संकरीकरण नामक पापों में परिगणित है और इस का प्रायश्चित्त एक महिने भर एक चान्द्रायण व्रत है । यह मानव धर्मशास्त्र के प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि १४४ महिने तक अज्ञात ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे और मेढ़ा बकरा की हत्या में एक महिने का प्रायश्चित्त ठहरा । अब पाठक महाशय शोचिये कि ब्राह्मण क्षत्रियादि बनने के लिये अपनी जाति को छिपा कर झूठ बोलने वाले क्या अधिकांश आ० समाजियों में नहीं हैं? और क्या जगद् गुरु सर्वमान्य अवतारों तथा ऋषि मुनियों को ये लोग दोष नहीं लगाते ? तथा साक्षी में मिथ्या बोलने वाले भी इन में अनेक हैं । हमने प्रत्यक्ष देखा है कि जानते हुए ही वेद की शपथ कर गये हैं ऐसे लोग वास्तव में महापातकी हैं । और इन्हीं में से बहुत से लोग देवी देवता पर मेढ़ा बकरा चढ़ाने वालों को बुरा कहना चाहते हैं कि जो वाणी के दोषों से स्वयं हिंसक महापातकी हैं । प्रयोजन यह कि मानस वाचिक पाप ऐसे बहुत हैं जो कायिक हिंसा से सैकड़ों सहस्रों गुणे अधिक हैं । इस लिये तुम प्रश्न करने वाले स्वयं अधिक हिंसक सिद्ध हुए तब देवी देवता के बलिदान का आक्षेप तुम नहीं कर सकते । परन्तु हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ अहिंसा धर्म की पूरी २ व्यवस्था दिखावेंगे ।

(सब से ऊंची कक्षा का [फर्स्टक्लास] अहिंसाधर्म)

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ योग सू० २ । ३१ ॥ भाष्यम्—तत्राहिंसाजात्यवच्छिन्ना मत्स्यबधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशावच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरत-

स्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थं नान्यथा हनिष्यामी-ति । यथा क्षत्रियाणां युद्धएव हिंसा नान्यत्रेति ॥

भाषार्थ—जाति,देश, काल,समय इन चार भूमियों में विदित नाम प्रसिद्ध अहिंसादि यम सार्व भौम (चक्रवर्त्ती) होने से महाव्रत कहाते हैं । सांप, बिछू , खटमल, जुहां आदि किसी जाति के भी किसी जीव को किसी भी स्थान में किसी भी तिथि वार में और किसी मौके पर मन से वाणी से और शरीर से कष्ट पहुंचाने की चेष्टा न करे यही अहिंसा धर्म सबसे उत्तम कक्षाका है । इस अहिंसा धर्म का ठीक २ पालन संसार के सब झगड़ों का परित्याग करके वन जङ्गलों में तप करने वाले ऊचे योगी लोग ही कर सकते हैं किन्तु संसारी काम करने वाला कोई भी पुरुष कदापि इस अहिंसा धर्म का पालन नहीं करसकता । योगी लोग बहुत काल तक निरन्तर बड़े आदर और श्रद्धा के साथ जब अहिंसा का पालन करते हैं तब उन की परीक्षा होती है अर्थात् उन के सामने हिंसादि में झुकाने वाले वितर्क खड़े होते हैं अथवा अहिंसा धर्म से डिगाने के लिये विघ्न उपस्थित होते हैं। तब भी यदि अहिंसा से न डिगे तो योगी पुरुष अहिंसा धर्म में पास होजाता है।तब उसको प्रशंसापत्र सार्टीफिकट मिल जाता है कि (अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः) वह सार्टीफिकट यह है कि जिन प्राणियों में सनातन अनादिकाल से वैर चला आता है जैसे सांप और न्योला, बिल्ली मूषा इत्यादि परस्पर वैरी दोनों अकस्मात् योगी के सामने आकर सनातन वैर को भी छोड़ देते हैं । उस के सामने न्योला सांप को नहीं मारेगा बिल्ली भी मूषे को नहीं झपटेगी दोनों में शान्ति और दया धर्म की हवा योगी के शरीर से प्रवेश कर जायगी । जैसे प्रज्वलित प्रबल अग्नि के समीप बैठने वाले को कैसा ही अधिक शीत लगा हो क्षण भर में दूर भाग जाता है वैसे ही उसयोगी के शरीर में दया रूप अहिंसा धर्म प्रज्वलितहो जाता उस के धर्म की लपटें उठने लगती हैं जिन के प्रभाव से उस के सामने क्रोध से जलते भुनते हुये प्राणी भी शान्त हो जाते हैं ऐसी दशा में उस को मान लेने पड़ता है मुझे अहिंसा धर्म में पास होने का सार्टीफिकट मिल गया । अहिंसाधर्म की ऐसी एक सीढ़ी पर चढ़जाने वाला योगी संसार सागर की भयङ्कर तरङ्गों में फिर गोता नहीं खाता किन्तु क्रमशः वह मोक्षानन्द का अनुभव करता है ॥

संसारी मनुष्य इस अहिंसा धर्म का पालन क्यों नहीं कर सकता सो सुनिये। देवता लोग सनातन काल से ही असुर राक्षसों की हिंसा करते चले आते हैं कभी असुर देवताओं का नाश करते हैं परन्तु देवता अमर हैं। असुर लोग नष्ट होकर फिर २ रूपान्तरों में प्रकट होते हैं। देवासुरों की जात्यव-च्छिन्न हिंसा है। अनेक मनुष्य जात्यवच्छिन्न हिंसा को अकर्त्तव्य समझते मानते हैं उन जातियों से भिन्न हिंसा में उदासीन हैं अथवा कर्त्तव्य मान लेतेहैं कुछ अनुचित नहीं समझते। जैसे मुसलमान लोग सुअर का मारना अतिबुरा समझते हैं पर गोहिंसादि को कर्त्तव्य समझते हैं। सनातन धर्मी हिन्दू लोग गौ ब्राह्मण की हिंसा को सर्वथा ही बुरा समझते हैं अन्य भेड़ा बकरादि की हिंसा में कोई उदासीन हैं कोई वैष्णवादि बुरा समझते और कोई शाक्तादि कर्त्तव्य भी समझते हैं। आ०समाजी स्वा०दयानन्द जी खेती आदि का नुकसान करने वाले हिरणादि को मारने की स्पष्ट आज्ञा अपने वेद भाष्य में देते हैं। परन्तु हिरणादि खेती का नुकसान करने से यदि हिंसनीय ठहरें तो भंड़ियायी गौ जो बहुत प्रबन्ध करने पर भी जब मौक़ा पाती तभी छिप कर निकल जाती और अधिकांश खेती का नुकसान किया करती है तब क्या ऐसी गौ को भी मार देना चाहिये?। यदि गौ को न मारे तो नुकसान करने मात्र से हिरणादि को किस कारण मारना उचित वा धर्मानुकूल है?। व्याध बहेलिया लोग प्रायः हिरणादि खास २ जातियों को ही मारा करते हैं। ईसाई आदि भी सब जातियों को एकसा ही वध्य नहीं मानते किन्हीं जातियों की हिंसा करना उचित और कई की अनुचित मानते हैं। यदि कदाचित् संसारी मनुष्यों में बहुत खोजने पर कोई ऐसा भी मिल जाय जो सिंह व्याघ्र सांप बीछू आदि किसी प्राणि को भी मारना अच्छा न समझता हो तो उस के अपने ही शरीर में वा उस के प्रिय पुत्रादि वा पशुवादि के शरीर में कहीं कीड़ा पड़ जायं तो जिस ओषधि से वे सब मर सकते हैं उस ओषधि का लगाना यदि वह स्वीकार करेगा तो उस को उन जीवों की हिंसा करना स्वीकार होगया और जात्यवच्छिन्न हिंसा उस को भी माननी पड़ी। इस से यह सिद्ध हुआ कि जात्यवच्छिन्न [मानम किसी खास २ जाति की] हिंसा से संसारी प्राणी कोई नहीं बचसकता यदि किसी की खटिया में खटमल पड़जावें और वह उस खटिया को तेज घाम में रख देना स्वीकार करता है तो भी उस को खटमलों की हिंसा स्वी-

कार होगयी । तथा घास ओषधि वृक्ष वनस्पति आदि के काटने तोड़ने आदि में भी किसी कक्षा की हिंसा अवश्य है इसी कारण [हिंसौषधीनां०] ऐसा मनु० अ०११ में लिखा गया है । इस स्थावर सम्बन्धी हिंसा से भी संसारी मनुष्यों का बच सकना असम्भव हीहै। यद्यपि ब्रह्महत्यादि की अपेक्षा क्रमशः घटते २ स्थावर जातियों की हिंसा इतनी कम है जिसका हिंसा में परिगणन भी प्रायः नहीं किया जाता है । तथापि किसी कक्षा का दोष अवश्य है इसी लिये ओषधि वृक्षादि के काटने को मनु जी ने उपपातकों में गिना है । इस प्रकार जात्यवच्छिन्न हिंसा संसार भर में व्याप्त है । जैसे वायुमण्डल में व्याप्त होने वाली सर्दी गर्मी सभी प्राणियों को कुछ न कुछ लगाही करती है वैसेही व्याप्त हिंसा भी सभी को लगती है। और इस सर्वव्यापक हिंसाका मूल अभीष्ट सुख वा सुखके साधनों की चाहना अभिलाषा है क्यों कि जिस सुखवा सुख साधन वस्तु की हमें चाहना है उसका विरोधी भी कोई न कोई अवश्य ही हुआ करता है जिस का नाम दुःख तथा दुःख का साधन रखने पड़ता है उस सुख और सुखसाधन वस्तु के विरोधी से हम को स्वाभाविक अरुचि है इसी कारण हमारे मन में उस विरोधी के साथ द्वेष प्रकट होता है यही हिंसारूप वृक्ष का अंकुर है । कामना हिंसा का बीज है । मन से आगे जब वाणी में तथा स्थूल शरीर में वह द्वेष रूप अंकुर बढ़ता है तब हिंसा वृक्ष रूप में साक्षात् खड़ी हो जाती है । पाठक महाशय अब शोचिये कि हिंसा वृक्ष के कामना रूपबीजको छोड़ सकना जब सम्भव नहीं तोसंसारी मनुष्य हिंसा से किस प्रकार बच सकता है? अर्थात् कदापि नहीं । परन्तु इस का यह भी मतलब नहीं है कि कोई मनुष्य हिंसा से बचने का उपाय ही न करे किन्तु जैसे शीत काल में सब देश में शीत व्यापक हो जाता है तब भी हम अपनी २ शक्ति के अनुसार शीत से बचने के सैकड़ों उपाय करते और अपने २ उपायानुसार शीतोष्णादि से बचते भी हैं । तदनुसार धर्मशास्त्र की आज्ञा मानते हुये हम लोगोंको जहां तक सम्भव हो हिंसादि से बचने का उपाय करना अवश्य चाहिये । क्यों कि संसार का यह नियम है ही है कि धन विद्या प्राप्ति के लिये हम सभी लोग उपाय करते और अपने २ कर्मानुसार प्राप्त भी करलेते हैं पर ऐसा धनादि प्राप्त नहीं करपाते कि जिस की हद्द हो जाय वैसे ही जहां तक उपाय अहिंसा धर्म के लिये हो सके हमें कर्त्तव्य है ।

शेष आगे

आ० अं० ७ पृ० ३१२ से आगे शंकासमाधान ॥

तथा और भी स्पष्ट रूप मानव धर्म शास्त्र का प्रमाण लीजिये-

अस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन् ।
पूजिताश्चप्रशस्ताश्च तस्माद्बीजंप्रशस्यते ॥ अ० ९ ॥

अर्थः-जिस बीज के प्रभाव से तिर्यक् पश्वादियोनि नाम पेट रूप खेतों में भी पूजित और प्रशस्त ऋषि महर्षि पैदा हो गये इस कारण बीज की प्रशंसा है खेत की नहीं । इस कारण गोकर्ण का गौ के पेट से पैदा हो जाना युक्ति तथा शास्त्र दोनों के सर्वथा अनुकूल है जिस को ठीक न जान पड़े उस की समझ का दोष है ॥

"ब्राह्मण के मस्तक में सात जन्म तक पुत्र होना न था फिर दो कैसे हो गये ?" इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण के प्रारब्धानुसार ही पुत्र हो सकता तब तो स्वयं होही जाता उस में कुछ विलक्षण आश्चर्य ही क्या था । इस समय में भी गरीब अमीर सभी के यहां पुत्रादि पैदा होते हैं कोई अद्भुत काम नहीं माना जाता । यदि ब्राह्मण के मस्तक में होता तब,तो वह प्रकट भी हो ही जाता योगी के योगबल का कुछ भी प्रयोजन उस दशा में नथा । किन्तु जो नहीं था उसी को पैदा कर देने में तो योगी के योगबल की सार्थकता हुई । प्रायः सभी वेद स्मृति इतिहास पुराणादि में कुछ न कुछ विलक्षणता आश्चर्य जहां हुआ है वही बात तो लिखी गयी है । साधारण बातें तो लोक में सर्वत्र हुआ ही करती हैं उन के लिये ग्रन्थ नहीं बनाये जाते हैं । जबकि योगसिद्धि प्राप्त हो जाने से योगी पुरुष अनेक अद्भुत अनहोने काम कर सकता है जिस के लिये सैकड़ों युक्ति प्रमाण विद्यमान हैं जैसे न्याय दर्शन के भाष्य में वात्स्यायन महर्षि लिखते हैं कि-

योगीखलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषुतेषु युगपज्ज्ञेयानुपलभते॥३।२।२०॥

तथाच-आत्मनोवैशरीराणि बहूनिभरतर्षभ ।
कुर्याद्योगीबलंप्राप्य तैश्चसर्वैर्महींचरेत् ॥ भारते

अर्थः-योगसिद्धि प्रकट हो जाने पर योगी इन्द्रियों सहित अपने अनेक शरीर बनाकर उन २ शरीरों में एक साथ भिन्न २ अनेक विषयों को देख सु-

न सकता है । योगी योगबल को पाकर अपने बहुत शरीर बना सकता और उन सब से पृथिवी में विचरता है। क्या यह आश्चर्य नहीं है क्या यह अनहोनी बात नहीं है ? तब यदि योगी ने जिस के प्रारब्ध में सन्तान होना नहीं था उस के पुत्र कर दिये तो योगी को कठिन ही क्या था ? ।

अब आशा है कि पाठक लोग समझ गये होंगे कि तु० रा० का कुतर्क कैसा पोच तथा युक्ति और शास्त्र प्रमाणों से कैसा विरुद्ध है ? । आगे तु०रा० लिखते हैं कि "तीसरा तुर्रा यह है कि नारद जी को यह कथा पुरातन इतिहास बताया गया है नूतन नहीं" सो ठीक है क्योंकि तु० रा० स्वयं साक्षात् ही तुर्रा हैं इसी कारण उन को सर्वत्र तुर्रा ही तुर्रा दीखते हैं । भला बताइये तो सही कि यह कथा अब नूतन इतिहास कैसे हो गयी ? यदि तु० रा० का यही अभिप्राय है कि श्रीमद्भागवत माहात्म्य के अ० ६ में लिखा है कि-[कलियुग के ३० वर्ष बीते पर राजा परीक्षित को शुकदेव जी ने भागवत सप्ताह सुनायी थी। तथा दो सौ वर्ष पीछे गोकर्ण ने सुनाई उस से ३० वर्ष पीछे सनत्कुमारों ने सुनाई । इस पर तु० रा० लिखते हैं कि जब पुराणमतानुसार कलि में सौ वर्ष से अधिक आयु नहीं होता तब गोकर्णादि के भागवत सुनाते समय व्यासादि महर्षियों का वर्त्तमान होना सत्य में हानि पहुंचाता है ॥

(समाधान) पाठक महाशय ! सामवेद भाष्यकार होने का महामिथ्याही तुर्रा अपने पीछे स्वयं लगाने वाले तु० रा० की पण्डिताई देखिये। थोड़ा भी पढ़े लिखे लोग जानते हैं कि भागवत और सप्ताह दोनों ही शब्द स्त्री लिंग नहीं तब तु० रा० का (सप्ताह सुनाई थी) लिखना कैसा अज्ञान है जिन को भाषा लिखने तक का होश नहीं वे श्रीमद्भागवत जैसे सर्व शास्त्रसारग्रन्थ की समालोचना वा खण्डन करने को क्या इसी विद्या बुद्धि के भरोसे पर उछल कूद मचाना सीखे हैं ? । प्रथम इन को लिंग का बोध करना चाहिये । अस्तु । अब देखिये इन तु० रा० का अज्ञान कि व्यासादि महर्षियों का आयु भी सौ वर्ष का ही बतलाते हैं । क्या व्यासादियोगियों के लिये सौ वर्षादि का नियम है ? यदि ऐसा मानो तो पहिले योगशास्त्र सम्बन्धी लेखों पर हरताल फेरो कि जहां आयु को बढ़ा लेने मृत्यु को जीत लेने आदि के अनेक प्रमाण विद्यमान है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में देखो-

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते, पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
नतस्यरोगोनजरानमृत्युः, प्राप्तस्ययोगाग्निमयं शरीरम् ॥

अर्थः—योगी के शरीर से पृथिवी आदि पांचो तत्त्व के वे अंश जब तपो ऽनुष्ठानादि के द्वारा निकल जाते हैं कि जो मृत्यु वा बुढ़ापे को लाने वाले होते हैं और जब सूक्ष्म पंचभूतों को योगी वश में कर लेता है उस समय न कोई रोग उस को सताता न शरावस्था आती और न उस के पास मृत्यु आ सकता है क्योंकि उस का शरीर योगाग्निमय हो जाता है। व्यासादि महर्षियों के योगी होने में तु० रा० को सन्देह न होगा ऐसा अनुमान है। यदि सन्देह होगा तो हम उसका भी समाधान करेंगे। तथा औरभी आचार मयूख में लिखाहै—

अश्वत्थामाबलिर्व्यासो हनूमांश्चविभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥

अर्थः—अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनूमान्, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम जी ये सात चिरजीवी हैं मरते नहीं हैं यह भी सब आस्तिक सनातन धर्मियों को विश्वास है कि व्यास अश्वत्थामादि सब इस समय भी मौजूद हैं और आगे भी रहेंगे। हम लोग राग द्वेष मोहादि से दूषित हो जाने के कारण उन के दर्शनों के अधिकारी नहीं रहे इसी से हमेदर्शन नहीं होते। यदि हम तप योगाभ्यास ब्रह्मचर्यादि द्वारा अपनी कायिक वाचिक मानस शुद्धि करें तो काल पाकर दर्शन के योग्य हो सकते हैं। इसी के अनुसार पहिला लेख याद करो कि (स्वाध्यायादिष्ट देवता०) ठीक २ श्रद्धा से विधि से निरन्तर बहुत काल तक किये ब्रह्मयज्ञ रूप तप से देवता साक्षात् दर्शन देते हैं। तदनुसार व्यासादि ऋषियों के भी दर्शन हो सकते हैं। और यह बात युक्ति से भी सिद्ध है कि ठीक २ धर्माचरण योगाभ्यास ब्रह्मचर्य और तप करने से मनुष्य का आयु अवश्यमेव बढ़जाता है। जैसे बधिया किये बैल अन्यों की अपेक्षा अधिक जीवित और बलवान् रहते हैं। योगसिद्धियों की प्राप्ति भी कोई साधारण बात नहीं है कलि में सौ वर्ष की आयु का लेख साधारण मनुष्यों के लिये है तथा पापी अल्पायु विशेष कर होते हैं। वेद में ऐसा सामान्य लेख है कि (भूयश्चशरदःशतात्) सौ वर्ष से बहुतर भी जीवन होता है सौ वर्ष से ऊपर के आयु का कोई अवधि न लिखने से योगाभ्यासादि के द्वारा लाखों वर्ष का आयु हो जाना भी वेदानुकूल सिद्धहै। तब तु० रा० की शंका सर्वथा ही निरर्थक है। स्मरण रखना कि माहात्म्य का लेख सत्य में हानि नहीं पहुंचाता किन्तु सत्य बातों को जैसा तुम लोग धक्का देते हो वैसा अन्य कोई भी मत नहीं है इस लिये वह

न सकता है । योगी योगबल को पाकर अपने बहुत शरीर बना सकता और उन सब से पृथिवी में विचरता है। क्या यह आश्चर्य नहीं है क्या यह अनहोनी बात नहीं है ? तब यदि योगी ने जिन के प्रारब्ध में सन्तान होना नहीं था उस के पुत्र कर दिये तो योगी को कठिन ही क्या था ? ।

अब आशा है कि पाठक लोग समझ गये होंगे कि तु० रा० का कुतर्क कैसा पोच तथा युक्ति और शास्त्र प्रमाणों से कैसा विरुद्ध है ? । आगे तु०रा० लिखते हैं कि "तीसरा तुर्रा यह है कि नारद जी को यह कथा पुरातन इतिहास बताया गया है नूतन नहीं" सो ठीक है क्योंकि तु० रा० स्वयं साक्षात् ही तुर्रा हैं इसी कारण उन को सर्वत्र तुर्रा ही तुर्रा दीखते हैं । भला बताइये तो सही कि यह कथा अब नूतन इतिहास कैसे हो गयी ? यदि तु० रा० का यही अभिप्राय है कि श्रीमद्भागवत माहात्म्य के अ० ६ में लिखा है कि-[कलियुग के ३० वर्ष बीते पर राजा परीक्षित को शुकदेव जी ने भागवत सप्ताह सुनायीथी। तथा दो सौ वर्ष पीछे गोकर्ण ने सुनाई उस से ३० वर्ष पीछे सनत्कुमारों ने सुनाई । इस पर तु० रा० लिखते हैं कि जब पुराणमतानुसार कलि में सौ वर्ष से अधिक आयु नहीं होता तब गोकर्णादि के भागवत सुनाते समय व्यासादि महर्षियों का वर्त्तमान होना सत्य में हानि पहुंचाता है ॥

(समाधान) पाठक महाशय ! सामवेद भाष्यकार होने का मद्दामिथ्याही तुर्रा अपने पीछे स्वयं लगाने वाले तु० रा० की पण्डिताई देखिये। थोड़ा भी पढ़े लिखे लोग जानते हैं कि भागवत और सप्ताह दोनों ही शब्द स्त्री लिंग नहीं तब तु० रा० का (सप्ताह सुनाई थी) लिखना कैसा अज्ञान है जिन को भाषा लिखने तक का होश नहीं वे श्रीमद्भागवत जैसे सर्व शास्त्रसारग्रन्थ की समालोचना वा खण्डन करने को क्या इसी विद्या बुद्धि के भरोसे पर उछल कूद मचाना सीखे हैं ? । प्रथम इन को लिंग का बोध करना चाहिये । अस्तु । अब देखिये इन तु० रा० का अज्ञान कि व्यासादि महर्षियों का आयु भी सौ वर्ष का ही बतलाते हैं । क्या व्यासादियोगियों के लिये सौ वर्षादि का नियम है ? यदि ऐसा मानो तो पहिले योगशास्त्र सम्बन्धी लेखों पर हरताल फेरो कि जहां आयु को बढ़ा लेने मृत्यु को जीत लेने आदि के अनेक प्रमाण विद्यमान है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में देखो-

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते,पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
नतस्यरोगोनजरानमृत्युः, प्राप्तस्ययोगाग्निमयं शरीरम् ॥

अर्थः—योगी के शरीर से पृथिवी आदि पांचो तत्त्व के वे अंश जब तपोऽनुष्ठानादि के द्वारा निकल जाते हैं कि जो मृत्यु वा बुढ़ापे को लाने वाले होते हैं और जब सूक्ष्म पंचभूतों को योगी वश में कालेता है उस समय न कोई रोग उस को सताता न जरावस्था आती और न उस के पास मृत्यु आ सकता है क्योंकि उस का शरीर योगाग्निमय हो जाता है। व्यासादि महर्षियों के योगी होने में तु० रा० को सन्देह न होगा ऐसा अनुमान है। यदि सन्देह होगा तो हम उसका भी समाधान करेंगे। तथा औरभी आचार मयूख में लिखाहै—

अश्वत्थामाबलिर्व्यासो हनूमांश्चविभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

अर्थः—अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनूमान्, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम जी ये सात चिरजीवी हैं मरते नहीं हैं यह भी सब आस्तिक सनातन धर्मियों को विश्वास है कि व्यास अश्वत्थामादि सब इस समय भी मौजूद हैं और आगे भी रहेंगे। हम लोग राग द्वेष मोहादि से दूषित हो जाने के कारण उन के दर्शनों के अधिकारी नहीं रहे इसी से हमे दर्शन नहीं होते। यदि हम तप योगाभ्यास ब्रह्मचर्यादि द्वारा अपनी कायिक वाचिक मानस शुद्धि करें तो काल पाकर दर्शन के योग्य हो सकते हैं। इसी के अनुसार पहिला लेख याद करो कि (स्वाध्यायादिष्ट देवता०) ठीक २ श्रद्धा से विधि से निरन्तर बहुत काल तक किये ब्रह्मयज्ञ रूप तप से देवता साक्षात् दर्शन देते हैं। तदनुसार व्यासादि ऋषियों के भी दर्शन हो सकते हैं। और यह बात युक्ति से भी सिद्ध है कि ठीक २ धर्माचरण योगाभ्यास ब्रह्मचर्य और तप करने से मनुष्य का आयु अवश्यमेव बढ़जाता है। जैसे बधिया किये बैल अन्यों की अपेक्षा अधिक जीवित और बलवान् रहते हैं। योगसिद्धियों की प्राप्ति भी कोई साधारण बात नहीं है कलि में सौ वर्ष की आयु का लेख साधारण मनुष्यों के लिये है तथा पापी अल्पायु विशेष कर होते हैं। वेद में ऐसा सामान्य लेख है कि (भूयश्चशरदः शतात्) सौ वर्ष से बहुतर भी जीवन होता है सौ वर्ष से ऊपर के आयु का कोई अवधि न लिखने से योगाभ्यासादि के द्वारा लाखों वर्ष का आयु हो जाना भी वेदानुकूल सिद्ध है। तब तु० रा० की शंका सर्वथा ही निःशंक है। स्मरण रखना कि माहात्म्य का लेख सत्य में हानि नहीं पहुंचाता किन्तु सत्य बातों को जैसा तुम लोग धक्का देते हो वैसा अन्य कोई भी मत नहीं है इस लिये वह

धक्का (धर्मएवहतोहन्ति) प्रमाणानुसार तुम ही लोगों को लगेगा । इस से अब भी सम्हल जाओ तो अच्छा है । संग्रह किये हुये धनादि सब पदार्थ यहीं पड़े रहेंगे साथ में कुछ नहीं जायगा ॥

आगे तु० रा० लिखते हैं (शङ्का) हाथ में फांसी लिये हुये अपने दूतों से यम कहता है कि वैष्णवों को मत सताना छोड़ देना क्योंकि वैष्णवों का मैं शासक नहीं हूं । अब तो वैष्णवों की मृत्यु ही नहीं होनी चाहिये। न उन को पिण्ड दानादि की आवश्यकता है क्योंकि वे यमयातना से वरी हैं ॥

(समाधान) ऐसा कुतर्क आप की समझ के दोष से लिखा गया है । इस बात को थोड़ी देर के लिये यहीं छोड़ कर हम पहिले तुम्हीं से पूछते हैं कि जैसा ईश्वर तुम मानते हो उसी का कोई पूर्ण भक्त हो तब क्या उस की सद्गति मरण के पश्चात् तुम मानोगे ? वा नहीं । यदि मानोगे तब तो तुम्हारा यह तर्क नहीं बनता और यदि नहीं मानोतो तुम्हारे मत में ईश्वर भक्ति कुछ नहीं ठहरती । यदि तुम्हारी वैष्णव शब्द पर कुदृष्टि वा टेढ़ी निगाह है तो उस निगाह से पहिले अपने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ही क्यों न देख लिया जहां विष्णु भी ईश्वर का नाम लिखा है । तथा च (विष्णोरयंभक्तोवैष्णवः) इस पाणिनीय व्याकरण के निर्वचनानुसार ईश्वर भक्त का नाम वैष्णव है वास्तव में जो ईश्वरभक्त पुरुष है उस के पास कभी स्वप्न में भी यमदूतों का आना हो ही नहीं सकता । इसी लिये यमराज जी ने अपने दूतों को वैसी आज्ञा दी सो ठीक ही है । और जिस पुरुष का प्रेम पाप कर्मों में होगा उस की प्रीति अनुराग ईश्वर में कभी हो ही नहीं सकता इसलिये कृष्ण भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से ही वर्णनकिया है कि—

येषामन्तगतंपापं जनानांपुण्यकर्मणाम् ।
तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्तेमांदृढव्रताः ॥ १ ॥

जिन पुण्यात्मा पुरुषों का पाप कर्म पुण्य के प्रतापसे नष्ट क्षीण हो जाताहै उन के हृदय के पट खुल जाते हैं उन्हीं के शुद्ध अन्तःकरण में ईश्वर भक्ति को अवकाश मिल सकताहै तब वे दृढ़व्रत होकर भक्तिकरते हैं । जैसे मलिन वस्त्र पर कोई रंग नहीं चढ़ता वैसे ही पापों से मलिन मन में भक्ति ज्ञान वैराग्य का भी रंग नहीं लगता इस से यह भी शंका नहीं हो सकती कि पापी लोग भी ईश्वर भक्त हो जावें । अब कदाचित् ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक लगाने वालों की ओर तु० रा० की टेढ़ी दृष्टि होकि उन्हीं का नाम वैष्णव है तो यह भी

तु० रा० का भ्रम अज्ञान से ही होगा। क्यों कि यह यद्यपि लोक रूढ़ि वा-लोक परम्परा है कि ये वैष्णव वा ये शैव हैं परन्तु यह नियम नहीं है कि ऊर्ध्व पुण्ड्रादि चिह्न लगाने वाले सब विष्णुभक्त वास्तव में ही हों तथा अन्य कोई विष्णुभक्त ही न हो। यद्यपि विष्णु भगवान् की अच्छी भक्ति अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा वैष्णव सम्प्रदाय वालों में निर्विकल्प अधिक होगी। तथापि अनेक ऊर्ध्व पुण्ड्रादि चिह्न धारण नहीं करते न किसी ख़ास सम्प्रदाय का आग्रह रखते हैं उन में भी अनेक लोग अच्छे २ विष्णुभक्त रामभक्त कृष्णभक्त वास्तव में हैं वे सभी शास्त्रानुकूल वैष्णव कहे माने जावेंगे क्यों कि भक्ति हृदय का गुण है। और वैष्णवों के चिह्नधारी भी अनेक ऐसे निकलेंगे जिन का चोरी व्यभिचार लोभादि में अधिक प्रेम हो नाममात्र वा किसी स्वार्थ से ऊर्ध्वपुण्ड्रादि धारण भी करते हों वे लोग वास्तव में वैष्णव नहीं कहावेंगे। न उन पर विष्णु भगवान् की कृपादृष्टि हो सकती है। जैसे कोई रईस बड़ा पैसे वाला मनुष्य आर्य्य समाजी हो जाता है तो उस के आश्रित लोग वास्तव में आर्यसमाजी न होने पर भी उस की प्रसन्नतार्थ दूर से ही थोड़ा झुक कर हाथ उठाके कहते हैं कि—नमस्ते—साहब ! वे लोग जैसे आर्य समाजी नहीं हैं वैसे ही ऊपरी ढँग बनाने वाले भी सब वैष्णवादि नहीं हैं। विचार पूर्वक सोचा जाय तो सभी सम्प्रदायों वा मतों में ऐसे मनुष्य कम हैं जो उस २ सम्प्रदाय का यथार्थ तत्त्व समझे हों और अन्ध परम्परा से उस २ मत के प्रवाह में बहने वाले ही अधिकांश हैं। सारांश यह निकला कि विष्णुभक्त वैष्णवों को यम दूत नहीं ले जा सकते किन्तु वे वैकुण्ठ लोक का सुखभागी होंगे। अब रहा यह कि (वैष्णवों का मृत्यु ही नहीं होना चाहिये) सो इस का समाधान यह है कि वैष्णवों का मृत्यु होता ही कब है यह तो तुम्हारा भ्रममात्र है वैष्णवों को तो अमृतदशा प्राप्त होती है जिस में कभी मृत्यु का लेशमात्र भी भय नहीं है क्यों कि देवता अमर हैं इसी लिये सनातन हिन्दु धर्म के लोग अमुक पुरुष का देवलोक होगया ऐसा बोलते हैं। मृत्यु तो वास्तव में उन्हीं लोगों का होता है जिन को अपने नास्तिकपन आदि भ्रष्टाचार से कष्ट के साथ यह शरीर छुड़ा कर यम राज किन्हीं तिर्य्यग्योनियों में वा नरक में पहुंचाते हैं जहां बार २ (जायस्वम्रियस्व) पैदा हो मरो यही लगा है। दुष्टों को उन २ के कर्मानुसार दण्ड देने वालों के हेड अफसर का

नाम यमराज है उनका शासन दुष्टों पर ही चलता है। जैसे पुलिस सदा डाकू चोर उचक्के बदमाशों को ही गिरफ्तार करता है और धर्मात्मा तपस्वी योगी जितेन्द्रिय ज्ञानी विरक्त ईश्वर भक्तों को पुलिस भी शिर ही नमाता है। वैसे ही यहां भी जानो। हां तु०रा० आदि सनातन वेदोक्त धर्ममर्यादा को मोहवश वा लोभ वश अधिक २ धक्का दे रहे हैं इस लिये इन लोगों को यमराज की यातना से अवश्य डरना चाहिये। श्राद्ध पिण्डदानादि तो सनातनधर्म है। उस में भी तु० रा० का अज्ञान अभी दूर नहीं हुआ सो देखिये। देवलोक में पहुंचने वालों के लिये ही अधिकांश श्राद्ध पिण्डदानादि किया जाता है। श्राद्धादि कर्म करने और मानने वाले वेदानुयायी आस्तिक द्विजों का अटल सिद्धान्त वेदानुकूल है कि जिन का अन्त्येष्टि कर्म मरणानन्तर विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ किया जाता है तो वे उसी श्राद्ध कर्म के बल से ही पितृलोक वा देवलोक को प्राप्त होते हैं किन्तु उन को यमराज की यातना नहीं भोगनी पड़ती। देखिये——

देवोयदिपितःजातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतंभूत्वा देवत्वेचानुगच्छति ॥ देवलः—

यदि शुभ कर्म के प्रभाव से पिता को देवयोनि प्राप्त हुई तो पुत्रादि का दिया हुआ पिण्डदानादि अमृत रूप बन कर देवयोनि में प्राप्त होता है तदनुसार जिन वैष्णव विष्णु भक्तादि लोगों को भक्ति आदि के प्रताप से स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त होता है उन को भी अमृत भोग प्राप्त करने के लिये पुत्रादि को पिण्डदानादि श्राद्ध अवश्यमेव करना चाहिये यह भी सनातनधर्म की सनातन मर्यादा है। और तु० रा० के इस (जो यमयातना से बरी हैं उन के लिये पिण्डदानादि की आवश्यकता नहीं) लेख से यह निकलता है कि जो लोग यमराज की नियत यातना भोगने वाले हैं उन्हीं के लिये पिण्डदानादि की आवश्यकता है। यदि तु० रा० इस ऊपर लिखे अपने वाक्य को ठीक मानते हैं तब आ० समाज में नाम लिखाने वाले जितने लोग धर्मभ्रष्ट हैं उन को यमयातना का पूर्ण भय है उन के लिये तु० रा० स्वयं पिण्डदानादि की आवश्यकता मानलें। तब झगड़ा ही मिट जावे। और पाठक ! शोचिये तो सही कि कुकर्मियों के लिये तो श्राद्ध की आवश्यकता हो सुकर्मियों के लिये न हो यह क्या आ० समाजियों का कोई नियम है वा कोई वेद का

प्रमाण इस में है ? अथवा तु०रा० की मनमानी कल्पना है तु० रा० का भीतरी अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिन वैष्णवादि को वैकुण्ठादि का सर्वोत्तम भोग प्राप्त होगया उन को पुत्रादि के पिण्डदानादि की आवश्यकता ही अब क्या रही । यदि पुत्रादि के पिण्डदानादि के विना पितादि भूखे बैठे रहते तब तो पिण्डदान की आवश्यकता भी मानी जाती इस लिये स्वर्गस्थ दिव्य पिता के लिये श्राद्ध करना व्यर्थ है । सो यह भी शंका महामोह से ही तु०रा० को भी घेरे हो तो आश्चर्य नहीं है । इसी सिद्धान्त को मानते हुये तु० रा० हिन्दू होटल के बिस्कुट नामक रोटी और कुछ मिठाई बांधे हुए उपदेशार्थ एक सभा में गये और इन के पास आमदनी अच्छी होने से रु०पैसा भी मौजूद था । वहां के समाज वालों ने इन को कुछ नहीं पूछा तो तु० रा० बहुत अप्रसन्न उदासीन हो गये । बीमार बन गये कहा कि शिर दूखता है व्याख्यान भी नहीं देंगे । तब तो आ० समाजियों में बड़ी खलबली पड़ी कि नोटिस हो चुका है । पर किसी चतुर पुरुष को तु० रा० के इंगित चेष्टित से जानपड़ा कि ये किसी कारण अप्रसन्न नाराज़ हो गये हैं तलाश करने से मालूम हुआ कि तु० रा० को भोजन नहीं दिया गया तब समाजी लोग आपस में शास्त्रार्थ करने लगे कि देखिये पं० तु० रा० के पास मिठाई बिसकुट रुपया पैसा सभी मौजूद हैं । भूंखे तो नहीं बैठे कि भोजन मिलता ही न हो ! यदि तु० रा० के पास सब कुछ है तो भी इन को भोजन देने की आवश्यकता समझी तो हम लोग सनातन धर्मियों के ठाकुर भोग का खण्डन अब कैसे करेंगे ? । इस लिए उत्तम यह है कि जो कोई उपदेशक वा राजा रईस हमारे दिये विना भूखा न बैठा रहे उसे हर्गिज़ भोजन न देना चाहिये । इसी से यह बन सकता है कि ईश्वर क्या हमारे भोग लगाये विना भूखा बैठा है जिस को हमारे दिये विना भोजन ही नहीं मिले उसी को देना चाहिये । इस पर अनेक समाजियों की यह राय हुई कि यह युक्ति हम लोगों ने वा हमारे स्वामी जी ने सनातन धर्म के खण्डन के लिये निकाली थी परन्तु इसी युक्ति का आपस में भी प्रचार किया जाय तो आ० समाज का प्रचार बहुत शीघ्र समाप्त होगा । क्योंकि भोजनादि सत्कार के रुकते ही सब उपदेशक रूठ जायंगे जैसे कि अब तु० रा० रूठे हैं । फिर आ० समाज का नाम निशान ही मिट जायगा इस लिये हमारी समझ में यह युक्ति ठीक नहीं है । इस पर एक अन्य नव

युवक खड़े हो गये और बोले कि यदि यह युक्ति ठीक नहीं रही तो सनातन धर्म हिन्दुमतों के खण्डनार्थ अब तक जितनी युक्ति निकली हैं उन सभी का इसी प्रकार धीरे २ खण्डन हो जायगा तब हमारा आर्यमत क्या खाक रहेगा ? इस से हम तो ऐसी सभी युक्तियों को ठीक मानेंगे । पहिले कथन से तु० रा० को कुछ आशा हुई थी पर इस पिछले प्रपोज़ल से फिर भी मन ही मन में घबराने लगे कि भय्या इस से तो सनातन धर्म ही अच्छा था कि जहां भोजनादि मिलने में कुछ सन्देह नहीं था । यहां भोजनादि में भी सन्देह पड़ा । और लोक में यह जनश्रुति चलती ही है कि (भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी) इसी प्रकार विचार चल रहा था बड़े २ विचारवान् भी समाजी घबराने लगे कुछ निश्चय नहीं होता था यदि इस युक्ति को ठीक मानते हैं तो अपने ऊपर भी वही दिक्कत आती है और हिन्दुओं के समान हमारा भी खण्डन हुआ जाता है और यदि ठीक नहीं मानते तो अब हिन्दुओं के देवताओं को भोग लगाने तथा स्वर्गस्थपितरों के लिये पिण्डदानादि का खण्डन किस मुख से करेंगे ?। इतने में एक महाशय अन्य खड़े होकर बोले कि जब तक ये ब्राह्मण लोग आ०समाज में सम्मिलित रहेंगे तब तक झगड़े नहीं मिटेंगे । इन ब्राह्मणों के पेट भरने का झगड़ा अच्छा नहीं इस को बन्द करो देखो कैसी एक छोटी बात पर नाहक विचार करने में समय बिता रहे हैं कोई भला आदमी सुने तो क्या कहेगा। इस पर एक अन्य बोले कि यह छोटी बात नहीं है क्योंकि यहां बना बनाया घर बिगड़ा जाता है। या तो हम उपदेशकादि को भी भोजनादि न देवें क्योंकि वे हमारे दिये बिना भूखे नहीं बैठे रहेंगे उन के पास रुपया पैसा सब रहता है तो आर्यसमाज जड़ मूल से नष्ट होता है और यदि उन को देते हैं तो हिन्दुओं का खण्डन कैसे करेंगे ? और यदि खण्डन न करें तो आ० समाज फिर किस मर्ज की दवा होगा ? क्योंकि खण्डन ही इस का रक्षक भोजन है वह इस को न मिला तो जीवित भी नहीं रह सकता । इस पर एक बुड्ढे विचारशील उठकर बोले कि हम ने अपने पूर्वज बुजुर्ग लोगों से यह सुना था कि दुश्मन को मारने के लिये तलवार आदि हथियार बनाये जाते हैं उन्हीं से अपना भी गला कट जा सकता है और जो किसी अन्य को गेरने के लिये गढ़ा खोदता है उस में आपस्वयं गिर जाता है । इसी के अनुसार हिन्दुओं के खण्डन के लिये जो हम ने युक्ति रूप हथियार तैयार किये थे आज उन्हीं से हमारा खण्डन हुआ जाता है ।

इस पर एक और समाजी बोले कि बस अब इस विवाद को खतम करो फैसला हो गया कि उस हथियार से अपना गला मत काटो मत किसी को इस सभा का हाल कोई सभासद् बतलावे । पं० तु० रा० का सत्कार करो । हिन्दु लोगों को इस बात की कोई खबर नदे जिस में कि इसी युक्ति को लेकर वे लोग हमारा खण्डन न कर सकें। इस के बाद सभा वरखास्त हुई परन्तु पं० तु० रा० को तभी से बड़ा सन्देह हो गया है कि आगे जानें समाजी क्या करेंगें । अस्तु—

अब अन्य विचार तो फिर लिखेंगे पर यहां केवल हम अपने पाठक ग्राहकों को सचेत करते और पिछली बातों का फिर से ध्यान दिलाते हैं कि हम अनेक बार प्रकाशित कर चुके हैं कि नियोग वर्णव्यवस्था श्राद्धादि अनेक विषयों में वेद प्रकाश के सम्पादक परास्त हो चुके इस बात में अवलेश मात्र भी सन्देह नहीं रहा है परन्तु इस बात को अब तक पं०तु०रा० नहीं मानते थे सो यह ठीक भी है कि कचहरी में हार जाने वाले भी तो अपने पक्ष को फिर भी मिथ्या नहीं कहते मानते और जहां तक शक्ति रहती और ऊपरी अदालतों में पेशी हो सकती है वहां तक मिथ्या जानते हुए भी अपने पक्ष को सत्य ठहराने का उद्योग किया ही करते हैं यही ससार का संसारपन है। परन्तु अब इसी से आगे जो बा० नागेश्वर प्रसाद सिंह आनरेरी मजिस्ट्रेट तथा बा० कुमारिका वक्स-सिंह का पत्र छपाया जाता है कि जो पत्र पं०तु० राम के पास भी छापने को भेजा गया था परन्तु अपना पराजय भला तु० रा० अपने ही पत्र में कैसे छपा देते ? । इस पत्र को जो लोग देखेंगे उनको वे०प्र० का आ०स० के सामने पराजित हो जाना स्पष्ट और प्रत्यक्ष ही ज्ञात हो जायगा और यह पत्र किसी प्रकार भी लेश मात्र भी अन्यथा नहीं । हमारे पाठकों को तो निर्विकल्प सर्वथा ही साक्षात् निश्चय हो जायगा कि ब्राह्मणसर्वस्व के साथ चलते हुए विवाद में स्पष्ट रूप से वेदप्रकाश पराजित होगया और सनातन वेदोक्त धर्म की पताका फहराने लगी । परन्तु इस पत्र को छपा हुआ देख कर पं० तु०रा० को भी नीची गर्दन अवश्यमेव करनी पड़ेगी । जिस किसी महाशय सनातन धर्मी वा आ० समाजी को छपाये पत्र के अन्यथा होने में कुछ भी सन्देह हो वह पत्र में लिखे पते से चिट्ठी लिख कर निश्चय कर लेवे ।

अब हम अपने मित्र सहयोगी पं० तुलसीराम जी को शुभ सम्मति देते हैं कि वे प्रथम तो इतनी ही कृपा हम पर करें कि जिस में समाजी मत

के हारजीत का कुछ भी अंश न हो ऐसी बातों को सच्चा ही लिखा और कहा करें तो अच्छा है किन्तु ऐसा न किया करें कि हम (सम्पादक ब्रा० स०) मुम्बई में गये मिथ्या वेदविरुद्ध समाजी विचार वहां की सभा में खोले गये। मुम्बई के समाजी घबराये । तु० रा० को तार दिया । तु० रा० ने किसी भी कारण मुम्बई जाना स्वीकार नहीं किया । परन्तु अपने वे० प्र० में मिथ्या ही छाप दिया कि हम जाने को तयार थे मुम्बई से तार आगया कि अब शास्त्रार्थ पं० भी० श० नहीं करते । इस से हम नहीं गये । इत्यादि । ऐसा मिथ्या लिखने छापने से आगे २ उन को और भी नोचा देखना पड़ेगा इस कारण मिथ्या से जितना होसके बचें ।

द्वितीय हम अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि वे ब्रा० स० के विजय का धन्यवाद भगवान् रामचन्द्र श्रीकृष्ण चन्द्र का तथा शिव जी का करें कि जिन की कृपा से ब्रा० स० का विजय और वे० प्र० का स्पष्ट पराजय हुआ और वेदोक्त सनातन धर्म की सत्यता का प्रताप समझें किन्तु सम्पादक ब्रा०-स० का इस में कुछ भी महत्व नहीं वह तो अन्यों के तुल्य मांस पिण्ड का एक पुतला बना हुआ जानें ॥

ओम् परमात्मनेनमः

कुछ काल से हमारे पितृव्य पुत्र बाबू कुमारिका बख्शसिंह ने आर्यसमाजियों के अनुरोध से समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध कर लिया था और सनातन धर्मोक्त सद्विषयों से उन की श्रद्धा प्रति दिन कम होती गई—और वेद प्रकाश के ग्राहक भी हो गये थे— ऐसी दशा देखकर मैंने आप का (ब्रा० स०) पत्र मंगाना प्रारंभ कर दिया और पिछले प्रथम वर्ष का ब्रा० स० भी मंगालिया और कतिपय सज्जनों को बुलाकर उक्त बा० कु० ब० सि० के सामने दोनों पत्रों ब्रा० स०–वेद प्रकाश, पर विचार कराया गया बस उसी समय आप का पत्र ब्रा०स० ने उक्त महाशय के अज्ञानान्ध नेत्रों में दिव्यांजन का काम किया और सूर्यवत् अपने प्रबल युक्ति प्रमाण रूप किरण द्वारा वे०प्र० को छिन्न भिन्न करके परास्त करदिया—उसी समय उक्त बाबू ने समाज को तिलांजलि देकर सनातन वैदिक धर्म की शरण लिया और पं० तु० रा० को एक पत्र लिखकर दोनों वर्ष का वे० प्र० २४ अंक वापिस कर दिया मैं उस पत्र कोभी आप के सेवा में भेजकर प्रार्थी हूं की निम्नपत्र को भी ब्रा० स० में स्थान दीजिये इत्यलं कि बहुना आप का कृपाभिलाषी बा० नागेश्वर प्रसाद सिंह आनरेरी मजिस्ट्रेट ग्राम–मरवाटिया पो० व ज़िला बस्ती ॥

मेरे अज्ञानतिमिर नाश की सूचना ॥

वह पत्र जो बाबू कुमारिका वल्लभ सिंह ने पं०तु०रा० को लिखा ॥ महाशय पं०तु०रा०जी प्रणाम—कृपया मेरे इसलेख को वे०प्र० में स्थानदेकर कृतार्थ कीजिये ॥

दो वर्ष से समाजी भाइयों के अनुरोध से तथा सत्यार्थ प्रकाशादि के अवलोकन करने तथा सत् शास्त्रानभिज्ञ होने के कारण मेरे मनने समाज से घनिष्ट सम्बन्ध कर लिया था बल्कि अपने दो चार मित्रों को भी समाज के तरफ खींच लाया था, यहां तक कि वेदादि सत शास्त्रोक्त श्राद्धादि सत् कर्मों से भी मेरी श्रद्धा प्रतिदिन क्रमशः घटती गई—मुझ को पूर्ण विश्वास हो गया था कि स्वामी दयानन्द जीने जो कुछ लिखा या कहा है वह सब वेदानुकूल ही होगा मेरे कुल में सदा से सनातन वैदिक धर्म चला आता है उन के विपरीत मेरा सामाजिक कर्म देखकर मेरे ग्राम तथा कुटुम्ब के लोग मुझ से घृणा करने लगे और अनेकों कुतर्क मेरे सामने पेश करने लगे, यथा गुदेन्द्रिय का शुद्ध करना गुदा के रास्ते अन्धे सांपों का निकालना इत्यादि के सिवाय यह भी कहने लगे कि आर्य्यसमाज का मत अधिकांश वेद विरुद्ध और कपोल कल्पित है मैं समाज तथा स्वामी जी कृत पुस्तकों से भी अनभिज्ञथा इस कारण पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सक्ता था ।

मैं वे०प्र० का चर्चा अक्सर समाजीभाइयों से सुनाकरता था कि उक्त पत्र सनातन धर्मियोंके प्रश्नों का अच्छा उत्तरदेता है इस विचार से मैंने वर्ष ७,८, का वे०प्र० आप के यहां से मंगाया और ग्राहक भी होगया, मेरा अनुमानथा कि आप के पत्र से समाज के विरोधियों का पूरा २ समाधान कर दूंगा परन्तु इसग्राम में एक महाशय ब्रा० स० पत्र पहिले से मंगाते थे आप का पत्र आने पर इस प्रान्त के कतिपय विद्वान् भी इसग्राम में आए और दोनों पत्रों पर विचार कराया गया मैंने भी उक्त पत्रों के प्रश्नोत्तरों को गौर से देखा तो तत्क्षण मेराअनुमान समूल नष्ट हो गया और समाज के नियम तथा वेद प्रकाश के लेख अधिकांश मिथ्या और कुतर्कों से भरा प्रतीत होने लगा—बस उसी दिन मेरे अज्ञान तिमिरांध हृदय चक्षु ब्रा० स० रूपी ज्ञानांजन सलाका लगाने से खुल गई और विद्वानों के सामने अपनी भूल स्वीकृत किया और समाजी मत को तिलांजलि देकर सनातन वैदिक धर्म की शरण लिया अब मैं शुद्ध अन्तः करण से सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से सविनय प्रार्थना करता हूं कि इस समय तक जो अपराध समाज से सहानुभूति रखने के कारण मुझ से हुआ उस को क्षमा प्रदान करके मेरी आत्मा को शान्ति देवें और आप से प्रार्थना है की मेरी इस धृष्टता को क्षमा करके मेरा नाम ग्राहक के नामावली से खारिज

कर दीजियेगा आपका पत्र जो मेरे पास था उस को भी वापिस करता हूं व
पया इस का मूल्य वापिस भेज दीजिये ॥ आप का कृपाभिलाषी

बाबू कुमारिका बख्शसिंह ग्राः मरवटिया पो० व ज़िला वस्ती

(विनयपत्रमेतत्)

श्रीमत्तुण्डो विजयतेतराम् ॥

सत्यमेवजयति नानृतम् ॥ कोविदाः ॥

गीर्वाणवाण्यधिकरणतावच्छेदकावच्छिन्न गुणिगणगणनाग्रगणनीय, अवगताऽग्रन्तव्य, गतदूषण, स्वकुलभूषण, सूनृतोपमेयविद्वद्वर, पं० भीमसेनशर्मणां तत्तद्विषयविषयकलेखो निगमागमप्रभृतिविविधप्रमाणावच्छिन्नो युक्तियुक्तश्च प्रतिभाति,

तथासति । याथातथ्यविचारकारकहृदयपङ्कजनानान्तु आ०स० विज्ञानभास्करोऽविद्यातमो निराकृत्य पूर्वजानामेव मतमवलम्बयतिस्मेति लेखेरपाठि किंवदन्त्या चाश्रावीत्यतस्ते शास्त्राज्ञां सुमनोमालामिव हृदये विन्यस्य कृतकृत्याः सफलजन्मानएव बोभवतिस्म ॥

तदितरेषां सन्देहास्पदवर्त्तिनां चाग्रे मदीयमदो विनयपुरस्सरं निवेदनम्

भ्रातृगण ! असारसंसारसागरे प्रभूतसुकृतनिवहलभ्यमानुषजन्मासाद्य धर्मप्रवृत्तिप्रतिबन्धकीभूताग्रहविधानमसमञ्जसम्, यतो वै——

आगमेनसुयुक्त्याच योऽर्थःसमधिगम्यते । परीक्ष्यहेमवद्ग्राह्यः पक्षपाताग्रहेणकिम् ॥
महतापुण्यपण्येन क्रीतेयंकायनौस्त्वया । पारंदुःखोदधेर्गन्तुं तरयावन्नभिद्यते ॥

अचिन्त्याःखलुयेभावा नतांस्तर्केणयोजयेदित्यादिप्रमाणैः सर्वथा शास्त्रीयमर्यादैव याथार्थ्येनोपादेया सज्जनैः—नच वैयर्थ्येन दुराग्रहो विधेयइत्यलं पल्लवितेन

भवच्छु०—जैतलीतिजातित्वावच्छेदकावच्छिन्न—गौरीशङ्कर शर्म्मा झङ्गसिटी

इस पत्र का संक्षेप आशय यह है कि ब्रा० स० पत्र द्वारा जो लेख होता है वह ठीक वेदादि शास्त्रानुकूल तथा युक्ति युक्त होता है उस को प्रायः धर्मनिष्ठ लोग देखते जानते और तदनुकूल चलकर अपना जन्म सुफल करते ही हैं । अब रहे बाकी हठ करने वाले आ० समाजी आदि उन से निवेदन है कि वेदादि शास्त्र तथा युक्ति से जो बात निश्चय हो उस को सुवर्ण के तुल्य परीक्षा करके ग्रहण करो । तुमने बड़े पुण्य रूप मूल्य से यह मनुष्य शरीररूप नौका खरीदी है इस नौका से जब तक न टूटे तभी तक दुःख समुद्र के पार जाने के लिये तरो । जो बातें ईश्वर का स्वरूप बोधादि अचिन्त्य हैं उन में व्यर्थ तर्क मत करो वेद शास्त्र में लिखे अनुसार मानो हठ छोड़ो ॥

(ब्रा० स० भाग ३ अं० ७ पृ० २१६ से आगे अवतार)

उक्त मन्त्रों का भाषा भावार्थ ॥

१-यह जो सूर्य मण्डल में हिरण्मय पुरुष दीखता है सो हिरण्मय श्मश्रु और हिरण्मयकेश वाला है और नखांत सर्वाङ्ग सुवर्णमयहै और जिस के दोनों नेत्र भी वानर के पृष्ठान्त के समान रक्त हैं वा कमलदल समान रक्त हैं ॥

२-श्री और लक्ष्मी दोनों आप की स्त्रियां हैं ॥

३-पार्वती जी जिन के वाम भाग में सदैव विराजमान हैं सो परमेश्वर प्रभु त्रिनेत्र नीलग्रीव शांत मूर्त्ती महेश्वर हैं सोहि अर्धनारीश्वर सदैव ध्येयहैं॥

४-जटाजूट धारी मुण्डित केश के लिये नमस्कार-कैलाशवासी और विष्णुरूप के लिये नमस्कार। धर्मार्थ काम मोक्ष के सिंचने वाले बाणधारी को नमस्कार है ॥

५=भो महादेव, जो आप की आनन्ददाता पापप्रणाशक अघोरमूर्त्ती है इस कल्याणरूप शरीर से हे गिरीश हम भक्तों को सभाल लेउ ॥

६-हे महारुद्र आप का जो दक्षिणमुख (दक्षिणामूर्त्ती) है इस दक्षिण मुख से सदैव अहमादि भक्तों को पालन करो ॥

७-सो परब्रह्म तिन देवन ताईं प्रकट होता भया, ता प्रकट भये ब्रह्म० देव को देव „ यह यक्ष क्या है” ऐसे न जानते भये। फिर उमा भगवती की कृपा से ता यक्षरूप ब्रह्म का यथार्थस्वरूप देवताओं ने जाना। इत्यादि-

८-सो ही परमात्मा आप ही आप जलतैं विराट् पुरुष स्वरूप को ग्रहण करिके मूर्छित करता भया ॥

९-ईश्वर ने तप किया और तप तप के इदमाकार दृष्टश्रुत सर्वजगत को सृजता भया ॥

१०-अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष जो अन्तरात्माहै सो सदाजनोंके हृदयविषे स्थितहै॥

११-प्राणवायू को हृदयदेश तैं ऊपर चलावता है तैसे अपान वायू नीचे चलावता है” ता हृदय कमल के मध्यविषय स्थित वामन जी को सर्व इन्द्रियादि देव उपासते हैं ॥

१२-सो ही सर्वगत स्वतन्त्र जो परमेश्वर एक है यातैं वशी है। जाते सर्वभूतन का अन्तरात्मा है सो परमात्मा अपनी सत्ता से अचिंत्यशक्ति वाला होने तें एक रस शुद्धज्ञानस्वरूप आप को नामरूप आदिक अशुद्ध उपाधि के

भेद के वशतें बहुत प्रकार से करता है ॥

१३–जैसे एक ही अग्नी भुवन के तांईं प्रवेश को प्राप्त भया काष्ठआदि के जलावने योग्य वस्तुन के भेद के तांईं तहां तहां प्रतिरूप होता भया। तैसे सर्वभूतन का जो अन्तरात्मा है सो एक हुआ भी सर्वदेहन के तांईं प्रतिरूप (बहुत प्रकार का) होता भया और आकाश की न्याईं निर्विकार रूप से सर्वदेहनतें सो बाहिर है ॥

१४–पुरुषस्वरूप परमात्माके हजारों मस्तक,हजारोंनेत्र और हजारोंचरणहैं॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों अमूर्त्त के मूर्त्तिमत्ता संभव संभावन करते हैं अवतार संभावन में इतने प्रमाण बहुत हैं–विशेष, „ अपारणीय मंत्र महोदधी में मीलना ” बड़ा आनन्द हैं ? आर्ष ग्रन्थों का घोषोद्घोष घण घणता है और ब्रा० स० यह मासिक पत्र भी सद्युक्ति युक्तोक्तियों से पुकार करता है. और सर्व सत्पथावलम्बी आस्तिक पुरुष वर्यार्य धुर्यों का प्रदर्शन अद्यापि दर्शनीय है जिस का आवाल वृद्ध अंगीकार कर नास्तिकाभास तद्धसिताभास कों का खास नाश करके „ मूर्त्ति पूजन द्वारा मुहूर्त्त में अमूर्त्त बन जाना ” यह कर सत्वर सत्पथावलम्बन तत्पर हो जाओ. तथास्तु ॥ शेष आगे—

गत अं०७ पृ० ३२० से आगे विधिवाद ॥

परन्तु शास्त्रदृष्टि से वहां विषम स्थल में यजन करने से स्वर्ग का कारण भूत अदृष्ट नहीं उत्पन्न होता किन्तु समस्थल ही में यजन करने से होता है अतः शास्त्र का यही कर्त्तव्य शेष है कि यजन करने वाले को विषम देश से निवृत्त कर देना चाहिये क्योंकि यजन के लिये स्वयम् देश में प्रवृत्त है विषम में निषेध होनेसे अगत्या सम ही में प्रवृत्त होगा। इस लिये „समे यजेत” यह परिसंख्या है।

(अ० १ श्लो० ८१ याज्ञवल्क्यस्मृ०मिताक्षराकारने „तस्मिन्युग्मासु संविशेत” इस श्लोक के व्याख्यान में इस वाक्य को नियम का उदाहरण दिखाया है। उन का यह अभिप्राय है कि–„पक्ष में प्राप्त का जो अप्राप्त पक्षान्तर उस को प्राप्त कर देना नियम है। जैसे „समे यजेत„ 'सम देश में यजन करे'। “दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत” दर्शपौर्णमास याग को स्वर्ग के लिये करे, इस श्रुति ने याग का कर्त्तव्यत्व से विधान किया है और वह देश के विना करना अशक्य है, इस हेतु देश अर्थ से ही प्राप्त है और वह 'सम–विषम,

दो प्रकार का होता है। जब यजमान सम देश में यजन करना चाहता है, तब "समे यजेत" यह वचन उदासीन रहता है, क्योंकि जो कुछ वाक्य कहता है वह अर्थ स्वयं प्राप्त है, वाक्य की कुछ आवश्यक्ता नहीं है। जब कि यजमान विषम देश में यजन करना चाहता है, तब "समे यजेत" यह वाक्य स्वार्थ को विधान करता है, क्योंकि-स्वार्थ उस समय में प्राप्त नहीं है। और यहां विषम देश की निवृत्ति आर्थिकी है क्योंकि विहित देश ही से याग सिद्ध हो जाता है, और अविहित देश (विषम देश) के ग्रहण करने से शास्त्र के अनुसार याग अनुष्ठित नहीं होगा। इस रीति से उक्त वाक्य पक्ष में प्राप्त के अप्राप्त पक्षान्तर के प्राप्त करने से नियम हुआ।

यहां यह विद्वानों का विचारणीय है कि-विषम देश में यजमान की याग करने की इच्छा से कहां तक सम देश की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

हमारे विचार में तो जब कि-देश के विना यजन नहीं हो सकता तो देशत्व (देशभाव) से देशयजन विधि से आक्षिप्त होसकता है, न कि सम देश भाव वा विषम देशभाव से, क्योंकि वह दोनों ही देश यजन कार्य में समर्थ हैं, अर्थात् प्रथम यजन करने वाले को देश सामान्य अपेक्षित होता है क्योंकि सकल देश यजन में समर्थ है और यजन की उत्पत्ति में जिस का साधय होता है उस ही को यजन आक्षेप कर सकता है। इस रीति से प्राप्ति देशत्वरूप से उभय देश को समान है, यजन करने वाला विषम देश में यजन करे तो इतने से सम देश की अप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्राप्ति और प्रवृत्ति दोनों पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न और कार्यकारण भाव शून्य हैं। जिस के पास गर्दभ और अश्व दोनों होवें और वह गर्दभ पर सवार होवे इस से अश्व अप्राप्त समझा जाय यह अनुभव विरुद्ध है। प्राप्ति और प्रवृत्ति के कारणों का भी भेद है, इस से भी यह दोनों परस्पर भिन्न हैं यदि ऐसा न हो तो शास्त्र में जितना विधिभाग है वह सब व्यर्थ पड़ जायगा क्योंकि जब प्राप्त नहीं है तो निषेध और विधि की आवश्यक्ता पदार्थ के अभाव ही से नहीं है। और यदि प्राप्त है तो प्रवृत्ति से उस का अन्तर नहीं है, तो भी विधिनिषेध निरर्थकहैं। इस वास्ते प्राप्ति और प्रवृत्ति में अवश्य भेद मानना पड़ेगा। इस स्थलमें प्राप्ति का कारण यजन की अन्यथा असिद्धि और देश विशेष में प्रवृत्ति का कारण पुरुष की इच्छाहै। जब कि उन की उत्पत्ति में कारण

जुदे २ हैं तो उन का एक मानना किस बुद्धि के आधार पर रह सकता है
और यह भी कहा जा सकता है कि यजन में "विद्वानेव यजति" "विद्वानेव याजयति" इस विधि के अनुसार विद्वान् ही का सर्वथा अधिकार है और यजन के अनुरोध से सम–विषम देश दोनों प्राप्त होते हैं तो जैसे यजन का अनुरोध देश को आक्षेप कर लेता है वैसे ही विषम देश की अपेक्षा सम देश का भी सो कार्यवश से आक्षेप अन्तरङ्ग है इस से विद्वान् की इच्छा का भी विषम देश में एक प्रकार असम्भवता है। यदि यजमान सम विषम के भेद ही से अनभिज्ञ है, तो उस को विद्वान् समझना भूल ही नहीं किन्तु "समे यजेत" इस विधि के श्रवण का अधिकारी भी नहीं है। हां यह हो सकता है कि सम देश के अभाव काल में विषम देश में यजन करने के लिये दोष के वा अदृष्ट की असिद्धि के अज्ञान से विषम देश में विद्वान् भी प्रवृत्त हो सक्ता है, उसी से निवृत्त करने के लिये "समे यजेत" यह परिसंख्याविधि है। विषम देश भी बहुत ऐसे होते हैं जहां मनुष्य का स्थिर होना ही कठिन है अनुष्ठान की तो क्या कथा है, उन विषम देशों की निवृत्ति भी यह परिसंख्या विधि नहीं करती है। जैसे "ऋतौ भार्यामुपेयात्" यह नियम विधि ऋतु काल में भार्या के समीप जाने के लिये असमर्थ और परदेशस्थ पति को नियमित नहीं करती किन्तु समर्थ और समीपस्थ ही को करती है इसी रीति से कथञ्चित् योग्य विषम देश ही की निवृत्ति करती है। यहां यह विशेष ध्यान से देखना चाहिये कि–वेद प्राप्ति और अप्राप्ति सकल लोक के अभिप्राय से देख कर विधान, नियमन और परिसंख्यान करता है। अर्थात् लोक को जिस अंश में इतर प्रमाणों से इष्ट साधनता ज्ञान वा इष्ट विरोधिता आदि ज्ञान होही नहीं सकता उस अंश में प्रवृत्ति वा निवृत्ति करने को यत्न करता है, इस रीति से प्रेक्षावान् को समदेश में इष्ट साधनता ज्ञान यजन के अनुरोध से प्रत्यक्ष प्रमाण से रहता है, इस लिये विषम देश में प्रवृत्ति होने पर भी वह प्राप्त है अप्राप्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शास्त्र दृष्टि से जिस में लोक को इष्ट साधनता ज्ञान इतर प्रमाण से है वही प्राप्त है और जिस में इष्ट साधनता ज्ञान इतर प्रमाण से नहीं है वही अप्राप्त है। और प्रकार से प्राप्ति और अप्राप्ति का स्वरूप नहीं हो सकता है॥ शेष आगे

दयानन्द-दर्प-दलन

जब हमने दयानन्दियों की कुतूहल भरी पुस्तकों के आलोचन करने के समय में मुंशी जी के 'मूर्त्ति-प्रकाश, को देखा, बड़ा विलक्षण दृश्य दीख पड़ा। यद्यपि पंडित शब्द विशुद्ध विद्वान् के लिये उपयुक्त होता है, तथापि उस का ब्राह्मण वर्ण सूचना के लिये प्रयोग करना हिन्दी भाषा की प्रशस्त शैली है। यही बात कायस्थों को 'मुन्शी, कहने के विषय में है, किन्तु मुन्शी लेख राम जी की बनाई होने पर भी इस पुस्तक पर 'पण्डित लेखराम कृत, लिख कर नकली जाति का सेंडबोट लगाया गया था। वैसे ही मूर्त्ति पूजा के खण्डनमयी विचारों से भरी हुई पुस्तक का नाम भी 'मूर्त्तिप्रकाश, (मूर्त्ति-पूजा प्रकाशक) लिखा था इस से उन नक़ली पण्डित और उन्हीं की बनाई उलटे नाम की पुस्तक में जो आश्चर्य भरा भाव दीखा; उससे यह निश्चय न हो सका कि ऐसा प्रखर आश्चर्य किससे पैदा हुआ है। ठीक वैसा ही हुआ कि:—

अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणोभूषणभूष्यभावः ॥

पुस्तक देखने से यह भी जान पड़ा कि—मुंशी जी महाराज नीति के ज्ञान से पूरे कोरे ही थे। आप पुस्तक लिखने के समय अपने दुर्धर्ष क्रोध को बिलकुल नहीं दबा सके। उन के भद्दे लेखों में बहुत से ऐसे शब्दों का व्यवहार था कि— नीति के उच्च पण्डितों और शिष्ट विद्वानों ने जिन के उच्चारण तक को भी मना किया है। सनातन धर्म के विरुद्ध कुछ लिखने में ऐसे चाञ्चल्य का आलम्बन करना किस राजगद्दी की हकूमत करनी थी। नीति वालों की यह सलाह है कि—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरंरोषमयंधियापुरः ।
अविभिद्यनिशाकृतंतमः प्रभयानांशुमताप्युदीयते ॥

देखो ऐसे तेजस्वी हो कर भी सूर्य रात्रि के गहन अन्धकार का भेदन किये बिना तत्काल उदय होने की कामना नहीं करते वैसे ही अपने उदय की इच्छा करने वाले मनुष्य को प्रथम अपनी बुद्धि से निज हृदय के क्रोधमय अन्धकार का अपनोदन करना चाहिये खैर ? ऐसी कुचाल से हमारे पक्ष की क्या हानि ? वरन इन अनर्थों का फल उन लोगों को हाथों हाथ यह मिला कि—सनातन धर्मियों में भी कुछ लेखकों को उन की "जैसी की तैसी सलाम"

करने की चेष्टा बढ़ गई । इस संस्कृत शास्त्रमयी दुरधिगम ज्ञान से अनभिज्ञ रह कर भी मूर्त्ति पूजा की आलोचना करने को मुंशी जी ने हठ धर्मी दिखाही डाली । जिन को उल्लेखों की शैली का भी ज्ञान नहीं, किस वाक्य से किस अर्थ का बोध होता है, इस का भी जिन्हें बोध नहीं वही बने हैं पण्डित । फिर क्यों न हो ? उन लोगों की रची हुई पुस्तक सब प्रकार चपरघट क्यों न हो ? खेद ! इस पुस्तक की भूमिका ही में एक पहले उलटा वाक्य लिखा है कि—"मूर्त्ति पूजा जो घर २ दीखती है उस की असलियत इस पुस्तक में खोज की गई है" कहिये पाठक ! इसका क्या यही अर्थ न हुआ कि—मूर्त्ति पूजा की असलियत अर्थात् यथार्थता इस पुस्तक में खोज निकाली गई है आप का आशय तो शायद यह कहने का था कि— मूर्त्ति-पूजा की नकलियत जो अब तक किसी ने नहीं जाना था वह इस पुस्तक में खोजी गई है । यद्यपि ऊपरी वाक्य द्वारा भी बाल की खाल निकालने से यह अर्थ प्रकट हो सका परन्तु सर्वसाधारण में जब कि—मूर्त्ति पूजा की असलियत व्याप्त है, कभी भी आप के अन्दरी मतलब को एकाएक न जान सकेगा सिवाय दिखलाये हुये अर्थ के । सो इस का और भी कारण है, यदि लेखराम जी ने एक और धोखेबाजी की हो तो भी सम्भव है । भूमिका यदि हमारे लिखे अनुसार लिखी जाती और टाइटल पेजपर "मूर्त्ति-खण्डनिका" ऐसा यथार्थ पुस्तकी का नाम लिखा जाता तो कोई भी हिन्दू इस पुस्तक को हाथ से न छूता तब धार्मिक पण्डित और समाचार पत्रों के आफिसों से भी लपाई जाने पर यह पड़ी पड़ी रद्दी होकर यह पसारियों के ही काम आती ।

पाठक ! अब कहना नहीं होगा—ऊपरी सट्टे का आठो गांठ यही मतलब होगा । जिन धार्मिक हिन्दुओं की नसनस में मूर्त्ति-पूजामयी रुधिर का प्रवाह संचरित है "मूर्त्तिपूजा" शब्द नेत्र और चित्त के सन्मुख आते ही जिन को एक महाविधि मिलती है दिहाती मेलों ठेलों में फुर्तीली चाल से चलते हुये वह धार्मिक हिन्दू सामने "मूर्त्तिप्रकाश" नाम की पुस्तक देख कर पैसे दो पैसे फेंक कर खरीद लेने के सिवाय छोड़ नहीं सकेंगें बस । सौविश्वे तो उस जाल का यही मतलब होगा ।

(१) जैसी भूमिका और टाइटल तक में मुंशी जी ने भूलें की हैं अगाड़ी पांक्ति प्रतिपांक्ति भी उसी तरह भूलों से भरी है उन्हों ने अगाड़ी लिखी हैं "युक्ती प्रमाण" यहांपर "युक्ति प्रमाण" शुद्ध चाहिये था कि नहीं सो पाठक ही कह देवें ! फिर युक्ति प्रमाणों का नाम ले कर जो निबन्ध लिखें

गये हैं उन्हें देख कर पाठकों के कान और भी खड़े होंगे—पहिली युक्ति तो यही है कि जिसतरह दरिया लोटे में बन्द नहीं होता उसी भांति सर्वव्यापक परमेश्वर किसी मूर्त्ति में बन्द नहीं हो सक्ता। क्यों न हो! दरया ऐसे जड़ पदार्थ की समता करने के लिये परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता दबा रखने के लिये मुंशी जी का लराडुयेन। इसी से उन्हों ने लिख दिया कि— जैसे सारस दुग्ध और जल का भेद नहीं कर सकता वैसे ही हंस भी नहीं, बलिहारी। भला जिस के लिये यह लिखा है कि—

अपाणिपादोजवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः।

उस के लिये सांसारिक तत्व की समता करना कौन सी चातुरी है बिना आंख के जो देख सकता है, वह लोटे में बन्द रह कर भी सर्वत्र व्याप्ति धारण कर सक्ता है सो मुंशी जी को किसी फकीर से ही इस का उत्तर ले लेना था बिना शास्त्रार्थ में कदापि प्रवृत्त करी हुई युक्तियों को ग्रन्थ में लिख देना, फिर भी वह ऐसी युक्तियां जिन का उत्तर टुकाची भी दे सके ग्रन्थों में लिखते इन्हीं को देखा—

(२) दूसरे पैरोग्राफ में मुंशी जी का कथन है कि—हरेक शरीर के वास्ते प्रमाण और देश, कालादि होते हैं, इससे वह अनादि और अमर नहीं होते किन्तु परमेश्वर अनादि अमर तथा देश कालादि से न्यारा है अतः उस का शरीर नहीं हो सक्ता मुंशी जी महोदय! जब आपने यह देखा कि—परमात्मा अनादि और अमर है तब यह क्यों न देखा कि—अपने भक्तों की गाढ़ी भीर के समय वह अनन्तशक्ति द्वारा देशकालादि से रहित रह कर भी अपने अंश से अवतरित होता है क्योंकि यह सब आपके दयानन्द के माने हुये सभी ग्रन्थों में तो लिखा था तब यह कहा जा सकता है कि—जो अनन्त शक्ति के सहारे अशरीरी रह कर भी भक्तों के भयमोचन की सामर्थ्य रखता है उस को अवतीर्ण मानना अनुचित है सो प्रामाणिक ग्रन्थों में वैसा उल्लेख नहीं हो सक्ता, पर वैसा नहीं है। वैसा करने से ईश्वर की अक्षुण्ण उदारता को कोई भी न देखता और उस की कृतज्ञता का मूर्ख मण्डल में कुछ भी प्रकाश होता तथैव भगवान् को अपने भक्तों पर प्रत्यक्ष कृपा दिखाने का प्रमाण न मिलता—

(३—४) तीसरे औ चौथे पैरे को लिखते समय हमारे मुंशी जी की

बुद्धि और भी लुप्तप्रायसी हो गई इसी से यह युक्तियां और भी बला हो गईं यहां पर आप का परामर्श यह है कि--बिना शरीर वाले की मूर्त्ति नहीं होती अतः ईश्वर की मूर्त्ति नहीं और श्री कृष्णचन्द्र श्री रामचन्द्र श्री गणेश जगन्नाथ काली आदि के सिवाय परमेश्वर की मूर्त्ति कहीं भी नहीं दीखती इस से भी सिद्ध है कि--उस की मूर्त्ति नहीं होते देखा। यह हमने बहुत बार निश्चय किया है कि--बिना विचार किये ऊटपटांग भावों का विकाश करना समाजियों की चालसी है भला जिस के जानने के लिये आपने श्रम नहीं किया उसे आप क्यों कर जानसक्ते हैं ॥

अब्धिर्लङ्घितएववानरभटैः किन्त्वस्यगम्भीरता ।
मायातालनिमग्नपीवरतनुर्जानातिमन्थाचलः ॥

क्या पुल से पार हो जाने मात्र से वानर वीरों ने समुद्र की थाह जानी थी। नहीं नहीं, जिस का स्थूल हुआ शरीर पाताल लोक पर्यन्त विस्तृत है वह मन्थाचल ही समुद्र की गंभीरता जानता है। सो जगन्नाथ और रामचन्द्र के नाम मात्र सुन कर ही मुंशी जी उन की ईश्वरत्व किस तरह जानते ? तब यह उन के लिये बड़ी लज्जा की बात है कि "सत्यार्थप्रकाश" में स्वामी दयानन्द जी ने भी उक्त जैसे अनेक शब्दों के क्या अर्थ किये हैं यह भी उन्हों ने नहीं देखा जब साक्षात् वैदिक ऋचाओं से श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र ब्रह्म की शक्ति के तात्त्विक स्वरूप सिद्ध हुये हैं तब किस प्रकार उन की पूजा होने से परमेश्वर की प्रसन्नता प्राप्त न होगी ? ।

(५) लेखराम जी की पांचवीं युक्ति है कि--ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि को सब लोग जानते हैं कि इन में से सब कोई जन्म लेकर कुछ दिन ठहरे अन्त में शरीर छोड़ गये उन के अच्छे २ उपदेशों के अनुसार चलने और उन के किये कर्मों का अनुकरण करने से अवश्य लाभ हो सकता है, पर उन की प्रतिमाओं पर धूप दीपादि देने से ज्ञान की प्राप्ति होना सर्वदा असम्भव है। जिन सब मनुष्यों पर मुंशी जी के लेख का दारमदार है, वह सब तो यही कहते हैं कि--ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि के शरीर तो निज इच्छा से उत्पन्न और विलीन होते हैं यथा कि--

यद्यद्रूपंकामयतेतत्तद्देवताभवति। रूपंरूपंमघवाबोभवीति।

शेष आगे--

देशक जी ने शंका समाधान करना स्वीकार किया—व्याख्यान समाप्त होजाने के पश्चात् विलायतयात्री को वो नूतनसमाजी बाबू हीरालाल सा० बारिष्टर ज़िला छिन्दवाड़ा ने जो यहां पर किसी काम के लिये आये थे जो प्रेसीडन्ट सभा के बनाये गये थे अन्तिम सम्मति यह दी कि हम लोगों को सनातन धर्म से कुछ शत्रुता वा आर्य समाज से कुछ मित्रता नहीं दोनों ही वेद के मानने वाले हैं अब समय नहीं है बहुत देर हो गयी कल ७ बजे शाम को सभा करके प्रश्नोत्तर किये जांय—इस सभा में श्रोतागण केवल १२ ही थे—दूसरे दिन ता०१४ २। ०५। को फिर मालूम हुआ कि आज सभा बंद करदी गई उसी रात्री को उपदेशक जी रेल द्वारा बालाघाट चले गये—इस रीति से ये लोग स्थान २ पर पराजित होते हैं। वा मुंह छिपा कर भाग जाते हैं।

प्रेषक गिरजानन्द कायस्थ मालगुज़ारजिलासिवनी
(छपारा) सी०पी०

॥ श्रीहरिः ॥

मुलतान में शिव महोत्सव—फाल्गुण कृष्ण १५ तदनुसार ४ मार्च १९०५ई० शनिवार को सेठ भंभाराम कोरालाल रंगवाले के स्थान पर श्रीसद्धर्म्मोपदेशक कुमार सभा की तर्फ से महाशिवरात्रि का महोत्सव किया गया रात भर वेद मन्त्रों से षोडशोपचार शिवपूजन दुर्गापाठ वग़ैरह किये गये सद्धर्म्मोपदेशक सभा और सद्धर्म्मामृतवर्षिणीवैष्णव सभा की भजन मण्डलियां नगर कीर्तन करती हुई उत्सव स्थान पर पहुंची सारी रात भर अपने मनोहर रसीले भजनों द्वारा धर्म्म प्रेमी पुरुषों को आह्लादित करती रही॥ श्रीमान् पं०युगलकिशोर जी महोपदेशक भारत धर्म्म महामण्डल जिला गुमरी निवासी और पं० देवराज जी शास्त्री ने अपने २ मनोहर व्याख्यानों द्वारा धर्म्म प्रेमी जनों को भक्ति रूपी अमृत रसपान कराया इसका समग्र व्याय श्रीमान् पं० दामोदर दास जी ने किया अत एव सभा आप को धन्यवाद देती है ईश्वर आप को सकटुंब चिरायु रक्खे !!

आपका शुभचि०
धर्म्म प्रेमी परमानन्द शर्म्मा सेवक
श्रीसद्धर्म्मोपदेशकसभा मुलतान

परब्रह्म परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद दिया जाता है जिस की पूर्ण कृपा से जसवन्तनगर ज़ि० इटावा की सनातन धर्म सभा का वार्षिकोत्सव शिवादि प्रतिष्ठा और श्रीयुत बाबू दुर्गाप्रसाद जी के चिरञ्जीव के अन्नप्राशनोत्सव के सम्मिलित निर्विघ्न समाप्त हुआ उत्सव स्थान पर यज्ञमंडप खूब रीति से सजाया गया जिसकी शोभा का वर्णन करना लेखनी से बाहिर है यज्ञ मंडप में बड़े २ धुरन्धर षट् शास्त्र वेदज्ञ पण्डित एकत्रित हुए माघ कृ० १३ से लेकर मा० शु० ३ तक यज्ञ कार्य बड़ी उत्तम और पवित्रता के साथ हुआ शिवादि की षोडशोपचार पूजा और वेद मन्त्रों से मंडप गुंजार रहा था और धर्म्म प्रेमी पुरुषों के चित्त को वेदवाणी अपनी तर्फ आकर्षित कर रही थी मा० शु० ४ को शिवादि और श्री वेद भगवान की सवारी बड़ी धूमधाम के साथ निकली जिसके साथ बड़े २ राजे महाराजा और रईस सहस्रों नगर निवासी उपस्थित थे जिस की शोभा का वर्णन करना लेखनी की सामर्थ्य नहीं है यज्ञमंडप में श्रीयुत पं० दुर्गादत्त जी पन्त श्रीमान् पं० ज्वालाप्रसाद जी श्रीमान् पं० भीमसेन जी श्रीमान् बंगवासी जी श्रीमान् पं० गोविन्द राम शास्त्री जी आदि महोपदेशक भारत धर्म्म महामण्डल के उत्तमोत्तम प्रभावशाली मनोहर मूर्तिपूजा भक्ति आदि विषयों पर व्याख्यान हुए जिनके सुनने के वास्ते सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लगी रहती थी मा०शु०प० ५–६ दो दिवस भी खूब आनन्ददायक हुए श्रीवेद भगवान् की सवारी फिर बड़ी धूमसे निकाली गई इस उत्सव में आतशबाजी भी बहुत छोड़ी गई और नगर में खूब रोशनी की गई थी इस महोत्सव के समयपर श्रीमान् श्री १०८ परमपूज्य ब्रह्मनाथ सिद्ध आश्रम जी श्रीस्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज ने संयुक्त होकर उत्सव की शोभा को दुगुना कर दिया इस उत्सव का सर्व व्यय रायबहादुर श्रीमान् सभापति जी ने अपने कोषसे किया सभा को इसका भार नहीं उठाना पड़ा परमात्मा ऐसे देशोपकारी धर्मोत्साही रायबहादुर जी को चिरञ्जीव युत प्रसन्न और कुशल रक्खे और सदा धन वैभव से उन्नत करे ॥

दीक्षित रामनरायन मन्त्री स०ध० सभा जसवन्तनगर

आर्यसमाज के सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग नियमानुसार वैदिक धर्म उद्धारणार्थ प्रायः ३॥ वर्षसे "आदि आर्यसमाज" संस्थापित की गई है सत्यार्थ प्रकाशादि ग्रन्थों पर अनेक शंकायें हैं जिन समाजी पंडित को उ-

पर देने सामर्थ्य होवे वह शुल्क से पत्र व्यवहार करे ॥ भवदीय

बेणीप्रसाद शर्म्मा संस्थापक आदि
आर्यसमाज मेख जिला नरसिंहपुर
पोस्ट मेख सी.पी.

सनातनधर्म सभा शहर रावलपिंडी का वार्षिकोत्सव २७-३० अपरैल १९०५ को होगा ॥

भक्तराम गुप्त वकील मन्त्री

विविध समाचार ॥

चौकीपर डाका। गत पूर्व मङ्गलवार को पेशावर से दस मीलके फास-लेपर—कोहाट की राह में—ससका की चङ्की पुलिस की चौकी पर वजीरियों ने डाका डाला। दो घोड़े, नौ बन्दूक और कुछ माल असबाब लूट ले गये। पुलिस के सिपाहियों ने भागकर अपनी जानें बचाईं। लुटेरे लाख दबाये जाने पर भी नहीं दबे।

विचित्र मूल्य। ग्रीनलण्ड देश बरफ से ढका रहता है। पहले वहां समाचारपत्र नहीं था, कुछ दिनों से उसका प्रादुर्भाव हुआ है। वहां की स्किमियों भाषा का एटिसिक नामक समाचार पत्र अपने ग्राहकों से विचित्र मूल्य लेताहै। यानी वार्षिक मूल्य पशु विशेष की २ खालें अर्द्ध वार्षिक मूल्य १ पक्षी और मासिक मूल्य १ मुरगी लेता है।

सुनते हैं कि श्रीमान् नाभानरेश आज कल विधवाविवाह के लिये शिर तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। आप ने एक अफसर को पंजाब के नगरों के रईसों की सम्मति इकट्ठी करने के लिये नियुक्त किया है। सम्भव है कि आपके यहां भी एक दो कायदे बन जावें। देशी राजाओंके लिये और काम ही क्या है। घर में रहकर कुछ सामाजिक धार्मिक आईन बनाने की उधेड़ बुन में रहेंगे अथवा सैर सपाटे के लिये विलायत जावेंगे।

पतिका प्रेम। उड़ीसा—बड़न खण्डी में कारन जाति की एक स्त्री रहती थी। स्त्री का पति बहुत बीमार था। एक दिन पति को मृतप्राय समझ कर स्त्री ने कुए में कूद कर अपनी जान दे दी। दूसरे दिन पति का भी परलोक वास हो गया।

फाल्गुन के पहिले सप्ताह में सम्पूर्ण भारतमें प्लेग से २९ हजार ४ सौ ६५ मनुष्य मरे, किन्तु गत सप्ताह ३४ हजार १ सौ ३९ मनुष्यों की मृत्यु हुई और उस से पहिले सप्ताह में युक्त प्रदेश में १५ हजार ६९ बङ्गाल प्रदेश में ८ हज़ार ५ सौ ४३, पञ्जाबप्रदेश में ७ हजार ९ सौ ५२ और बम्बई प्रदेश में २ हजार ४ सौ २ मनुष्य प्लेग से मरे। युक्तप्रदेश ही में प्लेगका प्रकोप अपेक्षाकृत अधिकहै

कुलटा की करतूत । नित्य दासी अभी अठारह वर्ष की युवति और स धवा है । विधोदासी १५ साल की है, पर विधवा है । दोनों विष्णुपुर में रहती हैं । नित्य दासी के पतिका नाम महेन्द्रचन्द्र नस्कर है। नित्य ने महेन्द्र की नजर बचा कर कार्त्तिक सरदार और उमेशचन्द्र नस्कर से प्रीति लगाई । प्रीति छिपाये नहीं छिपती । महेन्द्र को अपनी स्त्री के सतीत्व पर शक हुआ यह दोनों जारों को भी मालूम हो गया । उन दोनों ने कांटे को राह से हटा देना ही उचित समझा । इसी इरादे से उन लोगों ने प्राणप्यारी के पास कुछ संखिया भेज दिया । नित्य ने विधो की सहायता से ईश्वर तुल्य पति को ज- हर दे दिया। नित्य ने यह सब बातें अपने बयान में क़बूल की हैं । मामला अदालत में पेश है । दोनो यार अन्तर्द्धान हैं । महेन्द्र भी दवा दारू खाकर अ- च्छे हो गये हैं । ख़बर ष्टेटसमैन ने दी है ।

चोर लड़की—गत पूर्व शनिवार को लाट भवन के पश्चिमीय फाटक के सामने एक लड़के ने किसी कुली की जेब से कुछ रुपये चुरा लिये । पीछे मा- लूम हुआ, कि चोर लड़का नहीं, छद्मवेशिनी लड़की है यह लड़की इसी तरह और एकबार चोरी करने पर सजा पा चुकी है ॥

डाकिये से जबरदस्ती—बीरू हीरू बहूबाजार में रहते हैं । बहूबाजार का डाकिया बीरू हीरू की बैरंग चिट्ठी लाया । कहते हैं, कि दोनों आदमी बैरंग चिट्ठी का महसूल बिना दिये डाकिये के हाथ से चिट्ठी छीनने लगे । डाकिये ने बीरू हीरू की जबरदस्ती की अदालत तक खबर पहुंचाई । किंग्सफोर्ड के मजिष्टर ने प्रमाण न मिलने की वजह बीरू को छोड़ दिया। हीरू पर ३०) रुपये का जुर्माना ठोंका । जुर्माने के रुपये न अदा करने पर हीरू को १४ दिन के लिये बड़ाघर बसाना पड़ेगा ॥

प्रयागमें मुंशी कालीप्रसादजीके जन्म दिवस के उत्सव के दिन कायस्थ पाठशाला में व्याख्यान देते हुए एमेरिकन मि० मिलरने कहा था कि यदि

भारतवासी युवक एमेरिका में जाकर शिल्प उद्योग सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण करें और वहां से लौटकर अपने देशियों को सिखाय तथा सीखी हुई विद्या का उपयोग कर देशका कल्याण करना आरम्भ करें तो भारतवासियों में अवश्य ही स्वतंत्रता आ सकती है। जो भारतवासी जापानियों के समान सादगी से वहां रहना चाहें उनके लिये एमेरिका वाले आदरपूर्वक स्वागत करने को तैयार हैं साहब बहादुर का कहना बहुत ठीक है परन्तु भारतवासी देशहित के लिये विदेश जाना पसन्द नहीं करते। वह वहां साहब बनने के लिये जाना पसन्द करते हैं।

पांच सौ व्यापार मू० १) रु०

इसकी सिर्फ सौ कापियां बाकी हैं जिन्हें मगाना हो झटपट मंगालें अन्यथा पछताना होगा यह किस्सा नहीं है जो एकबार पढ़कर ताक में रखदो इस में रंग रोगन वा. निश. साबुन दिया सलाई. मीनाकारी अर्क कापूर आदि चीजें बनाने की रीति लिखी है ऐसा कोई व्यापारी नहीं जिसके काम की बात इस में न मिले ।

दो अद्द्ल के खरीदार को एक अदद मुफ्त में देंगे ।

रबर टाइप का अंग्रेजी छापाखाना सब सामान सहित २॥) रु० में ।

नाम. पता. फ्रौड़पत्र विजिटिंग कार्ड कुछ ही छापिये मुहर बनाना भी न पड़ेगी । बच्चे इस के द्वारा अंग्रेजी बहुत जल्द सीख जाते हैं ॥

पं० सूर्यप्रसाद शर्मा मैनेजर सारस्वत कम्पनी मेरठ सिटी

विराट् उपहार ॥

विदित हो कि हमने सर्वसाधारण के सुभीते के लिये " शास्त्रप्रकाश " नामक कार्यालय स्थापित किया है । इस में भारतवर्षीय प्रायः वेद, उपवेद, ब्राह्मण वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि आर्ष ग्रन्थों का युक्ति एवं प्रमाण सहित सुलभ भाषानुवाद प्रकाशित होगा । इस कार्यालय से १ मार्च सन् १९०५ से " वेद व्यास " नामक मासिकपत्र भी निकला करेगा, जिस में भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदायों (प्राचीन तथा नवीन) पर विशेष विचार लिखा जावेगा और प्रत्येक वर्ष इस पत्र के ग्राहकों को एक २ प्रति आर्षग्रन्थ की भेंट (उपहार) दियी जावेगी । इस पत्र का वार्षिक मूल्य १।) है आज से २८ फरवरी सन् १९०५ तक जो कोई इस पत्र के ग्राहक होंगे उन्हें नीचे लिखी ४ पुस्तकें आधे मूल्य पर उपहार में दी जावेंगी ।

न्यायशास्त्र भाष्य तथा भाषानुवाद सहित ॥

श्रीमन्महर्षि गौतम प्रणीत सूत्रपर वात्स्यायन मुनि कृत भाष्य का भाषानुवाद किया गया है। प्रथम सूत्र, पश्चात् सूत्रानुवाद पुनः भाष्य तत्पश्चात् भाषानुवाद और नीचे आवश्यकीय स्थानों में टिप्पणी लिखी गई हैं। मुम्बई कलकत्ता काशी आदि भिन्न २ तेरह स्थानों की छपी तथा लिखी प्रति से शुद्ध कर भाष्य में जो सूत्र प्रमाण से मिल गये तथा वार्त्तिक सूत्र वा भाष्य में रख कर अति उत्तम कागज तथा अक्षरों में पुस्तक छप रहा है मूल्य ३॥) है परन्तु उपहार में लेने से १॥।) ही में मिलेगा ।

निवेदन

हम इन नीचे लिखे ग्राहकों से सविनय विवेदन करते हैं कि आप लोगों के नाम जितना २ मूल्य बाकी है कृपा कर अब शीघ्र भेज देवें। आप लोगों के नाम ब्रा० स० भा० २ का पिछला भी बाकी है। यहां आपलोगों के नाम छपाने का मतलब यह है कि आप को बीशों वार तकाजे भेजे गये हैं कई लोगों ने मूल्य भेजने के वायदे भी कि ये फिर भी नहीं भेजा। कई लोगोंने जबावी कार्डों के भेजने पर भी जबाव नहीं दिये हैं। और कई लोगों ने वेलूपेविल भेजे हुए भी वापस किये हैं अभी कई नाम और भी बाकी हैं जो छपाये नहीं गये हैं अब हम आशा करते हैं कि आगे लिखे महाशय अवश्य सेव मूल्य भेजकर इस फेरिस्त से अपने २ नाम कटावेंगे। और धन्यवाद के भागी होंगे अन्यथा जब तक मूल्य न भजेंगे आप लोगों के नाम छपा करेंगे।
ह० भीमसेन शर्म्मा सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा॥

२३३ पं० गुलजारी लाल शर्मा शाहजहांपुर ३॥।-)
२६५ स्वामी निर्विकार गिरी झंग २।)
२६८वा० गिरधारीलाल वकील होशियारपुर ३≡)
२८० पं० देवीप्रसाद मिश्र भोपाल आस्टास्टेट ३≡)
३१३ मच्छाशङ्कर द्विवेदी मन्त्री आर्यसमाज मुंबई २।)
३१५पं०देवीदत्त ज्यो०नजीबाबाद ज़िला बिजनौर २॥)
३२२ पं० सीताराम बरनाला जिला पटियाला २≡)
३५६पं०व्रजरत्न भट्टाचार्य पटवर गंजमुरादाबाद २)
३६८ पं० गंगाराम आचार्य झंग २॥)
३८४पं०बालाराम ओवरसियर ब्रह्मा३ =
४१९सेक्रेटरी आर्यसमाजमहूसी०पी० २)
४२० पं० चेतन राम शिवरामशिकारपुर सिंध २॥)
४२४ चण्डीप्रसाद जलालाबाद जिला शाहजहांपुर २।)
४३१ मंत्री प्रेमसभा ज्वालापुर जि० सहारन पुर २।)
४५० पं०श्यामसुन्दर रघुनाथपुर जि० कानपुर ३≡)
४५१ हरनारायण मन्त्री आर्यसमाज जहांगीराबाद जि०बुलन्दशहर ।॥।)
४५८ लक्ष्मीनारायण बावन जि० हरदोई ५॥=)
४६१ माधवदत्त शर्मा शाहगंज जिला आगरा ३।-)
४६९ पं० पुरुषार्थीलाल जीवदायूं २।)
५०९ पं० सूर्यप्रसाद टेढ़ाजि०उन्नाव२।)
५२१ जिवराखन लम्बरदार टेढ़ाजि० उन्नाव ३≡)
५५८ बा० विहारीलाल लाहौर २।)
५८१ महावीरप्रसाद समस्तीपुर जिला दर्भंगा २॥)

५९५ पं०दयाराम जी नूरमहल ज़िला जालन्धर ४॥)

६०३ बाबूराम झा अकियारपुर जि० दर्भंगा २॥)

६२० बा० काशीराम देराइस्मैलखान ४॥)

६४८ कल्याणदासवजीरगञ्जजि०बदायूं २।)

६५६ स्वामीनाथशुक्लहरैया जि०बस्ती ३।)

६६८ श्रीधर विष्णु वर्मा २।)

६८९ मामराज शर्मा असलपुर (राज्य जयपुर) १।।≡)

७१३ पं० मुक्ताप्रसाद गढ़ी दोवा जि० इटावा ८-)

७३२ हरिराम विशारद गोविन्दपुर जि० गुर्दासपुर ३)

७५३ विजयमंगल श्रीवाजपेयी ठटिया जि० फतेगढ़ २।)

७६४ पं० सखीराम शर्मा कोहाट २।)

८३१ गुरुश्यामविहारीलालबहरायच २।)

८४१ बा०गुरुजोतसहायव ...कुंगीर ६।=)

८५१ पं०हरिमोहनमिश्रमरिस्तेद र ...गेर ५-)

८६५॥ रामानन्द मिश्र जस्पुर जि० नैनीताल ४)

७७३ सुलतानसिंह वावनजि०हरदोई २।)

८७६॥ बा० वैकुण्ठनाथ जगाधरी जिला अम्बाला २।)

८९० बालकराम जी मन्त्री स०ध सभा पूरनपुर जिला पीलीभीत २।)

पं० रामकृष्णशास्त्री अहमदाबाद २।)

REGISTEED No 242
ब्रा०स०सम्बन्धी पत्रादि पं० भीमसेन शर्मा सम्पादक ब्रा०स० इटावाके पतेसे भेजिये

ब्राह्मणसर्वस्व-

THE BRAHMAN SARVASWA

आर्य्यंम्मन्यसदार्य्यकार्य्यविरहा आद्य स्त्रयीशत्रव,
स्तेषांमोहमहान्धकारजनिता-ऽविद्या जगद्विस्तृता।
तन्नाशायसनातनस्यसुहृदो धर्मस्यसंसिद्धये,
ब्र दिस्वान्तमिदंसपत्रममलं निस्सर्य्यतेमासिकम् ॥
धर्मो धनंब्राह्मणसत्तमानां, तदेवतेषांस्वपदप्रवाच्यम्।
धनस्यतस्यैवविभाजनाय, पत्रप्रवृत्तिःशुभदासदास्यात्
पुरातनंधर्मपथंसुरक्षेत्, प्रच्छन्नचार्वाकमतनिरस्येत्
लोकस्यसर्वस्यहितायभूयात्तोयंतृषार्त्तानिवतापकंस्यात्।

भाग ३ } मासिकपत्र मासाङ्क { ९

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

पं० भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित होकर
वेदप्रकाश यन्त्रालय-इटावा में
मुद्रित होकर प्रकाशितहोता है ॥
संवत १९६१ वि० ३१ जनवरी सन् १९०५ ई०

ब्राह्मणसर्वस्व का अगाऊ वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित २।) है

चाहिये। और मनुका अभिप्राय भी यह नहीं है कि वैडालव्रती वा वकव्रती धर्मध्वजी आदि को दान देने से चोरी जारी आदि पापों के तुल्य दाता को कोईपाप लगता है। किन्तु अभिप्राय यह है कि धर्मानुकूल उपार्जित हुए धनादिका शास्त्रानुकूल सुपात्र को दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक दिया दान दाता ग्रहीता दोनों को जन्मान्तर में स्वर्ग प्राप्त कराता है यही दान का मुख्य अर्थ नाम प्रयोजन है। परन्तु उक्त कुपात्रों को देने से वह दान इस स्वर्ग रूप अर्थ के लिये नहीं होता। यही अनर्थ के लिये होता है ऐसा कहने का मतलब मनुजी का है। तथा उत्तमकक्षा की दान रूप नौका से दाता ग्रहीता दोनों संसार सागर के पार तर जाते अर्थात् स्वर्ग के भागी होते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध दान देने लेने वाले अज्ञानी मूर्ख दोनों उस दान रूप नौका से संसार के पार नहीं होते किन्तु इसी पृथिवी में भले ही अच्छा फल हो। अर्थात् दान धर्म के ठीक २ होने से जो उत्तम फल हो सकता है वह कुपात्र के दान से नहीं होता इसी लिये कुपात्र के दान का मनुजी ने निन्दार्थ वाद दिखाया है। जो पुरुष किसी को भी कुछ दान नहीं करता उन की अपेक्षा कुपात्र को देने वाला भी अच्छा है उस को भी कुछ अच्छा फल अवश्यमेव होता है। इन से यह मतलब भी कोई न निकाले कि सुपात्र कुपात्र का विचार ही न करें क्योंकि जब हम अपने कर्म का अच्छा उत्तम फल चाहते हैं तो हम को सुपात्रादि का विचार अवश्य कर्त्तव्य है। और यह भी आशय नहीं निकल सकता कि सुपात्र न मिलने के बहाने से हम दान धर्म से वंचित रहें। जैसे उत्तम वेदशास्त्र वेत्ता न हो सकने पर भी हम संस्कृतादि पढ़ के किसी कक्षा के छोटे मोटे पं० बनते ही हैं तदनुसार प्रतिष्ठा गौरव तथा फल भी हम को होता ही है वैसे ही जिस कक्षा का दान धर्म हम अपनी शक्ति भर कर पावेंगे वैसा ही फल भी होगा। चाहें यों कहो कि नीची कक्षा का रजोगुणी तमोगुणी दान धर्मादि सात्विक दानधर्म की अपेक्षा कुछ निकृष्ट होने पर भी अधर्मकी अपेक्षा वा कुछ भी धर्म न होनेकी अपेक्षा कुछ धर्म अवश्यहै और वैसा उसका फल भी अवश्य होगा। इसी लिये कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीयोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि—

श्रद्धयादेयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रियादेयम्। ह्रियादेयम्। भियादेयम्। संविदादेयम्। अ० १ अनु० ११।

भा०-श्रद्धा के साथ दान करो परन्तु अश्रद्धा से दानादि कुछ मत करो। अथवा श्रद्धा न हो तो भी दान दो क्योंकि न देने से वह भी अच्छा अवश्य है (श्रियादेयम्) धनादि की जैसी न्यूनाधिक प्राप्ति हो वैसा ही यथाशक्ति दान करो। प्रत्येक मनुष्य अपनी आमदनी का दशांश यदि दान धर्म में व्यय करे तो अच्छा है। यह भी आस्तिक लोगों को विशेष कर विश्वास रखना चाहिये कि दान करने से कोई मनुष्य दरिद्र नहीं रह सकता किन्तु जैसे चोर ठग आदि लोग चोरी आदि के धन से कभी भी धनाढ्य नहीं हो पाते सदा उन के दरिद्रता ही रहती है वे चाहें कितना ही चुरा लाते हों। तदनुसार जिन की चोरी होजाती है वे चोरी से कभी दरिद्र नहीं होजाते किन्तु आगे २ उन के अधिक २ धनादि बढ़ जाता है वैसे ही दान देने वालों के यहां भी अन्न धनादि दान करने से और २ बढ़ता है (ह्रियादेयम्) लोक लज्जा से भी संसार में आकर मनुष्य को कुछ यथाशक्ति दान करना चाहिये। जो अन्य सहयोगियों के यहां दान पुण्यादि होते देखकर भी स्वयं कुछ नहीं करता उस को लज्जित होने पड़ता अन्य लोग चूम वा सूम कहते हैं इसभय से भी जगत् में कुछ २ दान धर्म चला ही करता है। (भियादेयम्) कृपणता के साथ लगने वाली बुराइयों के भय से भी मनुष्य को कुछ दान करना चाहिये और (संविदादेयम्) मित्रादि के काम सिद्ध होने के निमित्त दान करना चाहिये। अर्थात् जिस किसी निमित्त मनुष्य को दान अवश्य करना चाहिये।

दातव्यमितियद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशेकालेचपात्रेच तद्दानंसात्त्विकंस्मृतम् ॥१॥
यत्तुप्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्यवापुनः ।
दीयतेचपरिक्लिष्टं तद्दानंराजसंस्मृतम् ॥२॥
अदेशकालेयद्दान-मपात्रेभ्यश्चदीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥ गीता० १७॥

भा०-वेदादि शास्त्रों में दान देने की आज्ञा है दान देना सभी प्रकार अच्छा कामहै इस लिये हमको करना चाहिये ऐसे विचार से जो उस सदाचारी विद्वान् सुपात्रको[जिससे अपना कुछ भी उपकार न हो वा अपना कुछ काम न निकलताहो] तीर्थादि उत्तमदेश और पर्वादि उत्तम समयमें श्रद्धाके साथ सत्कार पूर्वक

दान देताहै वह उत्तमकक्षा का सत्वगुणी दानहै। और जो प्रत्युपकार के लिये दिया जाताहै कि मिश्र जी वा पुरोहित जी से अपने बहुत काम निकलतेहैं इस लिये इन को कभी २ कुछ देना चाहिये अथवा इस दान से हमारा यश कीर्त्ति नामवरी संसार में होगी वा अमुक प्रकार का फल हम को इस दान से होगा हमारा नाम लम्बे चौड़े धन्यवाद सहित अखबारों में छपेगा इस विचार से कठिनता के साथ देता है अर्थात् उस धनादि के पास से जाने में उस दाता को कष्ट तो होता है परन्तु प्रत्युपकारादि के अनुरोध से कष्ट मानता हुआ भी जो देता है वह रजोगुणी दान है। और जिस दान में देश काल का कुछ विचार न हो जिस को देवे उस का अनादर तिरस्कार करता जाय तथा कुपात्र को देवे वह दान नीचे दर्जा का तमोगुणी है। जिन लोगों को धर्म की मर्यादा की तो कुछ भी ख़बर नहीं इस से दान धर्मादि कामों को ठीक २ फ़िज़ूल ख़र्ची वा पोपलीला समझ चुके हैं जंटलमैनी के कामों में पास भी हो गये हैं पर कोई दान धर्मादि का मौक़ा आगया घर के माता पिता स्त्री कुटुम्बी सम्बन्धी सब सनातन धर्मी हैं एक ही बाबू साहब जंटलमैन समाजी हो गये हैं परन्तु घर के माता पत्नी आदि के अनुरोध से किसी अवसर में कुछ दानधर्मादि करने पड़ा तो नौकर से कहा जल्दी बुला किसी ब्रैमन को। वह जाकर किसी को बुलालाया उस को दूर से देखते ही कहते हैं आया पोप जी मुफ़्त का माल उड़ाने वाला। ब्राह्मण ने कुछ चौक पूरना पान सुपारी आदि पूजा का सामान मगाया उस को अनादर सूचक अनेक कठोर शब्द कहते मन में कुढ़ते हुए वा कहीं २ यह साफ कहते हुए कि जो आदमी मिहनत करके पैदा कर सकते हैं उन को मुफ़्त का माल लेना हराम है परन्तु बाबू साहब को चुप चाप एकान्त में कोई घूंस आदि द्वारा देजावे तो झटपट लेने को तयार हैं। ऐसे लोगों के यहां अधिकांश तमोगुणी दान ही हुआ करता है। मनु० तथा आह्निक कर्म प्रकाश पुस्तक में और वसिष्ठ स्मृति वराह पुराण तथा गोतम स्मृति में दान के विषय में लिखा है कि—

> समसब्राह्मणेदानं द्विगुणंब्राह्मणब्रुवे ।
> प्राधीतेशतसाहस्रमनन्तंवेदपारगे ॥ १ ॥
> पात्रस्यहिविशेषेण श्रद्धानतयैवच ।
> अल्पंवाबहुवाप्रेत्य दानस्यावाप्यतेफलम् ॥२॥म०अ०७

गत्वायद्दीयतेदानं तदनन्तफलंस्मृतम् ।
सहस्रगुणमाहूय याचितेतुतदर्धकम् ॥ १ ॥
संकीर्त्यदेशकालादि तुभ्यंसंप्रददेइति ।
नममेतिचसत्ताया निवृत्तिमपिकीर्त्तयेत् ॥ २ ॥
प्रागग्रेषुस्वर्दभेष्वित्वा दाताचपरमेश्वरम् ।
ध्यात्वास्वपुण्यमुद्दिश्य दक्षिणांप्रतिपादयेत् ॥ ३ ॥
ब्राह्मणंप्रणिपत्याथ ततःपात्रंविसर्जयेत् ॥ ४ ॥ क०
नामगोत्रेसमुच्चार्य संप्रदानस्यचात्मनः ।
संप्रदेयंप्रयच्छन्ति कन्यादानेतुपुंत्रयम् ॥ ५ ॥ वसि०
तोयंदद्याद्द्विजकरे दानेविधिरयंस्मृतः ।
सकुशोदकहस्तश्च ददामीतितथावदेत् ॥ ६ ॥ वराह० ।
मनसापात्रमुद्दिश्य जलंभूमौविनिःक्षिपेत् ।
विद्यतेसागरस्यान्तो दानस्यान्तोनविद्यते ॥ ॥ गोतम०
सर्वेषामेवदानाना-मन्नदानंपरंस्मृतम् ।
सर्वेषामेवजन्तूनां यतस्तज्जीवितंफलम् ॥ ८ ॥
यस्मादन्नात्प्रजाःसर्वाः कल्पेकल्पेऽसृजत्प्रभुः ।
तस्मादन्नात्परंदानं नभूतंनभविष्यति ॥९॥ संवर्त्तः ।
वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदःप्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ १० ॥
भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणिवेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥ ११ ॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्य-मश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहःश्रियंपुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥ १२ ॥

यानशय्याप्रदोभार्या-मैश्वर्य्यमभयप्रदः ।

धान्यदःशाश्वतंसौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम्॥१३॥मनु०४॥

भावार्थः-मनुजी कहते हैं कि ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि ग़रीब को दिये दान का उतनाही फल होता है जितना वस्तु दान दिया जाय। और धर्म कर्म हीन मूर्ख ब्राह्मण को देने से दान के वस्तु से द्विगुणा फल होता, अध-पढ़े कुछ २ धर्म कर्म करने वाले ब्राह्मण को दिये दान का सौगुणा, साङ्गोपाङ्ग एक वेद को ठीक २ पढ़ने जानने वाले ब्राह्मण को देने से दान का लक्ष गुणा फल होता और सब वेदों को साङ्गोपाङ्ग ठीक २ पढ़ने जानने वाले ब्राह्मण को दिये दान का अनन्त फल होता है। जो किसी सुपात्र के स्थान पर जा कर श्रद्धाभक्ति के साथ दाता पुरुष दान देता है उस का अनन्त फल होता। यदि सुपात्र को बुला के श्रद्धा के साथ दान देता है तो उस का हज़ार गुणा फल है और मांगने पर श्रद्धा से दे तो उस से आधा फल होता है। दाता पु-रुष दान के समय संकल्प में देश कालादि का उच्चारण करके (तुभ्यमिदम-हंसंप्रददे) तुम्हारे लिये मैं यह पदार्थ देता हूं ऐसा कहे और सब से पीछे (नमम) ऐसे बोल कर स्वत्व की निवृत्ति भी कहे। तथा दान के समय पू-र्व दिशा को अग्रभाग करके कुश बिछावे उन पर बैठ कर दाता परमेश्वर का ध्यान कर अपने पुण्य का उद्देश करके दक्षिणा देवे। इस के बाद सुपात्र ब्रा-ह्मण को दण्डवत् प्रणाम करके नम्रता से विदा करे।

तथा वसिष्ठ स्मृति में लिखा है कि अपने और सुपात्र ब्राह्मण के नाम गोत्र संकल्प वाक्य के साथ बोल कर दान का वस्तु सत्पुरुष दिया करतेहैं यह सनातन की चाल है। परन्तु कन्या दान के समय दाता प्रतिग्रहीता दोनों के तीन २ पूर्व पुरुषाओं के नाम कन्या दान के संकल्प में बोलने चाहिये ॥

वराह पुराण में लिखा है कि दाता पुरुष हाथ में कुश और जल लेकर संकल्प के अन्त में (तुभ्यमहंसम्प्रददे) कहता हुआ ब्राह्मण के हाथ में जल छोड़े यह विधि दान के लिये है।

और गौतम स्मृति में लिखा है कि मन से सुपात्र ब्राह्मण का उद्देश क-रके भूमि पर जल छोड़े। अर्थात् जिस के निकट न कोई सुपात्र ब्राह्मण हो और न कुछ वस्तु देने को हो वह संकल्प पूर्वक सुपात्र ब्राह्मण के नाम से पृथिवी पर श्रद्धा पूर्वक जल छोड़े तो भी दान का फल होगा। क्यों कि स-

युद्ध का तो अन्त है पर दान का अन्त नहीं है। और संवर्त्त स्मृति में लिखा है कि सब दानों में अन्न का दान मुख्य और उत्तम इस लिये है कि सब प्राणियों के जीवन का रक्षक अन्न ही है। जिस कारण विधाता भगवान् प्रत्येक कल्प के आरम्भ में अन्न से ही प्रजा को रचते हैं तिस कारण अन्न से परे न कोई दान हुआ न होगा ॥

और मनुजी कहते हैं कि--प्याऊ आदि द्वारा जलदान करने वाले को तृप्ति, अन्नदान करने वाले को अक्षय सुख, तिल दान करने वाले को उत्तम सन्तान, दीपदान करने वाले को उत्तम चक्षु का सुख, भूमिदान करने वाले को भूमि, सुवर्ण दान करने वाले को दीर्घायु [७० वर्ष से ऊपर १२० तक दीर्घायु कहाता है] घर देने वाले को उत्तम घर चांदी रुपया देने वाले को उत्तम रूप, वस्त्रों का दान करने वाला चन्द्र लोक को, घोड़े का दान करने वाला अश्विनी कुमारों के लोक को बैल का दान करने वाला दृढ़ स्थायिनी लक्ष्मी को गौ का दान करने वाला सूर्य लोक को, सवारी पींनस पालकी आदि का तथा शय्या का दान करने वाला उत्तम स्त्री को, अभय दान देने वाला उत्तम ऐश्वर्य को, चावल जौ आदि धान्य का दान करने वाला निरन्तर सुख को और वेद विद्या देने वाला जन्मान्तर में ब्रह्म लोकके सुख को प्राप्त होता है। जो २ गुण जिस २ वस्तु में प्रधान है वही २ गुण सम्बन्धी सुख दाता को यहां भी और जन्मान्तर में भी निःसन्देह मिलता है। जैसे दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धा तथा त्याग के साथ किये अन्य काम उत्तम फल देने वाले होते हैं वैसे ही दान को भी जानो कि बहुत काल तक निरन्तर त्याग और श्रद्धादि सहित किया दानधर्म वैसे २ उत्तम फलों को देता है। लोक में भी सर्वत्र यह सिद्ध है कि अन्य लोगों को मान प्रतिष्ठा देने वाले को मान प्रतिष्ठा मिलती है। अन्य को गाली देने वाले स्वयं गाली खाते हैं। कूपादि में जैसा शब्द करो वैसी ही प्रतिध्वनि तुम को कूपादि से प्राप्त होगी। तुम किसी को धक्के दो तो स्वयं धक्के खाओगे इसी कारण--

धर्म एवहतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

धर्म का नाश करने वाले का स्वयं नाश होता धर्म को धक्का देने वाले समाजी आदि स्वयं धक्के खाते हैं। और रक्षा करने वालों की रक्षा भी धर्म करता है। सारांश यह कि जो कुछ जैसा दोगे उस के सारांश को वैसा ही पाओगे। इस लिये इस अगले उपदेश को सब लोग न भूलें कि--

तुलसी जग में आय के करलीजे दुइ काम। दीवे को टुकड़ा भलो लीवे को हरि नाम ॥

पाठक महाशय इस नित्यदान धर्म का विचार थोड़ासा यहां लिख दिया। इस की पद्धति यहां छपाने का अवसर नहीं है। पद्धति पृथक् छपेगी। मनु आदि महर्षि लोग नित्य २ दान करने की आज्ञा मनुष्य को देते हैं। तदनुसार हम लोगों को यथाशक्ति नित्यदान कर्म को भूलना नहीं चाहिये किन्तु यथाशक्ति अवश्य कुछ दान नित्य २ करना चाहिये। अब इस से आगे नित्य कर्मों में क्रम प्राप्त सर्वोत्तम कर्म, वेदाभ्यास का कुछ विचार संक्षेप से लिखा जायगा। तथाचमनु०।

वेदमेवसदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासोहिविप्रस्य तपःपरमिहोच्यते ॥ १ ॥
वेदाभ्यासोऽन्वहंशक्त्या महायज्ञक्रियाक्षमाः।
नाशयन्त्याशुपापानि महापातकजान्यपि ॥ २ ॥
वेदस्वीकरणंपूर्वं विचारोऽभ्यसनंजपः।
ततोदानंचशिष्येभ्यो वेदाभ्यासोहिपञ्चधा ॥३॥ दक्षः—

भावार्थः—तप करना चाहता हुआ ब्राह्मण नित्य नियम से वेदाभ्यास थोड़ा बहुत अवश्यमेव करे क्योंकि वेदाभ्यास करना ब्राह्मण के लिये बड़ा उत्तम तप है। यथाशक्ति नित्य २ वेद का अभ्यास पञ्चमहायज्ञ करना और नित्य सहनशील होना क्षमा करना ये तीनों काम महापातक सम्बन्धी पापों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। १—विधि पूर्वक गुरुमुख से वेद पढ़ना, २ वेद को एकाग्र चित्त से विचारना ३—घोखना ४—पाठ करना और ५—शिष्यों को पढ़ाना यह पांच प्रकार का वेदाभ्यास कहाता है। यह स्मरण रहे कि पञ्चमहायज्ञों में जो ब्रह्मयज्ञ वा स्वाध्याय कहाता है वह इस वेदाभ्यास से पृथक् है [उस की शास्त्रानुकूल उत्तम पद्धति भाषाटीका सहित छप चुकी है सम्पादक ब्रा० स० के पास डाकव्यय सहित =) को मिलती है]। उस स्वाध्याय यज्ञ का विचार ब्रा० स० में आगे लिखा जायगा। वेदाभ्यास के लिये शरीर और स्थान की शुद्धि विशेष कर दो ही बातें अपेक्षित हैं परन्तु ब्रह्मयज्ञ में बहुत विचारों की अपेक्षा है। तथा वेदाभ्यास करने वाले को शुद्ध स्पष्ट और सस्वर वेदपाठ करने का विशेष ध्यान रखना चाहिये जिस को सस्वर शुद्ध वेदपाठ न आता हो वह वेद के किसी प्रकरण रुद्री आदि को वा किसी सूक्त को वा किसी मन्त्र को ही ठीक शुद्ध किसी से पढ़ लेवे और नित्य २ उसी का पाठ कर लिया करे। धर्म शास्त्रों में कहे अनध्याय भी इस वेदाभ्यास पाठ में माने जायंगे। ब्राह्मणादि को वेदाभ्यास नित्य २ करना सर्वदुःख हरने वाला है। इत्यलम् ॥

ब्रा० स० अं० ८ पृ० ३५६ से आगे सनातन अहिंसा धर्म ।

परन्तु यह भी ध्यान रहे कि योगी पुरुष को किसी सुख वा सुखसाधन की प्राप्ति का लालच (जो हिंसा का बीज रूप है) नहीं रहता वा यों कहो कि हिंसादि सब अनर्थों के सूक्ष्म वासनारूप बीज को योगी पुरुष अपने योगाग्नि से ऐसा भून डालता है कि उस में से उद्बोधक सामग्री के मिलनेपर भी रागद्वेष रूप अङ्कुर पैदा नहीं होते [महाभारत के मोक्षधर्ममें एक कथा लिखी है कि एकसमय एक महायोगिनी महातपस्विनी बालब्रह्मचारिणी क्षत्रिय कन्या योगसिद्धियों को प्राप्त किये हुए संसार में विचर रही थी ज्ञानकाण्ड में बहुत ही चढ़ी बढ़ीहुईथी।उसकानाम सुलभा था।वह भूमण्डल पर जहां २ जातीथी सभी जगह राजा जनकका यश सुनती थी कि राजा जनक बड़ा ही ज्ञानी है। ऐसा सुनते २ सुलभाका विचार हुआ कि चलकर राजा जनक को देखना चाहिये कि कैसा ज्ञानी है। तब राजा जनक की परीक्षा करने की इच्छा से अपना अति सुन्दर रूप योगमाया से सुलभा ने बनाया था जिस को देखकर मनुष्य की क्या गति है देवता भी मोहित होजावें। जिसका ऊपरी काम विकार शान्त भी हो सुन्दर गया हो पर सूक्ष्म वासनारूप काम का बीज बना हो उसके बीजमें ऐसे अद्भुत रूप को देखते ही तत्काल कामांकुर निकल सकता है। सुलभा ऐसा रूप बनाकर योगशक्ति द्वारा आकाश मार्ग से उड़ कर झट पट राजा जनक की भरी हुई सभा में जाकर प्राप्त हुई। इस के रूप को देखते ही सब आश्चर्य में निमग्न हुए किसी को निश्चय न हुआ कि यह गन्धर्व कन्या है वा कोई साक्षात् देवी है कौन है? तथाऽपि राजमर्यादानुसार राजा जनक ने यथोचित आगवा स्वागत किया आसन दिया। जब सुलभा को यह निश्चय नहीं हुआ कि राजा मुझ को देख कर मोहित हुआ वा नहीं तब उस ने राजा की ओर देखते हुये योग द्वारा अपना चित्त राजा के अन्तःकरण में प्रवेश कर दिया कि देखूं मुझे देख कर राजा के मन में काम का विकार तो प्रकट नहीं हो गया। परन्तु राजा जनक ने भी जान लिया कि यह युवती अपना चित्त प्रवेश कर के मेरे मन की परीक्षा करती है। ऐसा जानकर राजा जनक बोले कि—

यथाचोत्तापितंबीजं कपालेयत्रतत्रवा ।
प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्व-मबीजत्वान्नरोहते ॥ १ ॥

एवंभगवतातेन शिखाप्रोतेनभिक्षुणा ।
ज्ञानंकृतमबीजंमे विषयेषुनजायते ॥ २ ॥

भावार्थ-जैसे गेहूं जौ आदि के बीजों को खप्पर में डाल के वा अन्य किसी प्रकार ऐसा सम्हाल कर भूंज दिया जाय कि जो देखने में न भुंजे अच्छे जौ गेहूं के समान ही दीख पड़ें पर वास्तव में उन की बीज शक्ति भुंज गई हो तो ऐसे जौ गेहूं बीज बोने के ठीक समय में खात डाले हुए गीले खेत में बोने पर भी नहीं उगेंगे भले ही उगने के लिये जो कुछ अच्छे २ उपाय हैं सब ही किये जांय तो भी उन में कदापि अङ्कुर नहीं निकलेगा। वैसे ही राजा जनक कहते हैं कि मेरे गुरु पञ्चशिखाचार्य ने अपने उपदेश रूप अङ्गारों से मेरे हृदय के वासनारूप काम के बीजों को भूंज डाला है। इस लिये हे योगिनी! तू मेरी परीक्षा क्यों व्यर्थ ही करती है] इस इतिहास के उदाहरण को दिखाने से हमारा अभिप्राय यह है कि अनुकूल वस्तु की विशेष चाहना ही मनुष्य के भीतर हिंसा का बीज है और जब तक यह कामना की वासना का बीज ज्ञानाग्नि से ठीक २ नहीं भूंजा जाता तब तक मानस वाचिक कायिक हिंसा से कोई प्राणी छुट्टी नहीं पा सकता। इस कामना रूप हिंसा के बीज को योगी प्रसंख्यानाग्नि से जला देता है जैसा कि राजा जनक का ज्ञान अबीज हो गया था। योगी ज्ञानी से भिन्न मनुष्यों को प्रथम सुख साधनों की कामना होती और उस सुख वा सुख साधन का कोई विरोधी भी होता ही है और उस विरोधी को हटाये विना कामना सिद्ध हो नहीं सक्ती इस लिये उस को अपनी कामना के विरोधी से मन में द्वेष पैदा होता है। मन में जो द्वेष द्रोह जिघांसा होती यही मानस हिंसा है। फिर वाणी द्वारा वही द्वेष प्रकट होता जिस को कोशनादि कहते हैं यही वाचिक हिंसा है। फिर जैसा मन में और वैसा ही वाणी से कहने बाद शरीर से जो ताड़नादि प्राणान्त पर्यन्त करता यह शारीरिक हिंसा है। इस से सिद्ध हुआ कि जात्यवच्छिन्न हिंसा से संसार के सब सुखों को दुःख समझ कर ज्ञानी योगी विरक्त पुरुष ही सर्वथा बच सकता है अन्य संसारी पुरुष कोई नहीं बच सकता।

अब देशावच्छिन्न [जो किन्हीं २ ख़ास २ स्थानों में हो सर्वत्र न हो अथवा

ख़ास २ स्थानों में न हो वह देशावच्छिन्न हिंसा कहाती है] हिंसा का विचार थोड़ासा दिखाते हैं। जैसे गंगातटादि तीर्थ स्थानों में सनातन धर्मी हिन्दु लोग मेढ़ा बकरादि जीव की भी हिंसा करना स्वीकार नहीं करते। मुसलमान लोग भी मस्जिद आदि पवित्र स्थानों में किसी को नहीं मारते। ईसाई लोग भी गिर्जा घर में किसी को मारना पसन्द नहीं करते। मुसलमान वा ईसाई आदि अनेक लोग केवल कबाब खाने आदि खास २ स्थानों में ही हिंसा करते और किन्हीं ख़ास २ पवित्र स्थानों में सर्वथा ही हिंसा नहीं करते। बगुला जल के भीतर ही मछलियों को ही मारता यह जात्यवच्छिन्न और देशावच्छिन्न भी हिंसा है। मछली मार २ बेंचने वाले कहारों की मछलियों में ही जात्यवच्छिन्न हिंसा है। अपराधियों को किसी ख़ास स्थान में शूली देना भी देशावच्छिन्न हिंसा है। इत्यादि प्रकार सोचने से ज्ञात होता है कि मनुष्यादि प्राणियों में अनेकरूप से यह देशावच्छिन्न हिंसा भी व्याप्त है परन्तु योगी विरक्त पुरुष किसी भी स्थान [जगह] में हिंसा नहीं करता तभी योगी हो सकता है इस कारण देशावच्छिन्न हिंसा से योगी ही सर्वथा बच सकता है अन्य नहीं—

कालावच्छिन्नहिंसा वह कहाती है जो किसी ख़ास २ काल में हो और जिस को चतुर्दशी आदि ख़ास तिथियों और पर्वादि पुण्य दिनों में कदापि कोई न करे वह कालावच्छिन्न हिंसा है। मद्यमांस के खाने वाले मुसलमानादि भी रोजादि व्रत के दिनों में हिंसा करना वा मांसादि खाना अच्छा नहीं समझते। किसी उत्तम तिथि आदि काल में अच्छा न समझ कर जो काम नहीं किये जाते उन का उस काल में न करना ही सिद्ध करता है कि वे काम वास्तव में अच्छे नहीं हैं यदि अच्छे होते तो पुण्य दिनों में उन का निषेध कदापि नहीं होता पर जो भी सब दिनों में उन कामों से नहीं बच पाता वह किसी ख़ास २ तिथि आदि में बचे तो भी कभी न बचने वालों से वह भी अवश्यमेव अच्छा होगा। और उत्तम पुण्य काल में दोष भी हिंसा करने वाले को अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक लगेगा। जैसे भार्यागमन रात में धर्मानुकूल और दिन में धर्मविरुद्ध हो जाता है वैसे ही काल विशेष में कोई काम अधिक अधिक हानि कारक होते यह युक्ति से भी सिद्ध है (प्रभाते-

मैथुनंनिद्रामद्यःप्राणहराणिषट्) प्रयोजन यह कि विशेष ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कालावच्छिन्न हिंसा से बचना भी कठिन है कोई बच भी जाय तो जात्यवच्छिन्न और देशावच्छिन्न हिंसा से नहीं बच सकता । परन्तु विरक्त योगी अवश्य बच सकता है ।

अब रहा समयावच्छिन्न हिंसा का विचार सो यह तो बहुत ही व्यापक है । जोकिसी अवसर (मौक़ा) वा निमित्त को देख कर हिंसा करना वह समयावच्छिन्न हिंसा कहाती है । इस समयावच्छिन्न हिंसा को भिन्न २ जाति के मनुष्यों ने अपने २ मान्य आचार्य वा पैगम्बरों की आज्ञानुसार प्रधान कर्त्तव्य धर्म माना हैं । इस में यह तो सभी मत वालों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधेदोषो हन्तुर्भवतिकश्चन ॥१॥ मनु०—

जो कोई नंगी तलवार लिये तुम्हारे सामने तुम्हारे मार डालने को निःशंक चला आता हो तो उस को विना शोचे विचारे तुम पहिले ही मार दो क्यों कि आततायी के मार देने में मारने वाले को कोई दोष नहीं लगता । क्यों कि वहां क्रोध ही क्रोध को मारता है । हिंसा को कर्त्तव्य वा अकर्त्तव्य मानने वाले सभी मतों (ईसाई, मूसाई, मुहमदी, सनातन धर्मी तथा आधुनिकधर्मी आदि) के मनुष्य इस बात को निर्विवाद ज्यों की त्यों मान लेंगे । और अपना धर्म तथा राज्य के विघ्नकारकों की हिंसा को भी सभी ईसाई आदि मनुष्य भी निर्विकल्प कर्त्तव्य समझते हैं यह भी समयावच्छिन्न हिंसा के अन्तर्गत ही है ।

अब ख़ास २ में इस का प्रचार देखिये । दीन मुहम्मदी कहते मानते हैं कि—अपने दीन के विरोधियों की हिंसा करने में कुछ दोष नहीं किन्तु ऐसा करने से हम को वहिश्त मिलेगा । अपने धर्म के लिये आत्महत्या का दोष भी प्रायः लोग नहीं मानते । हिन्दुधर्म शास्त्रों में भी अपनी हत्या आप करने में आत्मघाती को पाप लगना माना जाता है और अंग्रेज़ी क़ानून में भी आत्मघात का अपराध माना जाता है । परन्तु धर्म के लिये वा अपने देश की वा राज्य की उन्नति के लिये आत्मघात में अपराध प्रायः कोई नहीं मानता । सर्वोपरि अहिंसा धर्म की डुग्गी पीटने वाले जैन

लोग हैं पर अन्य मतावलम्बियों से ये लोग भी इस दर्जे का विरोध रखते हैं जिस को मानस हिंसा कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है। और यह नियम है कि जिस के मनमें द्रोह है वह अपना ठीक २ बल देखे और किसी राजदण्डादि का भय न हो तो अपने विरोधियों को शारीरिक हिंसा किये विना कदापि न चूके। इस से सिद्ध हुआ कि जैनादि भी इस समयावच्छिन्न हिंसा से बच नहीं सकते। एक मुंशी लेखराम जो कि कट्टर आर्य समाजी था अन्य मत वालों को खण्डन करने द्वारा बहुत कष्ट पहुंचाता था यह उसकी वाचिक हिंसा थी इस वाचिक हिंसा का परिणाम यह हुआ कि उसे एक यवन ने मारडाला। पर उस को आ०समाजियों ने अख़बारादि द्वारा बड़ा हुल्ला मचाया कि धर्म के लिये जान दे दी। अर्थात् कठोरता रूप अन्यों की हिंसा के कारण उस को मार डाला गया। धर्म के लिये जान देने का हल्ला सर्वथा झूठ है। प्रयोजन यह कि धर्म के लिये कोई आत्मघात करे तो उसे आ०समाजी भी अच्छा मानते हैं। सो यह बात ठीक भी है क्यों कि हम लिख चुके हैं कि शारीरिक हिंसा वास्तव में वही है जो प्रथम मन में द्रोह पैदा होने पश्चात् की जाय और धर्म के लिये जो हिंसा होगी वहां मन में प्रथम द्रोह होने पूर्वक नहीं होगी। धर्म के लिये जान देना वह कहाता है कि जो स्वयं हर्ष पूर्व धर्म की रक्षा के लिये अपनी जान दे देवे। क्या मुंशी लेखराम यह चाहता था कि मुझे कोई मार डाले?। धर्म की रक्षा के लिये अपना प्राण देने वालों में पञ्जाब के हक़ीक़तराय जैसे उत्तम सन्तानों का नाम लिया जा सकता है। वास्तव में धर्मकी रक्षा के लिये अपने प्राणों को भी [अपने जीवन को भी] तुच्छ समझ कर प्राण देने को तयार रहने वाले मनुष्यों का इस समय अभावसा है। यदि कोई आर्यसमाजी लोग वर्त्तमान गवर्नमेण्टसे जाकर प्रार्थना करते कि आज इतनी गौओं की हत्या रोक दी जावे और उन के बदले में हम लोगों के प्राण ले लिये जावें हमें यह हर्ष के साथ मंजूर है। तो गवर्नमेण्ट को अवश्य दया होती। और यह भी समझा जाता कि वैदिक धर्म का झूठा ही झंडा उठाने वाले आ० समाजी नहीं हैं किन्तु धर्मरक्षा के लिये प्राण देने को तयार हैं। यद्यपि गोरक्षा के लिये यहां कुछ लिखने का अवसर नहीं तथापि हम प्रसंगानुसार किंचित् अपनी रा

थ लिखे देते हैं गोरक्षा के लिये जो विचार पूर्व काल में आ०समाजादि के लोगों ने गोरक्षिणी सभादि के नाम से उठाये थे वे ठीक नहीं थे उन से गवर्नमेण्ट को कुछ और ही अभिप्राय सूचित हुआ इस कारण उस जोश को प्रकारान्तर से गवर्नमेण्ट ने एक बुद्धिमत्ता के साथ शान्त कर दिया। तिस के बाद में यदि कोई अखबारादि गोरक्षा के लिये कुछ लिखता है तो कुछ डरता २ कुछ हेर फेर से लिखता कहता है किन्तु साफ २ कोई नहीं लिखता कि ईसाई मुसलमानों में कोई २ गोरक्षा को अच्छा कहता मानता हो तो भी उन का धर्म गोरक्षा नहीं परन्तु वेदानुयायी हिन्दु आर्य कहलाने वालों में गोरक्षा को साक्षात् कोई अच्छा न कहे तो भी हम हिन्दुमात्र का धर्म है वैसे ही राजभक्त होना भी हिन्दुशास्त्र का परम कर्त्तव्य धर्म है। प्रयोजन यह कि वर्त्तमान गवर्नमेण्ट के तन मन धन से शुभ चिन्तक भक्त रहते हुए राजा को [नराणांचनराधिपः] के अनुसार भगवान् का ही अंश मानते हुए और किसी यवनादि के साथ भी कुछ झगड़ा टटा न करते हुए केवल राजा से नम्र भक्ति के साथ प्रार्थना करें कि हमें अपनी आज्ञा देकर भी गोरक्षा रूप अपने धर्म की रक्षा करना सर्वथा स्वीकार है। जब गवर्नमेण्ट के सामने हम लोगों का यह सच्चा हाल ज्ञात हो किन्तु हमारे बाहर भीतर कुछ भी अन्तर न हो तो राजा हमारी अवश्य सुनेगा उस के हृदय में अवश्य दया आवेगी और गोरक्षा भी फिर सहज में हो सकेगी। परन्तु इस में अभी तक हमारा ही दोष हमें दीखता है और हमारा ही ठीक होना कठिन है। जब कि हिन्दुधर्म का दृढ़तर सिद्धान्त है कि ईश्वरभक्त पुरुष जो कुछ चाहता है वही भक्ति के प्रभाव से ईश्वर को मंजूर करना ही पड़ता है तो ईश्वरांश राजा से हम लोग गोरक्षा का वरदान क्यों नहीं ले सकते ?। अर्थात् यदि राजभक्ति ठीक हो तो अवश्य ले सकते हैं। और ऐसी दशा वास्तव में हमारी ठीक हो तो राजा को कभी लेश मात्र भी हम से सन्देह न होवे।

पाठक महाशय हम अपने अहिंसा धर्म के विचार को भूल नहीं गये चलिये फिर वही विचार है। इस (जातिदेश०) योग सूत्र में कहे सार्वभौम अहिंसा धर्म से विरुद्ध जाति देश और काल के भेद से कहीं हिंसा को और किसी जात्यादि में अहिंसा को प्रबल कर्त्तव्य मानते हुए भी धर्मात्माओं की उत्तम कोटि में प्रविष्ट नहीं हो सकते किन्तु साधारण दशा के ही माने जाते हैं प-

रन्तु इस चौथी समयावच्छिन्न हिंसा को करते हुए संसारस्थ धर्मात्माओं की उत्तम कोटि में ही परिगणित होते हैं। जैसे भीष्म पितामह कौरव सेना के सेनापति दश दिन रहे उन दशों दिन प्रति दिन १००००दश हज़ार मनुष्यों की हिंसा कर लेने पश्चात् जलपान करते थे। इसी प्रकार द्रोणाचार्य का भी कुछ कम युद्ध नहीं था। भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम चन्द्र जी तथा पाण्डवादि बड़े २ धुरन्धर नामी धर्मात्मा वा अवतारों ने भी लाखों वा क्रोड़ों राक्षसादि की हिंसा की परन्तु उन लोगों को हिंसा का दोष केवल इसी कारण नहीं लगा कि वह हिंसा भी शास्त्रानुकूल कर्त्तव्य धर्म होजाने से अधर्म रूप हिंसा में परिगणित ही नहीं थी। इसी लिये कृष्ण भगवान् ने गीता रूप उपदेश करके अर्जुन को स्वधर्म युद्ध में प्रवृत्त किया। मनु जी कहते हैं कि—

न निवर्त्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्।

क्षत्रिय को चाहिये कि क्षात्रधर्म का स्मरण रखता हुआ संग्राम से कभी मुख न मोड़े। संग्राम में धर्मानुकूल युद्ध करते हुए जो लोग प्राण त्याग करते हैं। उनकी गति योगी संन्यासीकी बराबर शास्त्र ने कही बतायी है इसी लिये इस अहिंसा के प्रसंग में व्यास जी स्पष्ट लिखते हैं कि (क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति क्षत्रियों की हिंसा युद्ध के अवसर में ही धर्मानुकूल है अन्यत्र नहीं। यह युद्ध की हिंसा समयावच्छिन्न के उदाहरणों में है। और इसी के साथ (देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति) यह भी है कि देवता के लिये वा ब्राह्मण की रक्षा के लिये मारूंगा अन्यथा नहीं। यह भी समयावच्छिन्न हिंसा क्षत्रियों की युद्ध हिंसा के समान धर्मानुकूल होहै। इस हिंसा के ऊपर आ०समाजादि का बड़ाप्रबल कटाक्ष है। इस लिये हम यहां थोड़ासा विचार दिखाते हैं। युद्ध में सम्मुख लड़कर मरने वालों को योगी का सा जो फल लिखा है वह मध्यकक्षा के योगी संन्यासी की बात है परन्तु जो योगी समयावच्छिन्न हिंसा से भी सर्वथा बचकर योगसिद्धि प्राप्त करेगा उस का दर्जा युद्धादि वालों से बहुत आगे है। इस लिये देवता के लिये व ब्राह्मणार्थ होने वाली हिंसा से भी उस योगी को पृथक् मान ही लेना पड़ेगा अन्यथा उस की अहिंसा [यदि देवतादि के लिये उसे भी हिंसा करने पड़ी तो] सार्वभौम न होगी। चाहें यों कहो कि संसार परमार्थ दो मार्ग भिन्न २ हैं। जहां तक संसार है औरजहां तक हिंसा का बीज भोगाभिलाषा है वहां

तक हिंसा का प्रवेश है । इसी लिये देवलोक भी इस से शून्य नहीं इसी से वह भी संसारस्थ है । और परमार्थ मार्ग हिंसादि दोषों से सर्वथा ही निष्कंटक है उस में लेशमात्र भी हिंसादि दोष का प्रवेश हो तो वह परमार्थ ही न रहेगा । यही अंश योग के सूत्रभाष्यकार ने लेकर संसार के धन दौलत स्त्री पुत्र राजपाटादि सब को लात मार कर प्रबलता के साथ ठीक परमार्थ मार्ग में चलने वाले विरक्त योगियों के लिये योग का दरवाज़ा सार्वभौम अहिंसा को नियत किया है । यह इसे भी निर्विकल्प माननीय है कि परमार्थ के मार्ग में ठीक चलने वालों के लिये धर्मानुकूल युद्ध की वा देव ब्राह्मणार्थ हिंसाभी अनिष्ट होनेसे परित्याज्य है। उनको कदापि ऐसी हिंसा भी कर्त्तव्य नहीं यही योगसूत्र और भाष्य का भी अभिप्राय है । चाहें यों कहो कि जो ऐसी धर्मानुकूल हिंसा भी नहीं करते वेही पूर्ण विरक्त योगी होते हैं।

देवताओं के लिये जो हिंसा है वह श्रौत स्मार्त्त दो प्रकार की है । श्रौत हिंसा साक्षात् श्रुति प्रतिपादित सोमयागादि में विस्तार के साथ वर्णित है । द्वितीय देवमन्दिरादिस्थ देवताओं के निमित्त स्मृति पुराणादि के अवलम्ब से जो होती वह सभी स्मार्त्त हिंसा है । आस्तिक सनातन धर्मी द्विजों को श्रुति स्मृति दोनों का ही तुल्य प्रमाण है । को समय के हेर फेर से श्रौत हिंसा का तो समय ही नहीं उस के अधिकारी भी सम्प्रति नहीं रहे । इस कारण उस पर विवाद का अवसर भी विशेष नहीं आता क्यों कि उस श्रौत विषय के जानकार भी विरले ही होते हैं । अब रही यह स्मार्त्त हिंसा जो विन्ध्यवासिनी आदि देवीभगवती के सामने मेढ़ा बकरादि के बलिदान दिये जाते हैं । इस पर समाजी लोगों का वा अन्य [जो सनातन धर्म के मर्म को नहीं जानते ऐसे] प्रच्छन्न समाजियों का बड़ा भारी कटाक्ष है । सो हम उन दोनों ही प्रकार के समाजियों से निवेदन करते हैं कि वे लोग हमारे लेख को विचार की आंखों से देखें हमारा दावा है । हम दावे के साथ लिखते और कहते हैं कि इस विषय का हम युक्ति प्रमाणों से सबूत दृढ़ समाधान किये देते हैं यदि किसी को अहंकार हो तो वह जैसे चाहे हम से शास्त्रार्थ कर करा लेवे ॥

हमारा कहना यह है कि यह श्रौत स्मार्त्त दोनों प्रकार की विधि प्रतिपादित हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं किन्तु हिंसाभास है । इसी लिये (वै-

दिकी हिंसा हिंसा न भवति) यह वाक्य चला है। और जैनी तथा आ०स-माजियों का कथन सब अहिंसभास को लेता हुआ प्रवृत्त हुआ है। क्यों कि पाठक महाशय इस पर खूब ध्यान देवें वास्तव में हिंसा अहिंसा का तत्व यह है कि जो पुरुष जिस जीव की हिंसा करता है उस पर या तो उस के हृदय में उस पर क्रोध द्वेष द्रोह जिघांसा उत्पन्न होती है वही मन का द्वेष वाणी और शरीर में रूपान्तर में परिणाम को प्राप्त हुआ उस जीव की हिंसा कराता है। इसी प्रकार की हिंसा क्रोध पूर्वक कहाती है। सो ऐसी हिंसा मनुष्य की कीजातीहै तो राजा उस हिंसक को भी प्राण दण्ड देता है [फांसी पर लटकाता है] यदि क्रोध पूर्विका हिंसा पश्वादि की कीजाती है तो उस हिंसक को यथोचित पाप शास्त्रमर्यादा के अनुसार लगता है। द्वितीय लोभ पूर्वक हिंसा होती है कोई अधिक धन राज्यादि स्वयं लेनेके लिये अन्यको मार डालता और उस के धनादि का स्वामी स्वयं बन बैठता है। वा चोर डांकू आदि धनादि के लोभ से किसी को मार कर धनादि लेजाते हैं। कोई२ छोटे बालकादि को माल (ज़ेवर) के लोभ से मार डालते हैं। बहेलिया मांसचर्मादि को वेंच कर जीविका के लोभ से हिरणादि को मारते। मछली मारने वाले उन को बेंच २ जीविका के लोभ सेमारते तथा साम्प्रतिक बूचड़ (कसाई) लोग मांस चर्म वेंच २ कर जीविका के लोभ से गौ आदि पशुओं की हिंसाकरते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की हिंसा संसार में लोभ से कभी कम कभी अधिक सदा ही हुआ करती है। इस क्रोध और लोभ पूर्वक होने वाली हिंसा में देवताओं के लिये की बलिदान की हिंसा कदापि नहीं आ सकती क्यों कि जिस मेढ़ा बकरादि का बलिदान कोई देवी को देता है उस मेढ़ा बकरादि से कुछ द्वेष उस मनुष्य का नहीं है। यदि वह मनुष्य देवी देवता को दे कर मांस खाने के लोभ से हिंसा करता है। तो भी जो लोग देवी देवता का नाम भी न ले कर केवल अपना मांस तथा बल बढ़ाने के लिये बकरादि को मार २ कर खाजाते हैं उन से वह देवपूजा करके मांस खाने वाला अवश्यमेव बहुत अच्छा है क्यों कि मनुजी कहते हैं कि—

स्वमांसंपरमांसेन योवर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्यपितॄन्देवांस्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत् ॥अ०५।

शेष आगे

अथ शंकासमाधान विषय ॥

(शंका) भागवत के प्रथम श्लोक में कोई उवाच नहीं । २ द्वितीय श्लोक में महामुनि व्यास की बनाई भागवत है । जिन में व्यास अपने को महामुनि कहें वे श्लोक व्यासकृत कैसे हो सकेंगे । जो वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ व्यास भगवान ने बनाये हैं । ऐसा श्लोक ७ का कथन भी भागवत को व्यास से भिन्न का बनाया सिद्ध करता है । आगे "ऋषय ऊचुः" है व्यास उवाच है ही नहीं इत्यादि कारण भागवत व्यासकृत नहीं है ।

(समाधान) क्या यह कहीं का नियम है कि प्रथम श्लोक में कोई उवाच हो तभी वह पुस्तक उस का बनाया समझा जाय ? । महाभारतादि सैकड़ों ग्रन्थों के प्रथम श्लोकादि में उवाच नहीं तो क्या उन २ व्यासादिकृत उन पुस्तकों कोभी न मानोगे ? । यदि यह कहीं से नये मत के साथ नया कानून ही निकला है तो प्रथम संस्कारविधि तथा सत्यार्थप्रकाशभाष्यादि में "दयानन्दोवाच" क्यों नहीं लिखा गया ? । हां यह तो तु० रा० ठीक कहतेहैं कि व्यास जी अपने को महामुनि नहीं लिख सकते परन्तु स्वा० द० अपने को (श्रीमद्दयानन्दस्वामिकृते) ऐसा स० प्र० के प्रत्येक समुल्लासान्त में लिख सकते हैं ? सो तु० रा० से पूछना चाहिये कि स्वा० द० अपने को ऐसा क्यों लिख सकते तथा व्यास जी क्योंनहीं लिख सकते ? । कदाचित् तु० रा० सत्यप्रिय हों तो स्वीकार करलें कि स्वा० द० जी पहिले रोटी मांग २ खाते नंगे रहते समय दरिद्र थे श्रीमान् नहीं थे तदनन्तर ग्रन्थ बनाने के समय रुपया बटोर २ जमा करने लगे थे और इसी लिये [कि हमें सब लोग धन देवें] उन को मनु के नाम से झूठा ही श्लोक बनाकर सत्यार्थप्रकाश में लिखने पड़ा कि–

विविधानिचरत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् ॥

उत्तम २ रत्नादि धन संन्यासियों [परोपकारियों] को देना चाहिये परन्तु समाजियों को ऐसा उपदेश कर गये कि वे किसी भिक्षुक को मुट्ठी भर भिक्षा भी नहीं देते । तदनुसार स्वा० द० ने सोलह हज़ार रुपया आठ वर्ष में नगद जमा कर लिया था प्रेसादि पृथक् था जो उन के मरने से पहिले किसी को ज्ञात नहीं था कि इन के पास कुछ जमा है तो क्या है ? । इस से स्वा० द० का श्रीमान् [किसी दर्जे का धनी] होना जब सिद्ध है तो उन का अपनेको (श्रीमद्दयानन्द) लिखना भी सत्य था । ऐसा विचार सत्य होने से यदि तु०

रा० को स्वीकार है तो आगे को दूसरे स्वामी तु० रा० भी अब स्वा० द० से कम नहीं है इस लिये वेभीअपने को श्रीमत्स्वामि तु०रा० लिखा करें।और सत्य लिखना स्वा०द० का मान लें कि वे एक छोटे मोटे धनी ही थे इससे उन्हों ने अपने को पत्र २ में श्रीमद्दयानन्द लिखा तो क्या जैसे इन स्वा०द० का धनी होना सच्चा था वैसे ही क्या व्यास जी का महामुनि होना भी सर्वथा सत्य नहीं है ?। हां व्यास जी श्रीमान् नहीं थे इसी से उन को महामुनि लिखा गया श्रीमान् नहीं लिखा गया है। और तु०रा० जब स्वामी बनते हैं तो (अर्यःस्वामि०) पाणिनि सूत्रानुसार अपने को कभी भूल से भी आर्य न लिखें वा कहें क्योंकि तु०रा० स्वामि होने से आर्य कदापि किसी प्रकार भी नहीं हो सकते किन्तु अर्य भले ही कह लिया करें। वास्तव में तु०रा० की ऐसी निरर्थक शंका संसार में उन के उपहास बढ़ाने वाली अवश्य होंगी।

(शंका) संपादक ब्रा०स० ने पुत्री को माता लिखा तो उस की माता तुम्हारी कौन हुई ?।

(समाधान) हम इस का उत्तर वैसा ही [जैसा प्रश्न है] देना इसलिये उचित नहीं समझते क्योंकि संसार में जितनी बुरी निकृष्ट बातें हैं उन का कूड़ाघर ही तो आ०समाज है। और हमारा सिद्धान्त यह है कि (कथापि खलुपापानामलमश्रेयसेयतः) पापों की कथा कहना सुनना भी पाप है। एक दिन एक समाजी बोले कि यदि किसी के पिताका जन्म सूकर योनि में हो तो उस को किस वस्तु का पिण्ड दिया जाय ?। पाठक देखिये समाजी महाशय का ध्यान कहां गया ? आप समझ गये होंगे हम क्यों खोलें। मलिन भ्रष्ट बुद्धि वालों के ही ऐसे मलिन विचार हो सकते हैं। अस्तु हम उक्त शंका का समाधान संक्षेप से दिखाते हैं तुम लोग परमेश्वर को जगत् पिता कहने मानने से कदापि इनकार नहीं कर सकते क्योंकि इनकार करोगे तो हम तुम्हारे ही ग्रन्थों में जगत् पिता लिखा दिखावेंगे। जब कि परमेश्वर सब का पिता है तो सब पुरुष उस के पुत्र और सब स्त्रियां उस की पुत्री हुईं। और इस के अनुसार सब स्त्री पुरुषों का परस्पर भाई बहन का नाता हुआ। तो अब प्रश्न करने वाले बतावें कि जिस स्त्री के साथ तुम्हारा विवाह हुआ है वह तुम्हारे पिता ईश्वर की पुत्री नहीं थी ?। यदि थी तो तुम ने क्या उस नाते से भगिनी के साथ विवाह नहीं किया ?। और उस नाते से परमेश्वर तु-

म्हारा कौन लगा ?। यदि कहो कि परमेश्वर के पुत्र हम वैसे नहीं हैं जैसे अपने पिता के हैं। तो हम भी यही कहेंगे कि जगन्माता परमेश्वरी की वैसी पुत्री सब स्त्रियां नहीं हैं जैसी कि अपनी २ माता की हैं। वह हमारा लेख ऊंचे कक्षा के तत्वज्ञानियों के लिये था। तत्त्वज्ञान में विषयवासना भाग जाती है तभी ईश्वर की ईश्वरता कुछ दीख सकती है। पत्नी बुद्धि विषय-वासना तक है आगे नहीं तत्त्वज्ञान की दशा में सब स्त्रियां परमेश्वरी जगन्माता का रूपान्तर होने से मातृवत् हैं वहां पत्नी आदि व्यवहार ही नहीं। यदि कहो कि तुम तो संसारी हो तत्त्वज्ञानी नहीं तो सो ठीक है हम भी अपने को संसारी ही मानते हैं पर यह नियम कब है कि संसारी मनुष्य कभी परमार्थ की बात ही न कहे न लिखे। जब तुम स्वयं भी परमार्थ की अनेक बातें संसारी रहते हुए ही भजनादि में गाते वा कहते हो तब अन्य पर कुतर्क करना दंश मारना तुम्हारा वृश्चिकादिवत् समाजी होने से कुटिल स्वभाव ही कारणहै अन्य कुछ नहीं।

वर्ण वा जाति ॥

तु०रा० के निरर्थक लेखों को जो कोई साक्षर वा विचारशील ब्रा०स-माजी भी देखते होंगे वे भी समझ तो चुके ही होंगे कि ब्रा०स० के सामने तृणमात्र भी शक्ति तु०रा० की नहीं पर तो भी तु०रा० कुछ लिखें न तो करें ही क्या ?। इस वर्ण और जाति विषय में हम शास्त्र मर्यादानुसार उत्तम विचार ब्रा०स० भा० ३ अं० ५ पृ० २०५ से २०९ तक में लिख चुके हैं उस का फिर से पिष्टपेषण करना उत्तम नहीं। हम ने युक्ति प्रमाण दोनों से सिद्धकर दिया है कि ब्राह्मणादि शब्द जाति वाचक हैं। जिस में पाणिनिसूत्र (ब्राह्मोऽजातौ) का भी प्रमाण हम ने दिखाया था कि उक्त सूत्र का खास मतलब यह है कि ब्रह्मन् शब्द से अपत्य जाति अर्थ में अण् प्रत्यय के परे ब्रह्मन् के टि भाग का लोप नहो तब (ब्रह्मणोऽपत्यंजातिर्ब्राह्मणः) ऐसा उदाहरण बनेगा। और जहां जाति नहीं है वहां प्रत्युदाहरण (ब्राह्मंहविः। ब्राह्मःसम्बन्धः) इत्यादि होंगे। क्या (देहजन्मपरक नहीं) ये अक्षर किसी स्वतः प्रमाण वेद संहिता के हैं क्या अपत्य सन्तान बालक का देह अपने पिता से पैदा नहीं होता। अब हम फिर भी दावे के साथ तु०रा० को चैलेंज दिये देते हैं कि तुम थोड़ा होश में आजाओ और यदि कुछ भी शक्ति रखते

होतो दश मनुष्यों के सामने युक्ति प्रमाणों से हम सिद्ध करके सबको समझादें कि ब्राह्मण शब्द जाति परक है वा तुम समझादो कि जाति वाचक नहीं। अथवा संसार भरके विद्वानों में से चाहे जिस मत के किसी विद्वान् से इस का फैसला करा लिया जाय उस को मध्यस्थ कर लिया जाय। यदि इन में से कुछ न करके ब्रे० ब्र० के नाम से तु०रा० खाली चक्की भले ही पीसा करें। इन से से किसी विचार शील के समक्ष उन का पराजय छिप नहीं सकता। जैसे स्वा० द० से लेकर आज तक किसी समाजी को (त्रयो धर्मस्कन्धाः०) इस श्रुति का अर्थ नहीं आया वैसे ही अज्ञान की निद्रा में पड़े सामवेद भाष्यकार बनने की झूठी डींग मारने वा न्याय दर्शन का भाष्य निकाल के भी यथालब्ध संचय करने में लगे तु० रा० आदि को इतने काल में अब तक भी (समानप्रसवात्मिका जातिः) न्याय सूत्रका अर्थ नहीं आता। हमारे लिखे अनेक शास्त्रवाक्यों का अर्थ हमारा लिखा ठीक २ समझ कर उस का अभिप्राय अपने मतकी ओर झुकानेकी चेष्टा किया करते हैं यहभी हम खुले मैदान तु०रा० को चैलेंज दिये देते हैं कि उक्त न्यायसूत्र का अर्थ तुम्हारा सर्वथा अशुद्ध है इस से और भी पग २ में तु० रा० का पराजय सिद्ध होता जाता है। यदि तुम्हें कुछ भी पाण्डित्य का अभिमान हो तो यही बताओ कि (जिन की पैदायश एक समान हो वे सब एक जाति हैं) इस अपने पक्ष को कैसे सिद्ध करोगे ?। आजकल के डाक्टरों में आ०समाजी भी अनेक डाक्टर हैं उन्हीं से एकान्त में पूछते कि मनुष्य पश्वादि का मैथुन गर्भस्थिति और पैदायश एक सी है वा नहीं ? अथवा (आहारनिद्राभयमैथुनंच०) इत्यादि श्लोक को ही अपनी एक दृष्टि से ध्यान देके देखा होता तो जान लेते कि मनुष्य और पशुओं की उत्पत्ति आदि अवश्य एक सी है। तब क्या तुम्हारे मत में मनुष्य पश्वादि सब एक जाति हैं ?। क्या जिस अंग से मनुष्य पैदा होते उसी अंग से पशु पैदा नहीं होते ?। ऋषियों के वाक्य ऐसे युक्ति विरुद्ध कदापि नहीं हैं। हम उस अज्ञानान्धकार को प्रणाम करते हैं जिस ने तु०रा० आदि समाजियों पर ही सब ओर से चढ़ाई की है। इस बात के ठीक सिद्ध हो जाने पर कि (समानप्रसवात्मिका०) सूत्र का अर्थ तु० रा० को नहीं आने से उनका और भी अत्यन्त पराजय होगया। तब हम पीछे सूत्र का ठीक अर्थ पाठकों के लिये प्रकाशित कर देंगे। अभी इस अंश पर लिखना व्यर्थ समझ कर इस विचार को यहीं छोड़ते हैं।

(पौराणिक महत्व)

तु० रा० अपने वे० प्र० पृ० २४३ में लिखते हैं कि " पुराणों की पोल पाल का नमूना हमने कई वार दिखाया पर भी०श० और वेंकटेश्वरादि सभी ने चुप्पी साधी किसी ने उत्तर न दिया ।

(समा०) अब तुम ने पुराणों [प्राचीनों] की पोलपाल दिखाई तो नवीनों की भलाई तुम्हें स्वीकार ही होगी । सो तो नवीन ममगढन्त के स०प्र० आदि के लेख तुम अच्छे मानते ही हो । हम फिर भी तुम्हें सचेत करते हैं कि पुराणों की पोलपाल तुम जैसे मनुष्य क्या दिखावेंगे जिन को अपने आगे पीछे का भी होश नहीं किन्तु पुराणों की पोल कुछ भी न दिखा सकोगे उस से तुम्हारी नई पोल जो कुछ बाक़ी है सो भी और खलेगी जिस से आगे २ और भी पराजित लज्जित होगे । भागवत के खंडन के समाधान का नमूना पाठक लोग ब्रा०स० अं० ७ । ८ में देख ही चुके हैं ।

(शंका) कार्त्तिक शुक्ल प्रतिपदा के निर्णय में द्वितीय परिच्छेद में निर्णय सिन्धु वाले ने हेमाद्रि ब्राह्म का प्रमाण लिखा है कि—

तस्मिन्द्यूतं प्रकर्त्तव्यं प्रभातेतत्रमानवैः ।
तस्मिन्द्यूतेजयोयस्यतस्यसंवत्सरजयः ॥ १ ॥
पराजयोविरुद्धश्चलाभनाशकरोभवेत् ।
दयिताभिश्चसहितैर्नेयासाचभवेन्निशा ॥ २ ॥

अर्थात् प्रातःकाल जुआ खले, उस जुवे में जिस की जीत हो वर्ष भरतक उस की जीत रहेगी । हार वाले की हार रहेगी । और स्कन्दपुराण में भी लिखा है कि—

प्रातर्गोवर्धनंपूज्य द्यूतंचापिसमाचरेत् ॥

प्रातःकाल गोवर्धन की पूजा करके जुआ भी खेले । भला कहां तो पूजा कहां जुआ खेलना !!! इस से सिद्ध है कि लोगों को जुआ खेलना पुराण सिखाते हैं सो जब पौराणिक लोग "द्यूतंछलयतामस्मि" का पाठ करते हैं "चोरजारशिखामणिः" बखानते हैं तो फिर क्या या जब भगवान् इष्ट देव को ही जुआ का स्वरूप मान बैठे तब खेलने में क्या दोष ! ॥ शेष आगे

जब कि-मिताक्षराकार यह लिखतेहैं कि देशके बिना यजन नहीं होसक्ता इस से देश अर्थ से प्राप्त है, तब यह पूछा जा सक्ता है कि यजमान देश की प्राप्ति जान कर अनन्तर देश विशेष में प्रवृत्त हो भी जावे तो फिर अन्य देश विशेष की अप्राप्ति कैसे कहते हैं, क्योंकि प्राप्ति को तो पहिले जान ही चुके हैं, यदि प्रवृत्ति के आधीन प्राप्ति होती है तो देश की प्राप्ति का ज्ञान पहिले नहीं होना चाहिये। क्योंकि उस में पहले यजमान की प्रवृत्ति नहीं हुई है। यदि यहां ऐसा कहा जावे कि प्राप्ति दोनों प्रकार से हो सक्ती है, देश के विना यजन नहीं हो सक्ता इस लिये कार्य की अन्यथा असिद्धि से देशत्वरूप से सम देश भी प्राप्त है, और यजमान की समदेश में यजन करने की इच्छा होने से भी समदेश प्राप्त होता है, और जब यजमान की विषम देश में यजन करने की इच्छा होती है तो समदेशत्व रूप से समदेश की अप्राप्ति भी होती है इस रीति से अप्राप्त पक्षान्तर के प्राप्त करने से " समेयजेत " यह " नियम विधि " हो सक्ता है।

इस का यह समाधान हो सक्ता है कि ऐसा मानने पर एक ही वस्तु में प्राप्तत्व और अप्राप्तत्व दो विरुद्ध धर्म प्राप्त होते हैं और जिसमें प्राप्तत्व सिद्ध है उस में निरर्थक अप्राप्तत्व की कल्पना भी निरर्थक है ॥

किन्तु यह भी तत्त्वान्वेषण पर महात्माओं को जानना चाहिये कि जिस वस्तु में जहां तक लोकसिद्धत्व की कल्पना हो सक्ती है तहां तक अलौकिकत्व की उस वस्तु में कल्पना हो ही नहीं सक्ती। क्यों कि सिद्ध को असिद्ध मानना सर्वथा सुबुद्धि के विरुद्ध है। और इसी से जहां विधि वाक्य में "परिसंख्याविधित्व की सम्भावना हो सक्ती है तहां तक " नियमविधित्व " की कल्पना करना अनुचित है क्यों कि प्रवृत्ति मात्रको देख कर "परिसंख्याविधि" प्रवृत्त होता है पक्षमेंअप्रवृत्ति मात्रको देख करके"नियमविधि" प्रवृत्त होताहै। यहां अप्रवृत्ति को अवलम्बन करना ही " परिसंख्याविधि " से " नियमविधि" के पीछे पड़ने का बीज है। और जहां तक"नियमविधित्व" की कल्पना हो सकती है तहां तक " अपूर्व विधित्व " की कल्पना करना अयुक्त है, क्योंकि पक्ष में प्रवृत्ति " नियमविधि " की दृष्टि में रहती है और " अपूर्व विधि,, अत्यन्त अप्राप्ति को दृष्टि में रखता है। इसी से जान लीजिये कि अत्यन्त अप्राप्ति का ज्ञान प्रवृत्तिऔर पाक्षिक प्रवृत्ति कल्पना के विना उठाये कैसे हो सक्ता है। जब कि यह बात ठीक है तो यह अवश्य मानना पड़ेगा

कि " अपूर्व विधि " । " परिसंख्याविधित्व " और नियम विधित्व की कल्पना का सर्वथा असम्भव होने पर हो सकता है । इस से " समेयजेत " इस वाक्य के परिसंख्यात्व का सम्भव होने से इस में " नियमविधित्व " की कल्पना बुद्धि के सौन्दर्य्य का विरोध करती है ।

प्रकारान्तर से एक स्थल में परिसंख्या और नियम का संशय और विवेचन ॥

दो प्रकार के विधिवाक्य होते हैं, एक असली जो शास्त्र में पढ़े हुये होते हैं और दूसरे वह जो असली वाक्यों का जिन अर्थों में विचार द्वारापर्यवसान होता है उन अर्थों के बोधन करने वाले कल्पित वाक्य जैसे—ऋतौभार्य्यामुपेयात्" यह प्रथम और," ऋतौभार्य्यामुपेयादेव " यह दूसरा किस रीति से पूर्ववाक्य का दूसरे वाक्य के अर्थ में पर्य्यवसान होता है यह और स्थान में निरूपित है । यहां इस बात के जताने का यही प्रयोजन है कि—नियम और परिसंख्या दोनों के कल्पित वाक्यों के द्वारा संशय और उस का समाधान कहा जावेगा ॥

परिसंख्या और नियम दोनों ही के तात्पर्य बोधक वाक्यों में " एव " कार का प्रयोग अवश्य रहता है जैसे" भार्य्यामेवउपेयात्" इस परिसंख्यावाक्य में " भार्य्याम् " इस पद से उत्तर ' एव , पद है । और " ऋतौभार्य्यामुपेयादेव " इस नियम वाक्य में ' उपेयात् , इस विधिबोधक क्रियापद के अनन्तर ' एव , पद का प्रयोग है । इसी रीति से सर्वत्र ही " परिसंख्या , वाक्य और " नियम वाक्य " में ' एव , कार अवश्य रहता है । यही कारण है कि—परिसंख्या और नियम के स्थल में संशय वा भ्रम की उत्पत्ति होती है । इन दोनों के विवेचन के लिये पुनः प्रकारान्तर से स्वरूप दिखाया जाता है ॥

नियम ॥

जिस ' एव ' कार वाले प्रवृत्तिबोधक वाक्य के फलित वाक्यान्तर से भी प्रवृत्ति का अवश्यम्भाव प्रतीत होवे वह वाक्य 'नियम, पद बोध्य होना चाहिये । जैसे " ऋतौभार्य्यामुपेयादेव " ऋतु काल में भार्य्या को उपगमन करे ही इस ' एव ' कार घटित प्रवृत्ति के बोधक वाक्य का प्रति फलित वाक्य ' न तु नोपेयादिति , न कि नहीं जावे यही होता है,

जैसे „ ऋतौभार्यामुपेयादेव " इस मुख्य वाक्य से प्रवृत्ति का (अवश्य-होना) अवश्यम्भाव प्रतीत होता है उसी रीति से प्रति फलित वाक्य से भी प्रवृत्ति का अवश्यम्भाव प्रतीत होता है । अतः इस को नियम मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है ।

परिसंख्या

जिस ' एव , कार वाले प्रवृत्तिबोधक वाक्य के प्रतिफलित वाक्य से विधेय के विरोधी से निवृत्ति गम्यमान होवे अर्थात् जिस का प्रति फलित वाक्य एक „न"कार घटित होवे वह „परिसंख्या" विधि होता है । जैसे „समे-एव यजेत „ ' सम ही देश में यजन करे , इस ' एव, कार वाले वाक्य का प्रतिफलित वाक्य „ नतु विषमे" ' न कि विषम देश में , यह होता है । जैसे „ समे एव यजेत " इस मुख्य वाक्य से प्रवृत्ति प्रतीत होती है वैसी 'नतु विषमे , इस प्रति फलित वाक्य से प्रवृत्ति प्रतीत नहीं होती , किन्तु वह विहित देश से जो विलक्षण विषम देश है उस से निवृत्ति को बोधन करता है । इस से यह नियम नहीं कहा जा सका किन्तु इस को परिसंख्या ही मानना उचित है ।

इस से यह सिद्ध हुआ कि विधि बोधक क्रिया पद में ' एव , कार लगाने से नियमविधि होता है । और कारक में ' एव , कार जोड़ने से „ परि संख्या विधि " होता है । अर्थात् जिस में ' एव , कार जोड़ा जाता है उस के विरोधी की निवृत्ति उस के प्रतिफलित वाक्य से प्रतीत होती है, क्रिया साध्य रूपा होती है और कारक सिद्ध स्वरूप होता है, साध्य विरोधी साध्यान्तर नहीं होता,किन्तु साध्याऽभाव ही होता है और सिद्ध का सिद्धान्तर विरोधी होता है । इस से ही ' उपेयादेव , इस का प्रतिफलित वाक्य ' नतु नोपेयात् , ऐसा होता है । और ' समे एव यजेत, इस का प्रतिफलित वाक्य ' नतु विषमे ; ऐसा होता है । अतः „ऋतौ भार्यामुपेयात „ इस वाक्य में ' उपेयादेव , इस रीति से क्रिया के साथ 'एव, पद जोड़ने से साध्य क्रिया जो उपगमरूपा है उस का जो अभाव उपस्थित है वही विरोधी पड़ता है उसी की निवृत्ति ' नतु नोपेयादिति , इस प्रति फलितवाक्य में प्रतीत होती है, न कि उस काल में कोई साध्यान्तर विरोधी उपस्थित है जिस के अभाव का बोधक प्रतिफलित वाक्यान्तर कल्पित होता, इस से यहां पर प्रतिफलित वाक्य में भी मुख्य वाक्य के समान, प्रवृत्ति ही बोधित हो-

ती है, क्यों कि उपगम के अभाव का अभाव उपगम स्वरूप ही होता है। यहां 'उपेयादेव, ऐसा कहने से किसी विद्वान् को 'नतु पचेत्, ऐसा प्रतीत नहीं होता, अतः क्रिया में 'एव, पद अन्वित होने से प्रतिफलित वाक्य से निवृत्ति की प्रतीति नहीं होती है,। इस रीति से क्रिया में "एव" पद वाले वाक्य का नियम होना सिद्ध हो गया।

और यदि "ऋतौ भार्यामुपेयात्," इस उदाहरण वाक्य में 'ऋतौ, इस अधिकरण बोधक पद में 'एव, कार जोड़ दिया जावे तो "ऋतावेवोपेयात्" इत्याकारक परिसंख्या वाक्य होजावेगा, क्यों कि इसका प्रति फलित वाक्य 'नत्वनृतुकाले, 'न कि ऋतु भिन्न काल में, ऐसा एक नकार वाला होगा जैसे "ऋतावेवोपेयात्" ऋतु काल ही में जावे, यह मुख्य वाक्य प्रवृत्ति को बोधन करेगा, वैसे "नत्वनृतुकाले" यह प्रतिफलित वाक्य प्रवृत्ति को बोधन नहीं करेगा किन्तु ऋतु काल का विरोधी जो भिन्न स्वरूप ऋतुभिन्न काल है उस से निवृत्ति को बोधन करेगा। अतः कारक में 'एव, पद जोड़ने से यह वाक्य परिसंख्या विधि ही हो सकेगा। [परन्तु ऐसे इस स्थल में उक्त वाक्य को परिसंख्या वाक्य कल्पना नहीं किया जाता है क्यों कि "पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया" इस वाक्य से शास्त्र ऋतुभिन्न काल में भी भार्या प्रीति के लिये उपगमन में अनुज्ञा दे रहा है]

इस रीति से 'समे एव यजेत, यह वाक्य भी परिसंख्या विधि हो सक्ता है न कि नियमविधि, क्यों कि प्रति फलित वाक्य निवृत्ति ही को बोधन करता है। इस उदाहरण में मिताक्षराकार लिखते हैं कि जब यजमान विषम देश में यजन करने की इच्छा करता है तब सम देश अप्राप्त हो जाता है, अतः उस काल में "समेयजेत" यह वाक्य स्वार्थ में विध्यर्थ हो सक्ता है। क्यों कि स्वार्थ उस काल में अप्राप्त है। और विषम देश की निवृत्ति अर्थ से ही सिद्ध है, क्यों कि विषम देश में यजन करने से याग यथाशास्त्र अनुष्ठित नहीं होगा। और विहित देश ही से याग की सिद्धि हो जाती है।

इस पर यह आपत्ति हो सक्ती है कि जहां आर्थिकी निवृत्ति होती है वही वाक्य तो "परिसंख्याविधि" कहाता है और जहां साक्षात निषेध का बोधक नकार पठित होता है उस को "निषेध वाक्य" सर्व विद्वान् कहते हैं किन्तु "परिसंख्याविधि," नहीं, आप के मत के अनुरोध से तो परिसंख्या का उदाहरण दुर्लभ ही हो जावेगा। शेष आगे

अथ दशावतार में वैदिकमंत्रप्रमाण प्रदर्शन—

१—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः० । एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति ॥ इतिश्रुतेः ।

२—प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण ॥ मृगो न भीमः कुचरगिरिष्ठाः ॥ (सामउत्तरार्चिक अ० ९ प्र० ३मं०९) ॥ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु । अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० मं०१ अ० १२ सू० १५४ ॥

३—ऋषिं प्रसूतं कपिलं । श्वेताश्वतर अ० ५ मंत्र २

४—दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय । गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनं तं तुषयन्ती बिभर्त्ति ॥

५—अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाहू । तत्राददिष्ट पौंस्यम् ॥

६-भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अभ्येति पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात ॥१॥ साम० उत्तरार्चिक प्र० ७ अर्धप्र० २ मंत्र ५

७—कृष्णां यदेनीमभिवर्प्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ॥ ऊर्ध्वं भानुंस् सूर्य्यस्यस्तभायन्दिवो वसुभिररतिर्विभाति ॥ १ ॥

८—प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानाञ्जनिमा विवक्ति ॥ महिव्रतः शुचि बन्धुः पावकः पदावराहो अभ्येतिरेभन् ॥ १ ॥

९–सयोजयत उरुगायस्या जूतिं वृथा क्रीडन्तम्मिमतेनगावः। परीणसङ्कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवाहरिर्ददृशे नक्तमृजूः ॥

१०–इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधेपदम्। समूढमस्य पाᳪसुले ॥ यजु० अ० १८ मं० १७ ॥

११–आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनीनाम् ॥ संक्रंदनोऽनिमिषएकवीरः शतᳪसेना अजयत्साकयिन्द्रः ॥

॥ उक्त मंत्रों का भाषा भावार्थ ॥

१–इन्द्र, सूर्य, जल अग्नि वायु आदि अनेक मूर्ति परमेश्वर कहलाता है जो एक ही परमात्मा को ब्राह्मण लोग कर्मांग में इन्द्रादि नानानाम रूप स्तवन कर यजन करतेहैं वोहि परमात्मा उपासक के लिये नानावतार धारण करताहै।

२–वह नृसिंह वराह रूप से मृग रूप और रामकृष्ण परशुराम रूपों से असुरों के भयदाता कच्छप मीन रूप से जलचारी। वामन रूप से वेदवाणी में स्थित विष्णुजी अपने पराक्रम से स्तुति किये जाते हैं जिस वामन रूप के तीन बड़े पाद प्रक्षेपों में सब भुवन निवास करते हैं।

३–भगवान् ऋषि रूप कपिल नाम अवतरता भया इति ॥

४–दशावतारों के समान अद्भुत कपिल जीको परिसमाप्ति योग्य ब्रह्मयज्ञ के लिये प्रेरणा करते हैं और माता जी प्रजापति द्वारा गर्भ में स्थापित निवासन चाहते गर्भ को अपना उपदेशक जान कर प्रसन्न होति धारण करतीहैं।

५–परशुराम रूप परमेश्वर ने सहस्र बाहुके लिये क्रोध को धारण किया उस समय उन का पराक्रम प्रदीप्त हुआ।

६–भद्र (राम) भद्रा सीता जी के साथ प्रकट हुये तब जार (रावण) ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण अपनी भगिनी सीता को हरण किया, पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सन्मुख होकर कुम्भकरण आदिक शुद्ध ज्ञानी जी वात्माओं के साथ श्रीराम जी की सामीप्यता को पाया ॥

७—अब ब्रह्म महानारायण की योषा माहामाया को नन्द गृह में प्रकट करते हुए जायमान गमनशील कृष्ण वर्ण देहरूप माया को अपने तेज से व्याप्त करता है तब मानस सूर्य के आत्मा को ऊंचा स्थित करते अर्थात् योग निष्ठ होते धन देहाभिमान से रहित होते श्रीकृष्ण नाना विधि से प्रकाश करतेहैं अर्थात् भक्तोंपर अनुग्रह दृष्टि से और शत्रुओं पर क्रोध दृष्टिसे।

८—शुक्र की समान स्तोत्र के उच्चारण करता वेदाभिमानि देवता अवतारों के जन्म को कहता हैं पृथिवी धारण करने वाले दीप्ति तेज पापों से शुद्ध करने वाले श्री वाराहजी शब्द करते हुए देवताओं के समीप जाते हैं॥

९—वह वराह जो विष्णु की गति को अपनी देह में युक्त करते हैं, इन्द्रियां उस मायारूप से क्रीड़ा करने वाले को नहिं जान सकतीं, वह तीक्ष्ण शृंग वाला पृथिवी को बहु पदार्थवती करता है दिवस अर्थात् देव संचार काल में विष्णु रूप दीखता है और रात्रि अर्थात् असुरों के संचार काल में वाराह रूप दीखता है ॥

१०—अमरेश त्रिविक्रमावतार वामन जी इस विश्व को उल्लंघन करते हैं, तीन पग रखते हैं एक भूमि पर दूसरा अंतरिक्ष में तीसरा स्वर्ग में इस का चरण चतुर्दश भुवनमय ब्रह्माण्ड में सम्यक् अंतर्भूत होता है ॥

११—वराह कूर्म वामन नृसिंह कृष्ण बलदेव निष्कलंक परशुराम मत्स्य रामावतार वाले परमेश्वर ने देवताओं वा देवांश मनुष्य आदि के साथ असुरों की असंख्य सेनाओं को जीता ॥

इत्थं यथामति श्रुत अन्वर्थ प्रदर्शन किया है विशेष भाष्य वार्त्तिकों में देखना इस प्रकार आस्तिकमूर्धा महाशयो, अमूर्त मोक्ष में मूर्त को द्वार मान कर " यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं। तावन्मदाराधनतत्परो भवेत् " इति राम गीता गीतरीत में प्रीत धर सर्वात्म दर्शनावधी नानावतारों का श्रवण कीर्तन आराधन रूप अनन्य भाव में तन मन धन को समर्पण करतेहैं॥

यतः—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वंतोपि बहवो यन्न विद्युः ॥ आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठ०उ० वल्ली०२ मंत्र ७

अर्थ—यह परमात्मा बहुत पुरुषन करि श्रवण करनेकों भी प्राप्त होने यो-

य नहिं और अन्य अभागी अनेक पुरुष सुनते हुए भी या कों जानते नहीं किंवा इस का वक्ता भी आश्चर्यरूप (अनेक पुरुषन विशे कोई एक) ही होते हैं तैसे सुनि के भी इस का प्राप्त होने वाला निपुण पुरुष अनेकन विश कोई एक ही होते हैं जातें ऐसें है। याते-निपुण आचार्य से शिक्षण को पाया हुआ या परमात्मा को ज्ञाता आश्चर्यरूप (कोई कहीं) होते हैं श्री भगवद्गीता भी उद्गीरती है कि—

आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनं-आश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यःशृणोति=श्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित् ॥

गीता अ० २ श्लो०२९

दोहा—जो याको देखत कहैं, बोलत अचरज लाय।
सुने अचंबो सो लगे, यह जानो नहिं जाय ॥१॥

सारांश—कुतर्क और नास्तिकाभास, को दूर कर परमात्मा परायण होना श्रेयस्कर है —

यतः=भक्त्यामामभिजानाति यावन्यश्चास्मितत्वतः ।
ततोमांतत्वतोज्ञात्वा विशतेतदनंतरम् ॥ १ ॥

गीता अ० १८ श्लो० ५५

दोहा- मो को जाने भक्ति करे, जीत होय जुं भाय ।
मोहि जान के तत्वनो मेरो भक्ति कराय ॥१॥

मन्मनाभवमद्भक्तो मद्याजीमांनमस्कुरु ।
मामेवैष्यसिसत्यंते प्रतिजानेप्रियोसिमे ॥ १ ॥

गीता अ० १८ श्लो० ६५

दोहा—मो को यज तूं नम्र ह्वै, मनमोही में राख ।
अंत समे ह्वै मोहिमे, प्यारो तूं यह साख ॥१॥

इति अलं.

अयाची म० म० पाटण (गुजरात)

ब्रा०स०अं० ८ पृ० ३७६ से आगे शिवचन्द्र शास्त्री का लेख—

और इन देवताओं की शक्ति संसार के सृष्टि, स्थिति, विनाश के लिये अटल होती है। न जाने यह कौन कहता है कि जन्म लेकर कुछ दिन ठहर कर यह सब लोग मर गये रहे श्रीरामचन्द्रादि सो उन के विषय में सभी जानते हैं कि—उन की उत्पत्ति रावणादि के वध का कारण थी ईश्वर के सिवाय उन को कौन नाश कर सकता था—यदि यह कहिये कि—वह मनुष्य थे तो जन्म लेकर ऐसा कर्म करने वाले मनुष्य को संसार में कहीं दिखलाइये जैसा रामचन्द्र ने किया था। जो कि लिखा है:—

भये प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी।
हर्षित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप निहारी॥
लोचन अभिरामा तनुघनश्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषण वनमाला नयन विशाला शोभा सिन्धुखरारी॥

इस प्रकार के अद्भुतरूप का वर्णन करने के अनन्तर फिर लिखा है:—

माता पुनि बोली सोमतिडोली तजहुतात यह रूपा।
कीजै शिशुलीला अतिप्रिय शीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होय बालक सुरभूपा।
यह चरित जो गावहिं हरि पद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥

इन सब कारणों से निश्चय है कि—वह सब ईश्वरांश थे तब यह प्रश्न अवश्य उदय होता है कि—तब ऐसे स्वरूपों की नकल के पूजने से जिन को उक्त देवों ने कुछ काल के लिये ग्रहण किया था क्या लाभ हो सकता है?। इस से उस के तात्विक स्वरूप की क्यों न उपासना की जाय? तिस का उत्तर यह है कि उन रूपों की प्रतिमाओं के पूजन का आशय यह है कि:—वैसे रूपों से जिन्हों ने अपने भक्तों की गाढ़ी भीर निवारी है उन्हीं स्वरूपों से जिन्हों ने अपने भक्तों को अगण्य उद्दण्ड वरदान दिये हैं अपेक्षा करनेपर भक्त समुदाय को उसी रूप से जिन के दर्शन हुये हैं जो रूप अद्यापि उन भक्तों के तपोजर्जरित नेत्रों के सन्मुखो न होने के उन्मुख रहते हैं, कहिये भला उन रूपों का स्मरण भगवद्भक्त क्योंकर भुलावें? उन रूपों में ईश्वर सत्ता संचरित करके भक्त लोग इसी लिये पूजते हैं। और जब—

भावेहि विद्यते देवस्तस्माद्भावोहि कारणम् ।

तब उन को इस से सब कुछ मिल सकता है । हमारे मुंशी जी जो यह कहते हैं कि उन के कर्मों का अनुकरण करने ही से सद्गति मिल सक्ती है सो हम को यह युक्ति बड़ी भयावनी दीखती है । मुंशी जी को उचित था कि सर्वसाधारण को शिक्षापूर्वक भय दूर करने के लिये पहले आप ही किसी कुबलयापीड़ जैसे हाथी को मारते अथवा रावण सरीखे बली तो आज कल कहां थे पर जो लभ्य थे जैसे रूस फ्रांस, जर्मन, इन्हीं में किसी से मुठ भेड़ करते वा सहस्र की तो कौन कहे, कभी दश ही पांच सर्पों की शय्या पर आप एकाधनींद मारते तथा कुछ नई अपनी सृष्टि भी रचते अथवा एकाध बार अकाल में भुक्खड़ों का पालन ही करते यदि यह भी न हो सक्ता तो एक बार आंखें खोलकर मूर्त्तिपूजकों का संहार ही कर बैठते तो मालूम हो जाता कि--उन महात्माओं के अनुकरण से क्या लाभ है ? और सच्चा ज्ञान भी मिल जाता फिर आप के चेले भी आप का अनुकरण करते सो कुछ न करके केवल दूसरों के लिये लिक्खाड़ी झाड़ना तो आप के अज्ञान को ही प्रकट करता है इस में मुंशी जी की छठीं युक्ति का भी खण्डन हो जाता है ।

(७-८) अब आगे लेखराम जी का यह लेख है कि "शरीरों के घटने बढ़ने और रोग दोषादि से युक्त रहने का स्वभाव है किन्तु परमेश्वर में उन गुणों की प्रवृत्ति न होने से उसका स्वरूप नहीं" वाह ! अच्छी बेजड़ कल्पना है । परमेश्वर घटता बढ़ता नहीं तो यह चराचर सृष्टि स्थिति लय होते किस प्रकार हैं जब कि वेदों में लिखा है:--

अग्निर्मूर्द्धा दिवःककुत्पतिः पृथिव्याअयम् । अपाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति॥ तथैव। अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

अर्थात् "अग्नि उस का शिर, जल आदि उस के वीर्य हैं एवं यह संसार जिस का हृदय है" ऐसा विराट् रूपपरमेश्वर प्रतिदिन घटता बढ़ता दिखाई देता है तब क्योंकर घटने बढ़ने का निषेध है केवल यह मुंशी लेखराम का

भ्रम है कि-वह चिद्रूप परमेश्वर के गुणों के वर्णन से भूलकर उस को घटने बढ़ने की शक्ति से हीन समझते हैं जिस के लिये "सर्वशक्तिमान्" शब्द का विशेषण दिया जाता है, वह घटने बढ़ने की सही सी शक्ति से कोरा नहीं हो सक्ता तब बात यह है कि-सर्वशक्तिमान् होने पर भी उस पर कुछ ऐसे गुणों का आरोप करना कि जो सर्वसाधारण की निगाह में भद्दे जंचें अन्याय है-यह एक प्रश्न उठता है किन्तु उस के लिये हम ने बहुत कुछ लिखा है कि भक्तों का भय प्रत्यक्ष रूप से मोचन करने में परमेश्वर की परमकृपालुता का ही पता लगता है मनुष्यों के शरीर में उस के प्रवेश करने से उस की कुछ भी हतक इज्जती (मान हानि) नहीं है क्यों कि मनुष्य का स्वरूप धर कर भी उस ने जो कर्म किये हैं वैसा सब कहना दूसरे की शक्ति से बाहर है इस प्रकार मुंशी जी को समझा कर एक शब्द प्रमाण भी हम लिखे देते हैं जिस में उसका अवतार अक्षर प्रत्यक्षरसिद्ध होता है। स्मरण रहे कि दूसरे प्रमाण प्र-संगान्तर में उपस्थित हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामियुगेयुगे ॥

जिस पुस्तक को देखकर स्वा० द० सदृश कट्टर विद्वान् को भी सर्वथा सत्य कहना पड़ा है जिस के नीति गर्भ, धार्मिकता गर्भ, सदाचार शिक्षापूर्ण, प्र-भावशाली उल्लेखों को देख कर आधुनिक पूर्वी और पश्चिमी दोनों दल के सभ्यों का शिर घूर्णित होता है उसी "महाभारत" में श्रीकृष्ण का कहा हुआ यह वाक्य लिखा है कि-"युगयुग में मैं उत्पन्न होता हूं" ॥ [क्रमशः]

प्रेषक-पण्डित शिवचन्द्र शास्त्री-जमालपुर — मैमनसिंह

निवेदन यह है कि एक दिन सत्यधर्म प्रचारक अख़बार को पढ़कर कि-सी समाजी महाशय के अनुरोध या प्रतिरोध से लाला मूलचन्द्र जी ने कईएक प्रश्न किये। जिनका उत्तर समाजी महाशयों से कुछ न बन पड़ा । अन्त को उन महाशयों ने वह प्रश्न उक्त अख़बार में मुद्रित कराये और लाला मुन्शी राम से उत्तर मांगे अन्त में लाला मुन्शीराम की तरफ से सर्वसमाजियों को सूचना की गई कि कोई इन का उत्तर दे परन्तु आज तक किसी ने कुछ उ-

त्तर नहीं दिया जिस को अरसा वर्ष भर का हो गया होगा। अब प्रार्थना यह है कि वह शङ्का समाधान विषय और मु० मूलचन्द्र के प्रश्न नीचे लिखे जाते हैं कृपया यथावत् अवलोकन कर सम्यक् समाधान कीजियेगा उचित है कि सर्व ग्राहकों के विदितार्थ निज पत्र में उत्तर लिखें ॥

प्रश्न—मुक्ति क्या है अगर प्रकृति के सङ्ग से छूट जाने का नाम मुक्ति है तो अव्वल ही अव्वल प्रकृति के साथ जीव का संग किस तरह हुआ था और जीव अनादि काल से बहुत हैं या पहिले एक था फिर बहुत हुए ॥ उत्तर—मुक्ति का लक्षण महात्मा गौतम जीने न्याय दर्शन में यह किया है तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।न्या० १।१। २२ यानी दुःख से बिलकुल छूट जाने का नाम अपवर्ग या मुक्ति है उस दुःख से छूटने की तरकीब या सिलसिला भी महात्मा गौतम जीने बतलाया है सूत्र "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तराभावादपवर्गः। न्या० १। १। २" जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है तो फिर उस से पैदा होने वाले झूठ इसद फरेब व हिरस वगैरा दोष नष्ट हो जाते हैं जिस का नतीजा यह होता है कि (प्रवृत्ति) ख़ाहिशात दुनीयवी मुअद्दम हो जाती है और उस का लाजमी नतीजा है कि जन्म का सिल सिला समाप्त हो जाय। जब जन्म के चक्कर से छुट्टी पाई तो दुःख जो ताल्लुकात जसमानी का लाबदी नतीजा है खुद ब खुद दूर हो गया पस दुःख दूर होकर मुक्ति प्राप्त हो जाती है इस जगह जो लफज मिथ्याज्ञान का लिखा है उसी को योगदर्शन की इस्तलाह में अविद्या कहते हैं जिसका लक्षण महर्षि पतञ्जलि जी ने इस तरह पर किया है "अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ यो० सूत्र जिस का मतलब यह है कि फानी इशयाद को गैर फ़ानी नापाक को पाक दुःख को सुख और गैरजीरूह को जीरूह समझने और मानने का नाम अविद्या है यह अविद्या की ऐसी मुकम्मल तारीफ़ है कि जहालत की तमाम किस्में इस के अन्दर आजाती हैं इस से आगे योग दर्शन में लिखा है "अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्। याने तमाम दुःखों के दुःख पैदा होने का क्षेत्र अविद्या है बस यह अविद्या ही तमाम दुःखों की जड़ है जब तत्व ज्ञान से इनसान हर एक चीज़ की उस की असली हालत को देखता

हुआ प्रकृति और उस के ताल्लुकात को छोड़कर आनन्द को प्राप्त होने की आशा करता है तब योगाभ्यास के ज़रीया से ईश्वर को पाकर मुक्ति के सुख को अनुभव करता है जीव, ईश्वर, औ प्रकृति यह तीनों पदार्थ अज़ली व अब्दी हैं इस लिये इस के मुतल्लक़ पहिले पीछे का सवाल नहीं हो सकता जीव हमेशा अनेक हैं और अनेक ही रहेंगे। पद्मसिंह शर्म्मा हरद्वार

इस पर लाला मूलचन्द्र के विकल्प

मेरे परम मित्र महाशय स्वामी लाला मुन्शी राम साहिब दामइक़बाल फ़ुक़रा नमस्ते। आपके सत्य धर्म प्रचारक हरद्वार मतबुआ ७ फागुन सं० १९६० के सफ़ा १५ में परम मित्र स्वामि पद्म सिंह साहिब की जानब से दरज है जीव प्रकृति ईश्वर अज़ली याने नित्य हैं और दुःखों के छूट जाने और ख़्वाहिशात दुनियवी के ज़वाल होने का नाम मुक्ति है जिस के जन्म का सिलसिला मुनक़ता हो जाय जीव हमेशा अनेक हैं और अनेक रहेंगे इस में चन्द्र उमूर क़ाबिल दरयाफ़्त हैं ॥ (१) मुक्ति नाम छूटने कर्मों का है जब जीव कर्मों से छूटा तो शान्ति को प्राप्त हुआ शान्ति को प्राप्त होना जीव का इन्तहा को पहुंचना है इन्तहा जीव का माना जावे तो इब्तदाई भी माननी पड़ेगी पस जीव अज़ली न रहा (२) अगर ख़्वाहिश के अदम को मुक्ति कहा जावे तो ख़्वाहिश दिल का कर्म है कर्ता इस का जीव है कर्म मुअदम होने से अब्दी न रहे (३) कर्म और जीव दोनों का वजूद नित्य है जब इनका वजूद दुनियां में न रहा तो यह दोनों अविनाशी किस मुक़ाम में क़यामपज़ीर रहेंगे (४) अगर जीव हर एक जिस्म के अलहदा होने की वजह से अनेक हैं तो लाज़म आता है कि एक ही पुरुष से एक ही पुरुष की उत्पत्ति हो हालांकि बरख़िलाफ़ इसके एक ही पुरुष के चार पांच बच्चा होते हैं (५) अगर अज़ल से जीव अनेक मिक़दार मुक़र्रर होवें तो मुक्त और लावल्द होने पर जीवों में कमी नमूदार हो लेकिन मरदुम शुमारी से पाया जाता है कि हमेशा अधिकता होती रहती है सन् ७१ से ८१ में सन् ८१ से सन् ९१ में सन् ९१से सन्१९०१ में अधिकता हुई अगर यह कहा जावे कि हैवानात मुतलक़ का रूह बदल कर हैवानात नातक़ में दाख़िल हुआ तो यह भी क़ाबिलयावर करने के नहीं कि जिस माल मुवेशी की तदाद ली जाती है उस में भी बेशी होती रहती है इस क़यास से दूसरे पशुओं में भी अ-

पिकला समूर की जा सकती है (६) अगर जीव अनादि अविनाशी है तो उस का आवागमन किस तरह से हुआ जब तक कि जीव कर्त्ता कर्म का वजूद पहिले न हो तो तब तक कर्म नहीं हो सकते जब कर्त्ता कर्म न करे तो नतीजा उस का (तनासुख) क्यों कर निकल सकता है यह दृष्टान्त जैसे पुराना कपड़ा मनुष्य त्याग देता है जीव एक देह को छोड़कर दूसरी देह को प्राप्त होता है तनासुख को साबित नहीं करता इस वजह से जिस्म फ़नाह होता है उस मिट्टी से दूसरा जिस्म बनता है वह आत्मा को जो मिसल समुद्र के है उस से मिसल हुवाव यानी बुरात के एक कतरा उस में पड़ता है यह मतलब नहीं कि वही रूह दूसरे कालब में जाती है कता नजर इस के यह दृष्टान्त अनन्त व नित्य वस्तु पर है अविनाशी पर नहीं आप के बगैर और कोई महात्मा नज़र नहीं आता जो मेरे संशयों को निवृत्ति करे आप महा पुरुष हैं इस लिये आप से प्रार्थना है कि आप मेरे इन संशयों को अनुमान याने दलील से रफ़ा करें प्रमाण और दृष्टान्त की ज़रूरत नहीं कि प्रमाण किसी खास मौका पर होता है दृष्टान्त एकाङ्ग है और दलील मुकम्मल होती है बशरते इस में निःसन्देह करने वाला उत्तर दें शम् ।

मूलचन्द्र तथा रामचरणाचार्य भावलपुर स्टेट

यहां ग्राम बला में मिति पौष शुक्ल नवमी के दिन सनातनधर्मोपदेशक पं० सिंहरामशर्मा ग्राम सीख जि०करनाल के रहने वाले आये थे ४ रोज व्याख्यान देकर दयानन्दी मत की पोल सब को विदित कराकर लोगों के दिल में खूब तसल्ली कर गये कि दयानन्दी झूंठे हैं पं० जी के व्याख्यान समय में दयानन्दी भी दो रोज आये थे और बोलने के वास्ते समय भी दिया था परन्तु यह तो सब जानते ही हैं कि प्रायः समाजी लोग कम पढ़े होते हैं इस वास्ते समाजियों का एक भजन श्राद्ध खण्डन विषय में सुनाया था जिस का विषय यह था कि—जो पितरों को पहुंचता है तो उन की रसीद बतलाओ कि कौन योनि में हमारे पितर हैं १ और एक मकान के अन्दर तुम को बन्द करके खान पान कुछ नहीं दिया जायगा एक ब्राह्मण को न्योत के तुम्हारे लिये जिमा देवेंगे अगर उस के जिमाने से तुम्हारी तृप्ति हो जायगी तो सब का भ्रम मिट जायगा ॥२॥ और गीता अध्याय दो २ में जो यह लिखा है कि जिस

वक्त देह से जीव अलग होता है उसी वक्त और शरीर मिल जाता है तो श्राद्ध करना गलत है वा गीता ॥३॥ और अगर कर्मानुसार सूअर की योनि मिल जावेगी तो खीर कचौरी तो सुअर नहीं खाता है इस वास्ते जिस योनि में जो जावे उसी की मुआफिक तुम भी खाया करो ॥४॥ और जो स्वामी ने भाष्य करा है उस को वेद के साथ पढ़ो क्यों सोते हो ॥५॥ यह सवाल उस भजन में थे जिसे देखना हो वह खंजरी भजन संग्रह में भ० नं० १२ में देख सक्ते हैं। उस भजन का खंडन पंडित जी ने भजनों से ही ऐसा किया कि एकदम समाजियों की गर्दन नीचे हो गई—उन भजनों को भी आप लोगों के सन्मुख पेशकर्त्ता हूं। भ० नं० १ शेर—अये मित्रो पन्थ खोटा बना लो जिस का जी चाहै। सही पितरों का तर्पण श्राद्ध हटालो जिस का जी चाहै। धरो इलज़ाम वेदों पे आर्यों के बहाने से। खसम ग्यारह लुगाई को करा लो जिस का जी चाहे ॥ क़ाली=टेक ॥ हैगा वेदों के दरम्यान मरे पितरों श्राद्ध दिखाले। यहां पे वेद अथर्वण लाय—अट्ठारह का काण्ड दिखाय—ले किस पंडित से पढ़ साय—तुम अपना अपना संदेह मिटाले ॥ हैगा० ॥१॥ तुं चव्वन का मंत्र उचार—चौंतिस पैंतिश और पुकार—है मुर्दों का श्राद्ध विचार—करके अर्थ यहि अजमाले ॥ हैगा० ॥२॥ मित्रो करवाते क्यों हास—देखो यजुर्वेद में खास—अध्या उन्निस का धर पास—मन्तर सतसठ का पढ़वाले ॥ हैगा० ॥३॥ है अध्याय ही परमान—मंतर पैंतालिश परमान—जो है धर्म राजस्थान—गाये उस में रहने वाले ॥ हैगा० ॥४॥ आके वेद अथर्वन खोल—वोही कांड अठारह तोल—मंतर उन्निश का है बोल—इकसत्तावन का बचवाले ॥ हैगा० ॥५॥ समझो श्रौत सूत्र परमान—जिस में लिक्खा साफ बयान—देना मरे पिता को दान—करके ध्यान सही दिखवाले ॥ हैगा० ॥६॥ हा तुम करो श्राद्ध में खींच—देखो महाभाष्य के बीच—दीने आस्व जलों से सींच—पित्तर साथ तृप्त कर डाले ॥ हैगा० ॥ ७ ॥ जो जो मरते जाते भूत—उन का लिक्खा अग्निदूत—करदूं वेदों से साबूत—उन की तृप्ति करने वाले ॥ हैगा० ॥ ८ ॥ मित्रो अब तो लीजो मान—लिक्खूं कहां तलक परमान—करलो सत्यासत्य की छान—आके इयां पे अड्डी लगाले ॥ हैगा०९ कहता सिंहराम सब हाल—छोड़ो पक्ष करो इकबाल—खुल गया झूठा यारा-जाल—अब तो ईश्वर के गुण गाले ॥ हैगा० ॥१०॥ और तर्कों के खंडन के जो भजन पंडित जी ने बना के सुनाये थे उन के लिखने में जगह कम होने से

उन का मतलब लिख देता हूं ॥ तर्क नं० १ पहले का उत्तर=स० प्र० पृ० ९६८ में जो स्वामी जी ने यह लिखा है कि—शरीर छोड़ वायु के साथ अन्तरिक्ष में जीव रहते हैं ॥ इति ॥ जो वायु में लटकते हैं उन की रसीद हम को बतलाओ तुम्हारे पास कौन सी है=और स्वामी जी ने स०प्र०पृ० ११० में जो लिखा है कि धर्म साथ जाता है जीव के देह छोड़ने उपरान्त धर्म के करने से सुख व पाप के करने से दुःख मिलता है पर जन्म में इस की रसीद कहां है और वह पाप पुण्य करा हुआ कहां बैठा रहता है उस की रसीद हम को दिखलाओ तो हम भी दिखा देवेंगे कि=पितर कौन योनि में हैं=इति ॥ नं० २ का उत्तर—मैंने कई समाजियों से सुना है कि पितर तो हैं नहीं=मगर ईश्वर के निमित्त ब्राह्मण ज़रूर जिमाना चाहिये=तो हमारा कथन है कि ईश्वर के बारे में भी तुम्हारी शंका बनी हुई है=याद रक्खो तुम भी मकान के अन्दर रोके जाओगे और खान पान कुछ न दिया जावेगा । भजन पुष्पावली जो तुम्हारे छपी है उस के ४८ नम्बर में एक शिवाष्टक लिखा है जिसका फल पाठ करने का यह है कि पाठ करने से तमाम दुःख दूर होजाते हैं तो पाठ करके क्षुधा तृषा का दुःख मिटाया करो—नं० ३ का उत्तर=देह छूटते ही अगर जन्म हो जाता है तो वायु में कौन लटकता है बतलाओ—नं० ४ का उत्तर= तुम जो अन्नादिक दान करते हो तो मर के अगर सूअर की योनि मिलातो बतलाओ तुम्हारे काम अन्न क्या आवेगा इस वास्ते पहिले तुम अपनी योनिका पता लगा के कि मर के कौन योनि मिलेगी फिर तुम उस के मुआफिक दान करा करो=नं० ५ उत्तर=स्वामी का भाष्य भी देखा है जिसमें मंत्र का अर्थ बिलकुल नहीं मिलता 'स्वकपोल कल्पित गपोड़े मारे हैं जैसे—य०वे० भा०पृ० १२३७ अध्याय ३९ मं० १ गढा खोद के चन्दन की लकड़ी घर के मुर्दे की बराबर घी प्रत्येक सेर में एक रत्ती कस्तूरी एक मासा केशर मिला के मुर्दे को भस्म करे इत्यादि मंत्र में बिलकुल नहीं और स्वामी ने लिख दिया यह क्यों=मन्त्रों का अर्थ महा अशुद्ध किया है इस वास्ते स्वामी का भाष्य अशुद्ध है=इत्यादि विषयों को सुन कर रुपरिया का बेटा तूपाराम जाट समाजी था उस ने समाज छोड़ दिया और अनेक निकाल दिया ॥

ह० पं० हरिशरण शर्मा ग्राम बला जि० करनाल

कामाष्टकम् ॥

यस्यप्रभावाद्गुनिनोदरिद्राः भवन्तिलोकेषुविगर्हिताश्च ।
मूढाःशठादुष्कृतकारिणश्च तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥१॥
विद्वद्वरामोहवशंमयान्ति यस्यप्रसादेनविहायधर्मम् ।
लज्जांतृणीकृत्यविसृज्यधैर्यं तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥२॥
येज्ञानिनोध्यानपरायशस्वि मनस्विनोवीर्यवतांवरिष्ठाः।
विभग्नदर्पाःप्रभवन्तियस्मात् तंमन्मथंनित्यमहंनमामि॥३॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रानिलदेवसंघान् विजित्यसर्वां पृथिवींक्रमेण ।
युद्धायकृष्णंसमुपाहूयद्य स्तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥४॥
पौष्पंधनुर्यस्यकरेविभाति पञ्चैवबाणाःप्रथितास्त्रिलोक्याम्।
योषिद्बलंयस्यसखावसंत स्तंमन्मथंनित्यमहंनमामि॥५॥
येनाभिभूतःक्षणदाचरेन्द्रो जहारभार्यांरघुनन्दनस्य ।
गतोविनाशंसहबन्धुवर्गै स्तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥६॥
यस्यानुभावात्परिशुष्कमांसा घोरोपदंशैःपरिपीड्यमानाः ।
व्रणैरनेकैःपरिपूरिताङ्गा स्तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥७॥
अप्रत्ययंयेनजनालभन्ते स्वर्गापवर्गाच्चभृशंच्यवन्ते ।
द्वारंयमाहुर्नरकस्यचाद्यं तंमन्मथंनित्यमहंनमामि ॥८॥
येवैपठन्तिमनुजाःसततंप्रभाते कामाष्टकंसकलपापहरंपवित्रम्।
कामव्यथांसमभिधूयविशुद्धभावाः विष्णोःपदंसमुपयान्तिगताभिशंकाः ॥९॥ मधुरास्थचतुर्वेद-गुलाबइतिविश्रुतः । तेनेदंरचितंस्तोत्रं करोतुविदुषांमुदम् ॥ १० ॥

समाचार ॥

मुलतान से परमानन्द शर्म्मा लिखते हैं कि भारतधर्म महामण्डल की शाखा सभा बनने के कारण सनातन धर्म सभा वाले हमारी सभा (सद्धर्म्मोपदेशक सभा) के साथ द्वेष करते हैं हम जो विज्ञापनादि लगाते हैं वह फार डालते हैं हाल ही में भा० ध० म० मं० के उत्सव विषय के विज्ञापन मेरे पास आये मैंने उन को दिखाया तो मुझे मारने पर उद्यत हो गये और विज्ञापन मैंने जो चसपां किये थे वह फाड़ डाले यह सनातन धर्म्मियों का हाल है ॥

नोट—यदि यह बात सत्य है तो सनातन धर्म्मसभा के मेम्बरान से हमारी प्रार्थना यह है कि आप को स० ध० उपदेशक के साथ द्वेष करना उचित नहीं है आप को चाहिये कि उन को बालक समझ कर उन की सहायता करें। यदि आप ऐसे कार्य्य करेंगे तो फिर आर्यसमाजी भाइयों का क्या कहना है अब हम आशा करते हैं कि आप द्वेष छोड़ प्रीति पूर्वक उस सभा की सहायता करेंगे !! सम्पादक ब्रा० स०

आगामी पहली अप्रैल से डाक के टिकट पर यदि कोई कुछ लिखेगा या किसी प्रकार का दाग़ लगाया जायगा अथवा वह कुछ कटा फटा होगा तो रद्दी समझा जायगा। ऐसे टिकट जो कोई चिट्ठी या पारसल पर लगावेगा उस चिट्ठी या पारसल का महसूल डाकखाना फिर से लेगा।

पं० बुधूलाल जी शर्मा मन्त्री स० ध० सभा अहमदपुर से लिखते हैं कि यहां आर्य्यों ने आकर शोर मचाना और गीदड़ों की तरह उछलना आरम्भ किया शास्त्रार्थ के वास्ते नोटिस पर नोटिस देने लगे दैवयोग से स्वामी देवानन्द जी का यहां शुभागमन हो गया आपके व्याख्यानों को सुन कर आर्यसमाजी सब भाग गये फिर शास्त्रार्थ करने की सामर्थ्य न रही डर के मारे ऐसे भागे जैसे गीदड़ शेर के डर से भागता है ॥

श्रीमान् पं० प्रभुदत्त जी महोपदेशक भा० ध० म० मं० का शुभागमन हरिद्वारादि में हुआ आप के मनोहर व्याख्यानों द्वारा यहां के धर्मप्रेमी पुरुषों के चित्त में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि इस शुभ स्थान पर आर्य समाज के गुरुकुल के मुकाबले में सनातन धर्म ऋषि कुल का होना अत्यावश्यक है सब

प्रेमी इस का उद्योग कर रहे हैं पं० प्रभुदत्त जी का यह उद्योग सराहनीय है आपने और भी बहुत धर्म कार्य किये हैं ॥

श्रीयुत ला० गुलजारी लाल वैश्य मन्त्री स० ध० सभा हलद्वानी से लिखते हैं कि श्री ५ माघ शुदी ता० ९ फरवरी से १३ फरवरी तक श्री सनातन धर्म सभा हल्द्वानी का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ इस उत्सव में बाहर से विद्यावागीश गोविन्दराम जी पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र जी और पं० दुर्गादत्त पन्त कूर्माचलभूषण तथा सुप्रसिद्ध लेखक पं० बलदेव प्रसाद मिश्र मुरादाबाद निवासी भी पधारे थे पांच दिन तक सनातन धर्म के विविध विषयों पर अतीव चित्ताकर्षक व्याख्यान हुये ता० ११ को वेद भगवान् की सवारी बाजार में से निकली गयी धामपुर की भजनमण्डली के भजन भी होते जाते थे समस्त भाई भी उदासीनभाव से इस दृश्य को देखते थे अन्त के दिन सभा की रिपोर्ट सुनाई गयी पश्चात् सनातन धर्म की जय २ मना कर सभा-विसर्जित हुई ।

एक वजीरी अपने दो लड़कों और कई आदमियों को लेकर पंजाब-फीरोजपुर की छावनी में चोरी करने गया । वह चोरी का माल ले आने के लिये अपने साथ एक एक्का लेता गया था । खजाने में से एक उन्नीस हजार के नोट का सन्दूक लेकर चला कि सन्तरी ने विना कुछ कहे सुने फैर किया और तीन बार बन्दूक चलाई । कई चोर घायल हुये । वजीरी का एक लड़का सरकारी गवाह बन गया है । वजीरी पुराना चोर है ॥

मध्यपदेश—सागर—खुरई । देवरी कलां के धर्मोपदेशक पं० लक्ष्मीदत्त जी यहां आये और कई व्याख्यान धर्म्म विषय पर दिये । आपके उद्योग और ग्रामवासियों के उत्साह से फागुन सुदी ३ को यहां सनातन धर्म सभा स्थापित हुई । उस के सभापति सेठ खेत सिंह जी उपसभा पति पं० गोपाल पांडे मन्त्री श्री गोविन्दप्रसाद उपमन्त्री बक्सीमुरलीधर उपदेशक मुकन्दीलाल खंडर

अपील नामंजूर—जैनमत समीक्षा के विषय में दिल्ली के जिन आर्यसमाजियों को जेल अथवा जुर्माने की सजा हुई थी उन्हों ने डिस्टीजनरल कोर्ट में अपील की थी, परन्तु अपील नामंजूर हुई ।

सागर देवरी में गत १ मार्च को नन्हां नाई की गाय ने दो बछिया जनी । दोनो अङ्ग से पुष्ट हैं ।

प्रसन्नता की बात है कि मुसलमानों में गोरक्षा की चर्चा छिड़ रही है। रविवार को अंजुमन इसलाम के स्थान में यहां के मुसलमानों की एक विशेष सभा हुई थी। गोरक्षक पं० जगतनारायण तथा कुछ हिन्दू और पारसी भी थे। फकीर दीनमुहम्मद साहबने व्याख्यान दिया और गोरक्षा से लाभ का हिसाब पेशकर गोरक्षा की आवश्यकता बतलाई मौलवी अबुल्सर साहब "आह" ने युक्ति और प्रमाणों से फकीर साहब के कथन का अनुमोदन किया। मौलवी नजीरहुसेन "सखा" ने कुछ बातों में अलग पड़ते हुए भी गौरक्षा का पूरा अनुमोदन किया। यदि यों ही चर्चा छिड़ती रही तो सम्भव है कि सम्पूर्ण भारतवासी एकमन अनेक तन होकर देशहित के व्रत में व्रती हो सकेंगे।

शैव धर्म से आर्य समाज का पिता पुत्र का सम्बन्ध जान पड़ता है। दयानन्द जी के पिता शैव थे और दयानन्द जी शिव जी की मूर्त्ति पर चूहे दौड़ते देखकर मूर्त्ति पूजन से वीतश्रद्ध हुए थे। लाला मुंशीराम के पिता भी उन के लेखानुसार लड़कपन से शिवपूजा किया करते थे। मुंशीराम जी भी अपने भाई आत्माराम सहित पिता की पूजा की नक़ल किया करते थे। अपनी इस करतूत के लिये वह कैसी सुन्दर उपमा देते हैं वह सुनने के योग्य है। आप कहते हैं="जहां शराबियों के लड़के शराब की मसनई महफिल गर्म्म किया करते हैं वहां आर्यसमाज के आजधार्म्मिक लेक्चरों के लड़के भी सभा लगाकर ईश्वर प्रार्थना के बाद लेकचरों की नकल उतारते सुने हैं।" इन उपमाओं से यह पता नहीं लगा कि लाला मुंशीराम अपने लिये पहिली उपमा पसन्द करते हैं या दूसरी। अर्थात् अपने शिव पूजन को शराबियों के लड़के की नक़ल समझते हैं या धार्म्मिक आर्यसमाजियों के लड़के की। खैर आप लिखते हैं-"एक दिन गङ्गा स्नान से लौटतेवक्त एक उजाड़ मन्दिर से हम दोनों भाई दो शिवलिङ्ग के पत्थर उठा लाये। पिता जी को मालूम हुआ तो वह बहुत नाराज़ हुए। क्यों कि उन की राय में प्राण प्रतिष्ठा करके जो देवमूर्त्ति मन्दिर में स्थापित की जाय उसका उखाड़ना पाप था। पिताने नाराज़ होकर कहा=क्यों देवमूर्त्ति को उखाड़ लाये? मैंने कहा=आप रोज पूजा करते हैं क्या हम न करें? हम अपनी पूजा के लिये मूर्त्तियां ले आये हैं।" इस अनुपम कथा के लिखने से मुंशीराम जी का शायद यही मतलब

होगा कि वह एक बड़े कट्टर शैव के पुत्र होने पर भी घोर मूर्त्तिपूजा विरोधी दयानन्दी बन गये यह आश्चर्य की बात है। पर इस में हिन्दू कुछ आश्चर्य नहीं समझते। वह खूब जानते हैं कि पिता से विरुद्ध स्वभाव का पुत्र भी उत्पन्न होसकता है जैसे हिरण्य कश्यपके प्रह्लाद् पैदा हुआ था और उग्रसेन के कंस। मुसलमानों में पैग़म्बर इब्राहीम के पिता आजर मूर्त्ति पूजक थे और मूर्त्तियां बना बनाके बेचा करते थे। इब्राहीम ने एक दिन पिता के पीछे कुलहाड़ा लेकर मूर्त्तियों के हाथ कान नाक झाड़ दिये थे।

साधुपर आफत–नागपुर के बोरी अरब गांव में एक साधु रहता है, अपने पेट के लिये वह कभी किसी को नहीं सताता केवल अपाहिज और अशक्त तथा रोगी मनुष्य और पशुओं की रक्षा वह किया करता है और अच्छे सशक्त होने पर उन्हें छोड़ दिया करता है। इसी प्रकार दौरे पर गये हुए वहां के डिपटी कमिश्नर के साथ की गाड़ी के बैलों को अशक्त देख उस ने गाड़ी से अलग करा लिया, परन्तु डिपटी कमिश्नर आये और बैल लेगये। कुछ साधु विद्वेषी पुरुषों को अवसर हाथ लगा और उस बेचारे पर कई चोरी के अभिशापलगाये। उस पर मामला चल रहा है।

युक्तप्रदेश–कानपुर नज़फ़गढ़। वहां एक कुञ्जवन है। इस वन में प्रायः हिंसक जन्तु रहते हैं। एक दिन एक ब्राह्मण का लड़का उसी बनके समीप गौ चराता था। लड़के की उमर अनुमान १८ वर्ष की होगी। इस लड़के ने अकस्मात अपने सामने आते हुये एक भेड़िया को देखा। पहले तो भेड़िये के भाग जाने के लिये लड़के ने यत्न किया पर भेड़िया कब मानने वाला था। लड़के के समीप आकर आघात करने की घात में लगा। लड़के के हाथ में उस समय केवल लाठका एक डण्डा था। इसी डण्डे से इस ने मुंहपर मारा कि भेड़िया वहां से भाग जाय। भेड़िया मारने ही के समय आक्रमण करता है। उस समय भेड़िया भी झट आकर लड़के के कन्धेपर हो रहा। लड़के ने भी चालाकी के साथ ऐसा झटका दिया कि भेड़िया नीचे जा रहा। अब लड़के ने सवारी कसी और अपने डण्डे को उस के मुंह में घुसेड़ दिया। इसी बीच में और लोग भी आये। बहादुर लड़के ने लड़कों से रस्सी मंगा कर भेड़िये को खूब कसा। कसकर गांव में ले गया और खूब मारा भेड़िया तो मर गया पर अभी लड़के का घाव नहींअच्छा हुआ है। कालीशङ्कर मिश्र।

बिहार–गया नौआगढ़ी । यहां एक शूद्र के घर में लड़का उत्पन्न हुआ। लड़के के दो शिर और चार नेत्र थे । लड़का रात भर जीकर मर गया । मालूम होता है कि इस साल पश्चिम देश के यात्री कम आवेंगे सहदेवलाल ।

युक्तप्रदेश–कानपुर चौबेपुर । यहां के एक तेली के घर एक लड़की पैदा हुई है लड़की के दो शिर चार हाथ और एक पूंछ थी । घण्टे भर के बाद लड़की मरगई । प्लेग का प्रकोप अब शान्त हो गया । भागे हुये लोग अब अपने अपने घर आने लगे । रात में बादल रहता है । दिन में १० बजे के बाद आकाश निर्म्मल हो जाता है । गङ्गा नारायण शर्म्मा ॥

युक्तप्रदेश–मुज़फ्फ़रनगर । यहां एक आदमी के घर में कुछ उत्सव था । जिस के घर में उत्सव था वह पक्का दयानन्दी है । पण्डित ज्वालाप्रसाद जी तथा और दो पण्डितों ने अपनी वक्तृताशक्ति से इस उत्सव में गणेशादिपूजन कराया और सिद्ध कर दिया कि गणेशादि पूजन होना मङ्गल साधन हैं । दयानन्दी महाशय परास्त हुए । हरदयाल जी ॥

विराट् उपहार ॥

विदित हो कि हमने सर्वसाधारण के सुभीते के लिये " शास्त्रप्रकाश " नामक कार्यालय स्थापित किया है । इस में भारतवर्षीय प्रायः वेद उपवेद ब्राह्मण वेदाङ्ग उपाङ्ग आदि आर्ष ग्रन्थों का युक्ति एवं प्रमाण सहित सुलभ भाषानुवाद प्रकाशित होगा । इस कार्यालय से १ मार्च सन् १९०५ से " वेद व्यास " नामक मासिकपत्र भी निकला करेगा, जिस में भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदायों (प्राचीन तथा नवीन) पर विशेष विचार लिखा जावेगा और प्रत्येक वर्ष इस पत्र के ग्राहकों को एक २ प्रति आर्षग्रन्थ की भेंट (उपहार) दी जावेगी । इस पत्र का वार्षिक मूल्य १।) है आज से २८ फरवरी सन १९०५ तक जो कोई इस पत्र के ग्राहक होंगे उन्हें नीचे लिखी ४ पुस्तकें आधे मूल्य उपहार में दी जावेंगी ।

न्यायशास्त्र भाष्य तथा भाषानुवाद सहित

श्रीमन्महर्षि गौतम प्रणीत सूत्रपर वात्स्यायन मुनि कृत भाष्य का भाषानुवाद किया गया है प्रथम सूत्र पश्चात् सूत्रानुवाद पुनः भाष्य तत्पश्चात् भाषानुवाद और नीचे आवश्यकीय स्थानों में टिप्पणी लिखी गई हैं। मुम्बई कलकत्ता काशी आदि भिन्न२ तेरह स्थानों की छपी तथा लिखी प्रति से शुद्ध कर भाष्य में जो सूत्र प्रमाण से मिलगये तथा वार्त्तिक सूत्र वा भाष्य में रख

कर अति उत्तम कागज़ तथा अक्षरों में पुस्तक छप रहा है मू० ३॥) है परन्तु उपहार में लेने से १॥।) ही में मिलेगा।

२ सामवेदीय गोभिल गृह्यसूत्र ॥

वेद के छः अङ्गों में से "कल्प" दूसरा अङ्ग है इस कल्प से दो प्रकार के ग्रन्थ लिये जाते हैं एक "श्रौतसूत्र" और दूसरा "गृह्यसूत्र" गृह्यसूत्र में गृहस्थों के मुख्य कर्त्तव्य पञ्चयज्ञ तथा गर्भाधानादि १६ संस्कार एवं अन्यान्य नैमित्तिक और काम्य कर्मों का विधान है। भिन्न२ वेदों के भिन्न२ गृह्यसूत्र हैं यह महर्षि गोभिलकृत गृह्यसूत्र है। इस का भाषानुवाद बड़ी उत्तमता से किया गया है और इस की भूमिका में वेदों की शाखाओं का विचार किया गया है ग्रन्थ देखने योग्य है। मू० केवल २) है परन्तु उपहार लेने वालों को १) ही में मिलेगा॥

३ आर्यभट्टीयज्योतिषशास्त्र ॥

यह पं० आर्यभट्ट का बनाया बहुत पुराना सिद्धान्त ज्योतिष का ग्रन्थ है इस में साफ़ पृथिवी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण लिखा है आज तक यह ग्रन्थ हिन्दुस्तान में नहीं छपा है। भाषानुवाद तथा भूमिका के साथ छपता है मू० केवल १) है परन्तु उपहार में लेने वालों को ॥) ही में मिलेगा।

४ सूर्यसिद्धान्त भाषानुवाद सहित ॥

ज्योतिष का बहुत ही पुराना आर्ष ग्रन्थ है इसी के आधार पर प्रायः पञ्चाङ्ग बन कर प्रामाणिक समझे जाते हैं। इस की भूमिका १५० पृष्ठों में अनेक विषयों से युक्त लिखी गई है मू० २।) से घटाकर १॥) है परन्तु उपहार लेने वालों को ॥।) ही में मिलेगा।

जिन महाशयों को चारों ग्रन्थ लेना हो या चारों में से कोई ग्रन्थ लेना हो कृपया अपने पत्र में स्पष्ट लिखेंगे (कि मुझको अमुक २ ग्रन्थ लेना स्वीकार है)। वेद व्यास के पहिले अङ्क के साथ चारों ग्रन्थ (उपहार के) वी०पी० द्वारा भेजे जावेंगे अगाऊ मू० कोई ग्राहक हमारे पास न भेजें इस समय केवल पत्र भेज कर शीघ्र अपना२ नाम ग्राहकों में लिखवावें सहायता रूप से जो महाशय अपनी उदारता से ग्रन्थ मुद्रण में द्रव्य अथवा प्राचीन पुस्तकों से सहायता देवेंगे वह धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत होगी।

पता:—उदयनारायणसिंह

शास्त्रप्रकाश कार्यालय डाक विद्दूपुर (मुज़फ्फ़रपुर)

निवेदन

हम इन नीचे लिखे ग्राहकों से सविनय निवेदन करते हैं कि आप लोगों के नाम जितना २ मूल्य बाक़ी है कृपा कर अब शीघ्र भेज देवें। आप लोगों के नाम ब्रा० स० भा० २ का पिछला भी बाकी है। यहां आप लोगों के नाम छपाने का मतलब यह है कि आप को बीसों बार तकाज़े भेजे गये हैं कई लोगों ने मूल्य भेजने के वायदे भी किये फिर भी नहीं भेजा। कई लोगों ने जवाबी कार्डों के भेजने पर भी जवाब नहीं दिये हैं। और कई लोगों ने वेलूपेबिल भेजे हुए भी वापस किये हैं अभी कई नाम और भी बाक़ी हैं जो छपाये नहीं गये हैं अब हम आशा करते हैं कि आगे लिखे महाशय अवश्य मेव मूल्य भेजकर इस फैरिस्त से अपने २ नाम कटावेंगे। और धन्यवाद के भागी होंगे। एक ही बार छपने पर दो ग्राहकों ने मूल्य भेज कर अपना नाम कटा दिया उन को धन्यवाद है। ह० भीमसेन शर्म्मा सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व इटावा॥

शिकारपुर सिंध २॥)

२३३ पं० गुलजारी लाल शर्मा शाहजहांपुर ३॥।-)

२६१ स्वामी निर्विकार गिरि झंग २।)

२६८ बा० गिरधारीलाल वकील होशियारपुर ३≡)

२८० पं० देवीप्रसाद मिश्र भोपालस्टेट ३≡)

३१२ कृष्णाशङ्कर द्विवेदी मन्त्री आर्यसमाज मुंबई २।)

३१५ पं० देवीदत्त ज्यो० नजीबाबाद ज़िला बिजनौर २॥)

३२२ पं० सीताराम बरनाला जिला पटियाला २।≡)

३५६ पं० व्रजरत्न भट्टाचार्य पटवर गंजमुरादाबाद २)

३६८ पं० गंगाराम आचार्य झंग २॥)

३४ पं० ज्वालाराम ओवरसियर ब्रह्मा ३=)

४१९ सेक्रेटरी आर्यसमाज महू सी० पी० २)

४२० पं० चेतनराम शिवराम

५२४ चण्डीप्रसाद जलालाबाद जिला शाहजहांपुर २।)

४३१ मंत्री प्रेमसभा ज्वालापुर जि० सहारनपुर २।)

४५० पं० श्यामसुन्दर रघुनाथपुर जि० कानपुर ३≡)

४५१ हरनारायण मन्त्री आर्यसमाज जहांगीराबाद जि० बुलन्दशहर ४॥।)

४५८ लक्ष्मीनारायण बावन जि० हरदोई ५॥=)

४६१ माधवदत्त शर्मा शाहगंज जिला आगरा ३-)

४६९ पं० पुरुषार्थीलाल जीवदायूं ३।)

५०९ पं० सूर्यप्रसाद टेढा ज़ि० उन्नाव २।)

५२७ जिवराखन लम्बरदार टेढ़ा जि० उन्नाव ३≡)

५३८ बा० विहारीलालजी लाहौर २।)

५८७ महावीरप्रसाद समस्तीपुर जिला दर्भंगा २॥)
५८५ पं० दयाराम जी नूरमहल ज़िला जालन्धर ४॥)
६०३ बाबूराम झा अक्तियारपुर जि० दर्भंगा २॥)
६२० बा० काशीराम डेराइस्मैलखान ४॥)
६४८ कल्याणदास मजीरगंज जि० बदायूं २।)
६५६ स्वामीनाथ शुक्ल हर्रैया जि० बस्ती ३।)
६६८ श्रीधर विष्णु परांजपे वर्धा २।)
७१३ पं० भुवनाप्रसाद गढ़ी दोवा जि० इटावा २-)
७३२ हरिराम विशारद गोविन्दपुर जि० गुर्दासपुर ३)
७५३ विजयमंगल जी बाजपेयी ठठिया ज़ि० फतेहगढ़ २।)
७६४ पं० मणीराम शर्मा कोहाट २।)
८३१ गुरुश्याम बिहारीलाल बहरायच २।)
८४१ बा० गुरुजोत सहाय वकील मुंगेर ६।=)
८५१ पं० हरिमोहन मिश्र नरिस्तेदार मुंगेर ५-)
८६५॥ रामानन्द मिश्र जस्पुर जि० नैनीताल ४)
११३ सुलतान सिंह बावन जि० हरदोई २।)
८१६॥ बा० वैकुण्ठनाथ जगाधरी जिला अम्बाला २।)
८९७ बालकराम जी मन्त्री म० ध स- भा पूरनपुर ज़िला पीलीभीत २।)
पं० रामकृष्णशास्त्री अहमदाबाद २।)

REGISTERD No 242

ब्रा०स०सम्बन्धी पत्रादि पं०भीमसेन शर्मा सम्पादक ब्रा०स०इटावाकेपतेसे भेजिये॥

ब्राह्मणसर्वस्व-

THE BRAHMAN SARVASWA

आर्य्यम्मन्यसदार्य्यकार्य्यविरहा आर्य्यास्त्रयीशत्रव,
स्तेषांमोहमहान्धकारजनिता-ऽविद्याजगद्विस्तृता ।
तन्नाशायसनातनस्यसुहृदो धर्मस्यसंसिद्धये,
आदित्यान्तमिदंसुपत्रममलं निस्सार्य्यतेमासिकम् ॥
धर्मोधनंब्राह्मणसत्तमानां, तदेवतेषांस्वपदप्रवाच्यम् ।
धनस्यतस्यैवविभाजनाय,पत्रप्रवृत्तिःशुभदासदास्यात् ॥

भाग ३ } मासिकपत्र मासाङ्क { १०

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

पं० भीमसेन शर्मा द्वारा सम्पादित होकर
वेदप्रकाश यन्त्रालय-इटावा में
मुद्रित होकर प्रकाशितहोता है ॥
संवत् १९६१ वि० २८ फर्वरी सन् १९०५ ई०

ब्राह्मणसर्वस्व का अगाऊ वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित २।) है

विज्ञापन छपाने बंटाने के लिये नियम ॥

१–जो विज्ञापन ब्रा०स० में छपे वा बांटे जावें उन के सत्यमिथ्या के उत्तर दाता विज्ञापन वाले ही समझे जांयगे। इस कारण ग्राहक लोग शोच समझ के व्यवहार करें।

२–ब्रा०स० में एक वार कोई विज्ञापन एक पेज से कम छपावे तो =)॥ लैन के हिसाब से लिया जायगा। तीन मास तक ≡)। ६ मास तक =) एक वर्ष तक –)॥ प्रतिपं० लगेगा।

३– एक वार १ पेज पूरा छपाने पर ३) लगेगा। १ पेज तीन मास तक ७) छः मास तक १२) और १ वर्ष तक २०) लगेगा।

४–जिस किसी को विज्ञापन बंटाना हो वह ब्रा०स० के दफ्तर से पूछ कर ब्रा०स० का क्रोड पत्र और तारीख छापनी चाहिये। ४ मासे तक का विज्ञापन ४) में ८ मासे तक का ५) में और १ तोला तक का ६) में बांटा जायगा। रु० छपाई और विज्ञापन बंटाई का पहिले लिया जायगा।

ब्राह्मणसर्वस्व के नियम॥

१—यह मासिकपत्र साढ़े छः फारम ५२ पेज रायल सायज का प्रतिमास की अन्तिम तारीख़ को निकलता है॥

२—इस का वार्षिक मूल्य डाकव्यय सहित बाहर के ग्राहकों से २।) सवा दो रुपया अगाऊ और इटावे के ग्राहकों से २) लिया जाता है॥

३—प्रत्येक भाग का तीसरा अङ्क निकलने तक जो ग्राहक मूल्य भेज देंगे उन का मूल्य अगाऊ में गिना जायगा॥

४—राजा रईस लोगों से उनके गौरवार्थ ५) वार्षिक मूल्य लिया जायगा।

५—पुस्तकों की समालोचना भी इस में यथोचित हुआ करेगी।

६—जो पहिला अंक नमूना का मंगाकर ग्राहक होना चाहें वे तत्काल २।) भेजें और ग्राहक होने की सूचना दें। ग्राहक न हों तो ≡) के टिकट नमूना का मूल्य भेज देवें अन्यथा द्वितीय अंक वी०पी० उन की सेवा में पहुंचेगा॥

७—मूल्य भेजते समय ग्राहक लोग अपना नम्बर अवश्य लिखा करें। चिट्ठी पत्री नागरी व अंग्रेज़ी में भेजा करें उर्दू के हम उत्तरदाता नहीं हैं।

८—कहीं बदली आदि के कारण स्थानान्तर में जावें तो अपना पता अवश्य बदलवावें। अन्यथा अंक न पहुंचने के उत्तरदाता हम न होंगे॥

९—जो ग्राहक लोग अन्य ग्राहक करावेंगे उन की यथोचित कमीशन मिलेगा और १० ग्राहक कराने वाले को १ मासिक पत्र विना दाम मिला करेगा॥

ओ३म्

॥ ब्राह्मणसर्वस्व ॥

भाग ३] उत्तिष्ठतजाग्रतप्राप्यवरान्निबोधत [अङ्क १०

यत्रब्रह्मविदोयान्ति दीक्षयातपसासह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्माब्रह्मदधातु मे ॥

कर्मकाण्ड देवपूजा विषय ॥

पाठक महाशय ! हमारा अनुमान है कि इस वेदादिशास्त्रानुकूल प्रारम्भ किये नित्य कर्म विषय का व्याख्यान ब्रा०स० ४भाग में शयन समय तकका पूरा हो जायगा । और इसी बीच में ग्राहकों की रुचि के अनुसार हम नित्य कर्म की कई पद्धतियां भी भाषाटीका सहित छपा देंगे। जिन में सन्ध्या तर्पणप ञ्चमहा यज्ञादि कई पद्धतियां छप भी चुकी हैं । आशा है कि ब्रा०स०भाग ५ से नैमित्तिक कर्मकाण्ड का भी कुछ व्याख्यान लिखा जायगा । अब तक १ प्रातरुत्थान । २—भूमिस्पर्श । ३—कुल्ला करना४—प्रातर्दर्शनीयवस्त्ववलोकन, ५—शौचविधि। ६—दन्तधावनविधिः । ७—प्रातःस्मरण । ८—स्नानविधि । ९—स्नानाङ्गतर्पणविधि । १०—प्रातःसूक्तपाठ । ११—सन्ध्योपासन । १२ अग्निहोत्र। १३—नित्यदान कर्म और १४—नित्यवेदाभ्यास । ये मुख्यकर चौदह नित्य कर्म ब्रा० स० के प्रारम्भ से यहां तक साङ्गोपाङ्ग यथासम्भव संक्षेप से ही लिखगये हैं । इस कर्मकाण्ड के लिये सूर्योदय से ८ घड़ी पहिले से वह दिन माना गया है । इस दिन के आठ भाग अनुमान चार२ घड़ी के माने जाते हैं । इन आठ में से प्रथम भाग के नित्य कर्म नित्य दान पर्यन्त हैं और द्वितीय भाग की चार घड़ी में वेदाभ्यास तथा नित्य देवपूजन करना चाहिये । जिस में

वेदाभ्यास का विचार तो संक्षेप से लिखदिया अब आगे देवपूजा रूप नित्य कर्म लिखाजाता है।

(प्रश्न) देव कौन और कहां हैं। जब तक यह सिद्ध न हो तब तक उनकी पूजा का व्याख्यान भी व्यर्थ है। हमारी समझ में तो उपासना प्रसङ्ग में एक ही देव ईश्वर है। तथा पं. विद्वान् महात्मा मनुष्य भी चेतन देवता हैं पर उपास्यदेव एक ही है। और सूर्य चन्द्रमादि प्रकाशक होने से देवता कहाते हैं पर वे सब जड़ हैं उपास्य नहीं हैं। यह वेदोक्त सिद्धान्त तुम क्यों नहीं मानते ?। और जब प्रातःस्मरण सन्ध्या अग्निहोत्रादि सब ही कर्म देवताओं के पूजन रूप हैं तब देवपूजा कर्म और क्या है? जिस को पृथक् लिखोगे?। इत्यादि प्रश्नों का प्रथम समाधान संक्षेप से देखो (समाधान) चौरासी लक्ष योनियों के अन्तर्गत एक देवयोनि भी मनुष्यादि सब से पृथक् है। योनि सब दो प्रकार की हैं एक मनुष्यों की प्रत्यक्ष दूसरी परोक्ष हैं। परोक्षयोनि अनेक हैं उन्हीं में एक देवयोनि भी मनुष्यों को परोक्ष है। (लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः) लक्षण और प्रमाणों से प्रत्येक वस्तु के स्वरूप का बोध होता है। यह वेदानुकूल सिद्धान्त सर्वसम्मत है। उस में लक्षण तो अनेक हैं जैसे (अमरत्वमजरत्वंदेवत्वम्) जो अजर अमर हैं। वे देवता और जरा मृत्यु से ग्रस्त हैं वे मनुष्य हैं। जो सत्य हैं। जो नित्य हैं वे देवता जो असत्य हैं विनाशी हैं वे मनुष्य हैं।

(प्रश्न) यह तो हम भी मानते हैं कि जो मनवाणी शरीर से सत्य का ही आचरण करते वे मनुष्य देवता और मिथ्याभाषी मनुष्य सब मनुष्य हैं ॥

(उत्तर) संसारी मनुष्य कभी सर्वथा सत्यवादी हो हो नहीं सकता और जब किन्हीं प्रबल उपायों से होभी सके तो वह देवकोटि में चला जाता है फिर मनुष्यों में रह भी नहीं सकता। और केवल सत्य ही तो देवता का लक्षण या प्रमाण नहीं किन्तु देवता परोक्ष हैं इन चर्म चक्षुओं से नहीं दीख सकते किन्तु दिव्य चक्षु से दैवी महिमा आस्तिकों श्रद्धालु भक्तों को दीखती है। इत्यादि सब लक्षणदेवता ओं के तुम स्वीकार करलो जो कि वेदादि के प्रमाणों से सिद्ध हैं तब तो ठीक वेदानुकूल वेदोक्त देवता तुम को भी मानने ही पड़ेंगे तब कुछ झगड़ा ही नहीं है। देवताओं के स्वरूप बोधक प्रमाण वेदादि शास्त्रों में असंख्य हैं यहां उनका विशेष व्याख्यान छेड़ें तो देवपूजा का विचार सर्वथा ही छूट जावे। तथापि कुछ दिखावेंगे।

स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानां प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ निरु० ७।१।५॥

भावार्थः—वह विचारशील वेदानुयायी आस्तिक पुरुष ऐसा कदापि न मान बैठे कि वेद में जिन के हाथ पांव आदि साधन वा घोड़े हाथी आदि सामान मनुष्यों के से ही दिखलाये गये हैं इस लिये हमारे ही तुल्य जन्म मरने वाले देवता भी होंगे। जैसे हमारा प्रत्यक्ष सामान सब नाशवाला है वैसे ही देवताओं का भी होगा सो न माने क्यों कि (माहाभाग्याद् देवतायाः) देवता लोग महाभागी हैं अणिमा महिमादि स्वाभाविक अष्ट सिद्धि वाले हैं चाहे यों कहो कि मनुष्यादि के से सहस्रों असंख्य रूपों में जैसा २ रूप वा सामान जब २ चाहते बना लेते हैं इसी लिये वेद में कहा है कि (रूपं रूपं मघवा बोभवीति) इन्द्र देवता उस २ रूप में वैसा २ हो जाता है वास्तव में वह सब से अलग निर्लेप वस्तु है वास्तव में एक ही आत्म वस्तु अग्नि वायु इन्द्र आदित्य वरुण ब्रह्मा विष्णु शिवादि अनेक नाम रूपों द्वारा वेद में स्तुति किया जाता है। जैसे एकही सुवर्ण अनेक आभूषणों के रूपों में परिणत हुआ उस २ नाम रूपों से स्तुति किया जाता वा जैसे एक ही सूत अनेक वस्त्रों के नाम रूपों में प्रतीत होता है वे सभी वस्त्र सूत से भिन्न कुछ भी वस्तु नहीं हैं। वैसे ही ये सब देवता एक आत्मा ईश्वर से भिन्न कोई अन्य वस्त्वन्तर नहीं हैं। इस के लिये वेदादि में सहस्रों प्रमाण विद्यमान हैं यथा—

(एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋग्वेदे। तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजुर्वेदे। स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ यजुर्वेदे। एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ मनुः। वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। इति भगवद्गीतासु। तथा—

आ०सं०कामूल्यप्राप्तिस्वीकार ९ अप्रैल से ३० अप्रैलतक

५४: पं० गोविन्दराम आनन्दराम रायपुर २=)
६५३ भागीरथमल पानीपत २)
६२९ पं० प्यारेलाल अजमेर २।=)
६२७ पं० जयगोपाल कंधेली २।=)
२७३ पं० जगतराम लाहौर २।=)
१६१ पं० गणेशदत्त कौडिया ३।≡)
११६४ पं० मथुराप्रसाद रांदपुरा २।=)
११९ बा० निहालसिंह करनाल २।=)
५०१ बा० हरिनारायण पदूहा २।=)
५७५ पं० शीतलप्रसाद रिसौर २।=)
६४२ सीताराम जी हैदराबाद २।=)
६०६ पं० जयगोपाल पठला २।=)
९२८ पं० गिरधारीलाल मुगलान २।=)
५०६ सर्वजीतसिंह अलीपुर २=)
६६३ देवमल्ल गगनमल हैदराबाद २।=)
१७२ पं० भूदेव शर्मा कासगंज २।=)
६०२ बाबू रघुनन्दनसिंह मथुरापुर २।=)
८७८ ला० आरामजी मेरठ २।=)
६९८ प्रागजी कुंवरजी फुलपाड़ा २।=)
७५९ लीलाधर शर्मा भावलपुर २)
६६४ पं० वासुदेव लखनगढ़ २≡)
७५८ रामचन्द्र हिसार २।=)
३६८ बलदेवप्रकाश जगन्नाथपुरी २।=)
७८१ ओंकारलाल व्यास ब्यावर २।=)
७८९ ला० दौलतराम निकोदर २।=)
८१२ पं० श्यामलाल जलाली २।=)
८२१ पं० सोमेश्वरदत्त सीतापुर २=)
३१२ धर्मानन्द पांडे बिजनौर २।=)
४७४ गो० लक्ष्मीचन्दजी रावलपिंडी २।=)

७१९ पं० ललिताप्रसाद मुरादाबाद ४)
६७४ पं० आत्माराम डाक २।=)
८२९ ला० रत्नशंकर अलीगढ़ २।=)
१८८ पं० जौहरीलाल बुलन्दशहर २)
११६८ रामप्रसाद बीना २।)
६७६ बा० हरिप्रसादसिंह पैकोली २।=)
७६० गोपालदास प्रतापगढ़ २।=)
२१९ जगदीशानन्द ब्र० लेहवारा १)
८०० बा० थोंडूसिंह खैरागढ़ २।=)
४७५ पं० लोचनप्रसाद डि० मैनपुरी २।=)
८९३ पं० देवीदीन मि० आगरा २=)
९१६ पं०हरिदत्त न०ध०स०अलीगढ़ २=)
६३४ बा० कालिकाकमलपाल हरिहरपुर २।=)
८२६ कुं० किशनलाल आगरा २।=)
८०७ पं० कृष्णप्रसाद बरौली २।=)
८२७ दिनकरविष्णुगो० मुम्बई २।=)
८२४ रामलालदेव कर्ण आदगांव २।=)
२८२ पं० सूर्यप्रसाद जी उधोला २।=)
११६७ पं० तुलाराम विसाऊ ३।≡)
८२४ श्री केदारनाथ जी जौंती ३।=)
३२५ पं० गोविन्दराम चूनी शा० रावलपिंडी २।=)
४०३ अन्नीभगवानदासरावलपिंडी २।=)
७२३ अंगीरीमल दिल्ली २।=)
८६२ पं० हनुमानप्रसाद जलालपुर २)
४७२ कृष्णदेव साहू डोमरिया २।=)
४९२ श्री नृसिंहदास झंग २≡)
८२३ सत्यानन्ददास जी हलवाकुटी २।=)
३९६ बा० रामनन्दनप्रसाद हरैया २।=)

सूचना ॥

सब से बड़ी शिकायत हमारे ग्राहकों को यह होगी कि ब्रा० स० को बार २ ठीक समय पर निकालने की प्रतिज्ञा होने पर भी ठीक समय पर नहीं निकलता इस से इस के प्रचार में भी बाधा पहुंचती है। सो यह बात ठीक है हमें भी इस का संकोच और दुःख है (यत्नकृते यदिनसिध्यतिकोऽत्र-दोषः) हम इस का यत्न भी करते हैं तो भी कुछ न कुछ ऐसा विघ्न हो जाता है जिस से फिर २ देर हो जाती है। तथा हम ठीक समय पर निकालने का उद्योग अवश्य करते ही रहेंगे। आशा है कि हमारा उद्योग सफल हो ११वां अं० निकले १॥ मास होगया तभी से हम बीमार हैं। कासश्वास मन्दाग्नि आदि कई उपद्रव प्रबलता से रहे अब कुछ शान्ति होने पर अं० १२ ग्राहकों की सेवा में भेजते हैं आशा है कि अगला अं० शीघ्र आप के पास पहुंचेगा।

२-सभाओं के वार्षिक अधिवेशनादि पर हमने कई कारणों से जाना बन्द कर दिया है इस लिये सनातन धर्मी लोग उत्सवों पर हमें बुलाने का परिश्रम न उठावें। किन्तु जहां कोई बड़ा शास्त्रार्थादि खास कारण होगा वहां हम जावेंगे वा जहां हमारा ही खास काम हो वहां जा सकते हैं।

३-चौथे वर्ष का उपहार बराबर छप रहा है आशा है कि सितम्बर में तैयार हो जाय। अठारह स्मृति १८ धर्मशास्त्र १२५ फारम १००० पृ० के पुस्तक होंगे। जो ३)रु० से कम मूल्यकेनहीं हैं। यदि ये आप को१) में मिलेंगे तो क्या कम लाभ है। जो लोग ब्रा०स० भाग ४ के ग्राहक बन के ब्रा० स० भा० ४ का २।) मूल्य अगाऊ भेजेंगे उन्हीं को ये अठारह धर्मशास्त्र भाषाटीका सहित मिलेंगे। और एक हजार से अधिक पुस्तक उपहार में नहीं दिये जावेंगे। इस लिये जिन लोगों को ये अठारहो धर्मशास्त्र १) में लेना हो वे सुस्त न बैठे रहें किन्तु शीघ्र ही २।) भेज कर चौथे भाग ब्रा० स० के ग्राहक बनजावें। ऐसा न न हो कि आप सोचते ही रहें समय निकलजावे ॥

विशेष कर देखो ॥

हमने ता० १ जुलाई सन् १९०५ ई० से सितम्बर तक तीन मास के लिये निम्नलिखित पुस्तकोंको१॥) रु०तक की जो लेवे उस को१) मेंतथा३)को२) में देना इस लिये स्वीकार किया है कि जो लोग निर्धन-गरीब हैं उन को पु० लेने का अवसर ठीक २ मिलजावे। आशा है कि हमारे ग्राहक तथा उन के इष्टमित्रादि इस अवसर को न चूकेंगे। यह भी ध्यान रहे कि जिन पुस्तकों को १) सैकड़ा वा २) सैकड़ा पहिले से दिया जाता है उन पर इस से और अधिक